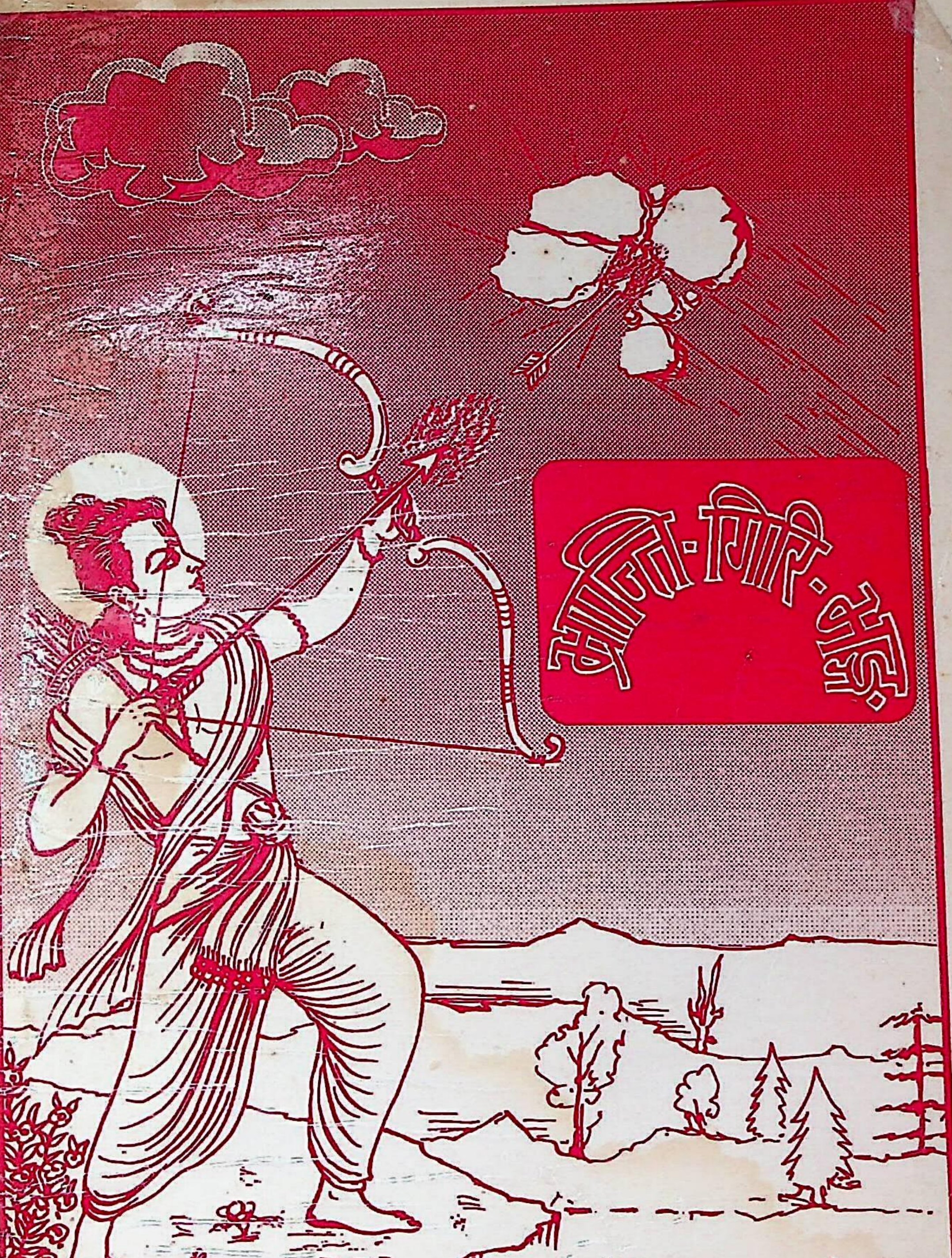


भ्रान्ति-गिरि-भङ्ग

आचार्य सियारामदास नैयायिक
(न्यायवेदान्ताचार्य, पी-एच०डी०)
श्री वामदेव आश्रम, प्रमोदवन
अयोध्या

Vishal.

भ्रान्तिगिरिभङ्ग

गुरुभक्तिनिष्ठ
श्री अंकुर जोशी जी
को सप्रेम भेंट
सियारामदास

लेखक

आचार्य सियारामदास नैयायिक

(न्यायवेदान्ताचार्य, पी-एच्०डी०)

श्रीमणिराम प्रकाशन

श्रीवामदेव आश्रम प्रमोदवन, अयोध्या

पिन—224123

प्रकाशक—पुजारी श्रीप्रभुदासजी महाराज
प्राचीन हनुमान् मन्दिर, मुनिकीरेती ऋषिकेश।

प्रथम संस्करण १९९८ ई०

प्रति—१०००

तिथि—श्रीराम विवाह पञ्चमी, मार्गशीर्ष शुक्लपक्ष
मङ्गलवार, २४ नवम्बर १९९८ ई०

संवत्—२०५५

मूल्य—७५.०० रुपये

प्राप्ति स्थल—

श्री मणिरामदासजी की छावनी, पुस्तकालय, अयोध्या

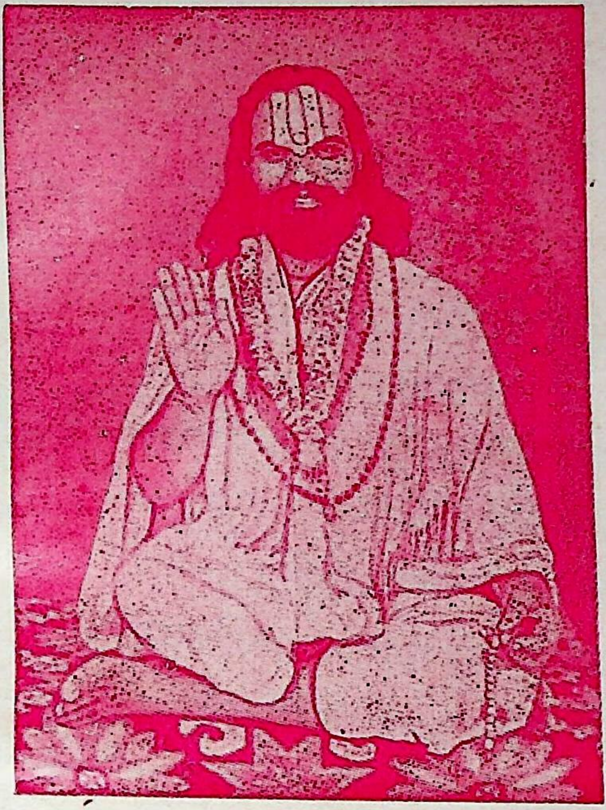
❀

प्राचीन हनुमान् मन्दिर, ऋषिकेश

❀

श्रीवामदेव आश्रम, प्रमोदवन–अयोध्या

मुद्रक—श्रीराम प्रिंटिंग प्रेस, अयोध्या।



श्रीमणिरामदासछावनीपीठाधीश्वर
अनन्त श्रीविभूषित महान्त श्रीनृत्यगोपालदासजी महाराज

समर्पणम्

सद्गुरो ! करुणासिन्धो ! दीनोद्धार ! कृपानिधे ! ।
भ्रान्तिभूधरभङ्गोऽयं भवते भवतेऽर्प्यते ।।

भावत्कः
सियारामदासः

प्रस्तुत चित्र श्रीमणिरामदासछावनी सेवा ट्रस्ट के अन्तर्राष्ट्रीय श्रीसीतारामनाम बैंक के मैनेजर श्रीपुनीतरामदासजी महाराज के सौजन्य से उपलब्ध हुआ । एतदर्थ हम उनके आभारी हैं ।

❁ रामहरि ❁

अखिल भारतीय संत समिति

संरक्षक—परमहंस स्वामी वामदेवजी

श्री सियारामजी शास्त्री महानुभाव!

सादर जयश्रीराम

आपने वाल्मीकिरामायण तथा पद्मपुराण के वाक्यों में, प्रतीयमान विरोध (विरोधाभास) का सयुक्तिक निराकरण कर सामञ्जस्य स्थापित किया है यह श्लाघनीय है। क्योंकि विद्वत्ता का चारितार्थ्य तो इसी में है, कि आर्ष ग्रन्थों का सामञ्जस्य किया जाय। कवितावनिताकान्त हनुमत्कृपापात्र श्रीरामभक्त सीतामातावात्सल्यभाजन श्रीतुलसीदासजी ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है - "गौतमनारि शापवश उपलदेह धरि धीर।
चरणकमलरज चाहती कृपा करहु रघुवीर"

शेषकुशल -

परमहंसस्वामी वामदेव

श्रीतुलसीपीठाधीश्वर श्रीमज्जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्याणाम् अनन्तश्रीसमलङ्कृतानां श्रीरामभद्राचार्याणाम् शुभाशीर्वचांसि

कन्दतामरसश्याम कान्तयेऽमलकान्तये ।
रामाय पूर्णकामाय जानकीजानये नमः ॥१॥

पण्डितम्मन्यदर्पघ्ने वैजनाथेन्दुराहवे ।
श्रीसियारामदासाय स्वस्तिस्ताच्छास्त्रबाहवे ॥२॥

ग्रन्थः समीक्षितो 'भ्रान्तिगिरिभङ्गो' मयानघ ।
प्रत्यक्षरं च विदुषां सतां सन्तोषदायकः ॥३॥

श्रीसियारामदासस्य पाण्डित्यं शास्त्रमण्डितम् ।
निर्दोषं वैदुषीपोषं जृम्भतेऽत्र पदे पदे ॥४॥

वैजनाथभ्रमाम्भोधिकुम्भजायितमेधया ।
वत्स ! ते परितुष्टोऽहं हौलसेयाङ्घ्रिभवितत: ॥५॥

वेदान्त गौतमाचार्य ! मीमांसक शिरोमणे ।
यशश्चन्द्रस्त्वदीयोऽयं लोके नित्यं समेधताम् ॥६॥

शिलामयी गौतमधर्मपत्नी, न्यदर्शि वै सत्यवतीसुतेन ।
प्राचेतसोक्तेरविरोधतस्तु, ग्रन्थेऽत्र युक्तं भवता न्यवेदि ॥७॥

मरेति नामैव खरान्तकस्य,
भवान् भविष्योत्तरतो ब्रुवाणः ।
अमीमरत पण्डितपांशनं तं,
तर्केण नैयायिकचक्रवर्ती ॥८॥

श्रीसियारामदासाख्यकुमारगीर्जडीकृत: ।
वैजनाथोऽपि वैकुण्ठपार्षदीयां दशामित: ॥९॥

तुलसीपीठपतिना, रामानन्दार्यसेविना ।
आचार्य रामभद्रेण, ग्रन्थोऽयमभिनन्द्यते ॥१०॥

रामानन्दाचार्यो मन्दाकिनी विमलसलिलसिक्तः ।
तुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरुस्ते शुभं शास्ति ॥११॥

श्रीमज्जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य सिद्धान्तनिष्ठानाम् अनन्तश्री विभूषितानां श्रीश्यामाशरणजी महाराजानां शुभाशीर्वाद:

सर्वशास्त्रनिष्णात एवम् अनन्य भगवद्भक्त गोस्वामी श्री तुलसीदासजी महाराज ने भगवत् प्रेरणा से लोकहितार्थ श्रीरामचरित मानस का प्रणयन किया है। जिसके उपजीव्य आर्षग्रन्थ स्कन्द महापुराण, श्रीमद्वाल्मीकि रामायण प्रभृति हैं। एतन्मूलक अध्यातमरामायणीय वाल्मीकिकृत मरा नाम जप, अहल्या की पाषाणमयत्वादि कथाएँ हैं। जिन पर पं० वैजनाथ द्विवेदी ने 'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक द्वारा आक्षेप किया।

इन आक्षेपों का निराकरण किंवा पण्डितजी की भ्रान्तियों का भञ्जन तर्ककर्कशविचार चातुरीधौरेय आचार्य सियारामदासजी नैयायिक ने किया है। स्थालीपुलाकन्यायेन' इस 'भ्रान्तिगिरिभङ्ग' ग्रन्थ का अवलोकन हमने किया। श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण की तिलकादिक टीकायें एवं पुराणान्तर का गाढालोडन के अनन्तर इस प्रामाणिक ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। रावण के ब्राह्मणत्व पक्ष की जिन-जिन प्रमाणों से पुष्टि की जाती थी उन-उन प्रमाणों को रावण के राक्षसत्व की उपपत्ति में लगाकर जिस प्रखर प्रज्ञा का परिचय नैयायिकजी ने दिया है। उससे विपक्षी भी हतप्रभ हुए विना नहीं रह सकते। योगवासिष्ठ एवं अध्यातमरामायण का कालनिर्धारण करने में लेखक ने अनेकों लाइब्रेरियों को छानकर जो तथ्य उपस्थित किया है। उससे शोध प्रबन्ध लेखकों को दांतों तले अंगुली दबानी पड़ेगी। हम नैयायिकजो के इस कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। ॥ जय श्रीकृष्ण ॥

ऊर्ध्वाम्नायकाशीसुमेरुपीठाधीश्वरविद्वद्वरजगद्गुरुश्रीशङ्कराचार्याणाम् अनन्तश्रीविभूषितानां स्वामिवर्याणां श्रीकपिलेश्वरानन्दसरस्वतीजी महाराजानां शुभाशंसा—

'राम'

पण्डितप्रवरैर्विद्वच्छिरोमणिभि: वैष्णवाग्रेसरै: आचार्य सियारामदास नैयायिकै: समाहितचेतसा 'भ्रान्तिगिरिभङ्ग' नामको ग्रन्थो रचित:। यत्र 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणेनापि अहल्याया: पाषाणमयत्वमस्ति' इति राद्धान्त: तर्कप्रमाणाभ्यां प्रतिपादित:। विविधविषयवैशिष्ट्यगर्भितोऽयं ग्रन्थ: सनातनधर्मावलम्बिनां श्रेयस्करो भवेदिति आशास्महे।

ॐ शन्तनोति साम्ब: शिव:।

卐 पुरोधान 卐

इस मानवी–सृष्टि में सत्य की गवेषणा एवं स्थापना के प्रयत्न का इतिवृत्त उतना ही पुराना है जितना मनुष्य का जागृत अन्तश्चेतन तथा उसकी सारस्वत उपलब्धियाँ। यद्यपि यह प्रयास अद्यावधि जारी है, तथापि सत्य की समग्रता एवं पूर्णता में उसके स्वरूप का परिज्ञान अब तक संभव नहीं हो सका। जिज्ञासु आर्षचिन्तकों ने निस्संदेह वेदों, ब्राह्मणों, स्मृतियों, उपनिषदों तथा शास्त्रों की रचना करके उनके माध्यम से उस शाश्वत सत्य के नाना आख्यान प्रत्याख्यान प्रस्तुत किये किन्तु सभी ने विवशत: उस सम्पूर्ण सत्य को अनादि तथा अनन्त कह कर संतोष कर लिया। किसी ने उस सत्य को ब्रह्म कहा, किसी ने ज्ञान, किसी ने कर्म तथा किसी ने प्रकृति किन्तु उक्त विषय पर 'इदमित्यम्' कहना किसी के लिए शक्य नहीं हो सका। ज्ञानियों के परस्पर विरोधी और कभी-कभी 'वदतो व्याघात' विधुर विचार इस दिशा में प्रतिष्ठित हुए; किन्तु वेचारे 'ससीम' को उस 'असीम' की प्रत्यक्षानुभूति कभी नहीं हुई।

मेधासमृद्ध विद्वज्जनों, तर्कवागीशों, नैयायिकों तथा मीमांसकों के मौखिक एवं लिखित शास्त्रार्थ भी होते रहे। वाद वितण्डा और सिद्धान्तों की पीठिका में पक्षापक्ष द्वारा खंडन-मंडन भी चलते रहे– सांख्य की रचना जब कपिल ने की तब उसके निरसन के लिए पतंजलि ने योग की रचना की, उसे भी परिमार्जित करने के लिए गौतम ने न्याय शास्त्र का प्रणयन किया किन्तु उसके परिष्कार के लिए कणाद ने 'वैशेषिक' की रचना की। जैमिनि ने उसे भी स्वीकार नहीं किया और 'पूर्व मीमांसा' की रचना की। व्यास ने उसमें भी न्यूनता देखकर 'उत्तरमीमांसा' की रचना कर दी। यदि गंभीरता से हम विचार करें तो देखेंगे कि विविध शास्त्रों का खंडन-मंडन मात्र उसी सत्य के अन्वेषण का वैचारिक विकास है।

अपने कथन की इसी पृष्ठभूमि में हम अयोध्या के अनाविल चरित्र विद्वान सन्त स्वामी सियाराम दासजी द्वारा प्रणीत ग्रंथ 'भ्रान्ति गिरि-भङ्ग' की वस्तु एवं शिल्प का समालोचन करेंगे। यह ग्रंथ वस्तुत: एक प्रत्याख्यान ग्रंथ है, जिसमें स्वामीजी ने अयोध्या के ही विद्वान पण्डित बैजनाथ द्विवेदी द्वारा विरचित 'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' में प्रतिपादित कतिपय स्थापनाओं का निर्व्याज प्रतिषेध किया है। पण्डित द्विवेदी के ग्रंथ में स्वामी सियारामदास जी को भ्रान्तियों के विशाल पर्वत की प्रतीति हुई। इसीलिए स्वामीजी ने अपनी अध्ययन प्रसूत आन्वीक्षिकी के बल पर उन भ्रान्तियों को निराकृत करने के उद्देश्य से 'भ्रान्ति गिरि भङ्ग' जैसे सार्थक शीर्षक ग्रंथ की रचना की।

प्राय: देखा यह गया है कि किसी विचार के खंडन में विद्वान अपने विचार की स्थापना के बजाय अपने व्यक्तित्व की स्थापना करने लगते हैं किन्तु स्वामी सियाराम दासजी 'भ्रान्ति गिरि-भङ्ग' ग्रंथ में पण्डित द्विवेदी के भ्रान्ति मूलक विचारों के खंडन में अहंकार अथवा स्थापना की अवद्य क्रिया से प्रकृत्या मुक्त रहे। उन्होंने सायास शास्त्रानुमोदित सामग्री का उपयोग करके ही द्विवेदी जी की उद्भावनाओं एवं स्थापनाओं को निराकृत किया है। ऐसा करने में स्वामीजी का मंतव्य न तो द्विवेदीजी के व्यक्तित्व को ध्वस्त करने का रहा है, और न उनकी किसी प्रकार की अवमानना का। यह तो केवल उस अद्विष्ट परम्परा का प्रतीक है, जो किसी तत्त्व के अनुसंधान हेतु विद्वज्जनों के बीच वाद-विवाद के रूप में चलती आयी है। विद्वान ऐसा इस आशंका में भी करते रहे कि कहीं कोई व्यलीक फैलकर सारे समाज को न भ्रमित कर दे। नि:संदेह सत्य की इस स्थापना में विद्वज्जनों का विद्यासम्भूत प्रागल्भ्य और प्रमाणप्रभ वाग्विभूति ही सिद्ध उपादान बनी। स्वामी सियारामदास ज़ी का मानस निश्चय ही ऐसी विभूतिमत्ता से सर्वथा समलंकृत है।

वाल्मीकि रामायण के कतिपय प्रसङ्गों पर स्वामी सियारामदास जी को जहाँ भी यह प्रतीति हुई कि उन प्रसङ्गों में पण्डितजी का अभिमत महर्षि वाल्मीकि के अभिप्रेत से भिन्न है, वहीं स्वामी जी ने पण्डित द्विवेदी की मिथ्या धारणाओं का प्रमाणपूर्वक मूलोच्छेद किया है। अपनी विद्यावत्ता का प्रदर्शन करना इनका उद्देश्य नहीं रहा। अपने पुष्ट प्रत्याख्यान के सम्पादन में तथा पण्डित द्विवेदी की आधारहीन स्थापनाओं के परिशोधन में एक सिद्ध वैयाकरण के रूप में कहीं तो पाणिनि–प्रणीत 'अष्टाध्यायी' का कहीं कात्यायन के 'वार्तिक' का और कहीं पतंजलि के 'महाभाष्य' का आश्रय लिया है। स्वामी जी एक निर्विकल्प नैयायिक के रूप में पण्डित द्विवेदी की प्रमाणहीन धारणाओं के खंडन में प्रवृत्त हुए। इतना ही नहीं, इन्होंने उन रामायणी विद्वज्जनों को भी अपदस्थ किया है, जिन्होंने पण्डित द्विवेदी के ग्रंथ 'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' पर प्रशस्तिपरक सम्मतियाँ प्रस्तुत की हैं। ऐसे रामायणियों में शीर्ष विद्वान लक्ष्मणकिला के गद्दीधर स्व० महान्त सीतारामशरणजी की एतद्विषयक टिप्पणियों को तो स्वामीजी ने कहीं का नहीं रखा, किन्तु स्वामीजी ने अपने इन वक्तव्यों को किसी प्रकार द्वेष और विद्याहंकार से मलिन नहीं होने दिया। हाँ यदि किञ्चित विनोद में कहें तो कह सकते हैं कि स्वामीजी ने अपने ज्ञान के समृद्ध कोष से पण्डित द्विवेदी को ऐसा वैचारिक अनुदान भेंट किया है कि जो ऐसा ऋण नहीं है जिसे द्विवेदी जी को वापस करना हो। एक बार वह ऋण भी होता तो द्विवेदीजी के बूते की बात नहीं थी कि वे उसका मूलधन भी अदा कर सकते। इसका जीवंत साक्ष्य यह है कि स्वामी सियाराम दासजी ने

एक बार शास्त्रार्थ के लिए खुले मंच पर उपस्थित होने का सविनय आह्वा
किया; किन्तु इस सन्दर्भ में 'अदर्शनं लोपः अर्थात् प्रसक्तस्यादर्शनं लोप सं
स्यात्' पाणिनि का यह सूत्र ही चरितार्थ हो गया। पण्डित बैजनाथ द्विवे
अयोध्या में रहते हुए भी उस विद्वद्गोष्ठी में अनुपस्थित (विलुप्त) रहे। अस्तु

'भ्रान्तिगिरि भङ्ग' ग्रन्थ में स्वामी सियारामदास जी ने पण्डि
द्विवेदी की धारणाओं को निरस्त करने में उनके प्रति कतिपय भद्र भा
विरहित व्यंजनागर्भित सम्बोधनों का प्रयोग किया है, उनसे द्विवेदीजी को
क्लेश अवश्य होगा, किन्तु जब शक्ति का शक्ति से द्वन्द्व होता है, तब वहा
सामान्य शिष्टाचार के लिए कोई स्थान नहीं रहता, फिर भी यदि स्वामीजी
फटकारने योग्य स्थिति में भी प्यार और सम्मान की भाषा का प्रयोग करते
तो अधिक साधु, सुष्ठु एवं समीचीन होता। लावण्य में माधुर्य का रसायन
कम सुस्वादु नहीं होता। यहाँ एक उक्ति द्रष्टव्य है :

सौजन्यधन्यजनुषा पुरुषाः परेषां दोषानपास्य गुणमेव गवेषयन्ति।
व्यक्त्वा भुजङ्गम विषाणि पटीर गर्भात् सौरभ्यमेव पवनाः परिशीलयन्ति॥

स्वामीजी स्वयं विज्ञ हैं, विद्वान हैं और साधु हैं। दो विज्ञ महाशय
सत्पुरुषों के शास्त्रार्थ में मुझ अज्ञ को आनन्द तो मिलता है किन्तु उनको
उपदेश करने की अर्हता मुझमें कहाँ है? वादे वादे जायते तत्वबोधः तो ठीक
है, किन्तु उसमें अमर्ष की उपस्थिति उसके प्रकर्ष को आहत कर देती है।
स्वामी सियारामदासजी ने अपनी स्थापनाओं को शास्त्रोक्तियों से पुष्ट अकाट्य
रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने पण्डित द्विवेदी के तर्कमर्दन में विद्या को विद्रूप
नहीं होने दिया। इस बिन्दु पर वे बधाई के पात्र हैं। तत्त्वान्वेषी विवाद ज्ञान-
वर्धन का हेतु बनता है। स्वामी जी इस तथ्य से भली भाँति अवगत हैं कि
शास्त्रार्थ किसी सत्यानुसारी परिणाम के लिए होता है। शास्त्रार्थ शास्त्रार्थ
के लिए कदापि नहीं होता।

महात्मा सियारामदास जी की विद्या एवं वैदुष्य का मूल्यांकन
करने में मैं अल्पज्ञ होने के कारण सर्वथा अक्षम हूँ, तथापि स्वामीजी की प्रतिभा
और मेधा के प्रति मेरा यही अकिंचन नैवेद्य है कि मैं उनसे सप्रणति अनुरोध
करूँ कि वे अपने अप्रतिहत वैदग्ध्य द्वारा 'प्राक्तन' और 'अद्यतन' में ऐसी
सन्धि करायें कि 'अद्यतन' और 'प्राक्तन' के श्रेष्ठ को अपना सादर प्रणाम
अर्पित करे और 'प्राक्तन' 'अद्यतन' को साशीष् अपना स्नेह प्रदान करे। मेरी
प्रबल आकांक्षा है कि विद्वाच्छिरोमणि स्वामी सियारामदासजी अपने प्रभूत
अध्ययन एवं अध्यवसाय के आश्रय में ऐसे ग्रन्थों की प्रामाणिक रचना करें
जिनसे भारत की खण्ड-खण्ड विभक्त मानवता अखण्ड सूत्र में बँधकर विश्व
मानवता के समुदय का हेतु बने।

पण्डित बैजनाथ द्विवेदी के ग्रन्थ 'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' में किंवदन्ती, जाति, वंश, वृत्त एवं तात्पर्य प्रभृति प्रकरणों में उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण स्वामी सियारामदासजी ने सप्रमाण किया है। रामायण के कतिपय प्रसङ्गों पर पण्डित द्विवेदी ने अपनी ऊहा और उद्भावना द्वारा जिन निष्कर्षों की अवतारणा की है उनकी त्रुटियों एवं च्युतियों का परिहार, संशोधन और उपस्करण करके स्वामी जी ने पण्डित द्विवेदी का प्रकारान्तर से बड़ा उपकार किया है। यदि स्वामी जी ने पण्डित द्विवेदी के ज्ञान-परमाणु का पर्वतीकरण और उनकी भ्रान्ति के पर्वत को परमाणु बनाने का कार्य किया है तो यह एक विद्वान द्वारा दूसरे विद्वान की सच्ची अभ्यर्थना ही है। यही पावन चरित्र श्रीराम के प्रति सच्ची नमस्या होगी और उनके पराक्रम की सही वरिवस्या होगी।

साकेतवासी निस्सन्देह स्वामी सियारामदासजी के तपःपूत वैदग्ध्य का अनुवाद करते होंगे, किन्तु मेरी अभीप्सा है कि स्वामीजी मेरे जैसे निरपेक्ष को भी अपने स्मृतिपटल पर रखें। मेरी भ्रान्तियों के भूधर भी स्वामी जी भङ्ग करें—

अयि दलदरविन्दस्यन्दमानं मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः।
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः॥

॥ इत्यलम् ॥

डॉ० ब्रजलाल वर्मा
पूर्व सदस्य उ०प्र० लोक सेवा आयोग
पूर्व अध्यक्ष, उ०प्र० शिक्षा आयोग

विषयानुक्रमणिका

वंशविमर्शभङ्ग

कालविमर्शभङ्ग

वृत्तविमर्शभङ्ग

तात्पर्यविमर्शभङ्ग

संकेत चिह्न

अ० का०	... ...	अरण्यका
अ० को०	... ...	अमरक
अ०को०द्वि०का०शू०व०	... ...	अमरकोष द्वितीयकाण्ड शूद्र
अ०रा०	... ...	अध्यात्मरामा
अधि०	... ...	अधिक
अध्या०रा०	... ...	अध्यात्मरामा
अयो० का०	... ...	अयोध्याका
अयोध्याका०	... ...	अयोध्याका
अर० का०	... ...	अरण्यका
आ० का०	... ...	आचारका
आ० भा०	... ...	आनन्दभा
आ० रे०	... ...	आवन्त्य क्षेत्र माहात्म्य रेवाख
उ० का०	... ...	उत्तरका
उ० ख०	... ...	उत्तरख
उ० मी०	... ...	उत्तरमीमांस
क० उ०	... ...	कठ उपनिष
कविता०	... ...	कवितावल
का०	... ...	कारिक
का० श्रौ० सू०	... ...	कात्यायन श्रौतसू
कि० का०	... ...	किष्किन्धाका
कृ० रा०	... ...	कृत्तिवास रामाय
छा० उ०	... ...	छान्दोग्य उपनि
जै० सू०	... ...	जैमिनिसू
ति० टी०	... ...	तिलकटी
दे० भा० पु०	... ...	देवी भागवत पुरा
ध० प्र०	... ...	धर्मोत्तर प्र
ना० भ० सू०	... ...	नारदभक्ति
प० पु० पा० ख०	... ...	पद्मपुराण पातालख
प० महा० पा० ख०	... ...	पद्ममहापुराण पातालख
पं० प्र०	... ...	पण्डितप्र
पा० ख०	... ...	पातालख
पा० सू०	... ...	पाणिनि

पा० सूत्र	पाणिनिसूत्र
पृ०	पृष्ठ
पा० यो० सू०	पातञ्जल योग सूत्र
पू० मी०	पूर्वमीमांसा
बा० का०	बालकाण्ड
बा० प्र०	बालप्रबोधिनी
वा० सू०	वादरायणसूत्र
भ०	भविष्य
भ० कौ०	भगवन्नामकौमुदी
भ० गी०	भगवद्गीता
भ० म० प्र० प०	भविष्यमहापुराण प्रतिसर्गपर्व
भ० म०	भविष्यमहापुराण
भ० महापु०	भविष्यमहापुराण
भ० गी०	भगवद्गीता
भ० गी० शा० भा०	भगवद्गीता शाङ्करभाष्य
भा० पु०	भागवतपुराण
भा० म०	भागवतमहापुराण
भा० महा०	भागवतमहापुराण
म० पु०	मत्स्यपुराण
म० भा०	महाभारत
म० भा० शा० प०	महाभारत शान्तिपर्व
म० महा०	मत्स्यमहापुराण
म० स्मृ०	मनुस्मृति
मत्स्यपु०	मत्स्यपुराण
मनु०	मनुस्मृति
महाभा० आ०	महाभारत आदिपर्व
मा० धी०	माधवीय धातुवृत्ति
या० आ०	याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय
या० स्मृ० आ० ब्र० प्र०	याज्ञवल्क्यस्मृति आचाराध्याय ब्रह्मचारिप्रकरणम्
या० स्मृ० प्रा०	याज्ञवल्क्यस्मृति प्रायश्चित्ताध्याय
यु० का०	युद्धकाण्ड
यो० द०	योगदर्शन
यो० वा० उ० प्र०	योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण

यो० वा० नि० प्र०	योगवासिष्ठ निर्वाण प्रक
यो० वा० वै० प्र०	योगवासिष्ठ वैराग्य प्रक
यो० वा० स्थि० प्र०	योगवासिष्ठ स्थिति प्रक
रा० च० मा० बा० का०	रामचरितमानस बालका
रा० त०	रामायणतत्त्वदीपि
रा० पू० उ०	रामपूर्वतापिनि उपनि
रा० म० वा०	रामायणकार महर्षि वाल्मीवि
वा० रा०	वाल्मीकीय रामाय
वि० म०	विष्णुमहापुरा
व्यं० प्र०	व्यंग्य प्रकाशिक
वृ० उ०	वृहदारण्यक उपनिष
वै० भू० सा०	वैयाकरणभूषणसा
श० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
सि० प्र०	सिद्धान्तप्रदीप
सु० का०	सुन्दरकाण्ड
स्क०म०आ०ख०अव०क्षे०मा०	स्कन्दमहापुराण, आवन्त्यखण्ड अवन्तीक्षेत्र माहात्म्य
स्क० पु० वै० ख० वै० मा० ...	स्कन्दमहापुराण वैष्णवखण्ड वैशाख माहात्म्य
स्क० पु० रे० ख०	स्कन्दमहापुराण रेवाखण्ड
स्क०म०ब्र०ख०से०मा० ...	स्कन्दमहापुराण, ब्रह्मखण्ड, सेतुमाहात्म्य
हृ० ना०	हनुमन्नाटक

उद्धृत-ग्रन्थ सूची

१- अथर्ववेद-कृष्णदास अकादमी वाराणसी, १९८९ ई०
२- अध्यात्मरामायणं सेतुटीकासहितम्-श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई सं० १९६१
३- अध्यात्मरामायणंव्यंग्यप्रकाशिकायुतम्-डा०प्रभातशास्त्री,प्रयाग१९८४ई०
४- अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति-लालबहादुरशास्त्रि केन्द्रीय विद्यापीठ, दिल्ली, १९६६-६७ ई०
५- अनुक्रमणिका-रामलाल कपूर, ट्रस्ट बहालगढ़ १९७९ ई०
६- अमरकोष रामाश्रमी व्याख्यासहित-दिल्ली १९८६ ई०
७- अर्ली हिस्ट्री आफ वैश्नविज्म इन साउथ इण्डिया, पी० पी०
८- Epigraphia Indica Vo; IV.
९- आत्मबोध-श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, मिश्रपोखरा, वाराणसी १९८९ ई०
१०- आनन्दरामायण-चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली १९८६ ई०
११- आलवार कलनिलै-एम् राघव आय्यंगार
१२- उपदेशसाहस्री-श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, मिश्रपोखरा, वाराणसी, १९८९ ई०
१३- उत्तरमीमांसा-भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यास
१४- ऋग्वेद,सायणभाष्य सहित-श्रीरामगोविन्दद्विवेदी, सुल्तानगज सं० १९९२
१५- एकाक्षरकोष-हरिकृष्णनिबन्धभवनम्, वाराणसी, सं० १९९१
१६- कठोपनिषद्-मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६४ ई०
१७- कम्बरामायण-विहारराष्ट्रभाषा परिषद्
१८- कम्बरामायण और रामचरितमानस
१९- कवितावली-गीता प्रेस, गोरखपुर
२०- कात्यायन श्रौतसूत्रंकर्कभाष्यसहितम्-लालबहादुरशास्त्रिकेन्द्रीयविद्यापीठ नई दिल्ली, १९८२ ई०
२१- कृत्तिवासरामायण-भुवनवाणी ट्रस्ट लखनऊ, १९८९ ई०
२२- कृष्णाश्रय षोडशग्रन्थ-श्रीवल्लभाचार्य
२३- कैटलागस कैटलागारम्-डॉ. थियोडोर आफ्रेड-फैज स्टीनर वर्लाग्जी विस्वाडेन (जर्मनी) १९६२ ई०
२४- कौशिक सूत्र-जर्नल आफ अमेरिकन ओरियन्टल सोसाइटी, १४, न्यूहेवेन १८९० ई०
२५- गरुडमहापुराण-नागपब्लिसर्स, जवाहरनगर दिल्ली, १९८४ ई०
२६- छान्दोग्य उपनिषद्-आनन्दाश्रम,पूना, १९१३ ई०

२७– जागदीशीसामान्यलक्षणा–श्रीदक्षिणामूर्तिमठ मिश्रपोखरा, वाराणसी सं० २००९
२८– जैमिनितन्त्रवार्तिक–आनन्दाश्रम, पूना, १९२९ ई०
२९– तमिल साहित्य और संस्कृति–लेखक-अवधनन्दन
३०– तारसारोपनिषद्–चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९९१ ई०
३१– तिरुप्पावे-लेखिका-आण्डाल (श्रीगोदाजी)
३२– तिरुवायमौली–लेखक-नम्मालवार
३३– देवीभागवत–नागपब्लिसर्स, दिल्ली १९८६ ई०
३४– धर्मोत्तरप्रदीप–जायसवाल, पटना, १९५५ ई०
३५– नारदभक्तिसूत्र–गीताप्रेस, गोरखपुर
४६– नारदीयपुराण–नागपब्लिसर्स,१९८४ ई०
३७– न्यायभूषण–उदासीनसंस्कृतविद्यालय, C.K. 36/19 वाराणसी१९४:
३८– न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, दिनकरीरामरुद्रीसहिता–चौखम्बासंस्कृत सीरी वाराणसी, १९७१ ई
३९– न्यू कैटलागस कैटलागारम्–डॉ. बी० राघवन् मद्रास विश्वविद्यालय प्रकाशन १९६८ ई०
४०– पद्ममहापुराण–नागपब्लिसर्स दिल्ली १९८४ ई०
४१– पञ्चीकरणवार्तिक–श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, मिश्रपोखरा वाराणसी १९८९ई
४२– पाणिनीयसूत्र–निर्णयसागरप्रेस, मुम्बई
४३– पातञ्जलयोगसूत्र व्यासभाष्यादिसहित–चौखम्बा संस्कृत संस्थान वाराणसी, १९९० ई०
४४– पूर्वमीमांसा–महर्षि जैमिनि
४५– पेरियतिरुमौली–लेखक-तिरुमङ्गै आलवार
४६– ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्यं भामतीकल्पतरु परिमलसहितम्–निर्णय सागर मुम्बई १९३८
४७– बृहत्सर्वानुक्रमणी–
४८– बृहदारण्यक उपनिषद्–आनन्दाश्रम, पूना, १९०२ ई०
४९– भगवद्गीता मधुसूदन्यादिटीकासहिता–निर्णयसागर प्रेस मुम्बई १९२
५०– भगवन्नामकौमुदी प्रकाशव्याख्या–पाण्डुलिपि संख्या ४४४२०, ४४४ सरस्वती भवन पुस्तकालय, वारा
५१– भविष्यमहापुराण–नागपब्लिसर्स दिल्ली, १९८४ ई०
५२– भागवतमहापुराणं, श्रीधर्याद्येकादशटीकायुतम्–सं. श्रीकृष्णशंकरशास्त्री वाराणसी, १९६५ ई०

५३- भारतीयदर्शन-प्रकाशन व्यूरो, सूचना विभाग उ०प्र० सरकार, लखनऊ
५४- भारतीयदर्शन का इतिहास-डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त
५५- मत्स्य महापुराण-मेहरचन्द्र लक्ष्मनदास, दिल्ली १९८४ ई०
५६- मनुस्मृतिमन्वर्थमुक्तावलीसहिता-मोतीलालबनारसीदास,दिल्ली१९९०ई०
५७- महाभारतं नीलकण्ठीयुतम्-नागपब्लिसर्स, दिल्ली १९९० ई०
५८- महाभाष्यं, प्रदीपोद्योतसहितम्-चौखम्बासंस्कृतप्रतिष्ठानदिल्ली१९८७ई०
५९- माधवीयधातुवृत्ति-तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी १९८३ ई०
६०- मारकण्डेयमहापुराण-नागपब्लिसर्स, दिल्ली
६१- मीमांसान्यायप्रकाश-लालबहादुरशास्त्रि केन्द्रीय विद्यापीठ
दिल्ली, १९८३ ई०
६२- मुद्दलतिरुवन्तादि-लेखक-पोय्गै आलवार
६३- मेदिनीकोष-चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी १९६८ ई०
६४- यजुर्वेद-प्र०सद्गुरु गंगेश्वर इण्टरनेशनल वेदमिशन, बम्बई सं.२०३८
६५- याज्ञवल्क्यस्मृति मिताक्षरासहिता-नागपब्लिसर्स, दिल्ली १९८५ ई०
६६- योगवासिष्ठ महारामायण तात्पर्यप्रकाशसहित-मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली, १९८४ ई०
६७- रत्नकीर्ति निबन्धावली-
६८- वाल्मीकीयरामायणं तिलकरामायणशिरोमणि भूषणसहितम्-परिमल
पब्लिकेशन दिल्ली १९८३ ई०
६९- वाल्मीकीयरामायणं श्रीगोविन्दराजीय-रामानुजीय-तनिश्लोकी रामायण
तत्त्वदीपिकायुतम्-नागपब्लिसर्स जवाहरनगर, दिल्ली १९८५ ई०
७०- विष्णुधर्मोत्तरपुराण-नागपब्लिसर्स, दिल्ली, १९८५ ई०
७१- विष्णुमहापुराणं विष्णुचित्यादियुतम्-नागपब्लिसर्स, दिल्ली १९८५ ई०
७२- वेदान्तपरिभाषा-श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मुम्बई, १९८५ ई०
७३- वैयाकरणभूषणसारः प्रभादर्पणसहितः-चौखम्बा संस्कृत सीरीज
वाराणसी १९६९ ई०
७४- व्युत्पत्तिवाददीपिकासहित-भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी १९७३ई०
७५- शतदूषणी-उभयवेदान्तग्रन्थमाला, मद्रास १९७४ ई०
७६- शतपथ ब्राह्मण-नागपब्लिसर्स, दिल्ली १९९० ई०
७७- शिशुपालवध सर्वंकषा व्याख्यासहित-कृष्णदास अकादमी वाराणसी
१९८६ ई०
७८- श्रीरामचरितमानस-गीताप्रेस,गोरखपुर सं० २०३४
७९- श्रीरामतापनीयोपनिषद-श्रीमद्हरिदासभाष्यसहिता-सीतारामप्रेस
अयोध्या सं० १९८४

८०– शुक्रसंहिता—
८१– श्वेताश्वतरोपनिषद्—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १९९१ ई०
८२– सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह–श्रीदक्षिणामूर्तिमठ, वाराणसी, १९८९ ई०
८३– संक्षेप शारीरक—सं० स्वामीयोगीनन्द्रानन्द, उदासीन संस्कृत विद्यालय वाराणसी, १९८७ ई०
८४– सामान्यनिरुक्ति गङ्गाटीकायुता–चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, वाराणसी, १९८५ ई०
८५– संस्कृत साहित्य का इतिहास–पी० वरदाचार्य
८६– संस्कृत साहित्य का इतिहास–बलदेवोपाध्याय, शारदा मन्दिर, बनारस, १९६० ई०
८७– संस्कृतिसाहित्य केचार अध्याय–रामधारी सिंह 'दिनकर'
८८– संस्कृतसुकवि समीक्षा–बलदेवोपाध्याय
८९– स्कन्द महापुराण--नागपब्लिसर्स, दिल्ली, १९८७ ई०
९०– Studies in Tamil Litorature and History P. P.
९१– हठयोगप्रदीपिका ज्योत्स्ना टीका सहिता–श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, १९८५ ई०
९२– हनुमन्नाटकं दीपिकायुतम्–श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, सं० १९९६
९३-- हिन्दी साहित्य का इतिहास--आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र
९४– History of Tamil Language and Litarature–Vaiyapuri Pillai
९५– History of Sri Vaishnavas T. A. Gopinath Raw.
९६– हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर–डा० एस. के. डे. तथा डा० एस. एन. दास गुप्त

कृतज्ञताज्ञापनम्

प्रस्तुतस्य भ्रान्तिगिरिभञ्जग्रन्थस्य प्रणयनं त्रिवर्षेभ्यः प्रागेव तुलसीप्रेमरामकोटस्थानेऽयोध्यायां भगवदुपासनवेलायां संवृत्तम् । तदानीं भोजनादिव्यवस्था **श्रीशास्त्रिमहाराजानां** प्रेरणया श्रद्धेयगुरुभ्रात्रा **श्रीनिर्मलदासजी** महाराजेन सम्पादिता । तदर्थं तेषां कृतज्ञोऽस्मि । यद्यपि मम जीवनस्योद्देश्यं भगवदाराधनमेव, नैतादृशः खण्डनात्मको ग्रन्थः, भगवद्भजनविरोधित्वात्, तथापि 'रामायणकारमहर्षिवाल्मीकि' ग्रन्थेशास्त्रासम्मतमतोद्भावनमभिलक्ष्य तन्निराकरणायार्षसिद्धान्तप्रतिष्ठापनाय च मया प्रयतितम् । तत्प्रयासभूतश्चायंग्रन्थः । ग्रन्थेऽस्मिन्न केवलं पण्डितप्रवरद्विवेदिमहाभागस्यैवोक्तीनां निरासोऽपित्वन्येषां ग्रन्थकृतां श्रीनागेशभट्ट श्रीगोविन्दराज श्रीप्रभातशास्त्रिप्रभृतीनामपि शास्त्रप्रतिकूलानि वचांसि समुन्मूलितानि ।

सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य पुस्तकालयाध्याक्षाणां **डॉ० विजयनारायणमिश्राणां** काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीयकेन्द्रीय ग्रन्थालय (सेन्ट्रल लाइब्रेरी) स्याध्यक्षाणां, विश्वनाथपुस्तकालयललिताघट्टस्य कर्मचारिणां, श्रीमणिरामदासछावनीग्रन्थालयाध्यक्षाणां **श्रीअवधेशदासजीमहाराजनामहं** कृतज्ञोऽस्मि । येषां सुलभसहयोगेन सौहार्देन च आवश्यका ग्रन्थाः समुपलब्धाः । वाराणसी प्रवासकाले दयालुसंस्कृतमहाविद्यालयस्य प्राचार्या महामण्डलेश्वराः स्वामि—श्रीहरदेवजी—महाराजाः स्वविद्यालये प्रसन्नमनसा ममावासभोजनादेर्व्यवस्थां कृतवन्तस्तदर्थं तान् श्रद्धया स्मरामि ।

आर्थिकसहयोगकर्तारः प्राचीनहनुमन्मन्दिरर्षिकेशस्थ **श्रीप्रभुदासजी** मानसमहारथि **श्रीगिरिराजदासजी रामायणिरामस्वरूपदासजी**महाराजाः कथं विस्मर्तुं शक्यन्ते । अन्यैश्चयैर्भक्तैरेवंविधं साहाय्यमाचरितं ते सर्वे धन्यवादार्हाः ।

यैः सुधीधौरेयैः सद्भिः जगद्गुरुत्वादच्छिन्नैर्विद्वद्दर्पदलनैश्च सम्मतयः शुभाशीर्वचांसि च दत्तानि ते मया सश्रद्धया प्रणम्यन्ते । **डॉ० लक्ष्मीप्रसाद श्रीवास्तव**: काले काले प्रोत्साहनं परामर्शञ्च दत्तवान् तदर्थं सः साधुवादार्हः । **डॉ०प्रकाशद्विवेदिनोऽहं** हृदयतः कृतज्ञोऽस्मि यस्य प्रेरणया सत्प्रयासेनायं ग्रन्थः सुप्रसिद्धसिद्धलेखकस्य **डॉ० ब्रजलालवर्मणः** पार्श्वे सम्प्रेषितः । स च स्वामूल्यान् क्षणान् प्रदाय पुरोधानं प्रेषितवान् । तस्मात्तं प्रति कृतज्ञताममिव्यञ्जनक्त्ययं जनः ।

दृश्यन्ते ये गुणा ह्यत्र ते सर्वे श्रीगुरोर्न मे ।
भ्रमप्रमादजा दोषाः सम्भवन्ति ममैव ते ।।

श्रीवामदेव आश्रम, प्रमोदवन, अयोध्या — श्रीगुरुपादपद्मभृङ्गः
श्रीराम विवाह, पञ्चमी, २४ नवम्बर १९९८ ई० — **सियारामदासः**

मङ्गलम्

श्री— श्रीमणिरामछावन्या मर्यादा साधुसम्मता ।
रक्ष्यते प्रत्यहं येन विजयते स मे गुरुः ॥१॥

नृ— नृणामंहस्तमोनाशो दीक्षया वा समीक्षया ।
क्रियतेऽहर्निशं येन विजयते स मे गुरुः ॥२॥

त्य— त्यज्यते सन्निधौ यस्य दुष्टेनापि स्वदुष्टता ।
लभ्यते साधुभावश्च विजयते स मे गुरुः ॥३॥

गो— गोसेवा साधुसेवा च नित्यं येन विधीयते ।
संस्कृतरक्षणञ्चैव विजयते स मे गुरुः ॥४॥

पा— पाल्यन्ते प्रतिभावन्तः सन्तः शास्त्रविचक्षणाः ।
रसिकाः पण्डिता येन विजयते स मे गुरुः ॥५॥

ल— लब्ध्वा श्रीराममन्त्रं यः श्रीमद्राममनोहरात् ।
प्रत्यक्षं कृतवान् रामं विजयते स मे गुरुः ॥६॥

दा— दानं मानं सदा येन दीयते दम्भदारिणे ।
पीयते प्रेमपीयूषं विजयते स मे गुरुः ॥७॥

स— सर्वदा धर्मरक्षायै शिक्षायै ब्रह्मचारिणाम् ।
सन्नद्धः सुप्रवृत्तो यो विजयते स मे गुरुः ॥८॥

जी— जीवनं जीवनं भूयाल् लब्ध्वा यस्य पदाम्बुजम् ।
भवाम्भोधेस्सुनिस्तारो विजयते स मे गुरुः ॥९॥

म— मददम्भादयो दोषा दूयन्ते यदनुग्रहात् ।
सत्यं सत्यं न सन्देहो विजयते स मे गुरुः ॥१०॥

हा— हा भगवन् ! दयासिन्धो ! जानकीरमणप्रभो! ।
स्वप्नेऽपियन्मुखे वाणी विजयते स मे गुरुः ॥११॥

रा— रामचन्द्रपदस्मर्ता भर्ता यो दीनहीनयोः ।
कर्ता श्रीरामकार्यस्य विजयते स मे गुरुः ॥१२॥

ज— जन्मनां मम साफल्यं फलयञ्चैव सुकर्मणाम् ।
सिद्धं यत्पादपद्माभ्यां विजयते स मे गुरुः ॥१३॥

सम्मतिसमीक्षा

'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक पर लिखी गयीं चाटुकारिता पूर्ण सम्मतियाँ अपने-अपने लेखकों के वैदुष्य एवं शास्त्रनिष्ठा का यथार्थ परिचय देती हैं। एक महाशय मुक्त कंठ से उक्त पुस्तक की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि 'इस ग्रन्थ के अनुशीलन से नाना भ्रान्तियां दूर हो जायेंगी', ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है—

"अस्य ग्रन्थस्यानुशीलनेन नाना भ्रान्तयः निराकृताः स्युरिति द्रढीयान् मामकीनो विश्वासः।"

अब जरा यह भी देख लीजिए कि इस ग्रन्थ में किन-किन भ्रान्तियों का निराकरण है। सम्मति दाताजी इसका दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं कि—

महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मण थे, लुटेरे नहीं। उन्होंने रामनाम का जप किया था, 'मरा' इस उलटे नाम का नहीं ·····" आदि विविध विषयों का प्रतिपादन मान्य विद्वान् ने इस ग्रन्थ में किया है—

महर्षि वाल्मीकिः ब्राह्मण आसीन्नतु लुण्ठकः। स रामनाम जजाप नतु मरेति···· ···· ···· ·· आदि विविधा विषया प्रत्यपादिषत मान्येन विदुषा॥

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि, पृष्ठ २

मनीषीगण यह भलीभाँति समझते हैं कि रामायणकार महर्षि वाल्मीकि का जीवन चरित भविष्यमहापुराण, स्कन्दमहापुराण, अध्यात्म रामायण आदि आर्षग्रन्थों में सुस्पष्ट मिलता है, जिनमें उन्हें लुटेरा और उलटा (मरा) नाम का जापक बतलाया गया है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी भगवान् व्यास के वचनों के आधारपर उन्हें उलटा (मरा)नाम जपने वाला कहा है। यह तथ्य रामचरितमानस एवं कवितावली के ज्ञाताओंसे तिरोहित नहीं है। 'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक में इन्हीं तथ्यों के खण्डन का प्रयास किया गया है। इसी को सम्मतिदाता महाशय भ्रान्ति बतला रहे हैं। इनकी दृष्टि में भगवान् व्यास तथा गोस्वामी जी भ्रान्त पुरुष हैं तभी तो इन्होंने उनके वचनोंसे विदित तथ्यों को भ्रान्तिपूर्ण बतलाकर उसके निराकरण की प्रशंसा की है।

अब पाठकों को यह जिज्ञासा हो रही होगी कि यह कौन व्यक्ति है, जो अष्टादशपुराणप्रणेता भगवान् वेदव्यास कृष्णद्वैपायन एवं कविकुल कमलदिवाकर गोस्वामी तुलसीदासजी जैसे आप्त पुरुषों के द्वारा लिखित तथ्यों को भ्रान्तिपूर्ण कहने का दुस्साहस कर रहा है। उत्तर मिलेगा— ये महाशय

हैं, रसिककुलभूषण लक्ष्मणकिलाधीश पं० श्री सीतारामशरणजी महाराज यदि कोई विपक्षी ऐसी बातें कहें या लिखें, तो उससे उतनी हानि नहीं होगी क्योंकि विपक्षी होने से उसकी बातें अनादरणीय हैं। किन्तु अपने पक्ष का एक भी व्यक्ति–जिसे शास्त्रमर्मज्ञ एवम् आस्तिक समझा जाता हो–ऐसी बातें अपनी लेखनी से लिखें तो निश्चित ही आस्तिक समाज में महती हानि हो सकती है, यदि उसकी बातें काटी न जा सकें। अथवा उसके शास्त्रमर्मज्ञता की पोलपट्टी का खुलासा न किया जाय।

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को दीर्घकालिक जप के पूर्व लूटपाट-कर्त्ता तथा 'मरा' इस 'मन्त्र' (उलटा नाम) का जापक बतलाने वाले परम आप्तभगवद्बादरायणप्रणीत श्रीभविष्यमहापुराण प्रतिसर्गपर्व ४/१० एवं स्कन्द महापुराण आदि आर्षग्रन्थ हैं। इससे अनाप्तोक्त उक्त बातें स्वतः कट जाती हैं। हाँ, "रामायणकार महर्षि वाल्मीकि ने रामनाम का जप किया था, मरा इस उलटे नाम का नहीं" ऐसी सम्मति लिखकर पूज्यपाद गोस्वामी जी एवं उनके अनुयायियों पर तीखा प्रहार करने वाले 'पं०श्रीसीतारामशरण जी कितने महान् विद्वान् हैं' इसका परिज्ञान उनकी लिखी सम्मति ही करा रही है। देखिये, ये महाशय अपनी सम्मति में पूर्वमीमांसा के एक सुप्रसिद्ध सूत्रका उल्लेख करके उसकी कैसी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या कर रहे हैं—

"विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" इति जैमिनिसूत्रस्यापि चायमेवाशयः। श्रुत्या सहविरोधे स्मृतिवाक्यमुपेक्षणीयम्। असति–यदि काचन मूला श्रुतिर्नोपलभ्यते तदा स्मृतिवाक्येनानुमानं कर्तव्यम् इयं स्मृतिः श्रुति-मूला स्मृतित्वात् मन्वादिस्मृतिवत्।"

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि, पृष्ठ २

यहाँ श्रीमान् जी जैमिनिसूत्र की व्याख्या करने लगे जिसमें विरोधेत्व-नपेक्ष्यम्' की व्याख्या किये–श्रुति के साथ विरोध होने पर स्मृतिवाक्य उपेक्षणीय है। पुनः असति की व्याख्या करते हैं–यदि काचनेत्यादि। यदि कोई मूलश्रुति उपलब्ध न हो तो स्मृतिवाक्य से उसका अनुमान कर लेना चाहिए। अनुमान का आकार लिखा गया–इयं स्मृतिः श्रुतिमूलेत्यादि।

सुधीजन देख सकते हैं कि किलाधीश जी की असति अंश की व्याख्या गड़बड़ा गयी; क्योंकि पूर्वमीमांसा के विरोधाधिकरण १/३/३ में 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत" इस प्रत्यक्षश्रुति के विरुद्ध "औदुम्बरी सर्वावेष्टयितव्या" इस स्मृति के प्रामाण्याप्रामाण्य की शङ्का करके 'स्मृत्यधिकरणन्याय' से "उक्त स्मृति प्रमाण है" ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया। इस पक्ष में

स्पर्शन और सर्ववेष्टन में 'व्रीहि यव' की भाँति विकल्प प्राप्त है। ऐसी स्थिति में सूत्र आया—विरोधेत्विति।

इस सूत्र की व्याख्या सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीवासुदेवदीक्षित अपनी "अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति" में इस प्रकार करते हैं—

तुरष्टकादि स्मृतिवैषम्ये। प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सति अनपेक्षं—मूल प्रमाणानपेक्षं श्रुतिवाक्यमेव प्रमाणं स्यात् न तु स्मृतिवाक्यम्, तस्य मूलश्रुत्यपेक्षत्वात् तथाविधश्रुतौ च प्रमाणाभावात्। ननु स्मृत्या श्रुतिरनुमीयताम्; तत्राह—असति ह्यनुमानमिति। असति हि प्रत्यक्षविरोधे अनुमानम्। अस्ति चात्र प्रत्यक्षश्रुतिविरोधः। तथा च वह्नावौष्ण्यप्रत्यक्षेणेव शैत्यानुमानस्य स्पर्शनश्रुतिप्रत्यक्षेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानस्य बाधिततया सर्ववेष्टनश्रुतेर्गगनकुसुमायमानत्वात् स्पर्शनसर्ववेष्टनयोरभित्तिचित्रायितो विकल्पः। ग्रहणादिविषये तु तच्छास्त्रयोः प्रत्यक्षत्वाद्विकल्पो युक्तः।

—अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति, पृष्ठ ६०

अर्थ—सूत्रस्थ तु शब्द अष्टकादि स्मृतियों की व्यावृत्ति के लिये है। प्रत्यक्षश्रुति (औदुम्वरीं स्पृष्ट्वा उद्‌गायेत)से विरोध होने पर मूलप्रमाणानपेक्ष श्रुतिवाक्य ही प्रमाण है, स्मृति वाक्य नहीं; क्योंकि उसका प्रामाण्य मूलश्रुति सापेक्ष है और वैसी श्रुति में कोई प्रमाण नहीं है। "औदम्बरी सर्वावेष्टयितव्या" आदि स्मृतियों से उनकी मूलभूता श्रुति का अनुमान कर लेना चाहिए, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध न होने पर ही अनुमान होता है।

यहां तो "औदुम्वरीं स्पृष्ट्वा उदगायेत" इस प्रत्यक्षश्रुति का विरोध ही है। अतः अग्नि के औष्ण्यप्रत्यक्ष से जैसे उसके शैत्यानुमान का बाध हो जाता है वैसे ही स्पर्शनश्रुति के प्रत्यक्ष से सर्ववेष्टनश्रुति का अनुमान बाधित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में जबकि सर्ववेष्टनश्रुति गगनारविन्द (अलीक) हो जाती है, तब स्पर्शन और सर्ववेष्टन का विकल्प भी बिना भित्ति के चित्र की भाँति हो जायेगा अर्थात् असत् हो जायेगा। षोडशिग्रहण और अग्रहण का विकल्प उचित है; क्योंकि उनके बोधक शास्त्र 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" प्रत्यक्ष हैं।

श्री किलाधीश जी ने असति—यदि काचन इत्यादि से "यदि कोई मूलश्रुति न उपलब्ध हो तो स्मृति वाक्य से उसका अनुमान कर लेना चाहिये" जो व्याख्या की है, वह गलत है; क्योंकि प्रत्यक्ष श्रुति "औदम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्‌गायेत" से विरुद्ध "औदुम्बरी सर्वावेष्टयितव्या" स्मृति के प्रामाण्य का

निराकरण "विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्" इतने सूत्रांश से किया गया। अब 'ननु स्मृत्या श्रुतिरनुमीयताम्' से जो शङ्का की गयी थी कि सर्ववेष्टन स्मृति से मूलश्रुति का अनुमान कर लें, (शङ्कालु का तात्पर्य यह है कि जब श्रुति का अनुमान हो जायेगा, तब अनुमित सर्ववेष्टनश्रुति और प्रप्यक्ष स्पर्शनश्रुति का विरोध होने पर भी चूँकि दोनों श्रुति हैं, अत: किसी का बाध तो होगा नहीं, प्रत्युत उनसे बोध्य परस्पर विरुद्ध सर्ववेष्टन और स्पर्शन में विकल्प हो जायेगा जैसा कि षोडशिग्रहण और अग्रहण में होता है। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्ष सुस्थिर रहेगा) उसी के निवारणार्थ 'असति ह्यनुमानम्' सूत्रांश है, जिसका अर्थ है—'प्रत्यक्ष से विरोध न होने पर ही अनुमान होता है।✽ प्रकृत स्थल में स्पर्शनश्रुति, जो कि प्रत्यक्ष है उससे सर्ववेष्टनस्मृति विरुद्ध है, अत: प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण इस स्मृति से मूलश्रुति का अनुमान नहीं हो सकता। अब, जबकि सर्ववेष्टनपरक अनुमितश्रुति ही अनुपलब्ध है, तब विकल्पवराक की प्रसक्ति कैसे होगी ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकती।

ध्यातव्य है कि पं०श्रीसीताराम शरण जी की व्याख्या में 'ननु स्मृत्या श्रुतिरनुमीयताम्' से पूर्वपक्षी ने जो शङ्का की थी, उसका वारण नहीं हो सकता, उलटे उसे बल ही मिलेगा; क्योंकि सर्ववेष्टनस्मृति की कोई मूलश्रुति तो उपलब्ध है ही नहीं, अत: उस स्मृति से सर्ववेष्टनश्रुति का अनुमान हो जायेगा; क्योंकि 'असति ह्यनुमानम्' सूत्रांश की व्याख्या इन्होंने "यदि काचन मूलाश्रुतिर्नोपलभ्यते तदा स्मृतिवाक्येनानुमानं कर्तव्यम्" ही लिखी है। ऐसी स्थिति में अनुमितश्रुति एवं प्रत्यक्षश्रुति बोध्य सर्ववेष्टन तथा स्पर्शन में विकल्प पूर्वपक्षवत् सुस्थिर ही रहेगा, फिर 'विरोधाधिकरण' का प्रयोजन ही क्या रह जायेगा ? वह तो पूर्वपक्ष की निवृति हेतु ही है। अत: 'विरोधे तु..........' इस सिद्धान्त सूत्र को ही—वृत्ति, वार्तिक एवं शावर भाष्य के मर्म को न समझकर गलत व्याख्या करके—निष्प्रयोजन बनाने वाले श्री विलाधीश जी 'पूर्वमीमांसा के कितने महान् पण्डित हैं', यह बात पाठकों को 'स्थालीपुलाक-न्याय' से समझ लेनी चाहिए।

इतना ही नहीं, इन्होंने जो "इयं स्मृति: श्रुतिमूला स्मृतित्वात् मन्वादि स्मृतिवत्" अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया है, केवल इसी से इनकी न्यायशास्त्र विषयकविद्वत्ता एवम् उत्तरमीमांसाविषयक अगाध पाण्डित्य का परिचय भी

✽ असति हि प्रत्यक्षविरोधे अनुमानम्

—अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति

स्थालीपुलाकन्यायेन विद्वानों को मिल जाता है। श्रीस्वामी किलाधीश जी ने अपने अनुमान वाक्य में श्रुतिमूलकत्व की सिद्धि के लिए जो स्मृतित्व हेतु प्रस्तुत किया है, वह व्यभिचारी है; क्योंकि वह श्रुतिविरुद्ध सांख्यस्मृति एवं योगस्मृति में भी है, पर वहाँ श्रुतिमूलकत्व नहीं है। अतः श्रुतिमूलकत्वरूप-साध्याभाववदुक्तस्मृतिनिरुपितवृत्तित्व ही स्मृतित्व हेतु में होने से वह व्यभिचरित है। श्रुतिमूलकत्व की सिद्धि में स्मृतित्व हेतु प्रस्तुत करके किलाधीश जी ने अपनी हेतूपस्थापन-कला का यथार्थ परिचय दिया है।

यदि ये महाशय उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के स्मृत्यधिकरण का थोड़ा भी ज्ञान रखते तो श्रुतिमूलकत्व की सिद्धि के लिए स्मृतित्व हेतु को अनुमान वाक्य में न रखते; क्योंकि स्मृत्यधिकरण में जगद्गुरु श्रीस्वामीरामानन्दाचार्य प्रभृति सभी भाष्यकारों ने "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्न अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्" सूत्र के अपने-अपने भाष्यों में सांख्यस्मृति एवं योगस्मृति में श्रुतिमूलकत्वाभाव का प्रदर्शन करते हुए प्रधानकारणवाद का निरास किया है। अतः श्रीमान जी को यदि स्मृत्यधिकरण का ज्ञान होता, तो श्रुतिविरुद्ध सांख्यस्मृति एवं योगस्मृति को श्रुत्यमूलक समझने के कारण उसमें भी विद्यमान 'स्मृतित्व' को हेतु न बनाते।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीकिलाधीशजी को अपने भ्रान्तिमूलक सूत्रार्थ से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है कि वे 'असति— यदि काचन मूलाश्रुतिर्नोपलभ्यते" पदावलियों से असति को छोड़कर शेष पदों को हटा दें, तथा सूत्रघटक सप्तम्यन्त विरोधे पदको असति के साथ जोड़कर 'असति विरोधे स्मृति वाक्येनानुमानं कर्तव्यम्" ऐसा वाक्य बना लें तो पूर्वोक्त दोषों से बच सकते हैं। यदि इन्हें अपनी पदावलियों में ही विशेष आग्रह हो तो उसमें 'विरुद्धा' इस पद का समावेश कर दें। ऐसी स्थिति में उन दोषों से तो बच जायेंगे, पर 'मूला' इस पद का निष्प्रयोजन भार वहन करना पड़ेगा।

यदि श्रीमान् जी अपने स्मृतित्व हेतु में विद्यमान व्यभिचार दोष को दूर करना चाहें, तो उन्हें मेरी राय है कि वे हेतु दल में "वेदार्थाविरोधित्वे सति" इस सप्तम्यन्त दल का विशेषणविधया प्रवेश करा दें। इससे 'वेदार्थाविरोधित्वविशिष्ट स्मृतित्वरूप हेतु सांख्य आदि स्मृतियों में नहीं जायेगा।

इस प्रदर्शन का यही प्रयोजन है कि जिन्हें पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमाँसा (वेदान्त) एवं न्याय आदि शास्त्रों में अनेक भ्रान्तियाँ हैं, वे ही लक्ष्मण किला-

धीश पं० श्रीसीताराम शरणजी प्रभृति 'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक पर सम्मतियाँ लिखकर उसकी प्रशंसा किये हैं। जो स्वयं भ्रान्त हैं, वे ही अपनी लेखनी से पूज्यपाद गोस्वामी जी से अनुमोदित रामायणकार महर्षि वाल्मीकि के उलटा नाम (मरा) जप प्रभृति तथ्यों को भ्रान्तिकोटि में डालकर उन्हें अव्यक्त रुप से भ्रान्त सिद्ध करना चाहे हैं। ऐसी ही परिस्थिति में बहुधा लोग कहा करते है—

"निजभ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥

—रा०म०बा०का०११७/१

जो सम्मतिदाता, सुधी, सन्तजन विवश होकर सम्मतियाँ लिखकर पश्चात्ताप करते हों, या उस पुस्तक के पक्ष में न हों उनसे मेरी विनीत प्रार्थना है कि वे मेरे द्वारा प्रयुक्त शब्दों का लक्ष्य अपने को न समझें।

रामजी पालनेमें



एक बार जननीं अन्हवाए।
करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥

किंवदन्तीविमर्शभङ्ग

कविकुलकमलदिवाकर पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस में "जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयउ शुद्ध करि उलटा जापू" (रा० च० मा० वा० का० १९।५। जहाँ वाल्मीकि भये व्याधते मनिन्दु साधु "मरामरा जपे सिख सुनि रिषि सात की' (कवितावली उ० का० १३८ से १४०) राम विहाइ मरा जपते बिगरी सुधरी कविकोकिलहू की (कविता ०७/८८) आदि स्थलों में रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को उलटा नाम जपने वाला कहा है। इसका आधार अध्यात्मरामायण के अयो०काण्ड के छठें सर्ग के ६५ वें श्लोक से ८७वें श्लोक तक की महर्षि वाल्मीकि की स्वमुखोपवर्णित कथा है।

गोस्वामीजी की दृष्टि में चित्रकूटवासी महर्षि वाल्मीकि तमसातीरवासी महर्षि वाल्मीकि से अभिन्न हैं, तभी तो तमसातीरवासी रामायण रचनाकार आदिकवि को वे उलटा (मरा) नामक जापक बतलाते हैं। यही आदिकवि तपश्चर्या के पूर्व जङ्गल में चोरी इत्यादि करते थे। इसकी सूचना अध्यात्म-रामायण एवं भविष्यमहापुराण आदि आर्षग्रन्थों से मिलती है। गोस्वामीजी ने भी कवितावली आदि ग्रन्थों में इसका सुस्पष्ट वर्णन किया है।

अयोध्या के पं०वैजनाथ द्विवेदी इसे प्रायः ५०० वर्ष से बहने वाली उलटी और दूषित धारा कहते हैं, इसके खण्डन कें लिए उन्होंने भरपूर असफल प्रयास किया। अपने प्रयास के विषय में वे कहते हैं—

प्रतिपादनमिदं प्रायः पञ्चशताब्दीमनवरतं प्रवहमानाया एकस्या विपरीतदुर्धाराया अवरोधकः प्रयासः। तदनेन प्रयासेन तद्धारामनुप्रवहतां भूयसां कथकविचारकलेखकादीनां मनांसि दूयेरन्नित्यत्र न किमपि चित्रम्।"

अर्थ—"यह प्रतिपादन प्रायः ५०० वर्ष से अनवरत प्रवाहित होने वाली एक विपरीत दुर्धारा का अवरोधक प्रयास है, इस प्रयास से उस धारा में बहने वाले बहुत से कथक, विचारक और लेखकों के मन खिन्न होंगे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।"

पण्डितजी का यह कथन उन लोगों के प्रति है जो गोस्वामीजी के कथन में विश्वास करते हैं जिन्हें अध्यात्मरामायण आदि की कथा में विश्वास है।

पं०जी के इस पुस्तक को देखकर मैंने "अखिल–भारतीय रामानन्दसंघ अयोध्या" की ओर से पं०जी और उनके अनुयायियों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी, किन्तु वे नहीं आये।

आइए, पण्डितजी की खण्डन-युक्तियों पर विचार करें।

पण्डित द्विवेदीजी "रामायणकार महर्षि वाल्मीकि" के पृष्ठ ४ पर अध्यात्मरामायण की कथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका सार है—महर्षि वाल्मीकि जंगल में चोरी इत्यादि करते रहते थे एक दिन सप्तर्षियों को लूटने दौड़े तो उन्हें इस पाप कर्म का फल माता पिता आदि भोगेंगे कि नहीं, पूछने के लिए सप्तर्षियों ने परिवार के निकट भेजा, वे वहाँ से हताश होकर लौटे, तो ऋषियों ने उन्हें उलटा नाम जपने को कहा। पण्डितजी ने लिखा है—"हे राम ऐसा सोचकर उन्होंने आपके नाम के अक्षरों को उलटकर मरा इस शब्द को एकाग्र मन से अपने लौटने की अवधि तक जप करने के लिए मुझसे कहा—

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्।
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा।
आगच्छामः पुनर्यावत् तावदुक्तं सदा जप॥"

इसके जप से उनके ऊपर वल्मीक (बाँबी) इकट्ठा हो गई, करोड़ों वर्ष बीते, सप्तर्षि लौटे, वल्मीक से उन्हें बाहर निकाले, वल्मीक से उत्पन्न होने के कारण उनका द्वितीय जन्म मानकर 'वाल्मीकि' नाम ऋषियों ने रखा और मुनीश्वर की उपाधि दी। पण्डितजी इस कथा के उपरान्त लिखते हैं कि—"यहाँ रामायण रचना की चर्चा नहीं है।"

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितजी ने 'इत्युक्त्वा राम ते नाम....सदा जप' श्लोक का जो अर्थ किया है उससे उनके पाण्डित्य की अच्छी झलक मिलती है। इन्होंने "नाम के अक्षरों को उलट कर मरा इस शब्द को".... ....इत्यादि अर्थ कर डाला। जबकि उसका अर्थ है—"हे राम ऐसा विचार कर उन्होंने विपरीत अक्षर वाले आपके मरा इस नाम को एकाग्रमन से यहीं जप करो, जब तक हम लोग न लौटें तब तक जप करते रहना" ऐसा कहा और चले गये।

उक्त श्लोक में व्यत्यस्ताक्षररूपकम् पाठ है पूर्वकम् नहीं। और वह तथा मरेति ये पद विशेषण हैं तथा 'नाम' पद विशेष्य है। व्यत्यस्तानि विपरीत पौर्वापर्य्याणि अक्षराणि यस्मिन् तादृश रूपं यस्य तत् नामेत्यर्थः व्यत्यस्त अर्थात् विपरीत पौर्वापर्य्य अक्षर हों जिनमें ऐसा रूप है जिसका, उसे व्यत्यस्ताक्षररूपक कहते हैं अर्थात् अन्य पदार्थ नाम हुआ। व्यत्यस्ताक्षर रूप वाले अन्य भगवन्नामों की व्यावृत्ति हेतु नाम का दूसरा विशेषण है मरेति। अर्थात्

व्यत्ययस्ताक्षर रूप वाले मरा इत्याकारक श्रीराम के नाम को जपने के लिए सप्तर्षियों ने महर्षि से कहा था।

उक्त श्लोक में शिष्टाग्रगण्य सप्तर्षियों ने मरा शब्द को भगवान् का नाम कहा है। नाम उसे कहते हैं जिससे पदार्थ का अभिधान होता है--नम्यतेऽभिधीयतेऽर्थोऽनेनेति नाम (अमरकोष: पृष्ठ ६६, दिल्ली प्रकाशन)

मरा शब्द श्रीराम का एक नाम

राम शब्द की भाँति मरा शब्द भी भगवान् श्रीराम का वाचक है। राम शब्द "रमन्ते योगिनोऽस्मिन्" (जिसमें योगिजन रमण करते हैं) इस व्युत्पत्ति से योगिजनरमणाश्रयत्वेन श्रीराम का अभिधायक है, ऐसे ही मरा शब्द भी।

"रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति मरा" रमु धातु से अधिकरण अर्थ में घञ् प्रत्यय होने के पश्चात् उपधावृद्धि करके 'राम' बना। पुनः "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" (पा० सू० ६/३/१०९) सूत्र से वर्ण विपर्यय (वर्णों का पूर्वापरी भाव, अर्थात् र् के स्थान पर म् और म् के स्थान पर र् तथा आ के स्थान पर अ और अ के स्थान पर आ (संक्षेप में कह सकते हैं कि म के स्थान पर रा और रा के स्थान पर म हो गया) होकर मरा शब्द निष्पन्न होता है।

ध्यान देने की बात यह कि 'वर्णविपर्यय' होने पर भी 'रमन्ते योगिनोऽस्मिन्' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में कोई अन्तर नहीं आया। जैसे हिनस्तीति सिंहः; हिंसि धातु से पचाद्यच् और नुम् आदि करके हिंस बना पुनः'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्रसे वर्ण–विपर्यय (स् के स्थान पर ह् और ह् के स्थान पर स्) होकर सिंह शब्द निष्पन्न हुआ। किन्तु 'हिनस्तीति सिंहः' इस व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ में कोई अन्तर नहीं आया। ऐसे ही राम शब्द से वर्ण विपर्यय होकर बने मरा शब्द के अर्थ में भी कोई अन्तर नहीं आयेगा। राम शब्द की भाँति मरा शब्द भी श्रीराम का बोधक होगा। इसीलिए शिष्टशिरोमणि सप्तर्षियों ने उसे श्रीराम का नाम कहा।

भगवान् पाणिनि के उक्त सूत्र से निष्पन्न 'मरा' शब्द श्रीराम का अभिधायक है ही, साथ ही इसमें 'नम्यतेऽभिधीयतेऽर्थोऽनेनेतिनाम' यह नाम शब्द की व्युत्पत्ति भी चरितार्थ हो रही है।

ऐसी स्थिति में जबकि सर्वमान्य पाणिनिव्याकरण से श्रीरामबोधकत्वेन जिसका साधुत्व विनिर्णीत है। और शिष्टजन सप्तर्षि जिसे श्रीराम का नाम कह रहे हैं। महापण्डित वैयाकरणमूर्द्धन्य श्रीनागेशभट्ट जिसे 'वाच्यंविस्मृतवानहमिति' प्रतीक लेकर "अनेन तच्छब्दस्यापि स्मरणपूर्वकं

तदर्थभूतान्तर्यामिणं विषयतया लब्धवन्मेचित्तमिति सूचितम्।" (अध्यात्म रामायण की सेतु टीका अयोध्याकाण्ड ६/४८ की) में रेखाँकित पंक्ति से 'मरा' शब्द का अर्थ अन्तर्यामी परमात्मा श्रीराम कर रहे हैं। पूज्यपाद गोस्वामीजी जिसे उलटा नाम कह रहे हैं। संस्कृत काव्यग्रन्थ में समुपलब्ध ऐसे उस 'मरा' शब्द को द्विवेदीजी मर गया अर्थ का बोधक हिन्दी का 'घोड़ा मरा बैल मरा' इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त मरा शब्द समझ बैठे हैं। यदि व्याकरण-संस्कार-विधुर कोई ऐसा समझता तो कोई आश्चर्य नहीं होता। किन्तु अपने को वैयाकरणशिरोमणि मानने वाला ऐसा माने तो उसके पाण्डित्य पर प्रश्नचिन्ह अवश्य लग जाता है।

ध्यातव्य है कि पूर्वोक्त "पृषोदरादीनि" सूत्र की प्रवृत्ति उन प्रयोगों की सिद्धि में होती है जो शिष्टों से उपदिष्ट हों। इसीलिए उस सूत्र में 'यथोपदिष्टम्' अंश रखा गया है, कि लोग स्वकपोलकल्पित शब्दों की सिद्धि उक्त सूत्र से करने न लग जाँय।

परम शिष्ट सप्तर्षियों से उपदिष्ट 'मरा' इस नाम में भगवन्नामत्व की उपपत्ति 'पृषोदरादीनि' से इसलिए की गयी कि वर्णविपर्ययमात्र से लोग यह न समझें कि क्रीडार्थक रमु धातु से निष्पन्न मरा शब्द श्रीराम का अभिधायक नहीं है। अन्यथा शिष्टोपदिष्ट सिंह शब्द भी वर्णविपर्यय होने से हिंसाकर्तृ रूप अर्थविशेष का बोधक नहीं हो सकेगा। यद्यपि पृषोदरादिगण में मरा शब्द पठित नहीं है, तथापि पृषोदरादि के आकृतिगण होने से उक्तसूत्र की प्रवृत्ति उसमें निराबाध हो जायेगी। अतः सिंह शब्द की भाँति मरा शब्द भी संस्कृत-साहित्य में पाणिनि-व्याकरण से निष्पन्न संस्कृत का साधु शब्द है, हिन्दी का शब्द नहीं, और उसके वाच्य अन्तर्यामी, घट-घटवासी परमात्मा श्रीराम हैं।

इसी रहस्य के बोधन हेतु "इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षर रूपकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा" इस श्लोक में मात्र मरा शब्द न रखकर नाम शब्द भी रखा गया कि 'मरा' को लोग शब्द मात्र न समझें, अपितु श्रीराम का नाम भी समझें। अन्यथा उसमें 'ते नाम' कहने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

द्विवेदीजी का अर्थ तो अत्यन्त अशुद्ध है "आप के नाम के अक्षरों को उलटकर मरा शब्दको...."इत्यादि अर्थ लघुकौमुदी का ज्ञाता भी नहीं करेगा। इस अर्थ के लिए नाम पद को षष्ठ्यन्त होना चाहिए अर्थात्—

"इत्युक्त्वा राम ते नाम्नः, कृत्वा वर्णविपर्ययम्।"

इस प्रकार श्लोक की प्रथम पंक्ति होती तो पण्डितजी का अर्थ सही बैठता ; किन्तु ऐसी पंक्ति नहीं हैं, अतः अर्थ गलत है । समानविभक्त्यन्त होने के कारण "व्युत्पत्तिवाद" की सरणि से मेरे द्वारा किया गया अर्थ उचित हैं ।द्विवेदी जी 'मरा' शब्द को नाम नहीं लिखे मरा शब्द लिखे हैं, जबकि श्लोक में मरा शब्द को नाम कहा गया है।

कथा के साराँश के अन्त में इन्होंने लिखा है कि "यहाँ रामायण रचना की चर्चा नहीं है" इस विषय में मेरा कहना यह है कि भगवान, श्रीराम जब वनवास-कालमें चित्रकूट पधारे थे,तो उसी समय महर्षि वाल्मीकिने अपनी कथा उन्हें सुनायी थी, जो कि अध्यात्मरामायण में है जिसका सार पूर्व में लिखा जा चुका है।और उस काल में महर्षि ने रामायण को रचना ही नहीं की थी; क्यों कि वाल्मीकीय रामायण के वालकाण्ड के प्रथम सर्ग–जिसे मूल रामायण कहते हैं,– में वर्णित है कि वाल्मीकि·जी ने नारदजी से गुणी, पराक्रमी, लोकहित में तत्पर, धर्मज्ञ पुरुष के विषय में प्रश्न किया कि इस समय ऐसा पुरुष इस लोक में कौन है ? देवर्षि ने उत्तररूप में इक्ष्वाकुवंश में समुद्भूत श्रीराम का वर्णन किया ।चक्रवर्ती महाराज दशरथ द्वारा राज्याभिषेक की तैयारी से लेकर वन-वास, रावणवध आदि का वर्णन करते हुए देवर्षि कहते हैं कि--'रामः सीतामनु प्राप्य राज्यं पुनरवाप्तवान्' श्रीरामजी जानकीजी को प्राप्त करनेके वाद राज्य प्राप्त कर लिए । यहाँ तक देवर्षि ने भूतकालवोधिका क्रिया का प्रयोग किया । इससे निश्चित होता है कि महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारद का संवाद श्रीराम के राज्याभिषेक के वाद में हुआ जव वे राज्य कर रहे थे । क्योंकि देवर्षि—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः ।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः ।। (वा०का० १/९०)

इस श्लोक से श्रीराम के राज्यमें स्थित लोगोंकी परिस्थितियों का वर्णन करने के पश्चात् भविष्यत्कालिक क्रिया का प्रयोग करते हैं—
"न पुत्रमरणं केचिद् द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्" —वा० का० १/९१

अतः दोनों ऋषियों का संवाद रामराज्यकालिक है।

देवर्षि नारद के जाने के पश्चात् महर्षि वाल्मीकि, शिष्य भरद्वाज के साथ तमसा नदी स्नानार्थ जाते हैं। वहाँ क्रौञ्चवध को देखकर उनके मुखसे— "मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्" (वा०का० २/१५) श्लोक प्रस्फुटित होता हैं । स्नानकर आश्रम में लौटने पर वहाँ लोकपितामह ब्रह्मा आते हैं और उन्हें श्रीराम का चरित

अर्थात् रामायण लिखने की आज्ञा देते हैं।

रामस्य चरितं कृत्स्नं कुरु त्वमृषिसत्तम" —वा० रा०
.... वा० का०
कुरु रामकथां पुण्यांश्लोकवद्धां मनोरमाम्।" २/३२/३६

ब्रह्माजी के चले जाने के पश्चात् "मानिषाद" इत्यादि पूर्वोक्त श्लोक को उनके शिष्यगण विस्मित होकर गाते हैं।और उसी समय महर्षि यह संकल्प लेते हैं, कि मैं इसी भाँति सम्पूर्ण रामायण को रचना करूँ। उसके पश्चात् वे रामायण का प्रयणन करते हैं।

तात्पर्य यह कि रामायणकी रचना श्रीराम के राज्यकाल में हुई थी।और महर्षि ने अपनी जीवनगाथा श्रीराम को उनके राज्यकाल के पूर्व वनवासकाल में चित्रकूट पधारने पर सुनाई थी। उस समय रामायण का प्रणयन ही नहीं हुआ था। फिर महर्षि वाल्मीकि श्रीराम से रामायण-रचना की चर्चा कैसे करते ? कैसे कहते कि मैंने रामायण का निर्माण किया है। क्या महर्षि असत्य भाषण करते ? जो सीता-शपथ-ग्रहण के समय अनृतस्मरण का भी निषेध करते हैं, वे अनृतभाषण कैसे कर सकते हैं ?

अत: अध्यात्मरामायण की कथा के विषय में कहना कि 'यहां रामायण रचना की चर्चा नहीं है, इसलिए चित्रकूटनिवासी महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना नहीं की' महान् भूल है।

मरा (उलटा) नाम के जप में स्कन्दमहापुराण का साक्ष्य

'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक के पृष्ठ ५ पर द्विवेदी जी स्कन्दमहापुराण के आवन्त्यखण्ड के २४ वें अध्याय की कथा प्रस्तुत करते हैं—

प्राचीन-काल में भृगुवंशीय सुमति नामक ब्राह्मण से उनकी कौशिकी नामक भार्या में अग्निशर्मा नामक पुत्र पैदा हुआ, जो पिता के प्रयत्न से भी वेदाध्ययन न कर सका। कालान्तर में उसका दस्युओं से साथ हो गया और वह लूटमार करने लगा। आगे की कथा अध्यात्मरामायण की भांति है। घर से लौटे हुए अनुतप्त अग्निशर्मा को सप्तर्षियों में अन्यतम महर्षि अत्रि ने ध्यान योग का उपदेश किया—

तथेत्युक्त्वाऽथ तं प्राह इदं ध्यानं समाचर।
अनेन ध्यानयोगेन पापपुञ्जं प्रणाशय॥

ध्यानरत अग्निशर्मा १३ वर्ष वल्मीक में ढके रहे। वाद में सप्तर्षियों ने उन्हें वहां से निकालकर 'वाल्मीकि' की संज्ञा दी। वे पुनः भगवान् शंकर की आराधना से कवित्व-शक्ति प्राप्त करके रामायण की रचना किये।

यह द्विवेदी जी द्वारा लिखी कथावस्तु का सारांश है। पंडित जी अन्त में लिखते हैं कि यहां राम या मरा शब्द जपने की कोई चर्चा नहीं है।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पं० जी के शब्दों से प्रतीत होता है कि इन्हें राम या मरा शब्द (भगवन्नाम) से वड़ी चिढ़ है तभी तो 'राम' नाम या मरा शब्द नहीं लिखते हैं। जप भगवन्नाम या मन्त्र का किया जाता है, कोरे शब्द का नहीं, अतएव महर्षि पतञ्जलि प्रणव को भगवान् का वाचक बतलाते हुए ही उसके जप का निर्देश करते हैं—"तस्य वाचकः प्रणवः", "तज्जपस्तदर्थभावनम्"। —यो०द० १/२७-२८

पं०जी ने यहां पाठकों के साथ छल किया है। छली व्यक्ति के मुख से भी कभी-कभो कोई सत्य वात निकल ही जाती है। अतः उक्त श्लोक को पं० जी ने पृष्ठ २६६ में इस प्रकार लिखा है।

तथेत्युक्त्वाऽथ तं प्राह अग्निं ध्यानं समाचर।
अनेन ध्यानयोगेन महामन्त्रजपेन च ॥

इस श्लोक के नीचे पं० जी लिखते हैं— "यहाँ अग्निम् के स्थान पर कहीं 'इमम्' ऐसा पाठ है। पं० जी की शब्दावलियों से लगता है कि ये भी अग्निम् के स्थान पर ही पाठभेद स्वीकार करते हैं 'महामन्त्रजपेन च' के स्थान पर नहीं। फिर भी पृष्ठ ५ पर "महामन्त्रजपेन च" के स्थान पर 'पापपुञ्जं प्रणाशय' निःसंकोच लिखे हैं।

पाठकगण देख सकते हैं कि पृ० २६६ वाले श्लोक की रेखांकित पंक्ति में 'महामन्त्र' शब्द आया हुआ है और वह श्रीराम का नाम ही है। पूज्यपाद गोस्वामी जी मानस के नाम वन्दना प्रकरण में लिखते हैं।

महामन्त्र जोइ जपत महेसू। काशी मुकुति हेतु उपदेसू॥
—रा०मा०वा०का० १९/३

भगवान शिव काशी में मुक्ति हेतु 'राम' नाम का ही उपदेश देते हैं—

अहंभवन्नाम गृणन् कृतार्थो, वसामि काश्यामनिशं भवान्या।
मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मन्त्रं तव राम नाम॥
—अध्यात्मरामायण यु० का० १५/६२

अर्थ—हे प्रभो! मैं आपके नामोच्चारण से कृतार्थ होकर पार्वती जी

के साथ अहर्निश काशी में रहता हूँ और वहां मरणासन्न लोगों को मुक्ति हेतु आपके 'राम' नाम का उपदेश करता हूँ।

राम नाम चूंकि महामन्त्र है और उस श्लोक में 'महामन्त्र' शब्द आया है। अतः ये महाशय उस पाठ को पृष्ठ ५ पर न लिखकर 'महामन्त्रजपेन च' के स्थान पर 'पापपुञ्जं प्रणाशय' लिख दिये और कह दिये कि यहां राम या मरा शब्द जपने की कोई चर्चा नहीं है। पं० जी को भय है कि कहीं महर्षि वाल्मीकि के राम नाम या मरा शब्द (भगवन्नाम) जपने की बात शास्त्रों से प्रमाणित न हो जाय।

श्रीमान् जी ने अग्निं के स्थान पर इमम् पाठ मिलने की चर्चा की है। वह नितान्त भ्रममूलक है; क्योंकि नपुंसकलिंग 'ध्यान' शब्द का विशेषण पुंल्लिग 'इमम्' शब्द नहीं हो सकता। वह 'इदम्' शब्द ही होगा। जिसका पाठ स्वयं इन्होंने भी स्वीकार किया है।

श्लोक का यथार्थ पाठ

उक्त श्लोक में यथार्थ पाठ के निश्चय हेतु सम्पादकों और लेखकों ने कोई प्रयास नहीं किया, प्रत्युत 'ईश्वर की रचना' को 'सात सेर चना' बनाने का प्रमाद अवश्य किया है, वहां वास्तविक पाठ है—

तथेत्युक्त्वाऽथ तं प्राह अग्निं ध्यानं समाचर ।
अनेन ध्यानयोगेन मरामन्त्रजपेन च ॥
अनेक दुस्तरात्यु ग्रपापकृज्जनघातुकः ।
संस्थितो वृक्षमूले त्वं परां सिद्धि गमिष्यसि ॥

—स्क०म० आ० ख० अव०क्षे०मा० २४/२६/२७

यहां अग्निशर्मा को अत्रि ने सप्तर्षियों की अनुमति से ध्यानयोग और 'मरा' इस नामात्मक मन्त्र के जप का उपदेश दिया है। ध्यानयोग भी यहाँ कोई अलौकिक वस्तु नहीं, अपितु विषयान्तर से मनको हटाकर 'मरा' मन्त्र के वाच्य परमात्मा श्रीराम में लगाना ही है; क्योंकि अन्यमनस्क होकर जपे गये मन्त्र अधिक प्रभावशाली नहीं होते। जो वस्तु यहां ध्यान शब्द से कही गयी, वही अध्यात्मरामायण के अयोध्याकाण्ड में महर्षि को 'मरा' इस नामात्मक मन्त्रके जप की आज्ञा के समय 'एकाग्रमनसा' शब्द से कही गयी है—

'एकाग्रमनसाऽत्रैव मरेति जप सर्वदा'

स्कन्दमहापुराण की इसी कथा को अध्यात्मरामायण में पल्लवित किया गया है। लिपिकारों और सम्पादकों के प्रमाद से अग्निं के स्थान

पर इदम्, 'मरामन्त्रजपेन च' के स्थान पर 'महानन्त्रजपेनच' हो गया। वे यहीं तक शान्त न रहे, उस स्थान पर 'पापपुञ्जं प्रणाशय' तक लिख मारे। वास्तविक पाठ 'मरामन्त्रजपेनच' ही है। यह पाठ आनन्दरामायण के रचनाकाल तक था इसलिये उसमें स्कन्दमहापुराण की इस कथा का इसी भांति विस्तार किया गया है।

इसके पश्चात् एक श्लोक में वाल्मीकि की परासिद्धि की प्राप्ति का कथन करके उनके द्वारा रामायण–प्रणयन का उल्लेख है। अत; यह कहना है कि 'यहां राम या मरा शब्द जपने की चर्चा नहीं है' नितान्त भ्रममूलक है।

'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक के पृ० ५–६–७ पर कुछ कथायें पं० जी ने प्रस्तुत की हैं। उनका प्रस्तुतीकरण संक्षेप में किया जा रहा है—

प्राचीनकाल में वेदविद्यापारङ्गत स्तम्ब नामक ब्राह्मण किसी गणिका में आसक्त हो गये। कालान्तर में अपथ्य सेवन से उन्हें भगन्दर रोग हो गया। औषध आदि से बचे हुए धन को लेकर उनकी प्रेयसी गणिका चम्पत हो गयी, किन्तु पतिव्रता पत्नी पूर्ववत् सेवा करती रही। प्रारब्धवश रोग बढ़ता ही गया। दवा पिलाती हुयी पत्नी की अंगुली दातों से काटकर मुँह में रखे हुए वे मर गये।

अगले जन्म में ये अपनी दुष्टता के कारण व्याध बने। और लोगों को लूटकर अपनी जीविका चलाते थे। एक दिन मार्ग में महर्षि शङ्ख की चरण पादुका आदि छीन लिये। तप्त धूल में उनके पैरों को जलते देख इनके मनमें दया जगी, और ऋषि को उनकी वस्तुएं लौटा दिये। वार्तालाप होने के बाद ऋषि ने इन्हें राम नाम का उपदेश देकर कहा कि इसे जपते रहो। अगले जन्म में तुम वल्मीक ऋषि के कुल में जन्म लेकर वाल्मीकि संज्ञा प्राप्त करोगे। इन्होंने शेष जीवन नाम जप करते हुए बिताया।

किसी स्थान पर कृणु नामक मुनि तप करते हुये वल्मीकावृत हो गये, इसलिए लोग उन्हें वल्मीक ऋषि कहने लगे। तपस्या से विरत होने पर वाराङ्गनाओं के मधुरालाप से स्खलित हुये उनके वीर्य को शैलूषी ने ग्रहण कर लिया। उससे एक पुत्र हुआ जो तपोरत होने से वल्मीकावृत हो गया, और उससे निकलने के बाद वाल्मीकि नाम से प्रसिद्ध हुआ। इन्हीं वाल्मीकि ने रामायण का निर्माण किया।

—स्क० म० वै० ख०, वैशाख माहात्म्य, २१

स्कन्दमहापुराण के नागर खण्ड में आयी कथा का सारांश है—

अपने माता पिता की सेवा करने वाला लौहजंघ नामक द्विज अकाल पड़ने पर दस्युवृत्ति करने लगा। (पं०जी ने इस कथा के प्रस्तुतीकरण में घोटाला किया है, अतः मैं वास्तविकता को लिख रहा हूं) किसी समय सप्तर्षियों से उसको भेंट हो गयी। लूटने को उद्यत देखकर उन्होंनें उसे घर भेजा और बोले कि पूछना तुम्हारे द्वारा किये गये पाप का फल परिवार वाले भोगेंगे या नहीं ? वह घर में पूछने पर कोरा उत्तर पाकर उनकी शरण में आ गया। उन्होंने उसे 'जाटघोट' मन्त्र का उपदेश किया। वह ध्यानमग्न होकर जप करते हुये वल्मीकावृत हो गया। दीर्घकाल के बाद ऋषियों ने उसे उसमें से निकालकर वाल्मीकि की संज्ञा दी। आगे चलकर इन्होंने भवबन्ध-विमोचनी रामायण कथा का निर्माण किया।

इसी पुराण के प्रभासखण्ड के अनुसार शमीमुख नामक ब्राह्मण का पुत्र वैशाख अपने परिवार के पालन हेतु दस्युवृत्ति ग्रहण कर लिया। सप्तर्षियों के उपदेश से जप करके वाल्मीकि हो गया और रामायण का निर्माण किया। तत्त्वसंग्रह रामायण में सप्तर्षियों को आकाशवाणी द्वारा उक्त दस्यु को 'मरा' इस मन्त्र का उपदेश करने का आदेश हुआ। शेष कथा अध्यात्मरामायण-वत् ही है।

आनन्दरामायण में वर्णित कथा स्कन्दमहापुराण के वैष्णवखण्ड की कथा के समान ही है। केवल तृतीय जन्म की कथा में थोड़ा सा अन्तर है। वह यह कि इसमें महर्षि कृणु के नेत्रों से वीर्यस्खलित हुआ और उसे शैलूषी नहीं, किसी सर्पिणी ने ग्रहण किया। जिससे वाल्मीकि का जन्म हुआ। किरातों ने उनका भरण पोषण किया, उन्हीं के संसर्ग से वे दस्यु हो गये, और 'मरा' मन्त्र के जप से शुद्ध होकर वाल्मीकि हो गये, और रामायण की रचना किये। कृतिवास रामायण में च्यवन का पुत्र रत्नाकर नामक व्याध था जिसका उद्धार ब्रह्मा और नारद के द्वारा "मरा" इस नाम के उपदेश से हुआ। शेष कथा अध्यात्मरामायणवत् है।

कथाओं का परस्पर विरोध

पंडित जी लिखते हैं कि पहले दूसरे तीसरे प्रसंगों में महर्षि का जीवन वृत अधिक सुस्पष्ट है, किन्तु है परस्पर विरुद्ध, प्रथम प्रसङ्ग में वाल्मीकि को जन्मना द्विज वताकर संग दोष से उनका पातित्य दिखाकर मरा शब्द के जप से उनका उद्धार दिखाया गया। यहाँ वाल्मीकि को द्विजमात्र कहा गया है। सुस्पष्ट रूप से ब्राह्मण नहीं, और न ही यहां उनके कवि होने और न ही

उनके द्वारा रामायण रचना की ही चर्चा है। दूसरी और तीसरी कथायें एक ही स्कन्दमहापुराण की होने पर भी परस्पर अत्यन्त विरुद्ध हैं। इनमें प्रथम में वाल्मीकि का ब्राह्मण होना तो स्वीकार किया गया, किन्तु उन्हें वेदाध्ययन से वंचित रखा गया। इनके उद्धार का साधन यहाँ ध्यानयोग वताया गया, मरा या राम शब्द का जप नहीं। यहाँ भगवान् शंकर की आराधना से कवित्वशक्ति की प्राप्ति एवं रामायणरचना का सुस्पष्ट निर्देश है। द्वितीय कथा में वाल्मीकि के तीन जन्मों की कथा है। प्रथम जन्म में ब्राह्मण होकर भी सङ्गदोष से पतित हो जाना, द्वितीय जन्म में व्याध होकर भी सत्संग से राम नाम पाकर उसके जप से शान्ति और जन्मान्तरीय अभ्युन्नति दिखायी गयी। किन्तु तृतीय जन्म में ब्राह्मण के वीर्य और शैलूषी (नटभार्या) के रजस् से उनकी उत्पत्ति दिखायी गयी। फलतः इस तृतीय जन्म में जिसमें उनकी वाल्मीकि संज्ञा हुई, अनुलोम-सङ्कर होने के कारण मातृजात्यारोप होने के कारण शूद्र ही कहे जायेंगे, ब्राह्मण नहीं; क्योंकि जातिनिर्धारण में शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है, और शास्त्र का सुस्पष्ट निर्देश है—

सवर्णेभ्यः सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्धनाः ॥ (या० आ० ९०)

चतुर्थ में तो सर्पिणी से उनकी उत्पत्ति दिखाकर उन्हें तिर्यक् योनि में डाल दिया गया।

विरोध-परिहार

द्विवेदीजी को तीनों कथाओं में विरोध इसलिये दिखा कि प्रथम कथा में महर्षि वाल्मीकि द्विज, द्वितीय में ब्राह्मण और तृतीय जन्म की कथा में शैलूषी से उत्पत्ति दिखाने से शूद्र सिद्ध होते हैं। आनन्दरामायण की कथा में सर्पिणी से उत्पन्न होने के कारण महर्षि तिर्यग्योनि में चले गये। एक ही व्यक्ति ब्राह्मण शूद्र और तिर्यग्योनि का प्राणी हो, यह सम्भव नहीं; क्योंकि ये सब परस्पर विरुद्ध हैं। इस प्रकार का विरोध द्विवेदी जी को दिखा किन्तु इनकी यह धारणा मात्र भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि प्रथम कथा अर्थात् अध्यात्म-रामायण में महर्षि वाल्मीकि को ब्राह्मण ही कहा गया है। वहां के अयोध्या काण्ड के छठे सर्ग में महर्षि अपनी जीवनी वनवास हेतु आश्रम पर पधारे हुए श्रीराम को सुनाते हुए कहते हैं कि मैं जन्ममात्र से द्विज हूँ—

जन्ममात्रद्विजत्वं मे शूद्राचाररतः सदा। ६५

द्विज शब्द विप्र अर्थ में भी प्रसिद्ध है—

दन्तविप्राण्डजा: द्विजा: (अ० को० ३/३०)

यहाँ दांत विप्र और अण्डजों में द्विज शब्द की शक्ति का ग्रहण कोप से हो रहा है। दार्शनिकों की यह मर्यादा है कि वे कोष से शक्तिग्रह मानते हैं—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च: ।"

महर्षि वाल्मीकि न तो दांत हैं, और न ही अण्डे से उत्पन्न पक्षी। अत: वे विप्र ही सिद्ध होते हैं। इसलिए उनके ब्राह्मणत्व का उद्घोष करने वाली कथा इससे विरुद्ध नहीं है।

यदि कहें कि द्विज शब्द ब्राह्मण-क्षत्रिय और वैश्य अर्थ का भी वोधक है—

ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा: वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजा: ।
(या० स्मृति आ०, ब्र० प्र० १०)

द्विज: स्याद् ब्राह्मणक्षत्रवैश्यदन्ताण्डजेषु ना
(मेदिनोकोष)

तो केवल ब्राह्मण अर्थ ही कैसे लब्ध होगा? द्विज शब्द से उनमें क्षत्रियत्व अथवा वैश्यत्व की भी तो सम्भावना हो सकती है अत: सम्भावित विरोध है ही।

इसका समाधान सुनें। अध्या० रा० के अ० का० छठें सर्ग में महर्षि वाल्मीकि और उनके शिष्यों का उल्लेख है—

गत्वा रामोऽथ वाल्मीकेराश्रममृषिसंकुलम् । ४३
एवमुक्त्वा ऋषि: श्रीमाँल्लक्ष्मणेन समन्वित: ।
शिष्यै: परिवृतो गत्वा मध्ये पर्वतगङ्गयो: ।।८६।।

यहाँ रेखाँकित पंक्तियों से क्रमश: वाल्मीकि के आश्रम और उनके अनेक शिष्यों का सुस्पष्ट परिचय मिलता है। प्राचीनकाल में जबकि वर्णाश्रम व्यवस्था अति सुदृढ़ थी, गुरुकुलों में ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य वटु वेदाध्ययनार्थ जाते थे। शिष्य का उपनयन करके गुरु उन्हें कल्प (यज्ञ विद्या) और रहस्य (उपनिषद्) सहित वेद का अध्ययन कराते थे। अध्यापन का कार्य उस समय केवल ब्राह्मण ही करते थे,✽ क्षत्रिय या वैश्य नहीं; क्योंकि प्रत्येक के कार्य सुनिश्चित थे, और वे उसका पालन करते थे। इसका परिचय 'मनुस्मृति' से मिलता है।❋

✽ अध्ययनमध्यापनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।। —मनुस्मृति १/८८

❋ वहीं देखें।

महर्षि वाल्मीकि के आश्रम पर अनेक शिष्यों के रहने से ज्ञात होता है कि वे ब्राह्मण ही थे; क्योंकि उपनयन करके वेदाध्ययन कराना ब्राह्मण का ही कार्य है। इधर इन्हें द्विज कहा ही गया है। अतः ये ब्राह्मण ही हैं। इसका निश्चय वहीं के ८९वें श्लोक से होता है। हाँ, इसका परिज्ञान विचार-शून्य व्यक्ति को नहीं हो सकता, उसको ज्ञान कराने हेतु सुस्पष्ट ब्राह्मण शब्द का उल्लेख होना ही चाहिए।

ऐसा भी कोई नियम नहीं है कि द्विज शब्द सर्वत्र त्रैवर्णिक का ही बोधक हो; क्योंकि शास्त्रों में कई स्थलों में द्विज शब्द विप्र के लिए अभिधा-शक्त्या प्रयुक्त हुआ है—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनु० २/४०)

"दन्तविप्राण्डजाः" कोष द्विज शब्द की ब्राह्मणवाचकता में प्रस्तुत किया ही जा चुका है। अतः महर्षि का ब्राह्मणत्व वहाँ सिद्ध है। इसलिए कोई विरोध नहीं।

स्कन्दमहापुराण के आवन्त्यखण्ड में आयी वाल्मीकि की कथा में उनके द्वारा "मरा" मन्त्र के जप का उल्लेख होने के साथ ही उनसे रामायण-प्रणयन किये जाने का भी उल्लेख है। यही कथा अध्यात्मरामायण के अरण्यकाण्ड के छठें सर्ग में लिखी गयी है। यहाँ वाल्मीकि जी के आश्रम और उनके अनेक शिष्यों का सुस्पष्ट उल्लेख है, और वाल्मीकीयरामायण के बा० का० के द्वितीय सर्ग में भी वाल्मीकि जी के आश्रम और उनके अनेक शिष्यों का उल्लेख है—

"स प्रविश्याश्रमपदम्" "तस्य शिष्यास्ततः सर्वे।"
(वा० रा० बा० का० २/२२/३९)

चित्रकूट में इनका आश्रम था ही। आज भी एक महापुरुष के अनेक आश्रम दिखते हैं। अतः चित्रकूटवासी "मरा" नामात्मकमन्त्र के जापक महर्षि वाल्मीकि ही रामायण के प्रणेता हैं।

पं० जी ने जो लिखा कि "यहाँ न इनके कवि होने की और न इनके द्वारा रामायण रचना की ही चर्चा है"। इसका उत्तर है कि महर्षि ने रामायण की रचना श्रीरामराज्याभिषेक के पश्चात् की थी। इसका विवेचन पृष्ठ ११ एवं १२ पर हो चुका है। रामायणप्रणयन के पूर्व उन्होंने भगवान् शंकर की आराधना भी की थी।

भला एक तपःपूत महर्षि रामायण–निर्माण काल से सुदूर पूर्व वनवास हेतु वन को पधारे श्रीराम से कैसे असत्य बोलते कि–"मैं महान् कवि हूँ, मैंने रामायण की रचना कर ली है"।

अतः पंडित जी का उक्त कथन नितान्त भ्रान्तिमूलक है कि "वहां कवि न होने और रायायण के रचना को चर्चा न होने से चित्रकूटवासी 'मरा' मन्त्र के जापक महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना नहीं की।"

अग्निशर्मा वेदाध्ययन से वंचित नहीं

पण्डित जी द्वितीय अर्थात् स्कन्दमहापुराण के आवन्त्यखण्ड की कथा के विषय में कहते हैं कि इसमे वाल्मीकि का ब्राह्मण होना तो स्वीकार किया गया, किन्तु उन्हें वेदाध्ययन से वंचित रखा गया। श्रीमान् जी को महान् क्षोभ है कि अग्निशर्मा को वेदाध्ययन से वंचित क्यों रखा गया?

पुराण ऋतम्भरा प्रज्ञा के निलय भगवान् बादरायण की महान् कृति (शतकोटिप्रविस्तर पुराण का संक्षिप्त संकलन) हैं। हमारे ऋषिगण जिस वस्तु का जैसा प्रत्यक्ष करते थे वैसा ही लिख देते थे। उनके ग्रन्थों को समझने के लिए निर्मल बुद्धि चाहिए। अन्यथा विरोध ही दिखेगा।

द्विवेदीजी का यह कथन मात्र भ्रान्तिमूलक है कि "अग्निशर्मा को वेदाध्ययन से वंचित रखा गया"। पण्डितजी स्कन्दमहापुराण के उस श्लोक का अर्थ करते समय यदि अपनी सिद्धान्तकौमुदी का ध्यान रखते तो श्लोकार्थ में भ्रान्त न होते। वहां पर श्लोक है—

स पित्रा प्रोच्यमानोऽपि वेदाभ्यासं न मन्यते। (स्क०म०आ०ख०२७/४)

इसका अर्थ है—वह अग्निशर्मा पिता द्वारा कहे जाने पर भी वेदाभ्यास को नहीं मानता था, अर्थात् वेदाभ्यास नहीं करता था।

वेदाभ्यास के पहले वेदाध्ययन अनिवार्य है, इसीलिए कहा गया—

"<u>वेदस्वीकरणं पूर्वं</u> विचारोऽभ्यसनं जप."—या.स्मृ.प्रा.३१०की मिताक्षराटीका

महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि कहते हैं कि चार कालों में विद्या फलवती होती है, ग्रहणकाल, अभ्यासकाल, अध्यापनकाल और यज्ञाद्यनुष्ठान काल में–

"चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति, आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेन, (महाभाष्य 1/1/1 पस्पशाह्निक)

यहां महापण्डित नागेशभट्ट आरम्भ के दो कालों को विद्यार्थी का, काल लिखते हुये कहते हैं—तत्राद्ययोः विद्यार्थ्ययं बुद्धिमान् इत्यादरपूर्वकमन्नवस्त्रादिलाभरूप उपयोगः (उद्योतः) आरम्भ के दोनों कालों में (विद्यार्थी के ग्रहण अर्थात अध्ययन और अधीतग्रन्थ के अभ्यास को देखकर लोगों से उसको) यह विद्यार्थी बुद्धिमान् है"इस प्रकार आदरपूर्वक अन्न वस्त्रादिलाभ

रूप (विद्या का) उपयोग है ।

पाठकगण देख सकते है कि यहां भगवान् महाभाष्यकार और नागेश जी के अनुसार पहले विद्या का ग्रहण और उसके बाद उसका अभ्यास लिखा गया है। महापण्डित कैयट ने स्वाध्यायकाल का अर्थ अभ्यासकाल लिखा है; अतः स्वाध्याय का अर्थ अभ्यास यहाँ सुस्पष्ट होता है। अतएव स्वाध्यायं सततं कुर्यात् (या०स्मृति०आ०१०४) में स्वाध्याय शब्द को अभ्यास परक मानकर मिताक्षरा टीकाकार ने "स्वाध्यायं सततं कुर्यादविस्मरणार्थम्" लिखा; क्योंकि अभ्यास के बिना अधीतग्रन्थ विस्मृत हो जाता है, इसीलिए कहा गया है –
'अनभ्यासे विषं विद्या'। अतएव मिताक्षराकार ने 'वेदार्थानधिगच्छेच्च' (या० स्मृति आ० ९९) की व्याख्या में चकारादधीतं चाभ्यसेत् (चकार का अर्थ है कि अधीत ग्रन्थ का अभ्यास करे) लिखा।

इस परिशीलन से सुस्पष्ट हो चुका कि अभ्यास अधीत ग्रन्थ का ही होता है, अनधीत का नहीं। यही आर्ष परम्परा की मर्यादा है। अतः वेदाध्ययन के विना वेदाभ्यास कैसे हो सकता है ? इसलिए निश्चित होता है कि अग्निशर्मा अपने पिता से अधीत वेद का अभ्यास नहीं करता था; यही—

"स पित्रा प्रोच्यमानोऽपि वेदाभ्यासं न मन्यते' का तात्पर्य है ! इससे यह अर्थ कथमपि नहीं निकलता कि वह वेदाध्ययन नहीं करता था। यदि अग्निशर्मा वेदाध्ययन से वंचित रहता तो पथिकों को लूटने और मारने जैसे कर्म करते रहने पर उसके विषय में क्यों कहा गया कि उसकी स्मृति नष्ट हो गयी और वेद चले गये– स्मृतिर्नष्टा गता वेदा गतं गोत्रं गता श्रुतिः। (स्क०म०आ० ख० अव०क्षे०मा० २७/८)

यह कथन तो तभी उपपन्न हो सकता है जब वह वेदाध्ययन से वंचित न हुआ हो, वेदाध्ययन किया हो। स्कन्दमहापुराण के श्लोकों से यही अर्थ निकलता है कि उसने वेदाभ्यास नहीं किया। आज भी छात्र गुरु से अपनी शाखा या किसी भी शास्त्र का अध्ययन कर ले, और उसका अभ्यास न करे तो कुछ काल के पश्चात् वह विस्मृत हो जाता है; उस पर भी यदि दुराचारियों का सङ्ग, हिंसा और लूट-पाट, जीवन का अङ्ग बन जाय, तो कहना ही क्या ? यही स्थिति अग्निशर्मा की थी।

अतः "स पित्रा प्रोच्यमानोऽपि वेदाभ्यासं न मन्यते' और स्मृतिर्नष्टा गता वेदा गतं गोत्रं गता श्रुतिः" इन दोनों श्लोकों को ध्यान में रखकर

विचार करने से वेदाभ्यास का अर्थ स्वाध्यायाभ्यसन अर्थात पौन: पुन्येन-वेदावर्तनरूप लब्ध होता है । लोक में पुन: पुन: किसी कार्य को करना अभ्यास कहा जाता है जैसे मृदंग का अभ्यास, शस्त्र का अभ्यास, कुश्ती का अभ्यास आदि । पूर्वमीमांसा में "एकस्यैवं पुन: श्रुति:" (जै०सू०२/२/२२) में एक का पुन:-पुन: श्रवण अभ्यास कहा गया है । उत्तरमीमांसा में आनन्दमयोऽभ्यासात् (बा०सू० १/१/आ० अ०) सूत्र में अभ्यास को हेतु बनाकर उक्त स्थल में आनन्दमय पद से परमात्मा का ही ग्रहण किया गया, और आनन्द शब्द का अनेक वार परमात्मा में प्रयोग दिखाया गया ।

इस परिशीलन से निश्चित हुआ कि 'वेदाभ्यासं न मन्यते' में वेदाभ्यास वेद की पुन: पुन: आवृत्तिरूप ही है, अध्ययनरूप नहीं । अत: अग्निशर्मा को वेदाध्ययन से भगवान् बादरायण ने नहीं, अपितु द्विवेदीजी की वंचकबुद्धि ने ही वंचित रखा है । इन महाशय की बातें भी परस्पर विरुद्ध हैं; क्योंकि यहाँ कह रहे हैं कि अग्निशर्मा को वेदाध्ययन से वंचित रखा गया । पुन: पृष्ठ ३०१ पर लिखते हैं कि 'स्मृतिर्नष्टा गता वेदा.....' के अनुसार सिद्ध है कि वह वेद शास्त्र का पूर्ण स्वाध्यायी था ।

'अग्निशर्मा के उद्धार का साधन ध्यानयोग बताया गया, मरा या राम शब्द का जप नहीं' द्विवेदीजी के इस कपटकथन का खण्डन १३, १४ एवं १५ पृष्ठ पर पूर्व में किया जा चुका है ।

महर्षि वाल्मीकि शूद्र नहीं

पण्डितजी ने कहा है कि "तृतीय जन्म में ब्राह्मण के वीर्य और शैलूषी (नटभार्या) के रजस् से महर्षि वाल्मीकि की उत्पत्ति दिखायी गयी है, फलत: वे अनुलोमसंकर होने के कारण मातृजात्यारोप होने के कारण शूद्र ही कहे जायेंगे"। इनका यह कथन भ्रान्तिमूलक ही है ।

भ्रान्ति का कारण

पण्डितजी के नेत्रों की ज्योति क्रमश: क्षीण हो रही है, अत: इन्हें अपने चश्मे को या उसके ग्लास को बदल देना चाहिए, अन्यथा अक्षरों के सुस्पष्ट दिखायी न देने से अन्य महर्षियों में भी शूद्रत्व का आरोप करते-करते इनका जीवन समाप्त हो जायेगा ।

स्कन्दमहापुराण के वैष्णवखण्ड में आयी कथा में शैलूषी नहीं, अपितु 'शैलुषी' पाठ है—

जग्राह शैलुषी काचित् तस्यां जज्ञे वनेचरः ।
वाल्मीकिरिति विख्यातो भुवनेषु महायशाः ॥
यो वै रामकथां दिव्यां स्वैः प्रबन्धैर्मनोहरैः ।
लोके प्रख्यापयामास कर्मबन्धनिकृन्तनीम् ॥ (२१/६७/६८)

पाठकगण यहां सुस्पष्ट देख सकते हैं कि अनुष्टुब्छन्द के इस श्लोक में शैलुषी पाठ है। अनुष्टुब्छन्द में—

श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥

नियम के अनुसार सर्वत्र छठां अक्षर गुरु और पांचवां लघु होता है, द्वितीय और चतुर्थपाद का सातवां अक्षर ह्रस्व तथा प्रथम और तृतीय पाद में वही दीर्घ होता है। इस नियम का पालन पूर्वलिखित दोनों श्लोकों में ही नहीं, अपितु वहां के पूर्व और पर के अन्य श्लोकों में भी हुआ है। अतः प्रथम पाद में पाँचवाँ अक्षर 'शैलुषी' का लु ह्रस्व ही है, दीर्घ नहीं। लगता है चश्मे की गड़बड़ी के साथ ही पण्डित जी अनुष्टुब्छन्द के इस सुप्रसिद्ध नियम को भी शैलूषी (नटभार्या) लिखते समय भूल गये।

सम्प्रति उपलब्ध सभी पाण्डुलिपियों और मुद्रित सभी संस्करणों में शैलुषी ही पाठ है' शैलूषी नहीं। यदि यहां शैलूषी पाठ होता तो "शैलालिनस्तु शैलूषाः जायाजीवाः कृशाश्विनः। भरता इत्यपि नटाः" (अ०को०द्वि०का०शू०व०१२)

इस अमरकोष के अनुसार नटार्थक शैलूष शब्द से शैलूषस्य स्त्री इस विग्रह में पुंयोगादाख्यायाम् (पा.सू. ४/१/४८) सूत्र से ङीष् प्रत्यय करके शैलूषी शब्द निष्पन्न किया जाता, जिसका अर्थ होता नट की भार्या, किन्तु यहां तो शैलूषी शब्द श्लोक में है ही नहीं, फिर भी चश्मे की गड़बड़ी से शैलुषी को शैलूषी समझकर पंडितजी नटभार्या अर्थ कर दिये, और उसे शूद्र कहकर महर्षि वाल्मीकि को उससे उत्पन्न बताकर शूद्रकोटि में पहुंचा देने का अक्षम्य अपराध कर बैठे। पंडितजी ने ब्रह्मर्षि विश्रवा को भी वर्ण सङ्कर बना दिया है जिसका खण्डन आगे किया जायेगा।

इस परिशीलन से निश्चित हुआ कि महर्षि वाल्मीकि की माता शैलुषी शूद्रा नहीं थीं, उन्हें शैलूषी समझना पण्डितजी की भ्रान्ति है। अतः महर्षि वाल्मीकि को शैलूषी (नटभार्या) से उत्पन्न न होने के कारण शूद्र नहीं माना जा सकता। ये रामायणप्रणेता महर्षि वाल्मीकि शैलुषी नामक किसी ब्राह्मण की कन्या से उत्पन्न हुए, अतः इनके ब्राह्मणत्व में कोई

सन्देह नहीं ।

महर्षि वाल्मीकि तिर्यग्योनि के प्राणी नहीं

पंडितजी का यह कथन नितान्त भ्रममूलक है कि "आनन्द रामायण में सर्पिणी से उनकी उत्पत्ति दिखाकर उन्हें (महर्षि वाल्मीकि का) तिर्यग्योनि में डाल दिया गया"; क्योंकि महर्षि जरत्कारु से नागराज वासुकि की बहन जरत्कारु द्वारा उत्पन्न आस्तीक नामक सन्तान ब्राह्मण ही हुई, तिर्यग्योनि की नहीं । उन्हें वेदव्यास भगवान् कृष्णद्वैपायन ने महाभारत के आदिपर्व के ५६वें अध्याय में– "बालोऽपि विप्रो मान्य एवेह राज्ञाम् ।।१।। अस्मै तु द्विजमुख्याय ।।१६।। लभतां ब्राह्मणो वरम् ।२७।। इन श्लोकों में विप्रमुख्य और ब्राह्मण ही लिखा है । ये वचन आस्तीक के लिए महातपस्वी और वेदज्ञ ऋत्विजों के मुख से निकले हैं । ब्रह्मर्षि विभाण्डक के वीर्य द्वारा हिरणी से उत्पन्न ऋष्यश्रृङ्ग तिर्यग्योनि के प्राणी न होकर ब्राह्मण ही हुए ।

विभाण्डकसुत राजन् 'ब्राह्मणं' वेद पारगम् । नान्यं जानाति 'विप्रेन्द्रो ।।
(वा०रा०बा०का० ९/१६–५)

ऋषियों के वीर्य का प्रभाव अमोघ है उनसे तिर्यग्योनि में उत्पन्न सन्तानें भी ब्राह्मण होने के साथ–साथ ऋषित्व प्राप्त कीं । इसीलिए भगवान् मनु बीज के प्राशस्त्यबोधन में तिर्यग्योनि के प्राणी से उत्पन्न ऋषियों को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं–

"यस्माद्बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन्" । –म०स्मृ० १०/७२

अतः उग्र तपस्वी ब्रह्मर्षि कृणु के वीर्य से पन्नगी में समुत्पन्न महर्षि वाल्मीकि वीर्य के प्रभाव से ब्राह्मण ही हुए, तिर्यग्योनि के प्राणी नहीं । आज भी क्षेत्र चाहे जैसा हो गेहूँ का बीज डालने पर गेहूँ ही होता है चना नहीं, चाहे वह चना के खेत (क्षेत्र) में ही क्यों न हो । अतः महर्षि को तिर्यग्योनि में आनन्दरामायणकार ने नहीं डाला, अपितु ऋषियों की विलक्षण उत्पत्ति से अनभिज्ञ द्विवेदीजी ने अपने मतिभ्रम से वैसा मान लिया है ।

यह समाधान द्विवेदीजी की आपत्ति के अनुसार किया गया है । वास्तविक स्थिति तो यह है कि आनन्दरामायणस्थ –

"पन्नगीजठरोद्भूतस्त्वरण्ये रघुनन्दन" । (राज्यकाण्ड १४/१२०)

श्लोक में आया पन्नगी शब्द शैलुषी का ही नामान्तर है; क्योंकि

आनन्दरामायणकार स्कन्दमहापुराण की कथाओं का यहाँ सङ्कलन करते देखे जा रहे हैं। स्कन्दमहापुराण में कृणु के वीर्य को शैलुषी धारण करती है। अतः इस रामायण में भी शैलुषी ही पन्नगी पद से अभीष्ट है।

पद्ममहापुराण के पातालखण्ड के ६/१८ श्लोक में विश्रवा की मन्दाकिनी और कैकसी नामक दो पत्नियों का वर्णन है, जिसमें मन्दाकिनी से कुबेर की उत्पत्ति कही गयी है। वाल्मीकीयरामायण के उत्तरकांड में देववर्णिनी से उनकी उत्पत्ति बतायी गयी है, देववर्णिनी का ही एक नाम मन्दाकिनी भी है, जिसका उल्लेख पातालखण्ड में है। अब यहाँ यदि कोई नरपुङ्गव मन्दाकिनी का अर्थ गंगा करके कुबेर की माता के बोधक दोनों ग्रन्थों के वचनों में विरोध दिखलाये, तो यह बुद्धि दोष उसी सज्जन का माना जायेगा, न कि शास्त्रों का।

एक व्यक्ति के अनेक नाम कई कारणों से आज भी देखे जाते हैं। अतः शैलुषी, जिसका एक नाम पन्नगी भी था, किसी ब्रह्मर्षि की कन्या थी, जिससे महर्षि वाल्मीकि समुद्भूत हुए। इसलिये उन्हें तिर्यग्योनि में जाने की सम्भावना भी नहीं कर सकते। पुराण की कथाओं में भासित विरोध एक व्यक्ति के कई नाम मानकर अथवा उपायान्तर के अभाव में कल्पभेद का आश्रयण करके शमन कर लेना भारतीय परम्परा का सुन्दर राजपथ है।

इस विवेचन से सिद्ध है कि महर्षि वाल्मीकि, जिन्होंने रामायण का प्रणयन किया है, वे ब्राह्मण ही हैं, अतः उन कथाओं में परस्पर कोई विरोध नहीं।

अध्यात्मरामायण की कथा में आपत्तिप्रदर्शन

अध्यात्मरामायण के अयोध्याकाण्ड के छठें सर्ग में महर्षि वाल्मीकि की कथा आयी है, जिसमें सप्तर्षियों द्वारा उन्हें 'मरा' (उलटा नाम) इस भगवन्नाम का जप करने को कहा गया है। अयोध्या के पं० बैजनाथ द्विवेदी ने "अध्यात्मरामायणोय कथा का विवेचन" शीर्षक से इस कथा में दी आपत्तियाँ उठाकर महर्षि द्वारा किये गये उलटे नामजप का खण्डन किया है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो अध्यात्मरामायण के

साथ ही, रामचरितमानस आदि ग्रन्थों में पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा वर्णित—"जान आदि कवि नाम प्रतापू। भयउ शुद्ध करि उलटा जापू" आदि तथ्य भी समानविषयक होने से खण्डित मान लिये जायेंगे। जिससे ये दोनो ग्रन्थकार भ्रान्त सिद्ध होने लगेंगे। अतः पण्डित जी की आपत्तियों का भङ्ग किया जा रहा है—

पण्डितजी पृष्ठ ८ में "महर्षि वाल्मीकि" में लिखते हैं— इस कथा में मुख्य दो आपत्तियां हैं। (१) वाल्मीकि को शुद्ध राम नाम की की दीक्षा न देकर 'मरा' शब्द की दीक्षा क्यों दी गयी? (२) मरा शब्द के जप में पतितोद्धार कारणता कैसे आयी?

प्रथम में यदि कहा जाय कि द्विज होकर भी दुराचार के कारण वह द्विजाधम हो गया था पतित हो गया था अतः शुद्ध राम नाम पाने का वह अधिकारी ही न तो भी यह प्रश्न उठेगा कि उसके उद्धार में कारणता 'मरा' इस आनुपूर्वीविषयक जप में थी अथवा जप के सातत्य से परावर्तित हुए राम इस आनुपूर्वीविषयक जप में? यदि प्रथम पक्ष है तो पतितोद्धार हेतु मरा शब्द के जप की सार्वत्रिकता एवं सार्वकालिकता होनी चाहिए। अर्थात् आज भी पतितों के उद्धार हेतु 'मरा' इस शब्द का उपदेश गुरुओं द्वारा किया जाना चाहिए तथा उसका जप भी शिष्यों द्वारा किया जाना चाहिए। किन्तु यह कहीं भी अन्यत्र न दृष्ट है न श्रुत।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितप्रवर के दोनों प्रश्नों का उत्तर देने के पूर्व यह दिखा देना आवश्यक है कि इन्होंने प्रथम प्रश्न के उत्तर की "प्रथम में यदि कहा जाय कि वह द्विज होकर भी दुराचार के कारण द्विजाधम हो गया था, पतित हो गया था, अतः शुद्ध राम नाम पाने का वह अधिकारी ही न रहा" जो कल्पना की है, वह अज्ञानमूलक है। यद्यपि इनके दोनों प्रश्न भी अज्ञानमूलक ही हैं, तथापि सर्वप्रथम, उत्तर की कल्पना में अज्ञानमूलकता दिखाकर उसका निराकरण कर देने से उसके ऊपर आधारित इनके सम्पूर्ण कल्प, विकल्प, तर्क, वितर्क वैसे ही धराशायी हो जायेंगे, जैसे नींव के ध्वस्त होने से महल धराशायी हो जाता है।

विद्वान् लेखक को यह बात मालूम हो जानी चाहिए कि उसने अपने द्वारा उठाये गये प्रथम प्रश्न का जो उत्तर दिया है, वह इसलिए अज्ञान-

मूलक है; कि राम नाम के जप में द्विजाधम या महान् पतित कोई भी क्यों न हो, सभी का अधिकार है। उसके जप के लिए उसके प्राप्ति अर्थात् दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं; क्योंकि दीक्षा मन्त्र-जप का ही अङ्ग है, नाम-जप का नहीं, तभी तो अष्टादशपुराणप्रणेता भगवान् व्यास के पुत्र इस विषय में उद्घोष कर रहे हैं—

"आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा,
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यंच मुक्तिस्त्रियः।
नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते,
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः"॥
—शुकसंहिता।

अर्थ- जो स्थिरचित्त महापुरुष हैं उनके भी मन का आकर्षण, बड़े से बड़े पापों का उच्चाटन, मुक्तिरूपी स्त्री का वशीकरण श्रीराम नाम है। गूंगों को छोड़कर चाण्डाल पर्यन्त सभी को यह सुलभ भी है, इसके लिए दीक्षा, दक्षिणा या पुरश्चरण की कुछ भी आवश्यकता नहीं। यह श्रीरामनामात्मक महामन्त्र तो रसना के स्पर्शमात्र से ही फल देने लगता है।

सुधीजन देख सकते हैं कि यहां "आचाण्डालममूकलोकसुलभो" से राम नाम के जप में चाण्डालपर्यन्त सभी का अधिकार वतलाया गया है। भले ही, वे द्विजाधम या महान् पतित ही क्यों न हों ? "नो दीक्षाम्" इत्यादि पदावलियों से यह बतलाया गया कि राम नाम के जप से पाप-ध्वंस आदि किसी भी फल की प्राप्ति के लिए उसके दीक्षा आदि की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि कोई भी अपने दुराचार के कारण कितना ही वड़ा द्विजाधम या पतित क्यों न हो जाय। वह सम्पूर्ण पापों से छूटने के लिए भगवान् के किसी भी नाम का अवलम्बन ले सकता है। उसके लिए नाम के दीक्षा आदि की कोई आवश्यकता नहीं। दुराचारी, महापातकी द्विजाधम अजामिल को जब यमदूत उसके पापों का दण्ड देने के लिए पाश से बांधकर ले जाने को उद्यत हुए, तो वह कहीं भी 'नारायण' इस नाम की दीक्षा लेने के लिए नहीं गया और न कोई महापुरुष ही वहां आकर उसे इस नामात्मक-मन्त्र की दीक्षा दिये। फिर भी वह पतित द्विजाधम, 'नारायण' इस नाम के उच्चारण मात्र से सम्पूर्ण पापों से छूट गया, उसका यमपाश तक छिन्न-भिन्न हो गया।

द्विवेदी जी के उत्तरानुसार तो वह द्विज होकर भी दुराचार के कारण द्विजाधम हो गया था, पतित हो गया था। अतः भगवन्नाम पाने का अधिकारी ही न रहा। अतः अनधिकारी अजामिल से उच्चरित 'नारायण' इस नाम द्वारा अघध्वंस नहीं होना चाहिए था। (जैसा कि अनधिकारी शूद्रादि से संपादित यज्ञ यागादि का कोई फल नहीं होता) जबकि हुआ है; क्योंकि "एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्। यदा नारायणेत्येतज्जगाद चतुरक्षरम्" ॥ —भागवतमहापुराण ६/२/८

वचन से भगवान् के दूतों ने 'नारायण' नाम के उच्चारण मात्र से उसके पापक्षय की पुष्टि की है। अतः इन पुराणादि सच्छास्त्रसिद्ध तथ्यों से विरुद्ध होने के कारण द्विवेदी जी का उत्तर मात्र अज्ञानमूलक एवं असत् है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के तृतीयखण्ड के १२२ वें व १२३वें अध्याय के कतिपय वचनों से भी सुस्पष्ट हो जाता है, कि दीक्षा नाम-जप का अङ्ग नहीं है—

"सर्वाणि नामानि हि तस्य राजन् भवन्ति कामाखिलदायकानि।
यदेव सङ्कीर्तयते स भक्त्या तस्मादवाप्नोति हि कामसिद्धिम्" ॥१२२/१४

अर्थ—हे राजन्! उन परमात्मा के सभी नाम सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थों को देने वाले हैं। जो व्यक्ति भक्तिपूर्वक जिस किसी नाम का सङ्कीर्तन करता है वह उसी से अपने अभीष्ट की सिद्धि प्राप्त करता है।

"सर्वाणि नामानि हि तस्य राजन् सर्वार्थसिद्धानि भवन्ति पुंसः।
तस्माद्यथेष्टं खलु देवनाम सर्वेषु कार्येषु जपेत्तु भक्त्या"। —१२३/१६

अर्थ—हे राजन्। उन परमपुरुष के सम्पूर्ण नाम निखिल वस्तुओं को देने वाले हैं, इसलिए अपनी रुचि के अनुकूल किसी भी भगवन्नाम का सम्पूर्ण कार्यों के लिए भक्तिपूर्वक जप करे।

यहाँ ध्यातव्य यह है, कि यदि गुरु से भगवन्नाम की दीक्षा प्राप्त होने के पश्चात् ही उससे पापध्वंस आदि फलविशेष की प्राप्ति शास्त्रानुमोदित होती तो इन दोनों वचनों में अपनी रुचि के अनुकूल जिस किसी भगवन्नाम से सम्पूर्ण अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति का उल्लेख न करके गुरु से प्राप्त भगवन्नाम के द्वारा ही अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति का उल्लेख होता। किन्तु ऐसा तो हुआ नहीं, फलतः सुनिश्चित हो गया कि दीक्षा भगवन्नामजप का अङ्ग नहीं हैं। जब नाम की दीक्षा ही नहीं होती,

तो वाल्मीकि को उसका अनधिकारी ही कैसे ठहराया जा सकता है ? एवञ्च जब प्रथम प्रश्न का पण्डितप्रवरप्रदत्त उत्तर ही उड़ा दिया गया तब उस पर उत्थित प्रश्नपिशाच तो स्वतः ही ध्वस्त हो गया।

पण्डितप्रवर के प्रथम प्रश्न की पदावलियां अत्यन्त हास्यास्पद हैं; क्योंकि उनमें शुद्ध शब्द राम नाम का विशेषण लिखा गया है, जो कि व्यर्थ है। कारण यह कि अशुद्ध राम नाम होता ही नहीं। अजी ! राम नाम स्वयं शुद्ध ही नहीं, अपितु महान् से महान् पापियों को भी शुद्ध करने वाला है। अशुद्ध राम नाम की अप्रसिद्धि होने से शुद्ध विशेषण अनर्थक है।

"मरा शब्द की दीक्षा क्यों दी गयी" वाक्यांश भी द्विवेदी जी के दीक्षाविषयकज्ञान की धज्जी उड़ा देता है। श्रीमान् जी ! दीक्षा मन्त्रों की होती है। भले ही, वे शब्दात्मक ही क्यों न हों। 'शब्द की दीक्षा' ऐसे शब्दों का प्रयोग नास्तिक व्यक्ति ही कर सकता है। जिसे गुरु–साधरण मानव, शालग्राम-मात्र पत्थर, भगवच्चरणामृत–मात्र जल एवं मन्त्र या भगवन्नाम–मात्र शब्द ही प्रतीत होते हैं। "मरा" साधारण शब्द नहीं, अपितु राम नाम की भांति श्रीराम का वाचक एक नाम है। इसका निरूपण 'मरा शब्द के भगवन्नामत्व में पौराण साक्ष्य' शीर्षक से पृष्ठ ३१ में किया जायेगा।

द्विवेदी जी को उनके प्रथम प्रश्न का उत्तर तभी जमेगा, जब वे न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के पृष्ठ ५५ की दिनकरी टीका समझ लें; क्योंकि इनका यह प्रश्न एतद्ग्रन्थविषयकअज्ञानमूलक ही है।

दिनकरी में प्रश्न उठा कि उत्क्षेपण आदि कर्मों का भी भ्रमणादि की भांति 'गमन' में ही अन्तर्भाव होना सम्भव है, फिर उसका पृथक् विभाग क्यों किया गया ?

इसका उत्तर वहाँ दिया गया कि मुनि स्वतन्त्रेच्छ होते हैं, उनसे प्रश्न या उनकी निन्दा नहीं की जा सकती—

"स्वतन्त्रेच्छस्य मुनेर्नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वात्"

तात्पर्य यह कि महर्षि गमन में उत्क्षेपण के अन्तर्भाव की योग्यता समझते हुए भी उसका पृथक् विभाग किये; क्योंकि वे स्वतन्त्र इच्छा वाले हैं। उनकी इसी प्रकार के विभाग की इच्छा थी, अतः "उन्होंने उत्क्षेपणादि का पृथक् विभाग क्यों किया" ऐसा प्रश्न उनके विषय में नहीं किया जा सकता, और न इसके लिए उनकी निन्दा हो की जा

सकती ।

वस, पण्डितप्रवर आप भी अपने प्रथम प्रश्न का उत्तर यही समझ लें । भगवान श्रीराम के उपस्थापक 'राम' या 'मरा' ये दोनों ही नाम हैं, फिर भी स्वतन्त्रेच्छ ऋषियों ने महर्षि वाल्मीकि को राम नाम के जप का उपदेश न देकर 'मरा' इस नाम के जप का ही उपदेश दिया; क्योंकि उनकी यही इच्छा थी । अतः स्वतन्त्र इच्छा वाले मुनियों से सम्बन्धित क्रम संख्या १ का प्रश्न या उनकी निन्दा नहीं की जा सकती "स्वतन्त्रेच्छस्य मुनेर्नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वात्" ।

पण्डितपुङ्गव का द्वितीय प्रश्न भी नहीं वन सकता; क्योंकि 'मरा' शब्द भगवान् श्रीराम का नाम है और भगवन्नाम में पतितोद्धार-कारणता शास्त्र सिद्ध है । हरिनाम में उक्त कारणता कहीं से आती या जाती नहीं है । वहाँ वह स्वभावतः है । हाँ, यदि 'मरा' इस शब्द (भगवन्नाम) में पतितोद्धारकारणता किस प्रमाण से सिद्ध होती है ? जिज्ञासा हो, तो सश्रद्धया भविष्यमहापुराण की शरण ग्रहण कीजिए । वहाँ रामायणकार महर्षि 'वाल्मीकि' की कथा वर्णित है । उसमें लिखा है—

वह द्विजाधम (कालान्तर में रामायणप्रणेता वाल्मीकि) सहस्रों वर्ष पर्यन्त 'मरा मरा मरा' इस प्रकार जप करता रहा । उसके जप के प्रभाव से वह वन नीलकमलों से व्याप्त हो गया, इसलिए वह 'उत्पलारण्य' के नाम से संसार से प्रसिद्ध हुआ । दीर्घकाल के वाद मरीचि वशिष्ठ प्रभृति सप्तर्षि वहाँ आये । वल्मीक (दीमक द्वारा वनायी गयी मिट्टी के ढेर) से उसके निकलने के पश्चात् देखे कि वह पूर्ण शुद्ध हो चुका है, अर्थात् उसके सम्पूर्ण पाप दीर्घकालिक जप से नष्ट हो चुके हैं—

"मरा मरा मरेत्येवं सहस्राब्दं जजाप ह" ।

"जपप्रभावादभवद्वनमुत्पलसङ्कुलम् ।
तत्स्थानमुत्पलारण्यं प्रसिद्धमभवद्भुवि ॥
ततःसप्तर्षयःप्राप्ता वल्मीकात्तंनिराकृतम् ।
दृष्ट्वा शुद्धंतदा विप्रमूचुस्ते विस्मयान्विताः" ॥

—भ०म० प्रतिसर्गपर्व, ४/१०/५३-५४-५५

सुधीजन देख सकते हैं, कि यहाँ 'मरा' इस भगवन्नाम के जप से पतित द्विज के उद्धार का ही नहीं, अपितु जिस वन में वह जपपरायण

था, उसके भी उद्धार का उल्लेख है; क्योंकि जप के प्रभाव से ही वह भूमण्डल में उत्पलारण्य के नाम से प्रसिद्ध हुआ और कालान्तर में लोक-स्रष्टा ब्रह्मा जी ने वहाँ यज्ञ किया ।

यही 'मरा' इस भगवन्नाम में पतितोद्धारकारणता का बोधक प्रमाण है । 'दण्डकारण्य' का उद्धार भगवान् श्रीराम से और 'उत्पलारण्य' का उद्धार तो उनके नाम से ही हुआ ।

मरा शब्द के भगवन्नामत्व में पौराण साक्ष्य

जिस 'मरा' जप से महर्षि वाल्मीकि शुद्ध हुए थे, उसकी आज्ञा उन्हें पापों से छूटने का उपाय पूछने पर सप्तर्षियों ने दी थी—

"यथा पापं क्षयं याति तथा माज्ञातुमर्हथ ।
इत्युक्तास्तेन ते प्राहुः श्रृणुत्वं मन्त्रमुत्तमम्" ।।
—भ० महापु० प्रतिसर्गपर्व ४/१०/५१

जिस प्रकार मेरे पाप नष्ट हो जायें उस प्रकार के साधन की आज्ञा आप सब मुझे दें, उससे ऐसा सुनकर उन्होंने कहा कि तुम भगवन्नामात्मक मन्त्र सुनो ।

मरा इस नामात्मक मन्त्र का उपदेश करने के पश्चात् ऋषियों ने उससे कहा कि तुम इसे निखिल पापपुंज का संहारक समझो; क्योंकि यह भगवान् श्रीराम का नाम ही है । जब तक हम तुम्हारे पास न लौटें तब तक इसका जप करते रहना—

"राम नाम हि तज्ज्ञेयं सर्वाघौघविनाशनम् ।
यावत्त्वत्पार्श्वमायामस्तावत्त्वं जप चोत्तमम्" ।।
—प्रतिसर्गपर्व ४/१०/५२

अस्यार्थः– तत्=उपदिष्टं मरेत्याकारकं वस्तु सर्वाघौघविनाशनम्=निखिलपापपुञ्जसंहारकं ज्ञेयम्=अवगन्तव्यम् । कस्मात्कारणात्तत् सर्वाघौघविनाशनमित्याकांक्षायामाह–हीति । हि=यतः, हि हेत्वपदेशे (निरुक्त १/२/४) तत् रामनाम=रामस्य नाम । अथवा कथं मरेतिजपेन पापक्षय इत्यत आह-रामनामेति । हि=यतः तत्=उपदिष्ट 'मरेति' वस्तु सर्वाघौघविनाशनं रामस्य नाम (एव) । रामनामेत्यत्र कर्मधारयसमासो न, "मरा मरा मरेत्येवं सहस्राब्दं जजाप ह" (भ०महापुराण, ४/१०/५३) इत्युत्तरग्रन्थविरोधात्।यावत्=यावत्कालं,त्वत्पार्श्वं=त्वत्समीपम्,आयामः आगच्छामः, तावत्कालपर्यन्तम् उत्तमम्=पूर्वोपदिष्टं मरेत्याकारकं-

मुत्तमं मन्त्रं जप । यद्यपि मन्त्रशब्दस्य पुल्लिङ्गत्वात् "सज्ञेयः सर्वाघौघ-विनाशन" इत्येवोचित आसीत्, तथापि विधेयलिङ्गाभिप्रायेणक्लीवत्वं, विधेयञ्चात्र 'मरा' इत्याकारके मन्त्रे रामनामत्वमिति । विधेयलिङ्गा-भिप्रायेण क्लीवत्वं "ॐयो वै श्रीरामचन्द्रः स भगवान् यच्च ब्रह्मानन्दा-मृतं भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः (रामतापनीयोपनिषद्) इत्यादौ दृश्यते ॥)

ऐसा कहकर वे विप्र तीर्थों के भ्रमण में चले गये । इधर महर्षि नामात्मक मन्त्र का जप आरम्भ कर दिये—

"इत्युक्त्वा ते गता विप्रास्तीर्थात्तीर्थान्तरं प्रति । मरामरामरेत्येवं सह-स्त्राब्द जजाप ह" ॥ —प्रतिसर्गपर्व ४/१०/५३

वे सहस्रों वर्ष पर्यन्त 'मरा मरा' इस प्रकार जप करते रहे । चिरकाल के पश्चात् सप्तर्षियों ने आकर देखा कि वे पूर्ण शुद्ध हो गये हैं—

"ततः सप्तर्षयः प्राप्ता वल्मीकात्तं निराकृतम् ।
दृष्ट्वा शुद्धं तदा विप्रमूचुस्ते विस्मयान्विताः" ॥
—प्रतिसर्गपर्व ४/१/५५

वे पूर्ण शुद्ध ही नहीं, अपितु त्रिकालज्ञ (भूत भविष्य और वर्त-मान के ज्ञाता) भी हो गये थे । इसीलिए वल्मीक से निकलने के कारण उनका 'वाल्मीकि' नामकरण करते हुए सप्तर्षियों ने उन्हें 'त्रिकालज्ञ' शब्द से सम्बोधित किया—

"वल्मीकान्निस्सृतो यस्मात्तस्माद्वाल्मीकिरुत्तमम् ।
तव नाम भवेद्विप्र त्रिकालज्ञ महामते" ॥
—प्रतिसर्ग पर्व ४/१०/५६

इनका नामकरण करने के पश्चात् सप्तर्षि चले गये। कालान्तर में इन्हीं महर्षि वाल्मीकि ने भगवान् श्रीराम के पावन चरित्रों को दर्शाने वाले रामायण का प्रयणन किया—

"एवमुक्त्वा ययुर्लोकं स तु रामायणं मुनिः ।
चकार निर्मलैः पद्यैः सर्वाघौघविनाशनम्" ॥
—प्रतिसर्गपर्व ३/१०/५७-५८

चूँकि आदिकाव्य रामायण का प्रणेता होने से ये आदिकवि हैं, तथा 'मरा' इस भगवन्नाम के सहस्राब्द जप से शुद्ध (दृष्ट्वा शुद्धं तदा विप्रम्) हुए हैं, इसीलिए कविकुलशिखामणि पूज्यपाद गोस्वामी तुलसी दासजी महाराज ने इनके विषय में नाममाहात्म्यवन्दना में "जान आदि

कवि नाम प्रतापू । भयउ शुद्ध करि उलटा जापू ॥ एवं कवितावली उत्तरकाण्ड में "जहाँ वाल्मीकि भये व्याध ते मुनिन्द साधु मरा मरा जपे सिख सुनि ऋषि सात की" लिखा है । भविष्यमहापुराण की उक्त कथा में इन्हें व्याधकर्म के कारण व्याध कहा ही गया है ।

भविष्यमहापुराण में जैसे 'मरा' शब्द को "रामनाम हि तज्ज्ञेयं सर्वाघौघविनाशनम्" वचन से श्रीराम का नाम कहा गया है, वैसे ही अध्यात्मरामायण में भी 'इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षररूपकम् । एकाग्रमनसाऽत्रैव मरेति जप सर्वदा ॥' वचन के 'ते नाम' (तुम्हारे नाम) पदों से उसे श्रीराम का नाम कहा गया है । राम और मरा इन दोनों शब्दों के श्रीराम का वाचक होने से स्वतन्त्रेच्छ सप्तर्षियों ने वाल्मीकि को 'मरा' इसी नाम के जप की आज्ञा दी । इसमें पतितोद्धारकारणता स्वतः है, परतः नहीं । इस सन्दर्भ में अभी पुराणसाक्ष्य भी प्रस्तुत किया गया । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं ।

पण्डितपुङ्गव का द्वितीय प्रश्न भविष्यमहापुराण की कथा की अनभिज्ञता के कारण समुद्भूत है । इतना ही नहीं, इनके सम्मुख उठे अन्य प्रश्न—'उसके उद्धार में कारणता मरा इस आनुपूर्वीविषयकजप में थी अथवा जप के सातत्य से परावर्तित हुये राम इस आनुपूर्वी विषयक जप में' भी उक्त अनभिज्ञतामूलक ही हैं; क्योंकि जिसे भविष्य महापुराण की पूर्वोक्त वाल्मीकि की कथा से मरा शब्द के श्रीराम का नाम होने एवं उसके जप में पतितोद्धारकारणता का ज्ञान हो चुका है, उसे ये प्रश्न उठ ही नहीं सकते ।

आपत्तिसामग्रीविषयकज्ञानशून्यता—

द्विवेदी जी ने दो विकल्प उठाकर प्रथम के विषय में आपत्ति उठायी है कि—'मरा इस आनुपूर्वीविषयक जप में पतितोद्धारकारणता मानने पर उसके जप की सार्वत्रिकता एवं सार्वकालिकता होनी चाहिये ।

यहाँ मैं इतना ही कहूँगा कि श्रीमान् जी को आपत्ति के लिये अपेक्षित सामग्री का ज्ञान ही नहीं है; क्योंकि व्याप्य से व्यापक की आपत्ति दी जाती है । आपाद्य को व्यापक और आपादक को व्याप्य होना चाहिये, जैसा कि 'धूमो यदि वह्निव्यभिचारी स्यात्तर्हि वह्निजन्यो

न स्यात्' इस स्थल में वह्निव्यभिचारित्वरूप आपादक से वह्निजन्यत्वाभाव की आपत्ति दी गयी ।

यहाँ वह्निजन्यत्वाभाव आपाद्य है । जहाँ जहाँ वह्निव्यभिचारित्व है वहाँ वहाँ वह्निजन्यत्वाभाव भी है, तात्पर्य यह है कि जिसकी आपत्ति दी गयी है वह व्यापक है और जिसके कारण आपत्ति दी गयी वह वह्निव्यभिचारित्वरूप आपादक व्याप्य है । श्रीमान् जी के वाक्य में पतितोद्धारकारणता आपादक तथा सार्वत्रिकता एवं सार्वकालिकता आपाद्य है, अर्थात् पतितोद्धारकारणता से सार्वत्रिकता एवं सार्वकालिकता की आपत्ति 'मरा' के जप में देना पण्डित जी को अभीष्ट है, किन्तु यहां व्याप्यव्यापकभाव है ही नहीं; क्योंकि ब्रह्मगायत्री प्रभृति मन्त्रों के जप में पतितोद्धारकारणता तो है, परन्तु सार्वत्रिकता एवं सार्वकालिकता नहीं है । यह तो तभी सम्भव है जब सभी जपार्ह व्यक्ति सर्वत्र सर्वदा एक ही मन्त्र का जप करें, किन्तु यह असम्भव है । क्या वे वेदाध्ययन आदि क्रियायें नहीं करेंगे ? करेंगे ही । अतः पतितोद्धारकारणता के व्याप्य न होने पर भी उसे आपादक के रूप में प्रस्तुत कर इन्होंने सार्वत्रिकता आदि की जो आपत्ति दी है, उससे यही प्रतीत होता है कि ये महाशय 'व्याप्यारोपेण व्यापकारोपस्तर्कः' इस तर्कसंग्रह ग्रन्थ से भी अनभिज्ञ हैं ।

यही बात इनके 'अर्थात् आज भी........चाहिये था' कथन से भी द्योतित होती है; क्योंकि यत्र यत्र पतितोद्धारहेतुत्वं तत्र तत्र साम्प्रतिक दीक्षाविषयत्वं' नियम नहीं है; क्योंकि पुराणों और तन्त्रग्रन्थों में असंख्य मन्त्र कवच एवं स्तोत्र भरे पड़े हैं । जिनमें पतितोद्धारहेतुता तो है किन्तु आज दीक्षा-विषयता नहीं है ।

भगवान् के राम नाम को ही दृष्टान्तरूप में ले लीजिये । इसमें पतितोद्धारहेतुता सर्वप्रसिद्ध है फिर भी साम्प्रतिक दीक्षाविषयता नहीं, क्योंकि षडक्षरराममन्त्रादि से ही शिष्यों को दीक्षित किया जाता है । तात्पर्य यह है कि जैसे पतितोद्धारहेतुता 'नारायणवर्म' आदि में प्रसिद्ध है फिर भी पतितोद्धार हेतु इसका उपदेश सम्प्रति गुरुजनों से नहीं किया जाता, अपितु यत्किञ्चित् मन्त्रों का ही उपदेश दिया जाता है । ऐसी स्थिति में यह नियम तो नहीं रह गया कि पतितोद्धारहेतुता वाले सभी मन्त्रादि का उपदेश इस समय दिया ही जाय ।

अतः श्रीमान् जी की साम्प्रतिक मरा शब्द के उपदेश की आपत्ति असङ्गत है। 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' की उक्ति के अनुसार शिष्यों द्वारा जपविषयक आपत्ति भी चारु नहीं।

पण्डित जी आपाद्यव्यतिरेकनिश्चय कराने के लिये कहते हैं कि 'वह कहीं भी अन्यत्र न दृष्ट है न श्रुत'। इनके इस कथन से 'उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्' इत्यादि—भगवान् पतञ्जलि के महाभाष्य की पङ्क्तियों का स्मरण होने लगता है। ऊष, तेर, चक्र, पेच प्रभृति शब्दों की प्रयोगानुपलब्धि के बल पर उनका असाधुत्व मानने वालों के प्रति महाभाष्यकार उत्तर देते हुए कहते हैं—

'उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः.........एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमनुनिशम्य "सन्त्यप्रयुक्ताः" इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव।

—महाभाष्य, १।१।१, पश्पशाह्निक, पृष्ठ ७०।

तात्पर्य यह है कि सातद्वीपों वाली महती पृथिवी, तीनों लोक, चारों वेद, इतिहास, पुराण और वैद्यक आदि सहस्रों ग्रन्थों में उन चक्र पेच प्रभृति शब्दों का अन्वेषण किये विना ही 'कहीं इनका प्रयोग नहीं है' कथन केवल साहसमात्र ही है। ठीक इसी प्रकार "मरा शब्द का उपदेश गुरुओं द्वारा किया जाना चाहिये तथा उसका जप भी शिष्यों द्वारा किया जाना चाहिये, किन्तु यह कहीं भी अन्यत्र न दृष्ट है, न श्रुत" कथन भी पण्डित जी का केवल साहसमात्र है, कुछ और नहीं। द्विवेदी जी को सतुआ-पिसान बाँधकर सातद्वीपों वाली पृथिवी और तीनों लोकों में अन्वेषण करने के पश्चात् उक्त तथ्य दृष्ट या श्रुत न होने पर ही उक्त बातें कहनी चाहिये।

निष्कर्ष यह है कि पण्डित जी द्वारा प्रदत्त आपत्ति में आपाद्य और आपादक के बीच व्याप्यव्यापकभाव न होने तथा आपाद्यव्यतिरेक निश्चय न होने के कारण उक्त आपत्ति नहीं लग सकती।

निष्कर्ष यह कि भविष्यमहापुराण और अध्यात्मरामायण में 'मरा' शब्द को श्रीराम का नाम कहा गया है, उसमें पतितोद्धारकारणता की उपपत्ति प्रमाण पुरस्सर की जा चुकी है, अतः मरा मरा अविराम जप से परिवर्तित होकर राम राम हो गया इसलिए महर्षि वाल्मीकि

शुद्ध हुए यह बात उक्त महापुराण और रामायणसे विरुद्ध होनेसे उचित नहीं है; क्योंकि 'मरा' शब्द को श्रीराम का नाम बतलाकर उसमें पतितों के उद्धार की कारणता भविष्यमहापुराण द्वारा उद्घोषित है ।

यद्यपि शास्त्रीय साक्ष्यों से सुस्पष्ट हो चुका है कि महर्षि वाल्मीकि के उद्धार की कारणता मरात्वानुपूर्व्यवच्छिन्न 'मरा' इस भगवन्नाम में ही थी—'मरा' नाम से ही उनका उद्धार हुआ था । तथापि वङ्गाल के पण्डित कृत्तिवास ने अपने रामायण में कल्पना की है कि वाल्मीकि के मुख से राम नाम न निकल पाने के कारण 'मरा' का उपदेश दिया गया जिसके सतत जप से 'राम' शब्द निष्पन्न हो जाता है अतः 'मरा' मरा मरा महर्षि द्वारा जपे जाने से 'राम राम' हो ही गया, अतएव उसी से उनका उद्धार हुआ । यह पक्ष आजकल वहुत प्रसिद्ध भी है। इसी को द्विवेदी जी "उसके उद्धार में कारणता....जप के सातत्य से परावर्तित हुए राम इस आनुपूर्वीविषयक जप में" ? शब्दों से उठाकर निराकरण कर रहे हैं—

द्वितीय पक्ष का उत्थापन

यदि द्वितीय पक्ष है तो जिस मन्त्र का श्रवणाधिकार ही उसे प्राप्त नहीं है, उसके जप का अधिकार उसे कहाँ से प्राप्त हो गया ? साथ ही प्राप्त का वैयर्थ्य और अदत्त का प्रापण भी हो जायेगा । फिर तो सभी लोग गुरुमुख से अप्राप्त मन्त्र के जप से ही सिद्धि प्राप्त करने लग जायेंगे । फलतः दीक्षाविधान ही समाप्त हो जायेगा । इस तरह मरा शब्द के जपोपदेश का वहाँ कोई कारण स्पष्ट नहीं होता ।

—रा० म० वा० पृ० ६

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

हे मन्त्ररहस्यविद् ! जप के सातत्य से परावर्तित हुए राम इस आनुपूर्वीविषयकजप में पतितोद्धारकारणता मानने पर आपने यह 'यदि द्वितीयपक्ष....' इत्यादि प्रश्न और कुछ आपत्तियाँ उठायी हैं । इससे स्वतः

सिद्ध हो गया कि आपको 'पिच्च ङिन्न ङिच्च पिन्न' के अतिरिक्त पुराण आदि के स्वाध्याय का अवसर ही नहीं मिला; क्योंकि भगवन्नामात्मक मन्त्र के विषय में श्रवणाधिकार और जपाधिकारविषयक प्रश्न कोई सामान्य पुराणविद् भी नहीं उठा सकता।

आप सौरपुराण की शरण में जाइये। वहाँ आपको द्रव्यापहरण वधादि दुष्कृत्यों में प्रवृत्त और दूसरों को भी उसी में प्रवृत्त कराने के लिए "आहर, प्रहर, संहर" ऐसी गर्जना करने वाले व्याडि नामक व्याध के सम्पूर्ण पापों का संहार आहर इत्यादि शब्दों में अवयवत्वेन प्रविष्ट हर शब्द से ही वर्णित मिलेगा। तात्पर्य यह है कि पापक्षय यथाकथञ्चित् जिह्वाङ्गन में आये हुए भगवन्नाम से अवश्य हो जाता है। भगवन्नाम को पापक्षय करने के लिए किसी से दीक्षारूप में ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। हरिनाम में श्रवणाधिकार जपाधिकार उच्चवर्ण आदि सामग्री अपेक्षित नहीं है—

आकृष्टिः कृतचेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसा,
माचाण्डालममूकलोकसुलभो वश्यश्च मुक्तिस्त्रियः।
<u>नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यां मनागीक्षते,</u>
मन्त्रोऽयं रसनास्पृगेव फलति श्रीरामानामात्मकः॥

—शुक संहिता

यहाँ रेखांकित पंक्तियों से भगवन्नाम में दीक्षा, दक्षिणा और पुरश्चरण के अनपेक्षता की घोषणा की गयी है; और—

"सर्वार्थशक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः।
यच्चाभिरुचितं नाम तत्सर्वार्थेषु योजयेत्॥" } भगवन्नाम कौमुदी, तृतीय परिच्छेद

अर्थ—"सम्पूर्ण पदार्थों को देने की सामर्थ्य वाले देवों के भी देव चक्रधारी भगवान् का जो भी नाम रुचिकर लगे उसे सम्पूर्ण पदार्थों की प्राप्ति हेतु विनियुक्त करे" इस वचन से भी भगवन्नाम निरूपित अङ्गत्व का अभाव दीक्षादि में बोधित होता है। यदि नाम में भी श्रवणाधिकार आदि की आवश्यकता होती तो दूसरी पंक्ति होती—

"यद्गुरोर्मिलितं नाम तत्सर्वार्थेषु योजयेत्।"

—जो नाम गुरु से मिला हो उसी का सर्वकार्य हेतु विनियोग करे।

दूसरी पंक्ति इस प्रकार न होने से हरिनाम के विषय में श्रवणाधिकार जपाधिकार की चर्चा नाममाहात्म्यविषयकअज्ञान की सूचिका है। तात्पर्य यह निकला कि भगवन्नाम पतितोद्धार हेतु दीक्षादि की अपेक्षा नहीं करते। हाँ, तदितर मन्त्रों में दीक्षा की आवश्यकता है। अतः जिसका श्रवणाधिकार ही उसे प्राप्त नहीं है उसके जप का अधिकार उसे कहाँ से प्राप्त हो गया ?'' यह प्रश्न ही नहीं किया जा सकता।

आपका यह कथन कि ''साथ ही प्राप्त का वैयर्थ्य और अदत्त का प्रापण भी हो जायेगा'' अत्यन्त असङ्गत है''; क्योंकि द्वितीय पक्ष के अनुसार प्राप्त 'मरा' शब्द के जप के आरम्भिक शब्द 'म' मात्र का वैयर्थ्य होगा, 'रा' शब्द का नहीं; क्योंकि तदनन्तर उच्चरित 'मरा' शब्द के 'म' का अत्यन्त सामीप्य 'राम' नाम के स्वरूप की उपलब्धि करा देगा, और उससे पापक्षय आपको भी निश्चित है। अतः जपारम्भ के प्रथम अक्षर 'म' का ही वैयर्थ्य होने से प्राप्त का वैयर्थ्य नहीं कहा जा सकता; क्योंकि प्राप्ति मात्र 'म' शब्द की नहीं हुई है। जपारम्भ के बाद जप के अन्तिम अक्षर 'रा' का ही वैयर्थ्य होगा 'बीच के एक भी अक्षर का नहीं'। 'मरामरामरामरामरा' यहाँ प्रथम और अन्तिम अक्षर ही 'राम' इस शब्द के स्वरूप को प्रस्तुत करने में अक्ष I हैं। अतः जप के मध्य में लब्ध 'राम' इस नाम में पतितोद्धारकारणता स्पष्ट होने से मध्य में स्थित मरा शब्द के वैयर्थ्य की प्रसक्ति नहीं होगी।

अब रही बात ''अदत्त प्रापण की'' वह मुझे इष्ट है, तथा गुरुमुख से अप्राप्त नामात्मक–मन्त्र से सिद्धिलाभ भी इष्ट ही है। जब नामात्मकमन्त्र में दीक्षा का विधान ही नहीं है, तब दीक्षा के विधान की समाप्ति का भय भी कैसा ? क्या घट रूप प्रतियोगी के विना भी घट समाप्त (ध्वस्त) हो सकता है ?

इस प्रकार द्विवेदी जी द्वारा किये गये प्रश्न और उनके स्वयं के उत्तर तथा आपत्तियों का निराकरण कर दिया गया।

मरा शब्द चूंकि भगवान् श्रीराम का राम नाम की भांति एक संस्कृत नाम है। अतः भगवन्नाम में पतितोद्धारकारणता बोधकवचनों से उसमें भी पतितोद्धारकारणता सिद्ध हो जायेगी।

'ऋषेर्नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वात्' नियम से भी वाल्मीकि को राम

नाम की दीक्षा न देकर 'मरा' शब्द की दीक्षा क्यों दी गयी ?" यह प्रश्न नहीं किया जा सकता। मरा शब्द (भगवन्नाम) या उसके सातत्यजप से परिवर्तित 'राम' नाम में पतितोद्धारकारणता स्वीकार करने पर उठायी गयीं द्विवेदी जी की आपत्तियाँ ध्वस्त हो गयीं।

मरा जपोपदेश का औचित्य

यह तो पूर्व में सिद्ध हो चुका है कि 'राम' शब्द की भाँति 'मरा' शब्द भी श्रीराम का अभिधायक नाम है। इसे महावैयाकरण नागेशभट्ट प्रभृति टीकाकार भी स्वीकार करते हैं। पाणिनिव्याकरण से श्रीरामवाचकत्वेन 'मरा' शब्द को भगवान् का नाम सिद्ध किया जा चुका है। अतः महर्षि वाल्मीकि को भगवान् के 'मरा' इस नामका जप करने को कहा गया।

सप्तर्षियों ने दीर्घकाल तक अविराम 'मरा' नाम का जप इसलिए भी करनेको कहा कि शीघ्रतापूर्वक 'राम' नामके जप में राम् राम् उच्चरित हो जाता है। यहाँ तक कि रम् रम् हो जाता है, किन्तु 'र' का उच्चारण अच् सम्वलित ही रहता है, भले ही आ के स्थान अ अर्थात् 'रा के स्थान पर 'र' ही उच्चरित क्यों न हो। 'मरा' चूँकि भगवान्का वाचक है ही, साथ ही 'म' का अ सम्वलित अर्थात् 'म' रूप में उच्चारण सरलता से हो जाता है। द्वितीय अक्षर 'रा' के उच्चारण में भी कोई परेशानी नहीं होती है। 'राम शब्द में 'रा' को पूर्व में होने के कारण शीघ्रता में दीर्घ उच्चारण प्रयाससाध्य है। 'मरा' के अविराम उच्चारण में उतने प्रयास की आवश्यकता नहीं है। इन तथ्यों का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति स्वतः कर सकता है। भगवान् के यद्यपि दोनों ही नाम हैं, तथापि 'मरा' इस नाम का शीघ्रता में भी अविकल उच्चारण होता है। अतः अविराम दीर्घकाल के जप हेतु 'मरा' इस नाम को जपने के लिए सप्तर्षियों ने महर्षि को कहा।

दूसरी बात यह कि 'म' शब्द शङ्कर, चन्द्रमा, ब्रह्मा, यम और पच्चीसवें तत्त्व जीव का वाचक है।[१] ऐसी स्थिति में मश्च मश्च मश्च

१—मः शिवश्चन्द्रमा वेधा,—एकाक्षरकोषः २७। मः यमः—मेदिनी, १

मश्च मश्चेति माः, माः सेवकाः यस्य सः मसेवकः मसेवकश्चासौरः इति मरः अर्थात् शिव, चन्द्र, ब्रह्मा, यम और अन्य सभी जीव सेवक हों जिसके, उसे मसेवक कहते हैं। ऐसे तत्त्व हुए श्रीराम, पुनः रामवाचक र के साथ मध्यमपदलोपी समास करके 'मर' बनाये। र की श्रीराम वाचकता एकाक्षरकोष से सिद्ध है ही ? पुनः 'मर' शब्द का सकलजगद्व्यापी विष्णु के बोधक अ के साथ कर्मधारय समास (मरश्चासौ अ इति 'मरा') करके 'मरा' शब्द निष्पन्न किये इस समस्त मरा शब्द का अर्थ ब्रह्मादि के स्वामी श्रीराम से अभिन्न निखिलब्रह्माण्डनायक साकेतविहारी श्रीराम ही हुए। यही वेदों में अन्तर्यामी रूप से वर्णित हैं।

इस प्रकार समस्त 'मरा' शब्द भगवान् श्रीराम का अभिधायक नाम सिद्ध हुआ। इसी रहस्यमय अर्थ का अनुसन्धान करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने जप किया था। इन रहस्यों को न समझने के कारण पं० बैजनाथ द्विवेदी जैसे लोग व्याकरण से निष्पन्न श्रीराम के वाचक समस्त 'मरा' शब्द को हिन्दी का शब्द समझते हैं। यह उनकी महान् भूल के साथ ही व्याकरण संस्कार की दुर्बलता का भी द्योतक है।

कृतप्रणाशाकृताभ्यागमदोषदलन

महर्षि वाल्मीकि के विषय में प्रश्न उठा था कि 'उन्हें रामनाम की दीक्षा न देकर 'मरा' शब्द (भगवन्नाम) की दीक्षा क्यों दी गयी' ?

इस प्रश्न के स्वरूप पर पूर्व में प्रचुर प्रकाश डाला जा चुका है। कतिपय विद्वान् इसका उत्तर यों देते हैं—

'वाल्मीकि मारकाट के अभ्यासी थे, फलतः उनकी रुचि 'मरा' इस शब्द में ही रही होगी; क्योंकि मार धाड़ के समय 'मारय मारय' मरा, मरा ऐसा उच्चारण हिंसक के मुख से निकलना स्वाभाविक है। अतएव उन्हें ऋषियों ने राम नाम जपने की आज्ञा न देकर 'मरा जपने की ही आज्ञा दी'।

इस समाधान में द्विवेदी जी को महती भ्रान्ति उत्पन्न हो गयी है जो उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है—

भ्रान्ति--

यदि कहें कि मारकाट का अभ्यासी होने के कारण उसकी 'मरा' शब्द में ही रुचिविशेष रही होगी न कि राम शब्द में। अतः मुनियों ने सोचा होगा कि इसके अभीष्ट 'मरा' शब्द का ही उपदेश किया जाय। इसके उच्चारणसातत्य से राम शब्द बन ही जायेगा और अभीष्ट-सिद्धि हो ही जायेगी तो भी अनुपदिष्ट मन्त्र जप में ही उद्धारकारणता आ जायेगी जिससे कृतप्रणाश और अकृताभ्यागमरूप दोष आ जायेगा।

—रा० म० वा० पृ० ९

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितप्रवर ! मुनियों ने तो यह अवश्य ही सोचा था कि 'वाल्मीकि' को उनके अभीष्ट 'मरा' शब्द का उपदेश कर दिया जाय, किन्तु 'इसके उच्चारणसातत्य से राम शब्द बन जायेगा और अभीष्ट-सिद्धि हो ही जायेगी' ऐसी सोच मुनियों की नहीं, अपितु दुनियों की है जो ऋषिवचन के तात्पर्यनिर्धारण में अकुशल हैं; क्योंकि जब अपने परिवार के उत्तरों से निराश होकर लौटे हुए 'वाल्मीकि' ने सप्तर्षियों से अपने पापों के परिणामभूत नरक से छूटने का उपाय पूछा, तब मुनियों ने यही कहा था कि हम लोग तुम्हें ऐसा साधन बतलायेंगे कि तुम मात्र उसी से नरक से छूट जाओगे—

"उपदेक्ष्यामहे तुभ्यं किञ्चित्तेनैव मोक्ष्यसे"

—अध्यात्मरामायण २/६/७८

मुनि अपने इस वचन में 'एवकार' का प्रयोग करके यह उद्घोष कर रहे हैं कि वाल्मीकि, तुम्हारे उद्धार का साधन हम लोगों से उपदिष्ट वस्तु ही बनेगी, अनुपदिष्ट नहीं। श्रीमद्भागवतमहापुराण में श्रीहरि के दूतों ने अजामिल के सकलकलुष का क्षालन मात्र 'नारायण' नाम से ही एवकार का प्रयोग करके सुस्पष्ट किया है—

"एतेनैव ह्यघोनोऽस्य कृतं स्यादघनिष्कृतम्।
यदा नारायणेत्येतज्जगादचतुरक्षरम्" ॥

—भागवतमहापुराण ६/२/८

भगवान् यम ने भी "येनैव मृत्युपाशादमुच्यत" (भा० महा० ६/३/२३) इस वचन में "तेनैव मोक्ष्यसे" की भाँति "येनैव" में एव-

कार का प्रयोग करके अजामिल के पापक्षय का साधन मात्र 'नारायण' नाम को माना है, अन्य को नहीं । इसी प्रकार सप्तर्षियों ने भी "....तेनैव मोक्ष्यसे" में एवकार का प्रयोग करके वाल्मीकि के पापनिवर्हण का साधन उपदिष्ट 'मरा' इस नाम को ही कहा है । तत्पश्चात् ऋषियों ने उन्हें 'मरा' शब्द (भगवन्नाम) का उपदेश दिया । इससे यह सुनिश्चित हो गया कि मुनियों की दृष्टि में 'वाल्मीकि' के उद्धार का साधन उन लोगों द्वारा उपदिष्ट 'मरा' इत्याकारक भगवन्नामात्मक वस्तु ही है, अनुपदिष्ट रामनामात्मक वस्तु नहीं । ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि "मरा शब्द के उच्चारणसातत्य से राम शब्द बन ही जायेगा और उससे वाल्मीकि का उद्धार हो जायेगा" यह भी मुनियों ने सोचा होगा । हाँ, यह किसी मुनिवचनतात्पर्यानभिज्ञ की सोच अवश्य हो सकती है, पर मुनियों की नहीं । उन्होंने तो अपनी सोच 'एवकार' का प्रयोग करके ऊपर सुस्पष्ट कर ही दी । एवञ्च उपदिष्ट 'मरा' इत्याकारक भगवन्नामात्मक वस्तु में हो वाल्मीकि के उद्धार की कारणता आने से कृतप्रणाश और अकृताभ्यागमरूप दोष की प्रसक्ति कथमपि नहीं हो सकती ।

अध्यात्मरामायण में 'इत्युक्त्वा राम ! ते नाम...." श्लोक घटक 'ते नाम' इस पदद्वय से स्वयं महर्षि वाल्मीकि 'मरा' शब्द को भगवान् राम का नाम कह रहे हैं ! श्रीनागेशभट्ट जी जैसे महावैयाकरण "वाह्यं विस्मृतवानहम्" प्रतीक लेकर "तदर्थभूतान्तर्यामिणं...." (अ०रा० २/६/८२ की सेतु टीका) शब्द द्वारा 'मरा' शब्द का अर्थ 'अन्तर्यामी' परमात्मा श्रीराम कर रहे हैं। यदि इन प्रमाणभूत साक्ष्यों से भी किसी को 'मरा शब्द राम शब्द की भांति श्रीराम का उपस्थापक नाम है' यह बुद्धिगत न हो तो उसे श्रीभविष्यमहापुराण के प्रमाण से समझ लेना चाहिये कि मरा शब्द भी राम शब्द के समान श्रीराम का वाचक एक नाम है । "मरा शब्द के भगवन्नामत्व में पौराण साक्ष्य" शीर्षक से इस विषय पर पृष्ठ ३१ में विशद विवेचन हो चुका है । वहीं यह भी दर्शाया गया है कि वाल्मीकि का उद्धार 'मरा' इस उपदिष्ट भगवन्नाम से ही हुआ था । अब अनुपदिष्टमन्त्र में उद्धारकारणता कहाँ रही ? एवञ्च उपदिष्ट मरा इस नामात्मकमन्त्र में उद्धारकारणता शास्त्रसिद्ध होने से कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दोष नहीं लग सकता । यही स्थिति श्रीभविष्यमहापुराणीयवाल्मीकिकथामूलक अध्यात्मरामायण के कथा की भी है ।

दोषदान पूर्वमीमांसाविषयकअज्ञानमूलक

तुष्यतु सुजनन्यायेन कथञ्चित् यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि 'मरा शब्द के सतत उच्चारण से राम शब्द निष्पन्न हो गया और उससे वाल्मीकि के पापों का क्षालन हुआ तो भी कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागमरूप दोष प्रसक्त नहीं होंगे। यदि कहें कि इस स्थिति में तो अनुपदिष्ट 'राम' इस नामात्मक मन्त्र में उद्धारकारणता आ गयी तो फिर उक्त दोष क्यों नहीं ? तो इस पर सुनिये, श्रीमान् जी ! आपके इस प्रश्न से प्रतीत होता है कि आपको पूर्वमीमांसा की गन्ध तक नहीं मिली।

पूर्वमीमांसा में "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि श्रुति से सिद्ध दर्शपूर्णमास याग और स्वर्ग के कार्यकारणभाव की उपपत्ति के लिए एक अपूर्व की परिकल्पना की गयी; क्योंकि दर्शपूर्णमास क्रिया-विशेष होने से आशु विनाशी है और स्वर्ग की प्राप्ति कालान्तर में होनी है। ऐसी स्थिति में स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में दर्शपूर्णमास के विद्यमान न होने से वह उसका कारण कैसे बन सकता है ? अतः उस याग से एक अपूर्व की उत्पत्ति मानी गयी जो स्वर्ग के अव्यवहित पूर्व में विद्यमान है और उससे स्वर्ग (सुखविशेष) की उत्पत्ति होती है। दर्शपूर्णमासयाग और स्वर्ग के मध्य यह अपूर्व व्यापारविधया प्रविष्ट है। यह दर्शपूर्णमास से जन्य तथा उससे जन्य स्वर्ग का जनक भी है। इस प्रकार उक्त याग अपूर्व द्वारा स्वर्ग का कारण बनता है, ऐसा पूर्वमीमांसा का सिद्धान्त है। अपूर्वरूप व्यापार से व्यापारी याग अन्यथासिद्ध नहीं होता; क्योंकि "व्यापारेण व्यापारिणोनान्यथासिद्धिः" नियम है। तात्पर्य यह कि याग के श्रुतिसिद्ध-कारणत्व की उपपत्ति के लिए ही तो मध्य में अदृष्ट की परिकल्पना की गयी है, न कि अनुपपत्ति के लिए। और इसके लिए आवश्यक है कि वह याग अपूर्व के कारण अन्यथासिद्ध न माना जाय।

यदि "व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः" नियम न मानकर अपूर्वाख्य व्यापार से ही स्वर्ग मान लें और याग को अपूर्व के कारण अन्यथासिद्ध बना दें, तो कृत जो याग उसका प्रणाश एवं अकृत जो अपूर्वजन्यस्वर्गाख्यसुखविशेष उसके अभ्यागम की प्रसक्ति होगी। अत एव

उक्त नियम अवश्य ही स्वीकरणीय है। फलतः कृतप्रणाश एवं अकृताभ्यागमरूप दोष नहीं होगा।

अब प्रकृत में आइये, जैसे याग से अपूर्व और अपूर्व से स्वर्ग, इस प्रकार याग में स्वर्गकारणता की उपपत्ति हुई। वैसे ही सतत उच्चरित मरा शब्द से राम शब्द बना और राम शब्द से वाल्मीकि का नरक अथवा तज्जनकपापों से उद्धार हुआ, इस प्रकार मरा शब्द में पापक्षयकारणता या उद्धारकारणता की उपपत्ति हुई। यहाँ मरा शब्द से निष्पन्न राम शब्द व्यापारविधया उद्धार में कारण बना है और "व्यापार से व्यापारी अन्यथासिद्ध नहीं होता है" यह नियम है। अतः मरा शब्द के अन्यथासिद्ध न होने से उसमें उद्धारकारणता की उपपत्ति ही होगी, अनुपपत्ति नहीं। एवञ्च उपदिष्ट 'मरा' इस मन्त्र में उद्धारकारणता उपपन्न होने से कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम दूषण की प्रसक्ति कथमपि नहीं हो सकती।

हाँ, जिन्हें "व्यापारेण व्यापारिणो नान्यथासिद्धिः" नियम तथा पूर्वमीमांसा के उक्त सिद्धान्त का किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है, वे ही ऐसा कहने का दुस्साहस कर सकते हैं कि "मरा शब्द के उच्चारणसातत्य से राम शब्द बन ही जायेगा और अभीष्ट सिद्धि हो ही जायेगी, तो भी अनुपदिष्ट मन्त्र जप में ही उद्धारकारणता आ जायेगी जिससे कृतप्रणाश और अकृताभ्यागमरूप दोष आ जायेगा"।

दूसरी बात, यदि ऐसे लोगों को पूर्वमीमांसा का न सही, न्यायशास्त्र का ही कुछ संस्कार रहता तो भी इतना तो कम से कम अवश्य जानते कि दण्ड घट के प्रति साक्षात् कारण नहीं है, अपितु अपने से उत्पन्न भ्रमिद्वारा ही है। काष्ठछेदन के प्रति कुठार भी उद्यमन–निपतनरूप व्यापार द्वारा ही कारण बनता है। फिर भी व्यापारभ्रमि से व्यापारी दण्ड या उद्यमनन्निपतन व्यापार से कुठाररूप व्यापारी अन्यथासिद्ध न होकर कारण ही माना जाता है। इसी प्रकार सतत उच्चरित मरा शब्द भी अपने से निष्पन्न राम शब्द–रूप व्यापारद्वारा उद्धार का कारण माना जाता है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि जो लोग अध्यात्मरामायण में आए 'मरा' शब्द को हिन्दी की खड़ी वोली का शब्द मानने की भूल कर बैठे हैं, वे ही 'मर गया' उसका अर्थ भी मानते हैं और उसके सतत उच्चारण

से निष्पन्न विश्वविदित, श्रीराम का वाचक जो राम शब्द उससे वाल्मीकि के उद्धार की कल्पना कर लिये हैं। हाँ, जो विद्वज्जन श्री भविष्यमहापुराण एवं अध्यात्मरामायण के आलोडन से 'मरा' शब्द को श्रीराम का नाम और उद्धार का कारण समझ चुके हैं, वे ऐसी कल्पना नहीं करते। इस कल्पना का जन्म वङ्गाल के पण्डित कृत्तिवास से हुआ। उनके रामायण में यह कल्पना दृष्टिगोचर होती है। जो भगवद्बादरायणप्रणीत श्रीभविष्यमहापुराण आदि आर्षग्रन्थों से विरुद्ध होने के कारण त्याज्य है।

भ्रान्ति—

यदि मारकाट का अभ्यासी होने के कारण अशुद्धान्तःकरणावस्था में ही उसे मरा शब्द का उपदेश दे दिया गया और उसने उसी अवस्था में उस शब्द का जप भी किया तो निश्चित है कि उक्त शब्द के जप करते समय उसकी आन्तरिकवृत्ति भी वही मरा शब्द के अनुरूप बनी होगी। 'तज्जपस्तदर्थभावनम्'। पूर्वाभ्यास एवं शब्दार्थोपस्थिति दोनों का भी अपूर्व सामञ्जस्य था। जप के सातत्य से उक्तवृत्ति की भी अजस्रधारा बनी होगी। इसके विपरीत 'राम' शब्द एवं उसके अर्थभूत भगवान् के मङ्गलमय विग्रह की तो वहाँ उपदेश में कोई चर्चा है ही नहीं। ऐसी स्थिति में मरा शब्द के सतत जप एवम् मारकाट की अविच्छिन्न मनोवृत्ति में पतित प्राणी के समुद्धार की कारणता कैसे आ गयी? यह एक असमाधेय प्रश्न बन जाता है। —रा० म० वा० पृ० १०

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितप्रवर! आपका यह असमाधेय प्रश्न अब समाधेय बन रहा है, जरा ध्यानपूर्वक सुनिये—

आपने कहा कि "उसकी उक्त शब्द का जप करते समय आन्तरिक वृत्ति भी वही 'मरा' शब्द के अनुरूप बनी होगी"। बस यहीं पर आप भ्रान्त हैं; क्योंकि 'मरा' शब्द को 'मर गया' अर्थ का बोधक मान रहे हैं। जबकि महर्षि वाल्मीकि उसे श्रीराम का बोधक नाम मान रहे हैं। अतः महर्षि की आन्तरिकवृत्ति श्रीराम के वाचक मरा शब्द के अनुरूप अर्थात् श्रीरामाकाराकारित ही बनी होगी, इसमें आगे प्रमाण भी दिया जायेगा। हाँ, द्विवेदी जी 'मरा' शब्द को व्याकरणसंस्कार की दुर्बलता

के कारण संस्कृत का 'मरा' शब्द न समझकर हिन्दी का 'मर गया' अर्थ का वोधक 'मरा' शब्द समझ रहे हैं। अतः इनकी चित्तवृत्ति 'मर गया' अर्थ के अनुरूप सर्वदा बनी रहे, यही इनके अनुरूप है।

महर्षि का पूर्वाभ्यास भले ही मार काट का था किन्तु संस्कृत 'मरा' शब्द के अर्थ श्रीराम की उपस्थिति उनके अन्तःकरण में अवश्य थी; क्योंकि 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (पात० यो० सूत्र) महर्षि पतञ्जलि का उद्घोष है, और सप्तर्षि 'मरा' इस नाम के जप का उपदेश करते समय भगवान् के मङ्गलमय विग्रह के ध्यान का भी उपदेश किये थे। इस बात को समझने के लिए वहाँ के श्लोक की दूसरी पंक्ति के 'एकाग्रमनसा' पद पर ध्यान देना होगा।

एकाग्रमनसा का अर्थ है—एकः = परमात्मा, अग्रम् = आलम्वनं यस्य तद् एकाग्रमनस्तेन एकाग्रमनसा अर्थात् एक = परमात्मा अग्र अर्थात् आलम्वन हों जिसके वह मन ही एकाग्रमनः'' कहा गया। तेन = एकाग्रमनसा, अर्थात् परमात्मा श्रीराम हों आलम्वन = विषय जिसके, ऐसे मन से विपरीताक्षररूप वाले 'मरा' इत्याकारक नाम के जप के लिए सप्तर्षियों ने वाल्मीकि से कहा।

सुधीजन देख सकते हैं कि 'एकाग्रमनसा पद के विग्रह द्वारा अर्थ निकला कि महर्षि के मन के विषय परमात्मा श्रीराम थे अर्थात् श्रीराम का ध्यान करते हुए महर्षि अविराम उनके वोधक 'मरा' इस नाम का जप कर रहे थे। और यह भी सुनिश्चित है कि परमात्मा में अविराम मन तभी लग सकता है जव परमात्मभिन्न वस्तुओं से मन हट जाय; क्योंकि मन एक ही होता है, दश वीस नहीं—

"ऊधौ मन न भये दश वीस"

अतः परमात्मा में लगे हुए मन की वृत्तियाँ परमात्ममयी थीं, न कि मारकाटमयीं।

ऐसी स्थिति में जव कि मन की वृत्तियां परमात्माकाराकारित हों और भगवान् के मङ्गलमय 'मरा' इस सुमधुर नाम का अविराम जप चल रहा हो तो दीर्घकाल के पश्चात् वाल्मीकि जैसे प्राणी का समुद्धार होना कोई कठिन बात नहीं है।

'एकाग्रमनसा' पद का पूर्वोक्त अर्थ न समझने के कारण तथा मरा शब्द जिसे महर्षि वाल्मीकि स्वयं श्रीराम का वाचक नाम कह रहे हैं उसे मात्र 'मर गया' अर्थ का बोधक समझने के कारण भ्रान्तिचक्र

में फँसे द्विवेदी जी के सामने असमाधेय प्रश्न खड़ा हो गया था। जिसका समाधान कर दिया गया। अतः 'एकाग्रमनसा' पद से भगवान् के मङ्गलमय विग्रह के ध्यान का लाभ होने से "भगवान् के मङ्गलमय-विग्रह की उस उपदेश में कोई चर्चा है ही नहीं" द्विवेदी जी के इस कथन की धज्जी उड़ गयी।

"एकाग्रमनसा" पद से ही वाल्मीकि के जपकाल में मारकाट की अविच्छिन्न मनोवृत्ति जैसा कथन भी निरस्त हो गया; क्योंकि परमात्म-विषयक मनोवृत्ति तव तक वन ही नहीं सकती जव तक मार काट की अविच्छिन्न मनोवृत्ति वनी रहेगी।

भ्रान्ति—

एकाक्षरी कोषानुसार प्रत्येक वर्णों की अर्थवत्ता होती है, इसमें किसी को कोई आपत्ति नहीं। किन्तु उसके लिए उस विवक्षितार्थ वोध नेच्छया उस वर्ण का स्वतन्त्र प्रयोग अपेक्षित होता है। अथवा उस अर्थ के वोधक उस वर्ण का अर्थान्तर के वोधक वर्णान्तर के साथ समा-सादि वृत्तियों द्वारा किसी पद का निर्माण यदि किया जाय तो उसी स्थल पर तत्पदघटकवर्णों की अर्थोपस्थापकता मानी जाती है। या उस पद के अर्थ से अन्वित होने वाली क्रिया में श्लेषमहिम्ना तत्पदघटकवर्णों के अर्थों का भी अन्वय सम्भावित तथा विवक्षित हो उसी स्थल पर पदघटकवर्णों की अर्थवत्ता मानी जाती है। प्रकृत स्थल पर मरा शब्द में इस किसी भी विधा की कोई सम्भावना ही नहीं है। मरा शब्द में राम शब्द के वाच्यार्थ भगवद्रूप अर्थ की वाचकता किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। अतः रामार्थ की उपस्थिति के उद्देश्य से 'मरा' शब्द का उपदेश ऋषियों ने किया होगा। यह कहना तो अपने को या ऋषियों को भ्रान्त ही सिद्ध करना होगा।

—रा० म० वा० पृष्ठ १३

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान् जी का "एकाक्षरी कोषानुसार.... अपेक्षित होता है" कथन विद्वज्जनों से उपेक्षणीय है; क्योंकि एकाक्षरी कोष के आधार पर प्रत्येक वर्ण अपने अर्थ का वोधन कराते हैं। इसके लिए उनके स्वतन्त्र प्रयोग की ही अपेक्षा नहीं हैं। तात्पर्य यह कि चाहे वे स्वतन्त्र प्रयुक्त हों, या

अन्य पदों के साथ उनका समास हुआ हो। दोनों स्थलों में वे अपने अर्थों को प्रस्तुत करते हैं। जैसे—

विभावि विभवी भाभो विभाभावी विवो विभीः।
भवाभिभावी भावावो भवाभावो भुवो विभुः॥ } शिशुपालवध २१/८६

इस श्लोक में 'भाभः' और 'विवः' इन दोनों पदों में क्रमशः नक्षत्र-वाचक 'भ' शब्द तथा पक्षिवाचक 'वि' शब्द है। और ये यहां स्वतन्त्र-प्रयुक्त न होकर समस्त पद के अवयव हैं, फिर भी अपने-अपने अर्थ को प्रस्तुत कर रहे हैं। अतः उन्हें अपने अर्थ के वोधन हेतु स्वतन्त्र प्रयुक्त होने की आवश्यकता नहीं है। अपने उक्त कथन की दुर्बलता के कारण ही द्विवेदी जी अथवा से पुनः सम्हलना चाहते हैं। यहाँ ये अपनी वात नहीं कह पा रहे हैं। इन्हें कहना चाहिए कि "प्रत्येक वर्ण स्वतन्त्र प्रयुक्त हों या समासादिवृत्तियों से किसी पद के निर्माण में सहायक हों, दोनों स्थलों में 'असति वाधके' अपने अर्थ को प्रस्तुत करते हैं।

पंडितजी का 'मरा' शब्द के विषय में (जिसे महर्षि वाल्मीकि भगवान् का नाम कह रहे हैं) "प्रकृत स्थल पर 'मरा' शब्द में इस किसी भी विधा की कोई सम्भावना ही नहीं है" कथन उनके व्याकरण शास्त्र के वैदुष्य की धज्जी उड़ा दे रहा है; क्योंकि 'मरा' शब्द में समास के आधार पर ब्रह्मादि के स्वामी श्रीराम की वोधकता पूर्व में दिखायी जा चुकी है। 'मरा' यह भगवन्नामात्मक शब्द श्रीराम की अनेक विशेष-ताओं का वोधन कराते हुए उनमें पर्यवसित होता है—

मश्च मश्च मश्च मश्चेति माः ब्रह्महरचन्द्रयमाः तान् राति = सृष्ट्यादिकार्याय ददातीति मरः। रा दाने, "आतोनुपसर्गे कः"।

मरः=श्रीरामः, मरश्चासौ अ इति 'मरा' श्रीरामाभिन्नो वासुदेवः परमात्मा साकेतविहारी श्रीराम इत्यर्थः। सच्चिदानन्दघन श्रीराम ही परब्रह्म हैं, उन्हीं का वाचक राम शब्द है। वही परमात्मा श्रीराम दशरथपुत्र के रूप में भक्तानुरञ्जनार्थ अवतीर्ण होते हैं। दाशरथि राम और साकेतधीश राम में कोई भेद नहीं हैं, इसीलिए कहा गया—

"रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते॥ } रामतापिन्यु-पनिषद्

निखिल ब्रह्माण्ड के उत्पादक यही श्रीराम हैं। रामतापिन्यादि उपनिषदों एवं पुराणादि ग्रन्थों में इस तथ्य का विशद वर्णन है। अतः

'मरा' शब्द की व्युत्पत्ति प्रामाणिक है, और मर का 'अ' के साथ समास होने पर लभ्य उक्त अर्थ भी प्रामाणिक है। जिसे 'सिद्धान्तकौमुदी' का भी ज्ञान न हो वही कह सकता है कि 'मरा' शब्द में इस किसी भी विधा की कोई सम्भावना नहीं है।

'महर्षि वाल्मीकि' के पृ० १३ पर द्विवेदीजी का यह कथन कि "मरा शब्द में राम शब्द के वाच्यार्थ भगवद्रूप अर्थ की वाचकता किञ्चिन्मात्र भी नहीं हैं" उनके व्याकरण-संस्कार की मन्दता का परिचायक है। यदि उन्हें "पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्" पा० सूत्र स्मृत रहता तो ऐसा कभी नहीं कहते। 'मरा' शब्द भविष्यमहापुराण तथा महर्षि वाल्मीकि के कथनानुसार श्रीराम का नाम है और उसमें श्रीरामवाचकता के साथ साथ साधुत्व भी पाणिनिव्याकरण से दिखाया जा चुका है। अतः 'मरा' शब्द को ऋषि के द्वारा राम का नाम कहे जाने पर तथा महावैयाकरण नागेशभट्ट जैसे टीकाकारों से उसका अनुमोदन करने पर भी जो लोग 'मरा' इस नाम का सप्तर्षियों द्वारा वाल्मीकि को उपदेश देने पर सप्तर्षियों पर भ्रान्तता की आपत्ति लगाते हैं, उन्हें पुराण और व्याकरण के संस्कार से शून्य तथा अध्यात्मरामायण की टीकाओं से अनभिज्ञ के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है ?

भ्रान्ति—

द्विवेदी जी लिखते हैं कि "ऐसा कौन सा अर्थ (पूर्व में प्रदर्शित अर्थ) अवशिष्ट रह जाता है जिसका अभिधान राम शब्द से नहीं हो सकता ? जिसके लिए उसे उलटकर 'मरा' यह आनुपूर्वी देनी पड़ी।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान् जी "मरा जपोपदेश का औचित्य" शीर्षक में 'मरा' शब्द के जिस रहस्यमय अर्थ का प्रदर्शन कर चुका हूँ। क्या आप उसका अभिधान 'राम' शब्द से कर सकते हैं ? कभी नहीं। इसलिए मान लीजिए कि इसी रहस्यमय अर्थ के अनुसन्धान हेतु 'राम' शब्द को उलट कर 'मरा' शब्द जो भगवान् का नाम है उसे जपने के लिए कहा गया।

हाँ, प्रदत्त 'मरा' इस आनुपूर्वी पर आपको विद्वानों के विचार की अपेक्षा प्रतीत हुई है। इसलिए विवश होकर अपने विचार दे रहा हूँ, कान खोलकर सुनिये—

आप 'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक में बार बार कभी 'राम' शब्द को तो कभी 'मरा' शब्द को 'आनुपूर्वी' शब्द से अलंकृत कर रहे हैं । यह आपके परिष्कारग्रन्थविषयकसंस्कार की शून्यता का परिचायक है; क्योंकि राम या मरा शब्द स्वयं आनुपूर्वी नहीं हैं, अपितु राम शब्द में रामत्व तथा मरा शब्द में मरात्व ही क्रमशः राम और मरा शब्द की आनुपूर्वी हैं; क्योंकि अव्यवहितोत्तरत्वसम्बन्धेनतत्तद्वर्णविशिष्टचरमवर्णवृत्तिधर्म ही आनुपूर्वी है । विशेष जिज्ञासा हो तो किसी ज्ञान-वृद्ध की शरण में जाइए ।

भ्रान्ति--

कोई भी नूतन प्रयोग यदि सफलता प्राप्त करता है तो उसकी परम्परा चल जाती है किन्तु इस मरा शब्द का उपदेश एवं जप केवल वाल्मीकि तक ही सीमित रह गया, उसकी कोई परम्परा नहीं चली । इसका क्या कारण है; इस पर भी तो विचार मनीषियों का होना चाहिए था । किन्तु ऐसा न करके उसी की आवृत्ति अग्रिम कवियों द्वारा की गयी । यह एक चिन्तनीय विषय है ।

—रा० म० वा० पृ० १४

भ्रान्तिगिरिभङ्ग--

हे मतिमन् ! आप पुराणों का स्वाध्याय तथा योग्य गुरु से आन्वीक्षिकी विद्या का अध्ययन कर लीजिए, फिर आपको उक्त विषय चिन्तनीय नहीं लगेगा, सारे रहस्य खुल जायेंगे ।

श्रीमान् जी ! त्रिपुरहनन के अवसर पर ब्रह्माजी द्वारा भगवान् रुद्र को रक्षार्थ 'विष्णुपञ्जरस्तोत्र' का उपदेश हुआ; और उनकी रक्षा हुई । देवराज इन्द्र को विश्वरूप से 'नारायणवर्म' तथा महर्षि विश्वामित्र को भगवान् हर से 'रामरक्षा' का उपदेश हुआ । इन दोनों का नूतन प्रयोग सफल हुआ । यह उनकी रक्षा से ही विदित है । बतलाइए, इन सबकी परम्परा क्यों नहीं चली ? उन्हीं तक क्यों सीमित रह गयी ? यदि कहें कि इनसे लोग आज भी लाभ उठा रहे हैं । तो सुनिये; आप भी भगवन्नाम से लाभ उठाइए । मरा इस भगवन्नाम और अघध्वंस में

कार्यकारणभाव शास्त्रसिद्ध है ही । 'मरा' शब्द ही नहीं, भगवान् के ऐसे अनेक नाम हैं जिन्हें आज लोग नहीं जप रहे हैं । आप विष्णुसहस्र-नाम आदि ग्रन्थ लेकर इसका निरीक्षण कर सकते हैं, किन्तु इससे भगवन्नाम में पतितोद्धारकारणता या साधुत्व का नाश नहीं हो जायेगा ।

क्या आपको इन्द्र अथवा विश्वामित्र के पश्चात् 'नारायणवर्म' या 'रामरक्षा' की परम्परा कहीं प्रचलित मिली है ? कहीं नही मिल सकती । क्या कारण है कि इसकी परम्परा नहीं चली ? इसका जो समाधान आप दीजिएगा, वही समाधान 'मरा' शब्द की परम्परा के विषय में मेरा भी होगा ।

दूसरी बात यह कि नूतन प्रयोग मरोपदेश में सफलतारूप आपादक से परम्पराप्रचलितत्व की आपत्ति नहीं उठायी जा सकती; क्योंकि सफलता-रूप आपादक विष्णुपञ्जरादि में है, किन्तु आपका आपाद्य परम्परा-प्रचलितत्व नहीं है । अतः आपाद्य में आपादकनिरूपितव्याप्ति के निरस्त हो जाने से उसके द्वारा परम्पराप्रचलितत्व की आपत्ति 'मरा' इस भगवन्नाम में देना मात्र न्यायसंस्कारशून्यता का ही द्योतक है ।

पण्डित जी के—"इस मरा शब्द का जप केवल वाल्मीकि तक ही सीमित रह गया, उसकी कोई परम्परा नहीं चली" कथन पर हँसी आने के साथ महाभाष्यकार की "उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्...." इत्यादि पङ्क्तियों का स्मरण आने लगता है । वार्तिककार द्वारा चक्र पेच प्रभृति शब्दों की प्रयोगानुपलब्धि से उनमें असाधुत्व का कथन किये जाने पर महाभाष्यकार ने कहा—उपलब्धौ........इत्यादि । अर्थात् सातद्वीपों वाली पृथिवी, तीनों लोक, चारों वेद आदि सहस्रों ग्रन्थ पड़े हुए हैं उनमें चक्र पेच आदि का अन्वेषण किये विना ही प्रयोगानुपलब्धि मानकर उनको असाधु मानना केवल साहसमात्र है । ठीक इसी प्रकार पण्डितपुङ्गव को भी सप्तद्वीप वाली पृथिवी और तीनों लोकों में सतुआ बांधकर घूमने की सामर्थ्य हो तो वहाँ अन्वेषण करके देखना चाहिए कि 'मरा' शब्द के उपदेश एवं जप की परम्परा कहीं दिखती है या नहीं ? ऐसी स्थिति में यदि वह न दिखे तभी कहना चाहिए कि "इस .... नहीं चली" इसके विना वार्तिककार के समान यह कथन केवल साहसमात्र ही होगा, जिसका कि कोई मूल्य नहीं है । अतएव पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी जैसे मनीषियों ने इस पर कोई विचार नहीं किया; क्योंकि यह

चिन्तनीय विषय नहीं है । एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए, वह यह कि ऋषिगण मन्त्रद्रष्टा होते हैं—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः" । वे आजकल के लोगों की भाँति अनुमानतः नूतन औषधि के निर्माण की तरह मन्त्रनिर्माण नहीं करते हैं । जिन शावर आदि मन्त्रों की रचना श्रूयमाण है, वहाँ भी ऋतम्भरा–प्रज्ञा से उसकी आवश्यकतानुसार कार्यकारणभाव का प्रत्यक्ष करके पदों का सन्निवेश किया गया है, अटकलवाजी नहीं, और वे आज भी सफल हो रहे हैं। आधुनिकों की भाँति ऋषि परीक्षण नहीं करते थे । अतः "नूतन प्रयोग की सफलता........" आदि कथन 'मरा' इस नामात्मकमन्त्र के विषय में भ्रान्तिमूलक ही है ।

रही 'मरा' के उपदेश एवं जप की परम्परा चलने की वात, वह भी असङ्गत है; क्योंकि परम्परा मन्त्रों की चलती है । कारण यह कि उन्हीं की दीक्षा का विधान है । दीक्षा मन्त्रजप का अङ्ग है; नामजप का नहीं । इसका ज्ञान 'अइउण्, ऋलृक्' की आवृत्ति से नहीं, अपितु 'भगवन्नामकौमुदी' के अध्ययन से होगा । अतः 'मरा' इस भगवन्नाम की दीक्षा न होने के कारण उसकी परम्परा क्यों चलेगी ? महर्षि वाल्मीकि चूँकि लूटमार आदि से पतित हो चुके थे, उन्हें भगवन्नाम का ज्ञान नहीं था, अतएव सप्तर्षियों ने उन्हें उसे वतलाकर जपने को कहा था ।

एतावता उसे 'मरा' इस नाम की दीक्षा नहीं कहा जा सकता । अतएव कोई भी व्यक्ति स्वेच्छया 'मरा' इस भगवन्नाम का जप करे तो उसे वाल्मीकिवत् लाभ मिलेगा; क्योंकि भविष्यमहापुराण से उसमें पतितोद्धार की असीम सामर्थ्य वतलायी जा चुकी है ।

भ्रान्ति—

अपि च संस्कृत में शास्त्रीय नियमानुसार जप की विषयता मन्त्र में होती है, मन्त्र दो प्रकार के होते हैं एक वैदिक दूसरा लौकिक । अग्निमीले पुरोहितम्" आदि वैदिकमन्त्र स्वतः क्रियाकारकभावापन्न निराकाङ्क्षार्थोपस्थापकवाक्यरूपापन्न होते हैं। लौकिकमन्त्र भी सत्वार्थोपस्थापक पद में नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधा श्रौषट् वौषट् हुं फट् आदि पदों को जोड़कर ऋषियों द्वारा पूर्वोक्तार्थोपस्थापकवाक्यरूपापन्न बना दिये गये रहते हैं; क्योंकि वाक्य में ही निराकाङ्क्षार्थोपस्थापक शक्ति होती है । उसी से विवक्षितार्थ की समाप्ति होती है । इसी से पदशक्ति के पक्षपाती

न्यायभाष्यकार ने "पदसमुदायो वाक्यमर्थसमाप्तौ समर्थम्" ऐसा कहकर वाक्य से ही अर्थ की परिसमाप्ति का उद्घोष किया है। इसके विपरीत चूँकि पद में पदार्थोपस्थापक शक्ति रहने से उसके द्वारा उपस्थित अर्थ पदार्थान्तर से साकाङ्क्ष रहता है अतः वह स्व में परिपूर्ण नहीं होता। इसीलिए उसमें जप की विषयता नहीं मानी जाती अर्थात् केवल एक पद का जप नहीं किया जाता। भले ही वह सत्त्वार्थोपस्थापक ही क्यों न हो। प्रकृत स्थल में तो क्रियावाचक होने के कारण 'मरा' शब्द असत्त्वार्थोपस्थापक है। अतः शास्त्रीय नियमानुसार उसमें जप की विषयता आ ही नहीं सकती।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

अहो मन्त्रविद्जी ! आपने मन्त्रों के दो विभाग करके "अग्निमीले पुरोहितम्" आदि को वैदिक मन्त्र कहा, यह तो उचित है। किन्तु "वैदिक मन्त्र स्वतः क्रियाकारकभावापन्ननिराकाङ्क्षार्थोपस्थापकवाक्यरूपापन्न होते हैं" यह कथन श्रुतिशिरोभाग (उपनिषद्) विषयक अज्ञान का द्योतक है। अथवा भगवन्नाम के प्रति विद्वेष का परिचायक है; क्योंकि कलिसन्तरणोपनिषद् में—

"हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥"

यह षोडशनामात्मक मन्त्र है। क्या इसमें वैदिकत्व नहीं है ? अवश्य है। सामान्यतः वेदोक्तमन्त्र ही यदि वैदिकमन्त्र हैं तो इसमें भी वैदिकमन्त्रत्व है ही। किन्तु स्वतः क्रियाकारकभावापन्ननिराकाङ्क्षार्थोपस्थापक वाक्यरूपापन्नत्व नहीं है। अतः उद्देश्यतावच्छेदकमन्त्रत्व की व्यापकता उक्त विधेय में नहीं भासित होगी। नियम तो यही है—"असति बाधके उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकत्वं विधेये भासते"। यदि आप उक्त वाक्यरूपापन्नत्व ही वैदिकमन्त्र का लक्षण मानते हैं, तो आपको लक्ष्य जानकर ही लक्षण करना चाहिए था। लक्ष्यैकदेश में उक्त लक्षण न होने से अव्याप्तिदोष है।

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इस आपस्तम्ब वचन के अनुसार मन्त्रसंहिता और ब्राह्मण भाग का नाम वेद है। ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत उपनिषद् आते हैं। अतः उपनिषद् में आये मन्त्र वैदिक ही हैं। इसलिए 'हरे राम हरे राम' इत्यादि मन्त्रों के वैदिक होने से वहाँ तादृशवाक्य

रूपापन्नत्व न होने के कारण "वैदिक मन्त्र स्वतः क्रियाकारकभावापन्न-निराकाङ्क्षार्थोपस्थापकवाक्यरूपापन्न होते हैं" यह कथन मात्र भ्रान्तिमूलक है। आप 'अइउण्, ऋलृक्' और "लट्तिप्शप्" को छोड़कर व्यर्थ ही वैदिक मन्त्र का लक्षण बताने लगे। मन्त्र—लक्षण के चक्कर में न पड़कर अब मन्त्र ही जपिये।

आपने लिखा है कि "अर्थात् केवल एक पद का जप नहीं किया जाता है भले ही वह सत्वार्थोपस्थापक ही क्यों न हो"।

आपके इस लेख से प्रतीत होता है कि आप महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन और सर्वप्रसिद्ध भगवद्गीता से भी अनभिज्ञ हैं; क्योंकि "योगदर्शन" में महर्षि ने "तस्य वाचकः प्रणवः १/२७ कह कर "तज्जपस्तदर्थभावनम्" १/२८ सूत्र से प्रणव का जप और उसके अर्थ की भावना का निर्देश किया है। व्यास जी भी उस पर भाष्य लिखते हैं—

"प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्"।

भगवद्गीता में स्वयं भगवान् अपने श्रीमुख से कहते हैं—

"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्"॥ } गीता ८/१३

ओमित्येतदक्षरं परं तदेवोपासितव्यम् (तारसारोपनिषद्) इत्यादि, योगदर्शन से उपनिषद् पर्यन्त प्रणव के जप का विधान है। क्या प्रणव एक पद नहीं है? क्या वह सत्त्वार्थोपस्थापक नहीं है? उत्तर मिलेगा, अवश्य है फिर आपने कैसे लिख दिया कि "केवल एक पद का जप नहीं किया जाता है भले ही वह सत्वार्थोपस्थापक ही क्यों न हो।" आपने वैदिक मन्त्र को "स्वतः क्रियाकारकभावापन्न....वाक्यरूपापन्न" कहा है किन्तु वैदिकमन्त्र प्रणव वैसा वाक्यरूपापन्न नहीं है, अतः आपका कथन नितान्त भ्रममूलक है।

क्या राम कृष्ण प्रभृति भगवन्नाम एक पद नहीं हैं? क्या इनके जप का विधान नहीं है? अवश्य है। फिर भी आप कहते हैं कि "एक पद में जप की विषयता नहीं मानी जाती है अर्थात् केवल एक पद का जप नहीं किया जाता है"। आपने केवल भगवन्नाम से द्वेष के कारण ऐसा प्रलाप किया है, जिसका निराकरण कर दिया गया।

भगवन्नाम चाहे कोई भी क्यों न हो, सभी के जप का विधान वेद में है। जरा अपना चश्मा लगाकर निम्नलिखित कुछ मन्त्र देखिये—

"कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारुदेवस्यनाम" ऋग्वेद १/२४/१, "सदा ते नाम स्वयशो विवक्मि" ऋग्वेद १/२२/५, "भूरि नाम मनामहे" ऋग्वेद ८/११/५ ।

प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट ! नामार्य शंसामि वयुनानि विद्वान् ।
तं त्वा गृणामि तवसमतव्यान् क्षयन्तमस्य रजसः पराके ।।

अस्यार्थः—हे शिपिविष्ट! शरीरान्तर्यामिन्! तद्=प्रसिद्धं, ते=तव, नाम प्रशंसामि=सङ्कीर्तयामि जपामीत्यर्थः । यद्यपि उत्तमपुरुषोऽयं विधिशक्तिप्रतिवन्धकस्तथापि मन्त्रलिङ्गकल्पितो विधिः स्मृतीनां मूलमभिप्रेयते । जपस्य फलमाह—आर्य इति । श्रेष्ठ इत्यर्थः । वयुनानि=सामर्थ्यानि नाम्नस्तवैव वा, विद्वान्=जानन्, अनेन तत्रैव प्रवृत्तिहेतुरुक्तः । तं त्वा=त्वां, गृणामि = नामकीर्तनं करोमि, तवसं=महान्तं, अतव्यान्=अल्पः, अहम् अस्य रजसः=लोकस्य, पराके=परे पारे, क्षयन्तं=निवसन्तमिति ।

अस्य जानन्तो नामचिद्विवक्तन । ऋग्वेद १/५६/

अस्य=भगवतः श्रीमन्नामापि आविवक्तन=सदा कीर्तयत । मन्त्रोऽप्ययं विधायको भविष्यति—

विधिशक्तिर्नमन्त्रस्य नियोगेनापनीयते ।
स्वतो विधास्यति ह्येष नियोगात् स्मारयिष्यति ।। } जैमिनितन्त्रवार्तिक २/१/३०

इति न्यायेन । यथा 'वसन्ताय कपिञ्जलानालभेते' ति मन्त्रोपि विधायकोऽस्ति ।

इन मन्त्रों में नामत्वेन सकल नामों का ग्रहण होने से कीर्तन विधिविषयता सभी नामों में आ गयी । अतः सभी नामों का जप वैदिक कर्म है । आप जिस अभिप्राय से दो विभाग किये थे, वह सिद्ध न हो सका; क्योंकि प्रणवजप और भगवन्नामजप भी वैदिक कर्म सिद्ध हैं ।

पंडितजी के वचन भो परस्पर विरुद्ध हैं; क्योंकि यहाँ श्रीमान् जी एक पद में जप की विषयता का निषेध करते हैं, किन्तु पृ० २३२ पर लिखते हैं कि "विशेषकर इस कलियुग में तो अन्य साधनों की दुर्लभता से इस नाम जप का अत्यधिक महत्व है" । पाठकगण देख सकते हैं कि यहाँ भगवन्नाम जो कि एक पद है,उसमें जपविषयता इन्होंने स्वीकार कर लो है।

यदि कहें कि भगवन्नाम एक पद होने पर भी मन्त्र नहीं है । अतः कोई विरोध नहीं । इस पर सुनें । आपने पृष्ठ ९ पर लिखा है कि "राम शब्द बन ही जायेगा और अभीष्ट सिद्धि हो जायेगी तो भो अनुपदिष्ट मन्त्र जप में उद्धारकारणता आ जायेगी" यहाँ आप राम शब्द

को मन्त्र कह ही रहे हैं। अतः पूर्वोक्त एक जपविषयक कथन परस्पर विरुद्ध भी है।

आपने लिखा है कि "प्रकृत स्थल में तो क्रियावाचक होने के कारण मरा शब्द असत्वार्थोपस्थापक है" अतः शास्त्रीय नियमानुसार उसमें जप की विषयता आ ही नहीं सकती। यहाँ पर मैं आपसे इतना ही पूछता हूँ कि व्याकरणशास्त्र में किस धातु से क्रियावाचक 'मरा' शब्द बना है, जो असत्वार्थोपस्थापक है। आप एक नहीं, अनेक जन्म धारण कर लीजिए, फिर भी 'मरा' शब्द को असत्वार्थोपस्थापक क्रिया-वाचक नहीं सिद्ध कर सकते। "मृङ् प्राणत्यागे" धातुपाठ है इस 'मृङ्' धातु से 'मरा' नहीं, अपितु "म्रियते, ममार, अम्रियत" आदि शब्द बनते हैं जो असत्वभूत क्रिया के वाचक हैं 'मरा' शब्द ऐसा नहीं है, अतः वह असत्वार्थोपस्थापक तथा क्रियावाचक भी नहीं है। कृपया 'सिद्धान्तकौमुदी' उलटिये और मेरे लेखों को पढ़िये, तो आपको ज्ञात हो जायेगा कि 'मरा' शब्द श्रीराम का वाचक सत्वार्थोपस्थापक एक नाम है। भगवन्नाम होने के कारण प्रणव की भाँति उसमें जपविषयता भी श्रुतिसिद्ध है। अतः "केवल एक पद का जप नहीं किया जाता है, 'मरा' शब्द असत्वार्थो-पस्थाक है, शास्त्रीय नियमानुसार उसमें जप की विषयता आ ही नहीं सकती, मरा शब्द में श्रीरामवाचकता किञ्चिन्मात्र भी नहीं है—" इत्यादि पूर्वोक्त-कथनात्मक-दूषण युक्तिसंवलित-प्रमाणरूपी ज्वाला में भस्मसात् होकर यमपुरी के भूषण बन गये।

अज्ञानमूलक विरोधोद्भावन

पण्डित बैजनाथ द्विवेदी ने 'अध्यात्मरामायण' के अहल्या की पाषाण-रूपता और गङ्गाप्राप्ति के पूर्व गौतमाश्रम की चर्चा करके उक्त वर्णन को 'वाल्मीकीयरामायण' के विरुद्ध कहकर अप्रामाणिक सिद्ध किया है। उनकी यह भ्रान्ति उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है—

भ्रान्ति—

श्रीरामचरित्र के उपवर्णन में परम प्रमाणभूत 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण' के विरुद्ध होने के कारण 'अध्यात्मरामायण' का कतिपय अंश अपने उस आपाततः प्रतीयमान अर्थ में तात्पर्य नहीं रखता। इसका

घटनाक्रम कहीं—कहीं अतिरंजित तथा तथ्यता से परे भी है। जैसे अहल्या का पाषाणमयत्व तथा सिद्धाश्रम से जनकपुर जाते समय गंगा-प्राप्ति के पूर्व ही गोतमाश्रम की प्राप्ति का उपवर्णन आदि।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान्‌जी! 'अध्यात्मरामायण' के कतिपय अंश आपको 'वाल्मीकीय-रामायण' के विरुद्ध अतिरंजित तथा तथ्यता से परे लग रहे हैं। इसका कारण यह कि आपकी बुद्धि ही तथ्यता से परे अर्थात् अतथ्यता में पहुँच गयी है। जिसे आप विरुद्ध समझ रहे हैं, वह विरुद्ध नहीं, अपितु 'वाल्मीकीयरामायण' के अनुकूल ही है। 'वाल्मीकीयरामायण' के श्लोकों का रहस्यगर्भित अर्थ केवल "अइउण्, ऋलृक्" और "टिड्ढाणञ्" जैसे सूत्रों के रटने से नहीं प्राप्त होगा, उसके लिए उक्त रामायण की प्राचीन और प्रामाणिक टीकाओं का अवलोकन आवश्यक है। जरा चश्मा लगा-कर परमप्राचीन महेश्वरतीर्थ की 'रामायणतत्त्वदीपिका' टीका देखिये, तो आपको 'वाल्मीकीयरामायण' में भी अहल्या की पाषाणरूपता देखने को मिलेगी।

"यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि॥ } वा०रा०
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता। } बालकाण्ड
मत्सकाशं मुदायुक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि"॥ } ४८/३३

स्वमिति। स्वं वपुर्धारयिष्यसीत्यनेन पद्मपुराणोक्ता पाषाणावस्था सूच्यते। तथा च मच्छापपरिप्राप्तपाषाणावस्थां विहाय निजशरीरं प्राप्स्य-सीति भावः। तथा च पाद्मे—

"सा ततस्तस्य रामस्य पादस्पर्शान्महात्मनः। } ४८/३३ की
अभूत् सुरूपा वनिता समाक्रान्ता महाशिला"॥ } रा० त० टीका,

उक्त श्लोक में 'स्वम्' प्रतीक को लेकर तीर्थ जी कहते हैं कि 'स्वंवपुर्धारयिष्यसि' (अपने शरीर को धारण करोगी) अंश से 'पद्ममहा-पुराण' में कथित पाषाणावस्था सूचित हो रही है।

तीर्थजी का तात्पर्य यह है कि 'वाल्मीकीयरामायण' में 'स्वंवपु-र्धारयिष्यसि' पंक्ति से अहल्या को अपने शरीर के धारण की बात कही गयी है। इससे निश्चित होता है कि अहल्या का पूर्व शरीर अवश्य परिवर्तित हुआ था; क्योंकि यदि उसका पूर्व शरीर विद्यमान रहता और

केवल लोगों को दिखता नहीं, तो इतने मात्र के लिए शरीर धारण की वात न कहकर लोगों को दिखने मात्र की वात कही जाती। किन्तु ऐसा नहीं कहा गया, प्रत्युत शरीर धारण करना कहा गया है अतः सिद्ध होता है कि अहल्या का शरीर गौतम के शाप से परिवर्तित हुआ था।

'वाल्मीकीयरामायण' की उक्त पंक्ति से गौतमशापवशात् शरीर परिवर्तन सिद्ध होने पर भी अहल्या का परिवर्तित शरीर कैसा था, इसका निर्णय नहीं हो पा रहा है। इधर 'पद्‌ममहापुराण' में उसकी पाषाणरूपता सुस्पष्ट उल्लिखित है, और वेदों का उपवृंहण भी पुराणों से होता है—

'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्'' —महाभारत, आदिपर्व, १/२६७

अतः निश्चित ही वेदावतार 'वाल्मीकीयरामायण' का उपवृंहण यहाँ 'पद्‌ममहापुराण' के उस शिलाकथन अंश से करना अत्यावश्यक है। 'वाल्मीकीयरामायण' से परिवर्तित शरीर का विशेषज्ञान 'पद्‌ममहापुराण' के शिलाकथन से निष्पन्न होता है। और अहल्या का गौतमशाप से परिणत शरीर पाषाणमय सिद्ध होता है। इसी अभिप्राय से तीर्थ जी कहते हैं कि "स्वंवपुर्धारयिष्यसीत्यनेन पद्‌मपुराणोक्ता पाषाणावस्था सूच्यते"। आगे 'तथा च से प्राप्स्यसीति भावः' पर्यन्त 'स्वंवपुर्धारयिष्यसि' का अर्थ लिखते हैं, और उसमें पाद्‌मोक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं-सा ततस्तस्येत्यादि—

"उसके बाद उन महात्मा श्रीराम के चरणकमलों के स्पर्श से समाक्रान्त अर्थात् सम्बद्ध वह महाशिला सुन्दर नारी वन गयी"। इस प्रकार 'पद्ममहापुराण' एवं 'श्रीमद्‌वाल्मीकीयरामायण' की एकवाक्यता होने से अहल्या का शापवशात् परिणत शरीर पाषाणमय सिद्ध होता है।

वेद में भी अहल्या के शरीरपरिवर्तन की चर्चा मिलती है—

"अरं दासो न मीढुषे कराण्यहं देवायभूर्णयेऽनागाः।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्स राये कवितरो जुनाति"।। } ऋग्वेद ७/८६/७

इस मन्त्र की व्याख्या सुप्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ करते हैं— "एवं विद्यां प्राप्य गौतमाश्रमं गत्वाऽहल्योद्धरणे कृते रामं गौतमः प्रस्तौति अरं दास इति। अहं मीढुषे=भार्याप्रदानेन मनोरथकर्षणे, देवाय=रामाय दासो न=दास इव अरंकराणि=दिव्यगन्धपुष्पादिना अलङ्करवाणि। भूर्णये=बहुप्रदात्रे। अनागाः=निर्दोषः यतः अर्यः=स्वामी, देवो=द्योतमानः। अचितः—कर्मणि षष्ठी चेतनारहितां पाषाणभूतां जायाम्, अचेतयत्=चेतनावतीं कृतवान्। अतो मादृशस्तव दासो गृत्सम् "प्राणो वै गृत्समिति

श्रुतेः"। प्राणवन्तं मेधाविनं जायादेहं राये = कर्मसमृद्धये, जुनाति = अनुसरति अर्योऽचितोऽचेतयदिति लिङ्गद्वयं राघवैकशरणम्"—मन्त्ररामायण, पृ० ८८

अर्थ—इस प्रकार वला अतिवला विद्या को प्राप्त करके महर्षि गौतम के आश्रम पर जाकर अहल्या का उद्धार करने पर श्रीरामजी की स्तुति महर्षि गौतम करते हैं—मैं (महर्षि गौतम) भार्या (अहल्या) प्रदान करने के कारण अभिलाषा की पूर्ति होने पर वहुत कुछ प्रदान करने वाले श्रीराम जी का दास की भाँति गन्ध पुष्प माल्यार्पण आदि, से अलङ्कार करता हूँ; (श्रीराम जी क्षत्रियकुल में प्रादुर्भूत होने के कारण अपने चरण का ब्राह्मणपत्नी 'अहल्या' से स्पर्श होने से मर्यादा का ध्यान करके अत्यन्त संकुचित हैं, इस सङ्कोच को दूर करने के लिए 'गौतम' जी कहते हैं कि आपको संकुचित नहीं होना चाहिए) क्योंकि आप निर्दोष हैं। इसका कारण यह है कि आप सबके स्वामी हैं और द्योतमान अर्थात् स्वयं प्रकाश देवता हैं। आपने अचित् अर्थात् चेतनारहित पाषाणभूता मेरी भार्या को चेतन कर दिया अर्थात् अपने चरणस्पर्श से उसकी पाषाणमयता को दूर करके पूर्वशरीर की प्राप्ति करा दिया। अतः मुझ जैसा तुम्हारा दास पूर्ववत् प्राण आदि से सम्पन्न इस धर्मपत्नी के शरीर अर्थात् अहल्या को सत्कर्म की समृद्धि हेतु ग्रहण करता है। इस मन्त्र में 'अर्यः और अचितोऽचेतयत्' ये दो लिङ्ग रघुनन्दन, 'श्रीराम' का ज्ञान कराते हैं।

इस प्रकार इस मन्त्र में 'अहल्या' की पाषाणरूपता का कथन सुस्पष्ट है। अतः 'वेद' और वेदावतार 'वाल्मीकीयरामायण' तथा 'पद्म-महापुराणादि' का 'अहल्या' के शरीर की पाषाणरूपता में सुस्पष्ट उद्घोष होने पर भी कोई विकृतबुद्धि 'अध्यात्मरामायण' या 'रामचरितमानस' में अहल्या के शरीर को पाषाणमय वर्णित देखकर उससे द्वेष करे या उसमें 'वाल्मीकीयरामायण' से विरोध दिखलाकर उक्त घटना को तथ्यता से परे वतलाये, तो यह उसका ही दोष है; क्योंकि पीलिया के रोगी को श्वेत शंख भी पीला ही दिखता है। इसमें शंख का कोई दोष नहीं, दोष तो रोगी का है। यही स्थिति द्विवेदीजी की है।

गंगापद क्षीरोदकी नदी में पर्यवसित

'अध्यात्मरामायण' में गौतमाश्रम के विषय में—

"इत्युक्त्वा मुनिभिस्ताभ्यां ययौ गङ्गासमीपगम् ।
गौतमस्याश्रमं पुण्यं यत्राऽहल्या स्थिता तपः" ॥ — बालकाण्ड ५/१४-१५

इस श्लोक में 'गङ्गासमीपगम्' पदघटक गङ्गा शब्द को सुनकर द्विवेदी जी घवड़ा गये । भगवती गङ्गा के नाम को सुनकर भूत–प्रेत भी घवड़ा जाते हैं ।

घबड़ाहट में 'वाल्मीकीय रामायण' से विरोध दिखलाकर उसके अप्रामाण्य की कल्पना करने लगे । श्रीमान् जी को मेरी राय है, कि आप इसी बुद्धि के वल पर उपनिषदों का अध्ययन मत कीजिएगा, नहीं तो ब्रह्म के निर्गुण और सगुण स्वरूप के प्रतिपादक वाक्यों में विरोध अवश्य दिखेगा, और सम्पूर्ण वेद में आपकी अप्रामाण्यवुद्धि हो जायेगी । यदि कहें कि उपनिषदों के गंभीर रहस्य को उसकी व्याख्याओं से जाना जा सकता है। जी हाँ, तो आप को 'अध्यात्मरामायण' के श्लोकों का गंभीर रहस्य भी उसी परिपाटी से समझना होगा, अपनी दुर्बलबुद्धि से नहीं, अपितु 'व्यङ्ग्यप्रकाशिका' और 'सेतु' आदि नागेश जैसे विद्वानों की व्याख्याओं से । उक्त श्लोक की 'व्यङ्ग्यप्रकाशिका' टीका जरा चश्मा चढ़ाकर देखें—

"गङ्गासमीपगमित्यत्र भागीरथ्या इतरा गङ्गा गौतमाविर्भाविता क्षीरोदकीति प्रसिद्धा बोध्या" ।

—व्यं०प्र०-पृ० ५१, वा०का० ५/१४ की टीका

'गङ्गासमीपगम्' इस पद में गङ्गा पद से भागीरथी से भिन्न गंगा का ग्रहण है, जो महर्षि गौतम द्वारा प्रकट की गयी थीं और 'क्षीरोदकी' नाम से प्रसिद्ध हैं, ऐसा जानना चाहिए ।

अब कहिये पण्डित जी, 'वाल्मीकीयरामायण' से इस कथन का क्या विरोध है? विरोध तो आपको तब तक दिखेगा, जब तक आप अपनी 'विरुद्धबुद्धि' से सोचेंगे और विद्वानों की व्याख्याओं का आश्रय नहीं लेंगे ।

'महर्षि वाल्मीकि' के पृष्ठ १९ में द्विवेदीजी 'स्कन्दपुराणीयकथाओं का विवेचन' शीर्षक देकर लिखते हैं कि 'स्कन्दपुराण' के वैष्णवखण्ड

की कथा में कृणु के स्खलित वीर्य को शैलूषी द्वारा ग्रहण करने में कोई ठोस उपपत्ति नहीं दी गयी।' यहाँ पर मेरा कथन यह है कि महर्षि विभाण्डक के स्खलित वीर्य को मृगी पी गयी थी, और उससे 'ऋष्यश्रृङ्ग' उत्पन्न हुए।

'व्यासजी' का वीर्य 'घृताची' के दर्शन से अरणी पर गिरा उससे 'शुकदेव' का जन्म हुआ। 'सत्यधृति' के सरकण्डे पर गिरे वीर्य से कृप और कृपी उत्पन्न हुए, किन्तु इन सबकी कोई ठोस उपपत्ति आर्षग्रन्थों में नहीं दी गयी, तो क्या इसी से आप्तोक्त ये सब कथन अप्रामाणिक मान लिये जाँय ! ठोस उपपत्ति की अपेक्षा अस्मदादिसाधारण जनों से की जाती है। असाधारण ऋतम्भरा-प्रज्ञा-युक्त ऋषियों से नहीं, जब तक कि उनके वचनों में विरोधाभास न हो।

दिव्य सरोवर के निकट तपश्चर्यारत महर्षि कृणु के स्खलित वीर्य को जिसे उन्होंने जल में धोया होगा उसे जल-पान के लिए सरोवर में आयी किसी शैलुषी नामक कन्या ने ग्रहण कर लिया और उससे महर्षि वाल्मीकि उत्पन्न हुए। भवितव्यता द्वारा ये सब योग मिला दिये जाते हैं। महर्षि शङ्ख ने भी व्याध से कहा था--कि वल्मीकि ऋषि के कुल में तुम्हारा जन्म होगा। अतः एक सत्यवाक् ऋषि के कथनानुसार उक्त घटनाएँ घट जांय तो कोई आश्चर्य नहीं। यही उपपत्ति समझ लेनी चाहिए। महर्षि व्यास और शुकदेव आदि की उत्पत्ति इसी प्रकार अपने में विलक्षणता को संजोये हुए है।

द्विवेदी जी यदि उपपत्ति ही चाहते हैं तो व्यासजी का वीर्य जब घृताची के दर्शन से अरणी पर गिरा तब भी वे उसे क्यों मथते रहे ? क्या अरणी वीर्यपात से अशुद्ध नहीं हुई थी ? और केवल अरणी पर गिरे वीर्य से शुकदेव कैसे उत्पन्न हो गये ? इन सब प्रश्नों का उत्तर उपपत्तिपूर्वक दें। तात्पर्य यह कि भवितव्यता के अनुसार ऋषियों की उत्पत्ति अलौकिक रीति से देखी जाती है। उसमें किसी उपपत्ति की आवश्यकता नहीं है।

भ्रान्ति--

इस पुराण (स्कन्दमहापुराण) के आवन्त्यखण्ड की कथा 'अध्यात्म-रामायण' के अनुरूप ही है। पर इसमें भी ध्यानयोग का ही वर्णन है।

उलटा या सीधा राम नाम जपने की चर्चा नहीं है, दस्युवृत्तिता यहाँ भी वर्णित है जो अग्रिम प्रमाणों से वाधित होगी ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितजी ! 'आवन्त्यखण्ड' की कथा में 'ध्यानयोग' शब्द एकाग्रता का समर्पक है और उस श्लोक में 'मरा' नाम जपने की चर्चा भी है। इसका निरूपण पीछे किया जा चुका है, और दस्युवृत्तिता का वाध जिस अग्रिम प्रमाण से आप कह रहे हैं वह प्रमाण नहीं, प्रत्युत प्रमाणाभास है । उसकी पोलपट्टी आगे खोली जायेगी, और उसी से आपके वेदविषयक ज्ञान का पता भी पाठकों को चल जायेगा । पण्डित जी के अन्य प्रश्न पूर्व में समाहित किये जा चुके हैं ।

'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक के पृष्ठ २० में "शास्त्रमर्मज्ञ पण्डितों का साक्ष्य" शीर्षक देकर द्विवेदीजी नागेशभट्ट की तिलकटीका जो 'वाल्मीकीय-रामायण' पर है, का 'अथादिकविर्वाल्मीकिः सर्वोत्तमवस्तुवर्णनाय कृतसङ्कल्पो दिव्यतत्काव्यकृतिशक्तिलाभाय तादृशवस्तुज्ञानाय च कृतकष्टसमाधि साधितपरमपुण्यचयः....' इत्यादि स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि 'पाठक यहाँ सुस्पष्ट देख सकते हैं कि महापण्डित नागेशभट्ट द्वारा उपस्थापित इस अवतरणिका में महर्षि वाल्मीकि की क्लिष्ट समाधि (कठिन तपश्चर्या) का उपवर्णन तो किया है । किन्तु उसका उद्देश्य अपने किसी दस्युवृत्तित्वादिरूप पाप का प्रायश्चित्त नहीं था । अपितु सम्पूर्ण वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय श्रीरामतत्त्व का सम्यग् ज्ञान एवं उसके उपवर्णन की अलौकिक शक्ति प्राप्त करना ही उस कठिन समाधि का उद्देश्य था—(पृष्ठ २१) पुनः पृष्ठ २२ पर पण्डित जी कहते हैं कि यदि 'अध्यात्म-रामायण' और 'स्कन्दपुराण' आदि की महर्षि वाल्मीकिविषयिणी कथायें यदि अपना स्वरूप उपलब्ध कर चुकी थीं तो नागेशभट्ट ने अपनी टीका में महर्षि का परिचय देते हुए उनका उल्लेख क्यों नहीं किया ? नागेशादि ने इन अनर्गल कथाओं का उल्लेख नहीं किया है । अतः ये सब टीका निर्माणकाल में नहीं थीं । या उपलब्ध भी थीं तो इनका तात्पर्य इस रूप में ग्राह्य नहीं था, जिस रूप में परवर्ती साहित्यकारों ने निःसङ्कोच ग्रहण किया ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान् जी ! आपने दादावाक्यं प्रमाणम्' मानकर ही श्रीनागेश भट्ट की 'तिलक' टीका का सामान्य अवलोकन किया है। इस तिलक टीका की पदावलियों में आपकी 'अइउण्' वाली बुद्धि घुसी ही नहीं, नहीं तो इसकी पंक्तियों से महर्षि वाल्मीकि के जीवनवृत्तान्त को प्रस्तुत करने वाली 'स्कन्दमहापुराण' के आवन्त्यखण्ड की एकाग्रतापूर्वक मरा जप का उद्घोष करने वाली कथा का सुस्पष्ट संकेत आपको मिल जाता, और महर्षि की दस्युवृत्तिता का भी ज्ञान हो जाता। आइए, आप को इसका संकेत नागेशभट्ट की टीका की पंक्तियों से करायें। श्रीनागेशजी ने "अथादिकविः" आदि जिन पदावलियों को प्रस्तुत किया है, उसमें "दिव्यतत्काव्यकृतिशक्तिलाभाय... ....कृतकष्टसमाधिसाधितपरमपुण्यचयः" पंक्ति से रामायणरूप दिव्य काव्य करने (लिखने) की विलक्षण शक्ति के लाभ हेतु कष्टसाध्यसमाधि से सम्पादित महान् पुण्यसमूह का सुस्पष्ट उल्लेख है।

विचार कीजिए कि नागेशजी के इस कथन का आधार क्या है? अर्थात् इसे किस प्रमाण के बल पर उन्होंने लिखा ? पुराणों में ऐसा कौन सा वर्णन है महर्षि वाल्मीकि के विषय में, जिसमें कवित्वशक्ति के लिए महर्षि की तपश्चर्या का उल्लेख है। इन विचारों के उपस्थित होते ही 'स्कन्दमहापुराण' के 'आवन्त्य–खण्ड' की 'महर्षि वाल्मीकि' के वृत्तान्त का सुस्पष्ट उल्लेख करने वाली तथा महेश्वर की आराधनारूप तपश्चर्या से 'कवित्वशक्तिप्राप्ति' की उद्घोषणा करने वाली कथा प्रस्तुत हो जायेगी, किन्तु श्रीमान् जी ध्यान रखियेगा, वह कथा तपश्चर्या से कवित्वशक्ति के लाभ में प्रमाण प्रस्तुत करती हुई महर्षि की दस्युवृत्तिता का भी सुस्पष्ट उद्घोष करेगी। फिर आपके उस कथन की धज्जी उड़ जायेगी जिसमें आपने कहा है कि महर्षि के जीवनवृत्तान्त को प्रस्तुत करने वाली 'स्कन्द महापुराण' आदि की कथाएँ 'नागेशभट्ट' आदि के टीका–लेखन–काल में अपना स्वरूप नहीं उपलब्ध कर सकी थीं।

नागेशजी ने 'स्कन्दमहापुराण' की उस कथा के आधार पर 'दिव्य तत्काव्यकृतिशक्तिलाभाय' आदि लिखकर उसका सुस्पष्ट संकेत कर ही दिया। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि उसे चिन्तकों, विद्वानों और ऊहापोह करने वालों की बुद्धि ही पकड़ सकती हैं, निर्बलों की बुद्धि नहीं। उस

कथा का तात्पर्य उसी रूप में उस समय भी ग्राह्य था जिस रूप में परवर्ती साहित्यकारों ने निःसङ्कोच ग्रहण किया। इतने पर भी नागेश प्रभृति ने उसका पूर्ण उल्लेख इसलिए नहीं किया कि उससे महर्षि 'वाल्मीकि' के शम दमादि की झलक मिलने के साथ-साथ 'दस्युवृत्तिता' और 'पाप कर्तृत्व' की भी झलक मिलती। फलतः ग्रन्थकार के गौरव पर आंच आती। इसीलिए कवित्व-शक्ति और 'वाल्मीकि' नाम का ही उल्लेख किया गया जिससे महर्षि की दिव्यतपश्चर्या का बोध हो सके, और रामायणपाठकों की रामायणकार महर्षि में असीम श्रद्धा बढ़े।

'दस्युवृत्ति' में रामायण का आनुकूल्य

"महर्षि वाल्मीकि" पुस्तक के पृष्ठ २३ पर द्विवेदी जी "श्रीमद्-वाल्मीकीयरामायण का साक्ष्य" शीर्षक देकर महर्षि वाल्मीकि की दस्यु-वृत्तिता आदि के निराकरणार्थ 'वाल्मीकीयरामायण' के उत्तरकाण्ड के ३ श्लोक प्रस्तुत करते हैं—

"प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन।
न स्मराम्यनृतं वाक्यं इमौ तु तव पुत्रकौ"॥ } उ० का० ९६/१८

"वहु वर्ष सहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपश्नीयां फलन्तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली"॥ } उ० का० ९६/१८

"मनसा कर्मणा वाचा भूवपूर्वं न किल्विषम्।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा यदि मैथिली"॥ } उ० का० ९६/२०

इन श्लोकों को प्रस्तुत करके पुनः पृष्ठ २४ पर पण्डितप्रवर कहते हैं कि 'यहीं प्रथम श्लोक में महर्षि कह रहे हैं कि मुझे असत्य वाणी का स्मरण भी नहीं है। अर्थात् मैंने कभी असत्य नहीं बोला। संसार जानता है कि दस्युता और सत्यता में तमः प्रकाश का अन्तर है; विना झूठ बोले चोरी डकैती कोई कर ही नहीं सकता। पुनः इस पक्ष की निःसारता को स्वयं प्रकट करते हुए द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'यदि कहें कि छोटी मोटी चोरी को छिपाने के लिए ही झूठ वोलना आवश्यक होता है किसी बड़े डाकू को इसकी कोई आवश्यकता होती नहीं। वह तो अपने प्रावल्य से ही लूटमार कर सकता है। अपनी सुरक्षा हेतु उसे कहीं से न्याय तो पाना नहीं होता कि जिसके लिए वह असत्य का समा-

श्रयण करे। वाल्मीकि एक प्रवल दस्यु थे। अतः वे असत्य नहीं भी बोलते रहे होंगे, इसमें आश्चर्य ही क्या ? तात्पर्य यह कि उनकी सत्य वचना से दस्युत्वाभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता, अतः पूर्वोक्त 'पुराण' 'अध्यात्मरामायण' आदि में उपवर्णित उनका दस्युत्व मानना ही चाहिए। तो यह भी समुचित नहीं; क्योंकि यहाँ शपथ के द्वितीय श्लोक में 'मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्' महर्षि की यह उक्ति इस वस्तु में स्वतः प्रमाण है कि वे कभी भी दस्यु नहीं थे; क्योंकि निरपराध प्राणियों की हिंसा जैसा घोर कुकृत्य ही दस्युवृत्ति का मुख्य लक्षण है। उसके रहते 'भूतपूर्वं न किल्विषम्' ऐसा वे कभी नहीं कह सकते थे।

यदि हम कहें कि सुदीर्घकालिक तपश्चर्या से वह किल्विष (पाप) समाप्त हो गया था। इसी से उन्होंने वैसा कह दिया होगा तो यह भी ठीक नहीं; क्योंकि ऐसा मानने पर इस वाक्यघटक 'भूतपूर्व' शब्द का स्वारस्य बिगड़ जायेगा। इस शब्द का प्रयोग भी व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि यहाँ 'भूतपूर्व' शब्द का प्रयोग तपश्चर्या से विनष्ट होने वाले किल्विष की 'पूर्वकालिक–सत्ता' मात्र का बोध करने के लिए नहीं हुआ है। उसका बोधन तो स्वतः सिद्ध है; क्योंकि विनाश सत्तापूर्वक होता है। जो वस्तु अपने विनाश के पूर्व सत् न रहे तो उसका विनाश ही कैसे होगा, दण्ड-प्रहार आदि से विनष्ट होने वाला घट विनाश से पहले सत्ता सम्पन्न रहता ही है। उसी तरह यहाँ भी तपश्चर्या से विनष्ट होने वाले किल्विष की 'पूर्वकालिक–सत्ता' मात्र के बोधन हेतु 'भूतपूर्व' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। अन्यथा पूर्वोक्त–रीत्या उसका वैयर्थ्य निश्चित है। ऐसी स्थिति में 'भूतपूर्वं न किल्विषम्' का तात्पर्य यह है कि मेरे शरीर में पूर्वकाल में भी कोई पाप नहीं हुआ। भूतपूर्व शब्द का अर्थ है 'पूर्वकालिकउत्पत्तिमत्'। और उसी किल्विषनिष्ठ उत्पत्ति के 'स्वर्गोध्वस्तः' की भाँति अभाव बोधन हेतु प्रकृत वाक्य में नञ् का प्रयोग हुआ है। किल्विषरूप विशेष्य के अभाव बोधन हेतु नहीं। विशेषण के अभावबोधन द्वारा ही विशिष्ट के अभाव बोधन में सम्पूर्ण वाक्य का तात्पर्य है। जिससे महर्षि की ग्रन्थान्तरोपवर्णित दस्युवृत्तिता का समूल उच्छेदन स्वयं हो जाता है। दस्युता का निराकरण हो जाने पर तज्जन्य कल्मष के क्षालन हेतु उल्टा या सीधा राम नाम जपने या घोर तपश्चर्या करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग--

पण्डितपुङ्गव महर्षि वाल्मीकि में दस्युता निराकरण के लिए उपस्थापित साक्ष्य के ऊपर स्वयं 'यदि कहें कि....' इत्यादि पदावलियों से दस्युता का अविरोध दिखाते हुए 'भूतपूर्व' शब्द पर आकर डट जाते हैं । अतः यहीं से इनकी भ्रान्ति का निराकरण किया जाता है ।

"मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम् ।
तस्याहं फलमश्नामि अपापा यदि मैथिली"।। } वा०रा० उ०का० ९६/२०

श्लोक का 'मन कर्म और वाणी से सम्पादित भूतपूर्व पाप नहीं हैं अर्थात् उन पापों का तपश्चर्या से विनाश हो जाने के कारण इस समय उनकी सत्ता नहीं है' (इस अभिप्राय से महर्षि ने मानस कायिक और वाचिक भूतपूर्व पापों का अपने में निषेध किया है) अर्थ करने पर महर्षि में दस्युवृत्ति का बोधन कराने वाले 'पुराणों' और 'अध्यात्मरामायण' आदि की कथाओं का 'वाल्मीकीयरामायण' के उक्त श्लोक से कोई विरोध नहीं है । ऐसा कहने वालों के मत में पण्डितजी ने दो आपत्तियाँ खड़ी कीं । पहली 'भूतपूर्व' शब्द के स्वारस्य–भङ्ग की और दूसरी 'भूतपूर्व' शब्द के वैयर्थ्य की ।

इनमें पहली आपत्ति के प्रस्तुतीकरण से निश्चित होता है कि श्रीमान् जी स्वारस्यभङ्ग के कारणों से परिचित ही नहीं हैं; क्योंकि जब किसी शब्द के बोधजननसामर्थ्य का सङ्कोच किया जाय अथवा उसके अर्थ को बदलकर नूतन अर्थ की कल्पना की जाय तभी उसका स्वारस्य-भङ्ग विद्वज्जन स्वीकार करते हैं । यहाँ ऐसी कोई भी स्थिति नहीं है; क्योंकि 'भूतपूर्व' शब्द का प्रयोग बहुत प्रचलित है—भूतपूर्व प्रधानमन्त्री, भूतपूर्व–प्राचार्य, भूतपूर्व सांसद आदि । जो लोग चयन होने के पश्चात् प्रधानमन्त्री आदि बनते हैं और अपना कार्यकाल पूर्ण करके या किसी अन्य कारण से अपने पद से हट जाते हैं, तब उन्हें 'भूतपूर्व प्रधानमन्त्री' इत्यादि कहते हैं । जब तक वे अपने पद पर बने रहते हैं तब तक भूतपूर्व विशेषण का प्रयोग उनके लिए नहीं होता । 'भूतपूर्व मुख्यमन्त्री कल्याण सिंह आये' ऐसा प्रयोग होने पर भूतपूर्व विशेषण से उनकी मुख्यमन्त्री पद पर पूर्वकालिकसत्ता (विद्यमानता) का ही बोध होता है । यह 'भूतपूर्व' शब्द जिसका भी विशेषण बनेगा उसी की 'पूर्वकालिकसत्ता' का बोध करायेगा 'भूतपूर्वं न किल्विषम्' श्लोक में 'भूतपूर्व' शब्द किल्विष

का विशेषण होने (समानविभक्त्यन्त शब्दों में विशेष्यविशेषणभाव होता है–जैसे 'नीलो घटः' इत्यादि) के कारण उसकी पूर्वकालिकसत्ता का वोध कराता है । 'पूर्वकालिकसत्ता वाला पाप' जिसका अर्थ है ।

व्याकरण के अनुसार 'पूर्वं भूतम्' ऐसा विग्रह करके भूतपूर्व शब्द निष्पन्न होता है । भूतघटक भूधातु का सत्ता अर्थ सर्वप्रसिद्ध है–'भू सत्तायाम्' । भू धातु से क्त प्रत्यय द्वारा 'भूत' शब्द वना है । पूर्वोक्तविग्रह के अनुसार समस्त 'भूतपूर्व' शब्द का अर्थ है–'पूर्वकालिकसत्तावत्' । इसी के आधार पर भूतपूर्व पाप अर्थात् 'पूर्वकालिकसत्तावत् पाप' अर्थ किया गया था और 'न' पद से उसके अत्यन्ताभाव का वोधन हुआ था, जिससे उक्त श्लोक ही महर्षि वाल्मीकि में 'पूर्वकालिक पापों' की सत्ता तथा तपश्चर्या से उनका नाश हो जाने से सीताशपथ काल में उनके अत्यन्ताभाव का ज्ञान कराता है । अतः इस श्लोक से पुराण आदि का कोई विरोध नहीं, प्रत्युत दस्युवृत्तिता की पुष्टि ही होती है । फलतः इस श्लोक के आधार पर 'दस्युता' का निराकरण असम्भव है । ऐसी स्थिति में भूतपूर्व शब्द का स्वारस्य कैसे विगड़ गया ? यहाँ न तो शब्द के वोधजनन सामर्थ्य का सङ्कोच ही है और न ही सुप्रसिद्ध अर्थ का त्याग और अर्थान्तर की कल्पना । शब्द का स्वारस्य तो बिगाड़ा है पण्डितपुङ्गव ने 'पूर्वकालिक उत्पत्तिमत्' अर्थ करके । क्या 'भूतपूर्व प्रधानमन्त्री' कहने पर पूर्वकाल में पैदा हुए प्रधानमन्त्री का वोध होता है ? कभी नहीं । वोध तो होता है—'पूर्वकाल में विद्यमान प्रधानमन्त्री' का ।

भू धातु सत्ता अर्थ में पठित है—'भू सतायाम्', 'उत्पत्ति' अर्थ में नहीं । फिर 'पूर्वकालिक उत्पत्तिमत्' अर्थ कैसे निकला? सायणाचार्य 'माधवीयधातुवृत्ति' पृ० २ में लिखते हैं—'भू सत्तायाम्, वर्तत इति शेषः । सत्तेहात्मभरणम् । यदाह हरिः-आत्मानमात्मना विभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते । हेलाराजश्च—अस्ति आत्मानं विभर्ति सत्तां भावयतीति यावत्' ।

उक्त वचनों में क्रमशः सायण, भर्तृहरि और हेलाराज ने भू धातु के अर्थ सत्ता का अर्थ किया है-आत्मभरण, अपने को धारण करना अर्थात् विद्यमान रहना । यही भू धातु का अर्थ है ।

यह ध्यान रखना चाहिए कि सत्ता और उत्पत्ति एक नहीं है; क्योंकि उत्पन्न वस्तु का स्वयं को धारण करना ही सत्ता है । सायण भी कहते हैं— न चोत्पत्तिः सत्ता, उत्पन्नस्यात्मधारणलक्षणा सेत्युक्तत्वात् । निरुक्तकार भी 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यती'ति में

'जायते' से उत्पत्ति और 'अस्ति' से सत्ता का बोध कराते हुए उन्हें पृथक् स्वीकार किये हैं। आचार्य सायण भी लिखते हैं—'लोकेऽपि सत्ताजन्मनोर्भिन्नत्वादेव घटः किमुत्पद्यते इति पृष्टो न कश्चिदप्यस्तीति प्रवक्ति। तथा चाचार्येणापि 'तत्र जातः', 'तत्र भवः' इति भेदेन निर्दिश्यते—मा०धा०, २

अनुवाद—लोक में भी सत्ता और उत्पत्ति का भेद होने के कारण ही 'क्या घट उत्पन्न होता है ?' ऐसा प्रश्न करने पर कोई भी यह नहीं कहता कि 'घटोऽस्तीति' (घट विद्यमान है) अर्थात् 'घटः उत्पद्यते' या 'उत्पन्नः' अथवा 'नोत्पद्यते' ही उत्तर दिया जाता है। यदि उत्पत्ति और सत्ता एक ही वस्तु होती तो 'घटः उत्पद्यते की भाँति 'घटोऽस्ति' भी उत्तर दिया जाता। किन्तु ऐसा नहीं किया जाता अतः उत्पत्ति और सत्ता भिन्न भिन्न वस्तुएँ है। आचार्य पाणिनि भी दोनों में भेद होने के कारण ही 'तत्र जातः' और 'तत्र भवः' इन दो सूत्रों का पृथक्-पृथक् निर्माण किये। अन्यथा इन दोनों में से किसी एक से ही काम चल जाता। पुनः आचार्य सायण लिखते हैं— घटोभवतीत्यात्मभरणलक्षणासत्ताऽपि तथैवाभिधीयते इति तस्या क्रियात्वे न विचिकित्सा। यहाँ रेखांकित पंक्ति से घट की विद्यमानता रूप अर्थ द्योतित किया गया।

इस विवेचन से सुस्पष्ट है कि भूधातुघटित समस्त 'भूतपूर्व' शब्द का 'पूर्वकालिकसत्तावत्' अर्थ ही उचित है; क्योंकि विग्रह वाक्य से शक्त्या सत्ता की ही प्रतीति सर्वमान्य है। द्विवेदीजी द्वारा भूतपूर्व शब्द का 'पूर्वकालिक उत्पत्तिमत्' अर्थ करना 'भूतपूर्व' शब्द के स्वारस्य को बिगाड़ना है, और लोक से भी विरोध है; क्योंकि लोक में 'भूतपूर्व' शब्द इनके द्वारा कल्पित अर्थ में प्रयुक्त नहीं होता। ये तो 'उलटा चोर कोतवाल को डाटे' की कहावत चरितार्थ कर रहे हैं; क्योंकि स्वारस्य का भङ्ग है इनके द्वारा कल्पित अर्थ में और जिस अर्थ में स्वारस्य है—शब्द को तोड़े मरोड़े विना 'पूर्वकालिकसत्तावत्' अर्थ किया गया है, वहाँ स्वारस्य का भङ्ग बतला रहे हैं। हुई न 'उलटा चोर कोतवाल को डाटे' की स्थिति।

द्वितीय आपत्ति का निराकरण

'भूतपूर्व' शब्द का 'पूर्वकालिकसत्तावत्' अर्थ मानने पर उक्त शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा' यह समझना निरी भ्रान्ति है; क्योंकि 'मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्' 'वाल्मीकीयरामायण' का श्लोक है, न कि न्याय या व्याकरण आदि शास्त्रों में आये पदार्थों का कोई

लक्षण अथवा परिष्कार; कि उसके सभी पदों के पदकृत्य का विचार करते हुए उनके सार्थक्य और वैयर्थ्य का अन्वेषण किया ही जाय। हाँ, यदि आप तर्क–युद्ध ही करना चाहते हैं तो प्रस्तुत हूँ। पदों के वैयर्थ्य की ही खोज करनी है तो श्रीमान् जी ध्यान दें। शुभ अथवा अशुभ फल देने वाले कोई भी कर्म हों, वे कायिक वाचिक और मानस तीन प्रकार के होते हैं। भगवान् मनु कहते हैं—

'शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसम्भवम्'।—मनुस्मृति १२/३

इस प्रकार अशुभफल अर्थात् दुःख देने वाले पापकर्म कायिक वाचिक और मानस भेद से तीन प्रकार के सिद्ध हुए। जैसे किसी प्रकोष्ठ में नीले पीले हरे किसी भी रङ्ग के घड़े में कोई भी घड़ा रखा हो तो इस प्रकोष्ठ में घड़ा नहीं है 'अस्मिन् प्रकोष्ठे घटो नास्ति' ऐसा वाक्य-प्रयोग कोई भी प्रामणिक नहीं करता। जब सभी घड़ों का अभाव होगा तभी 'अत्र घटो नास्ति' (यहाँ घड़ा नहीं है) प्रयोग किया जाता है। इसी से सभी घड़ों के अत्यन्ताभाव का ज्ञान होता है।

अव प्रकृत में आइए, तीनों प्रकार के पापों में यदि एक भी पाप होगा तो 'मयि किल्विषं नास्ति' (मुझमें पाप नहीं है) इस वाक्य का प्रयोग नहीं होगा। हाँ, तीनों प्रकार के पापों का अभाव होने पर ही मुझमें या इनमें पाप नहीं है, ऐसा प्रयोग प्रामाणिक लोग (महर्षिगण) कर सकते हैं, और करते भी हैं। महर्षि 'वाल्मीकि' ने अपने में मन वचन और कर्म से सम्पन्न तीनों किल्विषों का अभाव बतलाया है। अतः "मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्" में मनसा कर्मणा वाचा इन तीनों पदों का वैयर्थ्य सुनिश्चित है; क्योंकि '····न किल्विषम्' कहने से ही 'अत्र घटोनास्ति' (यहाँ घड़ा नहीं है) की भाँति पापत्वा-वच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव अर्थात् तीनों प्रकार के पापों का अभाव बोधित हो जायेगा। फिर महर्षि ने इन तीनों पदों का प्रयोग क्यों किया? श्लोक की पूर्ति अन्य अपेक्षित पदों से भी तो हो सकती थी।

लीजिए, तर्कशास्त्र के आधार पर इन तीनों पदों के प्रयोग का वैयर्थ्य प्रस्तुत है। यदि आप सूक्ष्मबुद्धि रखते तो इन तीनों पदों का भी वैयर्थ्य दिखता। ऐसो स्थिति में आप 'वैयर्थ्यप्रदर्शन' मार्ग का अवलम्बन न करते, जिसमें एक पद का वैयर्थ्य दिखाने पर तीन पदों के वैयर्थ्य की आपत्ति में गला फँस जाय। सम्प्रति वैयर्थ्यापत्ति–ज्वर की औषधि

प्रस्तुत है। इसे चाय या दुग्ध से नहीं लेना पड़ेगा; दर्शन मात्र पर्याप्त है। आंखों की लाइट यदि डिम हो तो इसका श्रवण भी उस ज्वर को जड़ से मिटा देगा।

साहित्य (काव्य) सहृदय संवेद्य होता है। पाठकों और श्रोताओं को झटिति अर्थ की उपस्थिति के साथ ही काव्यशास्त्र में अपेक्षित लालित्य का भी ध्यान रखना कवि का कर्तव्य है, और महाकवि के विषय में तो ये बातें स्वाभाविक ही हैं। महर्षि न तो अभिप्रेत वस्तुओं की अवगति हेतु कर्कश-तर्क-सापेक्ष अल्प शब्द ही रखना चाहते हैं और न ही व्यर्थ का अलङ्काराडम्बर। इसलिए स्पष्ट-प्रतिपत्ति-हेतु उन्होंने 'मनसा कर्मणा वाचा' के साथ ही 'भूतपूर्वम्' शब्द भी रखा। आप तो वैयाकरण हैं और वैयाकरण 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' मत के प्रबल समर्थक होते हैं। फिर 'शेषोध्यसखि' (पा० सू० १/४/७) सूत्र में 'शेषः' पद के वैयर्थ्य की स्थिति में 'भट्टोजिदीक्षित' आदि क्यों नहीं घबड़ाये? यदि आप कहें कि मैं उनके जैसी प्रखर-प्रज्ञा वाला नहीं हूँ, इसलिए उन्होंने महर्षि पाणिनि की कृपातिशयता सूचित करने के अभिप्राय से शेष पद के सार्थक्य के लिए 'शेषग्रहणं स्पष्टार्थम्' कहा और उसे जानकर मेरी घबड़ाहट दूर हो गयी, तो श्रीमान् जी ! आप यह भी स्मरण कर लीजिए कि आपकी वह 'प्रज्ञा' अभी बढ़ी नहीं है। अतः अपनी घबड़ाहट दूर करने के लिए यहाँ भी जान लीजिए कि 'भूतपूर्वम्' आदि पद स्पष्ट-प्रतिपत्यर्थ ही हैं। जब सूत्रों की यह स्थिति है कि स्पष्ट-प्रतिपत्ति हेतु पदों का सन्निवेश उनमें कर दिया जाता है, तो फिर अन्य स्थलों में-जो न तो सूत्र ही हैं और न लक्षण ही-यदि स्पष्ट प्रतिपत्ति हेतु किसी पद का प्रवेश हो जाय तो क्या हानि ? यह तो महर्षि की कृपालुता ही कही जायेगी कि उन्होंने स्पष्ट-प्रतिपत्ति के लिए उक्त पदों को रखा। अतः स्पष्टप्रतिपत्तिरूप प्रयोजन सिद्ध होने से उन पदों का सार्थक्य ही है, वैयर्थ्य नहीं।

दूसरी बात यह है कि तपश्चर्या के पूर्व अपने पापों की सत्ता सूचित करने के लिए महर्षि ने 'भूतपूर्व' को 'किल्विष' का विशेषण बनाया। जैसा कि आज कल भी लोग 'प्रधानमन्त्री' का 'भूतपूर्व' विशेषण लगाकर पूर्वकाल में उसके प्रधानमन्त्री रहने की जानकारी कराते हैं। तपश्चर्या के पूर्व महर्षि 'वाल्मीकि' का जीवन कितना पापमय था, इसका ज्ञान अध्यात्मरामायण, महाभारत और स्कन्दमहापुराण आदि सद्ग्रन्थों

से होता है। 'ऋतम्भरा-प्रज्ञा' के धनी वेदव्यास जिन पापों का संकेत वाल्मीकि के वृत्तान्त का वर्णन करते हुए देते हैं उनकी सत्ता तपश्चर्या के पूर्व में थी, यही 'भूतपूर्वम्' शब्द से स्वयं महर्षि वाल्मीकि भी वतलाये और आश्रम पर पधारे श्रीराम को अपना वृत्तान्त सुनाकर अपने चरित्र से लोगों को शिक्षा भी देते हैं, कि हे नरपुङ्गवों ! मन वचन और कर्म से महान् पापों को करने वाला कोई भी व्यक्ति भगवान् के किसी भी नाम का जप करके अपने किल्विषों का समूल विनाश कर सकता है, तथा लोककल्याण हेतु रामायण जैसे लोकोत्तर कार्य करने की क्षमता अर्जित कर सकता है। यदि 'भूतपूर्वम्' पद को श्लोक में नहीं रखा जाता उसके स्थान पर अन्य शब्द रख दिया जाता तो भी पापों का अत्यन्ताभाव वोधित हो सकता था। किन्तु पापों का अत्यन्ताभाव उनका ध्वंस हो जाने के कारण है या उनकी उत्पत्ति न होने के कारण है ? यह सन्देह बना ही रहता; क्योंकि किसी भी वस्तु का कहीं भी अत्यन्ताभाव उसके वहाँ न रहने पर ही मिल सकता है, और न रहना भी कई प्रकार का होता है, या तो वह वस्तु नष्ट हो गयी हो, या कहीं अन्यत्र रखी हो या उत्पन्न ही न हुई हो। विचारणीय है कि महर्षि में साक्ष्य देने के पूर्व पाप उत्पन्न होकर नष्ट हो गये थे या उत्पन्न ही नहीं हुए थे, कैसी स्थिति थी कि वे अपने में पापों का अत्यन्ताभाव वतला रहे हैं; क्योंकि पाप का अत्यन्ताभाव पाप के प्रागभाव और ध्वंस दोनों के अधिकरणों में रह सकता है। अतः उस सन्देह की निवृत्ति के लिए महर्षि ने श्लोक में 'भूतपूर्वम्' पद रखा। जिससे सुनिश्चित हुआ कि साक्ष्य के समय महर्षि में भूतपूर्व (तपश्चर्या के पूर्व काल में स्थित) पापों का अत्यन्ताभाव था। अर्थात् पाप उत्पन्न होकर ध्वस्त हो गये थे इसलिए उनका अत्यन्ताभाव था। अत्यन्ताभाव और ध्वंस का विरोध नहीं है। दोनों एक साथ रह सकते हैं, और रहते भी हैं। अतः ध्वस्त हुए पापों का अत्यन्ताभाव 'नञ्' पद से वोधित कराया गया है, पापों का ध्वंस नहीं। विद्वज्जन समान-विभक्त्यन्त होने के कारण 'भूतपूर्व' को किल्विष' का विशेषण मानकर तपश्चर्या से ध्वस्त पापों का अत्यन्ताभाव 'नञ्' पद से वोधित करते हैं।

वैयर्थ्यापत्ति की अज्ञानमूलकता

द्विवेदी जो पीछे 'यदि हम कहें कि.... 'इत्यादि पदावलियों से कतिपय विद्वानों का मत प्रस्तुत करके भूतपूर्व पद का वैयर्थ्य उन लोगों

के मत में स्थिर किये हैं। इन्हीं लोगों का मत 'तात्पर्यान्तिर का निराकरण' शीर्षक देकर 'मेरे जो पूर्वकालिक पाप थे वे अब नहीं रहे, तपस्या से उनका विनाश हो गया। यहाँ का नञ् (नकार) किल्विष के ध्वंसाभाव का बोधक है प्रागभाव का नहीं' इत्यादि पदावलियों से पृष्ट ३०२ पर प्रस्तुत करते हैं। 'किंवदन्तीविमर्श' में उन लोगों के ऊपर 'भूतपूर्व' शब्दप्रयोग के वैयर्थ्य की आपत्ति भी दिये।

इन महाशय की यह आपत्ति भ्रान्तिमूलिका है; क्योंकि जो लोग तपश्चर्या से पापों का विनाश मानते हैं वे उस विनाश अर्थात् ध्वंस का बोध 'नञ्' पद से कभी नहीं कराते; क्योंकि ध्वंस का बोध 'नञ्' पद से होता ही नहीं, यही सभी दर्शनिकों की मर्यादा है। 'नञ्' पद से 'अत्र घटो नास्ति' इत्यादि स्थलों में अत्यन्ताभाव का बोध होता है। 'घटो न पट:' में अन्योन्याभाव का बोध सर्वमान्य है। जब नकार से ध्वंस का बोध ही दार्शनिक नहीं मानते तब 'मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्' में 'नञ्' का अर्थ प्रध्वंसाभाव मानना द्विवेदीजी का अपना अलौकिक पाण्डित्य है। पण्डितजन तो यही मानते हैं कि महर्षि के त्रिविध पाप तपश्चर्या से नष्ट हो गये थे अत: उन्होंने उन पापों के अत्यन्ताभाव का बोधन 'नञ्' से किया था। ध्वंस के साथ अत्यन्ताभाव का कोई विरोध नहीं है यह बात पूर्व में कही जा चुकी है।

ऐसी स्थिति में जब कि 'नञ्' का अर्थ ही ध्वंसाभाव नहीं, तब 'नञ्' का अर्थ ध्वंसाभाव मानकर और उसे पण्डित जनों के ऊपर थोपकर भूतपूर्व पद का वैयर्थ्य इसलिए दिखाना कि विनाश सत्तापूर्वक ही होता है अत: पापों के विनाश के पूर्व उनकी सत्ता स्वत: सिद्ध है उसके बोधन के लिए भूतपूर्व पद का प्रयोग व्यर्थ है" इत्यादि प्रलाप भ्रान्तिमूलक ही तो है।

नञ् का अर्थ उस श्लोक में अत्यन्ताभाव करके भूतपूर्व पद का सार्थक्य दिखाया जा चुका है। ध्वंस के प्रति प्रतियोगी कारण होता है—'ध्वंसं प्रति प्रतियोगिन: कारणत्वात्'। अत: वस्तु–ध्वंस के पूर्वकाल में उस वस्तु का रहना अनिवार्य है, अन्यथा वह ध्वंस का कारण ही नहीं बन सकती। जब वस्तु ही नहीं तो ध्वंस किसका? किन्तु अत्यन्ताभाव नित्य है, कार्य नहीं। उसका केवल प्रतियोगी के साथ विरोध है। प्रतियोगी घट आदि अन्यत्र रखे हों या उत्पन्न ही न हुए हों अथवा नष्ट हो गये हों, इन सभी परिस्थितियों में उनका अत्यन्ताभाव मिलता है।

अतः अत्यन्ताभाव के पूर्व उसके प्रतियोगी की सत्ता होना आवश्यक नहीं है । इसलिए 'भूतपूर्व' पद का उस श्लोक में वैयर्थ्य नहीं है । 'सन्देह-निवृत्ति' इस पद का विशेष–प्रयोजन पूर्व में उपवर्णित है । इसका विशद विवेचन 'तात्पर्यविमर्शभङ्ग' परिच्छेद में किया जायेगा । अतः 'अध्यात्म-रामायण', 'स्कन्दमहापुराण', 'आनन्दरामायण' और 'विनयपत्रिका' आदि में वर्णित महर्षि 'वाल्मीकि'की कथाओं का 'वाल्मीकीयरामायण' से विरोध नहीं, अपितु पुष्टि ही होती है ।

पुराण साक्ष्यों का अविरोध

विष्णुमहापुराण के तृतीय अंश के तृतीय अध्याय में २९ व्यासों की चर्चा मिलती है । जिनमें महर्षि वाल्मीकि अन्यतम हैं—

'ऋक्षोऽभूद् भार्गवस्तस्माद्वाल्मीकिर्योऽभिधीयते' —वि०म० ३/३/१८

उसके (तृणविन्दु के) बाद भृगुवंश में 'ऋक्ष' नामक व्यास हुए जो 'वाल्मीकि' कहे जाते हैं ।

द्विवेदी जी पृष्ठ २७ पर 'महर्षि वाल्मीकि' में लिखते हैं कि 'वेदों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्य का साक्षात्कार कर उसे ऋगादिभागों में वांट-कर उन्हें शिष्यभूत तत्तद्ऋषियों को यथाविधिग्रहण कराने वाला आचार्य किरातों के सङ्ग में पड़कर शूद्राचारी हो गया, दस्यु हो गया आदि 'अध्यात्मरामायण' की उक्ति अपने में कितनी समञ्जस है, इसे पाठकगण स्वयं निर्णीत करेंगे ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

विष्णुमहापुराण के तृतीय अंश के तृतीयाध्याय में लिखा है—

'तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे च वृहस्पतिः' ।
....　....　....　.... ॥१२॥
"सप्तमे च तथैवेन्द्रो वशिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः ॥१३॥
भविष्ये द्वापरे चापि द्रौणिर्व्यासो भविष्यति"॥२१॥

इन श्लोकों द्वारा तीसरे व्यास 'उशना', चौथे व्यास 'वृहस्पति' जी, सातवें इन्द्र और आने वाले द्वापर में द्रोणपुत्र अश्वत्थामा उन्तीसवें व्यास कहे गये हैं । इनमें उशना राक्षसों के गुरु हैं तथा उनके अभ्युदय के लिए सर्वदा जागरूक रहते हैं । चौथे व्यास वृहस्पतिजी अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जिन्होंने अपनें भाई की पत्नी ममता से बलात् सम्भोग किया था,

जिससे भरद्वाज की उत्पत्ति हुई । सातवें व्यास इन्द्र की कथा सर्वप्रसिद्ध है ही, जो आज की भाषा में अपनी लम्पटता के कारण महर्षि गौतम की पत्नी अहल्या से आकर सम्भोग किये । परिणामस्वरूप महर्षि के शाप से उनका अण्डकोष ही गिर गया । कहीं-कहीं शापवशात् सहस्रों भग होने का भी वर्णन है । उन्तीसवें व्यास अश्वत्थामा का इतिहास भी सर्वप्रसिद्ध है जो पाण्डवों के पुत्रों का सोते समय वध कर डाले थे, और गर्भवती उत्तरा के गर्भ पर ब्रह्मास्त्र से प्रहार किये थे ।

द्विवेदी जी को इन परिगणित व्यासों के चरित्र का अवलोकन पुराणों' एवं 'महाभारत' में अवश्य करना चाहिए । फिर ज्ञात हो जायेगा कि वेदों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों का साक्षात्कार कर उसे ऋगादिभागों में बांटकर उसे शिष्यभूत तत्तद्ऋषियों को यथाविधि ग्रहण कराने वाले ये व्यासगण जैसे इन पूर्वोक्त निन्दित कर्मों में प्रवृत्त हो गये । वैसे ही यदि चौबीसवें व्यास महर्षि 'वाल्मीकि' भी अपनी तपश्चर्या के सुदूर पूर्व किरातों के सङ्ग में पड़कर शूद्राचारी और लुटेरे हो गये तो क्या आश्चर्य है ? भगवान् की वलवती माया वड़े-वड़े लोगों को मोहित कर देती है। ६० हजार वर्ष पर्यन्त तपश्चर्या करने वाले ब्रह्मचारी महर्षि सौभरि जब मत्स्य के संसर्ग से विवाह के चक्र में फँसकर अपनी तपश्चर्या से विरत हो सकते हैं, वेदपाठी कर्मकाण्डी विप्र अजामिल शूद्रा के सङ्ग से शूद्राचारी तथा चोर हो सकता है । वैसे ही यदि एक और ब्राह्मण किरातों के सङ्ग में पड़कर दस्यु हो जाय, तो इसमें क्या आश्चर्य ? इसलिए महर्षि वाल्मीकि की दस्युवृत्तिता का सुस्पष्ट उल्लेख करने वाली 'स्कन्द महापुराण', और 'अध्यात्मरामायण' आदि की कथाएँ पूर्ण समञ्जस हैं। अतः पुराणों के किसी साक्ष्य से कोई विरोध नहीं । चिरकालिक तपश्चर्या के उपरान्त महर्षि वाल्मीकि का जीवन रामोपासना एवं उनके दिव्य यश के वर्णन तथा सत्कर्म में ही बीता । परिगणित २९ व्यासों में ये महर्षि अन्यों की अपेक्षा महान् तपस्वी थे । आदि-काव्य लिखने का गौरव इन्हें ही प्राप्त है ।

वाल्मीकि और वम्र एक नहीं

भ्रान्ति—

ऋग्वेद के दशम मण्डल के ९९ वें सूक्त जिसके १२ मन्त्र हैं, के

द्रष्टा यही महर्षि हैं; क्योंकि अनुक्रमणिका, जिसके द्वारा मन्त्रों के ऋषि देवता आदि का परिज्ञान होता है, में इस सूक्त के विषय में सुस्पष्ट लिखा है—'कं नो वम्रो वैखानसः' अर्थात् 'कं नश्चित्रमिषेण्यसि' आदि मन्त्रों के द्रष्टा अतएव ऋषि वैखानस वम्र हैं। वैखानस का अर्थ होता है वानप्रस्थाश्रमी या तपस्वी। वम्र शब्द वम्री शब्द से 'अर्श आदिभ्योऽच्' इस पाणिनिसूत्र से मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करके निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ हुआ वम्री से सम्बद्ध। वम्री का अर्थ होता है वल्मीक (विमउट) अर्थात् जिस तरह वल्मीक से निर्गत होने के कारण उन्हें वाल्मीकि कहते हैं। उसी तरह वल्मीकापरपर्याय वम्री से निर्गत होने के कारण उन्हें वम्र भी कहा जाता है। भगवान् श्रीराम को रावणान्तक या दशास्यान्तक जो भी कहें अर्थ एक ही होगा। उसी तरह उक्त अनुक्रमणिका का वम्र शब्द वाल्मीकि का ही पर्याय है कुछ अन्य नहीं। उनका वैखानसत्व भी प्रसिद्ध ही है। अतः उक्त विशेषण विशिष्ट 'वम्र' शब्द महर्षि वाल्मीकि के लिए ही वहाँ प्रयुक्त है, किसी अन्य के लिए नहीं यह निश्चित है।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितपुङ्गव केवल व्याकरण का अवलम्बन लेकर वम्र और वाल्मीकि को एक सिद्ध करना चाहते हैं। अनुक्रमणिका में विद्यमान 'वैखानस' शब्द का जो अर्थ वानप्रस्थाश्रमी या तपस्वी इन्होंने किया, उससे प्रतीत होता है कि ये महाशय ऋग्वेद की 'अनुक्रमणिकापद्धति' से सर्वथा अनभिज्ञ हैं। इन्हीं जैसे एक वैयाकरण महानुभाव आयुर्वेद के निम्नलिखित श्लोक का अर्थ कर रहे थे—

"कण्टकारिद्वयं छित्वा मधुना भक्षयेन्निशि"।

'जो है सो है कण्टकानाम् = अरिः कण्टकारिः, अर्थात् काटों के शत्रु जो उपानह अर्थात् जूते, जो है सो है कर-कर करके, उन दोनों को छित्वा माने काटकर अर्थात् छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटकर शहद के साथ रात में भक्षण'!!!छिः!छिः! पण्डितजी ने व्याकरणशास्त्र के बल से आयुर्वेद का अध्ययन न होने से कैसा भद्दा अर्थ कर डाला। यह दृष्टान्त, मात्र व्याकरण के सहारे किसी शास्त्र में कूदने की अज्ञानता के परिणाम का संकेत कर रहा है।

अव प्रकृत में आइए, यह ध्रुव सत्य है कि ऋग्वेद के १०म मण्डल के ९९ वें सूक्त जिसमें १२ ऋचायें हैं, के द्रष्टा ऋषि वम्र हैं, किन्तु उस सूक्त की अनुक्रमणिका में पठित 'कं नो वम्रो वैखानसः' के 'वम्र' शब्द को 'वाल्मीकि' शब्द का समानार्थक होने मात्र से उस सूक्त का द्रष्टा महर्षि 'वाल्मीकि' को नहीं माना जा सकता अर्थात् सूक्त-द्रष्टा ऋषि 'वम्र' और रामायणप्रणेता महर्षि 'वाल्मीकि' अभिन्न नहीं हैं; क्योंकि महर्षि 'वाल्मीकि' को 'वाल्मीकीयरामायण' उत्तरकाण्ड ९६/१९ में ही प्रचेता का दशवां पुत्र और भार्गव कहा गया है—

"प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दन" ।

द्विवेदी जी भी उन्हें 'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक के पृष्ट १५३ में च्यवन का पुत्र लिख रहें हैं । इधर ऋषि 'वम्र' न तो च्यवन के पुत्र हैं और न ही भृगुवंशीय । पूर्वोक्त 'कं नो वम्रो वैखानसः' अनुक्रमणिका से 'वम्र' का स्वल्प परिचय मिलता है। ये ऋषि वम्र वैखानस अर्थात् विखनाः के पुत्र हैं—विखनसोऽपत्यं वैखानसः । विखनस् शब्द से अपत्यार्थक अण् प्रत्यय होकर वैखानस शब्द निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—विखनाः का पुत्र । इस कथन की पुष्टि ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ११२ वें सूक्त के १५ वें अनुवाक् "याभिर्वम्रं विपिपानमुपस्तुतं····" के सुप्रसिद्ध सायण भाष्य से होती है—

सायणभाष्य—'हे अश्विनौ वम्रं = विखनसः पुत्रम् = एतत्संज्ञमृषिं विपिपानं विशेषेण पार्थिवरसं पिवन्तम्' ।

पाठकवृन्द! वेदभाष्यकार आचार्य सायण 'वम्रम्' का भाष्य 'विखनसः पुत्रम् एतत्संज्ञमृषिम्" लिखकर सुस्पष्ट कर दिये कि ऋषि वम्र विखनाः के पुत्र हैं । ये विखनाः साक्षात् लोकस्रष्टा ब्रह्माजी ही हैं; क्योंकि भागवतमहापुराण १०/३१/४ में ब्रह्माजी के लिए 'विखनस् शब्द अभिधा शक्त्या प्रयुक्त है—

"विखनसाऽर्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले" ।

इस श्लोक की व्याख्या में सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीधर स्वामी लिखते हैं–विखनसा = ब्रह्मणा विश्वपालनाय प्रार्थितः सन् सात्वतां कुले उदेयिवान् उदित इति । श्रीवल्लभाचार्यजी भी विखनाः का अर्थ ब्रह्मा ही स्वीकार करते हैं—

विखनसा = ब्रह्मणा–भा०म० ३/१२/४२ की सुबोधिनी टीका। शब्दकल्पद्रुमकोश के चतुर्थ भाग पृष्ठ ३७६ में विखनाः (स्) पुं० ब्रह्मा' लिखा है। अतः अनुक्रमणिका में विद्यमान 'कं नो वम्रो वैखानसः' का यही तात्पर्य है कि "कन्नश्चित्रमिषेण्यसि" इत्यादि १२ ऋचाओं के द्रष्टा ब्रह्मा जी के पुत्र ऋषि वम्र हैं। यहाँ वैखानस का अर्थ वानप्रस्थाश्रमी या तपस्वी नहीं है।

सूक्तों के साथ दी गयी अनुक्रमणिका में मन्त्रद्रष्टा ऋषि के लघु परिचय हेतु ऋषि के नाम के साथ उनके पिता के वाचक नाम से अपत्यार्थक प्रत्यय करके "वैश्वामित्रः" इत्यादि लिखा हुआ मिलता है। जैसे–"अग्निमीले पुरोहितम्" की अनुक्रमणिका में 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः' अन्यत्र 'अग्निं द्वादश मेधातिथिः काण्वः' (पृ० १२७), 'प्रवोविंशतिः कण्वो घौरः' (पृ० ३६६) इत्यादि। यहाँ प्रथम 'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि मन्त्रों के द्रष्टा मधुच्छन्दा ऋषि वतलाये गये, और वे किसके पुत्र हैं? इसकी जानकारी के लिए वहीं 'वैश्वामित्रः' पद दिया हुआ है जिसका अर्थ है—विश्वामित्र का पुत्र, (विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्रः)। 'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' सूत्र द्वारा विश्वामित्र शब्द से अण् प्रत्यय होकर वैश्वामित्र शब्द निष्पन्न हुआ है। आचार्य सायण ने भी "विश्वामित्रपुत्रो मधुच्छन्दानामर्कस्तस्य सूक्तस्य द्रष्टृत्वात् तदोय ऋषिः' लिखा है। पुनः पृष्ठ १२६ पर "अग्निं दूतम्...."इत्यादि सूक्त के द्रष्टा 'कण्व पुत्रो मेधातिथिऋषिः' और पृ० ३१६ पर 'आचार्य सायण' ने 'प्रवोयह्वं' इत्यादि २० मन्त्रों के द्रष्टा "घोरपुत्रः कण्व ऋषिः" लिखा है। यही नहीं, ऋग्वेद १०म मण्डल के ९९ वें सूक्त के पूर्व ९८ वें सूक्त की अनुक्रमणिका में 'वृहस्पते द्वादशार्ष्टिषेणो देवापिः' से 'वृहस्पते प्रति····' इत्यादि १२ ऋचाओं के द्रष्टा ऋष्टिषेण के पुत्र देवापि कहे गये हैं। उक्त अनुक्रमणिका का तात्पर्य आचार्य सायण "ऋष्टिषेणपुत्रो देवापिर्नाम ऋषिः" लिखते हैं। ९९ वें सूक्त के पश्चात् १०० वें सूक्त की अनुक्रमणिका में "इन्द्र दुवस्युर्वन्दनो" इत्यादि लिखा है जिसका तात्पर्य आचार्य सायण ने वहीं 'वन्दनपुत्रस्य दुवस्योः' इत्यादि लिखा है। इसी प्रकार अनुक्रमणिका में मन्त्रद्रष्टा ऋषि के पिता का परिचय मिलता है, और पिता के नाम को अणादि प्रत्ययान्त करके लिख देने से 'मधुच्छन्दा वैश्वामित्रः', 'मेधातिथिः काण्वः' इत्यादि अनुक्रमणिका के शब्द मधुच्छन्दा को विश्वामित्र का पुत्र

और मेधातिथि को कण्व का पुत्र होना बतलाते हैं। इसी प्रकार ९९ वें सूक्त की अनुक्रमणिका "कं नो वम्रो वैखानसः" में भी वैखानस का अर्थ (विखनसोऽपत्यम्) विखनाः का पुत्र ही समझना चाहिए।

वम्र और वाल्मीकि की अभिन्नता की भ्रान्ति का कारण

आचार्य सायण ने जैसा अन्यत्र अनुक्रमणिकाओं के ऊपर 'विश्वामित्रपुत्रो मधुच्छन्दानामकस्तस्य सूक्तस्य द्रष्टृत्वात् तदीय ऋषिः' इत्यादि लिखा है, वैसा "कं नो वम्रो वैखानसः" इस अनुक्रमणिका पर 'विखनसः पुत्रो वम्रः' इत्यादि नहीं लिखा। यही द्विवेदीजी की भ्रान्ति का कारण बन गया और वे वम्र तथा वाल्मीकि को समानार्थक समझकर उन्हें अभिन्न मान बैठे। यदि आचार्य सायण यहाँ "विखनसः पुत्रो वम्रः" लिखे होते तो ये महाशय वैखानस का अर्थ वानप्रस्थाश्रमी या तपस्वी नहीं करते, और इन्हें 'वम्र विखनाः के पुत्र हैं' यह ज्ञान भी हो जाता, फिर ऋषि 'वम्र' और महर्षि 'वाल्मीकि'–जो भिन्न-भिन्न लोगों की सन्तान हैं–को अभिन्न समझने और प्रतिपादित करने का प्रयास न करते।

यह भ्रान्ति इन्हें ही नहीं, अपितु उन सभी को हो सकती है, जिन्हें गुरुपरम्परा से वेदार्थ–विचार और ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के भी सायणभाष्य के दर्शन का सौभाग्य नहीं मिला है। यदि द्विवेदी जी को ऋग्वेद प्रथम मण्डल के सायणभाष्य को अवलोकन करने का सौभाग्य मिला होता तो वे 'वम्रं विखनसः पुत्रम् एतत्संज्ञमृषिम्'–ऋ० १/११२/१५ के सायणभाष्य से वम्र ऋषि विखना के पुत्र हैं, ऐसा जानकर "वम्रो वैखानसः" के वैखानस शब्द का अर्थ विखनाः का पुत्र करते, वानप्रस्थाश्रमी या तपस्वी नहीं। चूंकि आचार्य सायण प्रथममण्डल के भाष्य में ही ऋषि वम्र को विखनाः का पुत्र लिख चुके हैं इसलिए १०म मण्डल के ९९ वें सूक्त की अनुक्रमणिका के वैखानस शब्द का अर्थ वहाँ 'विखनसः पुत्रम्' नहीं लिखे।

इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि ऋग्वेद के १०म मण्डल के ९९ वें सूक्त के द्रष्टा ऋषि वम्र विखनाः (ब्रह्माजी) के पुत्र हैं, महर्षि च्यवन या प्रचेता के नहीं। अतः द्विवेदी जी द्वारा स्वीकृत महर्षि च्यवन के पुत्र महर्षि वाल्मीकि से वे भिन्न हैं। आज भी देवदत्त के पुत्र का नाम गणेश

और यज्ञदत्त के पुत्र का नाम गजानन या गणपति सुना जाता है, तो क्या दोनों शब्दों की समानार्थकता के कारण देवदत्त–पुत्र गणेश और यज्ञदत्त–पुत्र गजानन को अभिन्न मान लिया जाय ? यदि कोई मूर्ख उन्हें अभिन्न मान भी ले तो भी वे अभिन्न नहीं हो जायेंगे, भिन्न ही रहेंगें। यही स्थिति ऋषि विखनाः के पुत्र ऋषि वम्र और प्रचेता के पुत्र महर्षि वाल्मीकि के विषय में है ।

निष्कर्ष—

इस परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि 'अध्यात्मरामायण', 'स्कन्द-महापुराण', 'आनन्दरामायण' और पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी के 'विनयपत्रिका', 'रामचरितमानस' आदि ग्रन्थों में रामायणकार महर्षि वाल्मीकि के विषय में जो कुछ वर्णित है, वह यथार्थ है। उसका 'वाल्मीकीय रामायण' आदि से कोई विरोध नहीं, प्रत्युत पुष्टि ही होती है । यही महर्षि 'मरा' इस भगवन्नाम के जापक थे । जो चिरकालिक तपश्चर्या के पश्चात् भगवान् शङ्कर की सतत आराधना करके कवित्वशक्ति प्राप्त करके 'वाल्मीकीयरामायण' की रचना किये । जिसका उल्लेख 'स्कन्द-महापुराण' के आवन्त्यखण्ड के २४ वें अध्याय आदि में है । श्रीनागेशभट्ट के 'अयं वाल्मीकिः प्राचेतसादन्य एवेति तत्त्वम्' जैसे लेख में कोई प्रमाण नहीं है । अतः चित्रकूटवासी वाल्मीकि और तमसातीरवासी रामायणकार महर्षि वाल्मीकि दोनों एक ही हैं। आज भी प्रसिद्ध सन्तों के कई आश्रम देखे जाते हैं । महर्षि भरद्वाज के अनेक आश्रम की वात स्वयं श्रीनागेश भट्ट स्वीकार करते हैं, फिर यदि उनके गुरु के दो आश्रम स्वीकार कर लिये जांय तो क्या हानि? दोनों आश्रमों के महर्षि को भिन्न मानने में कोई प्रबल प्रमाण भी नहीं है । अतः 'मरा' इस भगवन्नाम के जापक महर्षि वाल्मीकि ही रामायण प्रणेता हैं ।

पण्डितमानिनस्तस्य वैजनाथद्विवेदिनः ।
दर्पध्वंसः कृतो ह्यस्मिन् शास्त्रसंरक्षणेच्छया ।।
किंवदन्तीविमर्शस्य भङ्गो युक्त्या कृतो मया ।
प्रीयतां तेन मे स्वामी श्रीरामो भक्तवत्सलः ।।

इत्ययोध्यानगरीस्थश्रीमणिरामछावनीपीठाधीश्वरश्रीनृत्यगोपालदासजी महाराजेभ्यो लब्धदीक्षेण आचार्यसियारामदासनैयायिकेन कृते 'भ्रान्तिगिरिभङ्गे' किंवदन्तीविमर्शभङ्गः पूर्णः ।

जातिविमर्शभंग

रक्षोदलं भूमिमलं शिताग्रैर्वाजैः सुघोरैर्युधि संहरन्तम् ।
वातात्मजादिप्लवसैन्ययुक्तं वन्दे रमेशं रघुराजराजम् ।।

पण्डितप्रवर वैजनाथ द्विवेदी पूर्ववत् 'जातिविमर्श' परिच्छेद में अनेक स्थलों में भ्रान्त हैं। चूँकि इनकी भ्रान्ति अध्यात्मरामायण, पद्ममहापुराण और गोस्वामी तुलसीदासजी के ग्रन्थों में प्रतिपाद्य विषयों पर है, और उससे कोमलमति पुरुषों को भ्रम हो सकता है । अतः उसका निराकरण किया जाता है। सर्वप्रथम श्रीमान् जी की 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' ग्रन्थ के उस अंश में उत्पन्न भ्रान्ति का निराकरण किया जाता है जो प्रत्यक्षखण्ड के अन्तर्गत है । महाशय 'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक के पृष्ठ ४१ पर इन्द्रिय का लक्षण लिखते हुए कहते हैं—

'शब्देतरोद्भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वम्'' —मुक्तावली का० ४८ (शब्द से भिन्न किसी उद्भूत विशेष गुण का आश्रय न होकर जो ज्ञान के कारण मनः संयोग का आश्रय हो उसे इन्द्रिय कहते हैं ।) आदि जो लक्षण शास्त्रकारों ने प्रदर्शित किये हैं उनका संवटन (परीक्षण) अपने इन्द्रिय में ही पूर्णतया शक्य है परकीय इन्द्रिय में नहीं । क्योंकि इस लक्षण के अन्त में प्रयुक्त 'मनःसंयोगाश्रयत्व' का परकीय देहस्थ इन्द्रिय में कैसे अनुभव होगा ? ज्ञान एवं तत्कारणभूत मनःसंयोगविशेष का अपने शरीर में ही प्रत्यक्ष सम्भव है । परकीय में नहीं' ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग--

यहाँ द्विवेदी जी ने स्वकीय इन्द्रिय में इन्द्रिय के उक्त लक्षण के संवटन की शक्यता इसलिए मानी है कि ज्ञान एवं तत्कारण मनः संयोगविशेष का अपने शरीर में ही प्रत्यक्ष सम्भव है। परकीय इन्द्रिय में उक्त लक्षण के संवटन की अशक्यता परकीय देह में ज्ञान एवं तत्कारण मनः संयोगविशेष के प्रत्यक्ष की असम्भावना से कह रहे हैं ।

सुधीजन ! न्यायसिद्धान्त में मनःसंयोगविशेष का प्रत्यक्ष न तो अपने शरीर में सम्भव है, और न ही परकीय शरीर में; क्योंकि मन के आत्मत्व का निराकरण करते हुए श्रीविश्वनाथपञ्चानन न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, कारिका ४९ पर लिखते हैं—

"मनसोऽणुत्वात् प्रत्यक्षे च महत्त्वस्य हेतुत्वात् मनसि ज्ञानसुखादिसत्वे तत्प्रत्यक्षानुपपत्तिरित्यर्थः★ ।

यहाँ श्रीविश्वनाथ ने मन को अणु वतलाकर उसके प्रत्यक्ष की असम्भाव्यता वतलायी । जव मन का ही प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, तव मनःसंयोगविशेष का प्रत्यक्ष कैसे सम्भव होगा? नियम तो यही है—'सम्वन्धिनोः साक्षात्कारः सम्वन्धसाक्षात्कारे हेतुः' । (किञ्चित्प्रतियोगिककिञ्चिदनुयोगिकसम्वन्धसाक्षात्कारं प्रति प्रतियोग्यनुयोगिनोः साक्षात्कारस्य कारणत्वमिति सर्ववादिसिद्धम् —सामान्यनिरुक्ति की 'गंगा' टीका' पृ० २०) । यह नियम लोक सिद्ध भी हैं; क्योंकि भूतल और घट के संयोग का प्रत्यक्ष होता है, किन्तु भूतल और अतीन्द्रिय ब्रह्मपिशाचादि के संयोग का प्रत्यक्ष नहीं होता; क्योंकि ब्रह्मपिशाचरूप सम्वन्धी का साक्षात्कार ही नहीं होता, अतः अपना शरीर हो या परकीय, कहीं भी ज्ञानकारणीभूत मनःसंयोगविशेष का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । अव विद्वद्वृन्द देख सकते हैं कि द्विवेदी जी का न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीविषयकज्ञान कितना गम्भीर है ।

संघटन-प्रणाली विषयक अज्ञान

पण्डित जी के स्वरूप और वक्तव्यों से तभी तक इनका पाण्डित्य झलकता है जब तक इसे विचार-निकष पर कसा न जाय । श्रीमान्‌जी इन्द्रिय के लक्षण को प्रस्तुत करके उसके विषय में लिखे कि 'उसका संघटन (परीक्षण) अपने इन्द्रिय में ही पूर्णतया शक्य है परकीय इन्द्रिय में नहीं ।' इनके इस लेख से ज्ञात होता है कि इन्हें तर्कसंग्रह के पदकृत्य के आरम्भ में आये हुए परीक्षा (परीक्षण) पदार्थ का भी ज्ञान नहीं है; क्योंकि वहाँ पदकृत्य में "लक्षितस्य लक्षणं सम्भवति न वेति विचारः परीक्षा"

★मन अणु है और प्रत्यक्ष में महत्त्व अर्थात् महत्परिमाणवत्त्व कारण है । अतः मन में महत्परिणाम न रहने से उसका प्रत्यक्ष असम्भव है । ऐसी स्थिति से मन को आत्मा मानने वालों के मत में मनोनिष्ठ ज्ञान सुखादि का मानस प्रत्यक्ष ही अनुपपन्न हो जायेगा अर्थात् 'घटादिविषयक ज्ञानवानहम्', 'अहं सुखी' इत्यादि प्रामाणिक अनुभव कथमपि उपपन्न नहीं हो सकता; क्योंकि मनःस्वरूप आत्मा अणु है । अतः मन आदि से भिन्न वस्तु को आत्मा मानकर उक्त अनुभव की उपपत्ति कर लेनी चाहिए ।

(लक्षित वस्तु का लक्षण सम्भव है या नहीं ऐसा विचार ही परीक्षा है) कहा गया है। हम सभी की इन्द्रियां उक्त लक्षण की लक्ष्यभूता हैं। श्रोत्र नेत्र, घ्राण आदि सभी इन्द्रियां, चाहे वे अपनी हों या दूसरे की, उनमें शब्द से भिन्न उद्‌भूत रूप रसादि विशेषगुण की अनाश्रयता होने के साथ-साथ 'सुन्दरं रूपम्' इत्यादि ज्ञान का कारण जो मनःसंयोग, उसकी आश्रयता भी है। श्रोत्रेन्द्रिय कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न आकाशरूप है उसमें उद्‌भूत विशेषगुण शब्द है; क्योंकि शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष होता है इसलिए उसमें उद्‌भूतत्व अङ्गीकृत है। अन्य रसनादि इन्द्रियों में रूपादि अनुद्‌भूत हैं; क्योंकि उनका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीलिए शब्देत-रोद्‌भूत विशेषगुणों की आश्रय इन्द्रियां नहीं है। इस प्रकार लक्षित इन्द्रियों में लक्षण का सत्यन्त दल सिद्ध हो गया। कोई भी ज्ञान हो, मन उसमें कारण होता है। विषयों का प्रत्यक्ष तभी होता है, जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से संयोग होने के पश्चात् इन्द्रियों का विषयों से सम्बन्ध हो। चूंकि चाक्षुष, श्रावण, त्वाच, घ्राणज, रासन और मानस ये ६ प्रकार के प्रत्यक्ष क्रमशः चक्षु, श्रोत्र त्वक्, घ्राण, रसना और मन से उत्पन्न होते हैं। इनमें आत्मसमवेत सुखादि के मानस प्रत्यक्ष का कारण आत्ममनःसंयोग है। आत्मा के साथ परात्मव्यावृत्तविजा-तीयमनःसंयोग होने पर आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। अतः उक्त मानस-प्रत्यक्षरूपज्ञान का कारण तादृशमनः संयोग की आश्रयता मन रूप इन्द्रिय में है। इसी भाँति चाक्षुषादि प्रत्यक्ष में मन का चक्षुरादि इन्द्रिय के साथ संयोग होने से तादृशसंयोगाश्रयता चक्षुरादि इन्द्रियों में है। अतः तादृश विशेषगुणानाश्रयत्वविशिष्टतादृशसंयोगाश्रयत्वरूप लक्षण इन्द्रिय में सर्वथा सम्भव है, चाहे वे स्वकीय हों या परकीय। इस प्रकार लक्षित इन्द्रियों के लक्षण का संघटन उनमें हो जाता है।

द्विवेदीजी के अनुसार 'जन्माद्यस्य यतः' ब्रह्मसूत्र १/१/२, जगज्ज-न्मादिकारणत्व, प्रभृति ब्रह्म के लक्षणों का संघटन भी ब्रह्म में नहीं हो सकता; क्योंकि ब्रह्म में उक्त कारणता न तो वे देखे हैं और न उनके बाप, दादा ही। श्रीमान् जी को लक्षणों के संघटन–ज्ञान हेतु विद्वानों की शरण ग्रहण करनी चाहिए। फिर उनके संघटन–प्रणाली का ज्ञान इन्हें हो जायेगा।

शरीरलक्षणविषयकभ्रान्ति

शरीर उसे कहते हैं जिसमें हित अहित के प्राप्ति परिहार के अनुकूल क्रियाविशेषरूप चेष्टा की सत्ता हो– चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वम् (मुक्ता०का०३८) " मृत् पाषाणादि में उक्त चेष्टाश्रयता प्रत्यक्षादि प्रमाण द्वारा सिद्ध न होने से उसमें शरीरत्व की सिद्धि ही नहीं होती ।

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि पृष्ठ ४१

भ्रान्तिगिरिभङ्ग

पण्डितजी शरीर के इस लक्षण को मुक्तावली से उद्धृत करके कहना चाहते हैं कि उक्त चेष्टाश्रयता मृत् पाषाणादि में न होने से उनमें शरीरत्व की सिद्धि नहीं होती । यहाँ पण्डितजी से मैं यही कहना चाहता हूँ कि जिसके आधार पर आप मृत् पाषाणादि के शरीरत्व का अपलाप करना चाहते हैं, वह शरीर का लक्षण ही नहीं है; क्योंकि लक्ष्यभूत सम्पूर्ण शरीरों के एकदेश मृतशरीर में चेष्टाश्रयता न होने से वह अव्याप्त है और हस्त-पादादि में चेष्टाश्रयता होने से वह अतिव्याप्त भी है । लक्षण वही माना जाता है जो अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव, इन तीनों दोषों से रहित हो । अतः वह शरीर का लक्षण ही नहीं बन सकता। इसीलिए न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार श्रीविश्वनाथपञ्चानन ने "चेष्टावदन्त्यावयविवृत्तिद्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वम्,अन्त्यावयविमात्रवृत्ति चेष्टावद्वृत्तिजातिमत्त्वम् वा तत्" इस शब्दकदम्ब से शरीर–लक्षण को परिष्कृत किया । समन्वय भी देखें—चेष्टावत् अन्त्यावयवी जीवितशरीर उसमें रहने वाली द्रव्यत्वव्याप्यजाति मानुषत्वचैत्रत्वादिरूप कोई भी जाति, तादृश जातिमत्त्व उत्पत्तिकालावच्छिन्न शरीर और मृत शरीर में भी है अतः लक्षण समन्वित हो गया । यहां इस लक्षण में द्रव्यत्वव्याप्यजाति से पृथिवीत्व का ग्रहण सुलभ होने से तद्वत्त्व घटादि में विद्यमान होने के कारण घटादि में शरीरलक्षण की अतिव्याप्ति होगी । प्रकारान्तर से उसका निर्वचन करने पर महान् गौरव होगा । अतः अन्त्यावयविमात्रवृत्तीत्यादि द्वितीय लक्षण किया गया। अब पृथिवीत्व का ग्रहण नहीं हो सकता; क्योंकि वह अन्त्यावयवी घटादि से भिन्न उसके कारण कपालादि में भी रहता है । प्रकृत लक्षण में चेष्टावत्ता और जातिमत्ता समवायसम्बन्ध से लेनी चाहिए । अर्थात् समवायसम्बन्धावच्छिन्नचेष्टात्वावच्छिन्नाधेयता-निरूपिताधिकरणता, तथा समवायसम्बन्धावच्छिन्नजातित्वावच्छिन्नाधेय-

तानिरूपिताधिकरणता लेनी चाहिए। ऐसा न कहने पर कालिकसम्बन्धेन चेष्टावद्घटादिरूपान्त्यावयविमात्रवृत्ति जाति से घटत्व का ग्रहण सुलभ होने से तद्वान् घट में अतिव्याप्ति होगी। अतः लक्षण घटकवृत्तिताव-च्छेदकसम्बन्ध समवाय ही समझना चाहिए। तादृशजाति से मानुषत्व चैत्रत्वादि किसी भी जाति का ग्रहण कर लक्षण – समन्वय कर लेना चाहिए। इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि पण्डितजी द्वारा प्रदर्शित शरीर का लक्षण दुष्ट है। अतः उस पर आधारित सम्पूर्ण कथन प्रलाप मात्र है।

मृत् पाषाणादि के शरीरत्व में श्रुति का साक्ष्य

मृत् पाषाण, जल, तेज, वायु, अधिक क्या सम्पूर्ण जगत् ही परमात्मा का शरीर है। इन सभी वस्तुओं में शरीरत्व का उद्घोष भगवती श्रुति करती हैं—

"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः। योऽप्सु तिष्ठन्....। 'योऽग्नौ तिष्ठन्, यो वायौ तिष्ठन्,....यः सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणिभूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" –बृहदारण्यकोपनिषद् ३/७। इन वचनों से पृथिवी ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भूतों को भगवान् का शरीर कहा गया।

पण्डितजी द्वारा प्रदर्शित मुक्तावली का लक्षण अपरिष्कृत होने के कारण मृत शरीर में ही नहीं गया, फिर यहां तक कैसे पहुँचेगा ? नैयायिकों का परिष्कृत लक्षण भी श्रुतिसिद्ध इन सभी शरीरों में न होने से अव्याप्त ही है। अतः यह कहना कि "मृत्पाषाणादि में शरीरत्व की सिद्धि हो ही नहीं सकती" मात्र अज्ञानता है। इनमें तो शरीरत्व का उद्घोष श्रुतिशिरोभाग उपनिषदें ही कर रहीं है, यदि किसी वधिर को न सुनाई दे, तो किसका दोष ?

विष्णुमहापुराण का साक्ष्य

जीवों को अनन्त विचित्र कर्मों से तत्तद्योनियों की प्राप्ति होती है। अतिनिकृष्ट कर्म का फल उन्हें शिला आदि—जो अनभिव्यक्तप्राण वाली वस्तुएँ हैं—शरीर से भोगना पड़ता है। पुराणरत्न विष्णुमहापुराण में इसका सुस्पष्ट उल्लेख है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।
अविद्याकर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्तिरिष्यते ॥ ६/७/६१ ॥
यया क्षेत्रज्ञशक्तिस्सा वेष्टिता नृप सर्वगा ।
संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसंततान् ॥ ६/७/६२ ॥
तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ।
सर्वभूतेषु भूपाल तारतम्येन लक्ष्यते । ६/७/६३ ॥
★अप्राणवत्सु स्वल्पा सा स्थावरेषु ततोऽधिका ।
सरीसृपेषु तेभ्योऽपि ह्यतिशक्त्या पतत्रिषु ॥ ६/७/६४ ॥
पतत्रिभ्यो मृगास्तेभ्यस्तच्छक्त्या पशवोऽधिकाः ।
पशुभ्यो मनुजाश्चातिशक्त्या पुंसः प्रभाविताः ॥ ६/७/६५ ॥
तेभ्योऽपि नागगन्धर्वयक्षाद्या देवता नृप ।
शक्रस्समस्तदेवेभ्यस्ततश्चातिप्रजापतिः ॥
हिरण्यगर्भोऽपि ततः पुंसश्शक्त्युपलक्षितः ॥ ६/७/६६ ॥

अर्थ :— सर्वव्यापक परमात्मा की शुद्ध चित्तत्व (जीव) पराशक्ति है। शरीरसंवलित हिरण्यगर्भ आदि रूप क्षेत्रज्ञ अपरा तथा अविद्या-जिसकी कर्म भी एक संज्ञा है– तृतीय शक्ति है ॥ ६/७/६१ ॥ हे राजन् इसी कर्माख्य तृतीय शक्ति से सम्पूर्ण भूतों में रहने वाली क्षेत्रज्ञ शक्ति बंधी हुई है, इसीलिए संसार के सम्पूर्ण तापों को निरन्तर प्राप्त होती है ॥ ६/७/६३/॥इसी कर्मशक्ति से तिरोहित ज्ञान और आनन्द गुण वाली क्षेत्रज्ञ शक्ति सम्पूर्ण भूतों में तारतम्य से परिलक्षित होती है ॥ ६/७/६३ ॥ वह क्षेत्रज्ञशक्ति प्राणरहित शिला काष्ठ आदि में ज्ञानानन्दादिगुणों से अल्प है। अर्थात् शिला काष्ठ आदि में स्वरूपतः उसके रहने पर भी तन्निष्ठ ज्ञाना-नन्द आदि का विकास अति स्वल्प मात्रा में ही होता है। स्थावर वृक्ष आदि जो प्राणयुक्त हैं उनमें शिलादि की अपेक्षा उसका अधिक अनुभव होता है। उससे अधिक सरीसृपों में, सरीसृपों से पक्षियों में वह अधिक ज्ञानशक्ति से परिलक्षित होती है ॥ ६/७/६४ ॥पक्षियों से मृगों में तथा मृगों की अपेक्षा अन्य पशुओं में अधिक ज्ञानशक्ति से उस क्षेत्रज्ञ शक्ति का ज्ञान होता है। पशुओं से मनुष्य भगवान् की क्षेत्रज्ञ शक्ति द्वारा अधिक ज्ञानशक्ति के कारण प्रभावित हैं। उनकी अपेक्षा नागगन्धर्वयक्षादि देवता,

---

तारतम्यमेव दर्शयति - अप्राणवत्स्वति । शिलाकाष्ठादिषु सा क्षेत्रज्ञ-शक्तिः स्वल्पा ज्ञानानन्दादिना, न तु स्वरूपेण– विष्णुचित्ती व्याख्या ।

देवताओं की अपेक्षा इन्द्र और इन्द्र की अपेक्षा प्रजापति तथा प्रजापति की अपेक्षा हिरण्यगर्भ भगवान् की क्षेत्रज्ञशक्ति से अधिक युक्त हैं । तात्पर्य यह कि यद्यपि क्षेत्रज्ञशक्ति (जीव) शिला आदि से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी शरीरों में कर्मवशात् निवास करती है और पुण्य पाप भी भोगती है; तथापि शिलादि की अपेक्षा स्थावरादि में उसके ज्ञानादि गुणों का अधिक विकास देखा जाता है। हिरण्यगर्भ में सबसे अधिक विकास है।

विष्णुमहापुराण के ये वचन शिला आदि वस्तुओं में "अप्राणवत्सु-स्वल्पा सा" से जीव का कर्मवशात् निवास बतला रहे हैं। भगवान् शुक ने "खगान् मृगान् पशून् वृक्षान् गिरीन् नृप सरीसृपान् - - - -कर्मणां गत-यस्त्विमाः" —भागवतमहापुराण २/१०/३९-४० में पर्वत (पाषाणादि) आदि को जीवों के कर्मों से मिलने वाला फल बतलाया है। अतः कर्मवशात् शिलादि शरीर की प्राप्ति जीवों को सिद्ध है। शिलादि शरीर कर्मफलों के भोग हेतु ही मिले हैं। एक शिला पुण्यातिरेक से मन्दिर में जाती है, दूसरी शौचालय में। इसी से तदन्तवर्ती जीवों के पुण्यापुण्य का अनुमान होता है।

अतः विष्णुमहापुराण के उक्त साक्ष्य से निश्चित है कि शिलादि से लेकर हिरण्यगर्भ पर्यन्त सभी शरीर जीवों को कर्मवशात् ही मिलते हैं और उनसे वे अपने कर्मों का फल भोगते हैं। फलतः द्विवेदीजी का यह कथन नितान्तभ्रममूलक है कि 'मृत् पाषाण किसी कर्म विशेष के फल नहीं माने गये हैं।" द्विवेदीजी "कु चु टु तु पु एते उदितः" को छोड़कर पुराणों की शरण में जांय तो इन्हें शिलादि में भी जीव का वास और शिलादि की कर्ममूलकता अवश्य दिखेगी।

पाषाण में भोग की असम्भावनाविषयकभ्रान्ति

मृत् पाषाणादि चूंकि अचेतन होते हैं। इनमें न तो तो भोग ही सम्भव है और न कोई कर्म ही। —रा०म०वा० पृ० ४१

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान् जी ! आपके चूंकि-पूंकि से कुछ होने वाला नहीं है। मृत् पाषाणादि भले ही अचेतन हों किन्तु उनमें चेतन (जीव) का निवास शास्त्रों से सिद्ध है। रही भोग और कर्म की बात। यह आपके मस्तिष्क में बिना दृष्टान्त के घुस नहीं सकती। सुनें—

आप 'वाल्मीकीयरामायण' के सुन्दरकाण्ड का पारायण कीजिए, वहाँ समुद्र-मैनाक-संवाद अवश्य मिलेगा—

"तिर्यगूर्ध्वमधश्चैव शक्तिस्ते शैल वर्धितुम् ।
तस्मात् संचोदयामि त्वामुत्तिष्ठ गिरिसत्तम ॥" } वा०रा०सुन्दरकाण्ड १/९३

अर्थ—हे शैल ! ऊपर नीचे अगल - बगल सब ओर बढ़ने की शक्ति तुममें है । इसलिए तुम्हें प्रेरित करता हूँ,ऊपर उठो ।

"हिरण्यगर्भोऽपि मैनाको निशम्य लवणाम्भसः ।
उत्पपात जलात्तूर्णं महाद्रुमलतावृतः ॥" } वा० रा० सुन्दर-काण्ड १/९४

यह सुनकर बड़े-बड़े वृक्षों और लताओं से आवृत सुवर्णमय मैनाक तुरन्त ही क्षारसमुद्र से ऊपर उठा । इतना ही नहीं, हनुमान् जी से मैनाक ने वहीं यह भी बतलाया है कि पूर्वकाल कृतयुग में पर्वतो के पंख होते थे और वे गरुड़ की भाँति बड़े वेग से सम्पूर्ण दिशाओं में जाते थे—

पूर्वं कृतयुगे तात पर्वताः पक्षिणोऽभवन् ।
तेऽपि जग्मुर्दिशः सर्वाः गरुडा इव वेगिनः॥ } सुन्दरकाण्ड १/११५

क्या पर्वतों में चैतन्य (जीव) न होने पर उनका गमन इधर- उधर सम्भव था ? फिर उड़ने के लिए पंखों की क्या आवश्यकता थी ? क्योंकि आपके अनुसार 'पाषाण अचेतन हैं, वे किसी कर्म के फल नहीं' । यदि पाषाण मैनाक को इन्द्र के वज्र से पीड़ा का भय नहीं होता तो वह समुद्र में क्यों छिपता ? अतः उनमें दु:ख का भोग भी सम्भव ही नहीं, अपितु निश्चित है ।

आपका यह कथन भी निस्सार है कि "पाषाण शरीर से कोई कर्म सम्भव नहीं";क्योंकि पाषाण मैनाक को हनुमान् जी की सेवा के लिए तत्पर देखकर देवराज इन्द्र ने उसे अभय दिया था— "अभयं ते प्रयच्छामि गच्छ सौम्य यथा सुखम् ।" (सु०का०)—" हे सौम्य मैं तुम्हें अभय देता हूँ जहाँ इच्छा हो वहाँ सुखपूर्वक चले जाओ ।" यहाँ पाषाण मैनाक से हनुमत्सत्काररूप कर्म सम्पन्न होने पर तत्फलस्वरूप उसे अभयदान मिला । सती तुलसी ने अपने सतीत्व का भगवान् द्वारा नाश किये जाने पर उन्हें पाषाण हो जाने का शाप दिया—

"दूरीकृतं मत्सतीत्वं यदतस्त्वां शपामि हे ।
छलेन धर्मभङ्गेन मम स्वामी त्वया हतः ।
पाषाणहृदयस्त्वं हि दयाहीनो यतः प्रभो ॥
तस्मात् पाषाणरूपस्त्वं भवे देव भवाधुना ।"—देवीभागवत, ९/२४/१९-२५

प्रभु पाषाण हो गये, क्या इस पाषाण शरीर की प्राप्ति भगवान् को सतीत्वनाशक कर्म के फलस्वरूप नहीं हुई ? अवश्य हुई। फिर यह कैसे कहा जा सकता कि पाषाण आदि किसी कर्म के फल ही नहीं हैं ?

यदि पाषाण विग्रह शालग्राम को भोग समर्पण करने पर वे ग्रहण नहीं करते, तब भोगसमर्पणपरक मन्त्रादि निष्फल ही हैं। पाषाण, दारु आदि की प्रतिमाओं का निर्माण करने के पश्चात् उनमें वैदिक मन्त्रों द्वारा प्राणप्रतिष्ठा की जाती है। इसके साथ ही साथ इन्द्रियादि की भी प्रतिष्ठा करते हैं। यदि इन मन्त्रों से प्रतिष्ठित इन्द्रियाँ अपने कार्य को न कर सकें। विग्रह में प्राण ही प्रतिष्ठित न हो सके, तो वे वेदमन्त्र अप्रामाणिक और व्यर्थ हो जायेंगे। यदि आपका अनर्गल कथन स्वीकार कर लिया जाय तो पूजन प्रार्थना आदि का कोई महत्व ही नहीं रह जायेगा, अतः वेदमन्त्रों के साक्ष्य से भी सिद्ध है कि पाषाण आदि में चैतन्य आता है। इस प्रकार पण्डित जी का कथन ध्वस्त हो गया।

पाषाणसदृश में लक्षणा की भ्रान्ति—

पुराणों तथा अन्य कतिपय रामायण आदि ग्रन्थों में कहीं-कहीं अहल्या प्रकरण में महर्षि गौतम द्वारा उनके पाषाण हो जाने के शाप का उपवर्णन हो गया है। अतः प्रमाणान्तर से बाधित होने के कारण "आदित्यो यूपः" की भाँति वहाँ के पाषाण शब्द को पाषाणसदृश में लाक्षणिक मान लेना चाहिए।　—रा० म० वा० पृ० ४२

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितपुङ्गव ! पुराण आप जैसे कुटिलकर्मा पुरुषों के मस्तिष्क के कचड़े नहीं हैं। वे तो ऋतम्भराप्रज्ञा-प्रसूत—भगवान् के ज्ञानावतार वेदव्यास की—अनूठी कृतियाँ हैं। वेदव्यास कृष्णद्वैपायन उन्हीं महर्षि वशिष्ठ के प्रपौत्र हैं जो भगवान् श्रीराम के गुरुदेव थे। अतः स्वाभाविक है कि सम्पूर्ण रामचरित्र उन्हें अपनी पूर्व परम्परा से अनायास प्राप्त हो जायें। उनमें श्रीरामचरित का सम्यग् ज्ञान ऋतम्भराप्रज्ञा से था ही, उस पर भी उन्हें पूर्वपरम्परा से प्राप्त श्रीरामकथा के अनुपम तथ्य विदित हो गये थे। अतः वेदव्यास ने जो कुछ लिखा उस पर सन्देह प्रकट करना या उसे बाधित कहना मात्र प्रज्ञापराध (मूर्खता) है। अहल्या की पाषाणरूपता का उल्लेख वेदव्यास जी सुस्पष्ट रूप से करते हैं। 'वाल्मीकीयरामायण' में

भी महर्षि विश्वामित्र द्वारा रम्भा को शैली (पाषाणप्रतिमा) हो जाने का शाप मिला है--

'यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम् ।
दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यति दुर्भगे' ।। } वालकाण्ड ६४/१२

इस श्लोक की व्याख्या महावैयाकरण श्रीनागेशभट्ट, भूषणकार श्री गोविन्दराज, रामायणशिरोमणिकार प्रभृति विद्वान् टीकाकारों ने 'शैली' का अर्थ शिला की प्रतिमा ही किया है । किसी भी टीकाकार ने शैली शब्द को शैलीसदृश में लाक्षणिक नहीं माना । इसी प्रकार पुराणों में आये अहल्या के पाषाणरूप का वर्णन सभी ने स्वीकार किया, किसी भी न्यायमीमांसाविद् टीकाकार ने पाषाणसदृश में लक्षणा नहीं मानी । एवञ्च जब रम्भा का शैलीत्व (पाषाणरूपता) ही प्रमाणान्तर से वाधित नहीं है, उसे महर्षि को लुभाने के फल का परिणाम पाषाण होकर भोगना पड़ा । तब अहल्या को परपुरुषगमन के फल का परिणाम यदि पाषाण होकर भोगना पड़ा तो इसमें आश्चर्य क्या ? अहल्या की पाषाणरूपता को 'वाल्मीकीयरामायण' का भी समर्थन प्राप्त है। इसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है । अतः प्रमाणान्तर से वाध न होने के कारण पाषाण शब्द की पाषाणसदृश में लक्षणा नहीं है ।

पण्डित जी यह स्वीकार करते हैं कि रम्भा महर्षि विश्वामित्र के समीप इन्द्र के भेजने से आयी थी, स्वेच्छया नहीं । अतः उसके निर्दोष होने के कारण कोई प्रायश्चित्त विधेय नहीं था । उसको पाषाण होनें के शाप का विशेष प्रभाव इन्द्र पर ही पड़ा । अतः वहाँ लक्षणा की आवश्यकता नहीं है-

भ्रान्ति—

इन्द्र की वह भोग्य वस्तु थी । शैली हो जाने से इन्द्र के उपभोग की उतनी मात्रा में क्षति अवश्य हुयी । इस प्रकार उस शाप का विशेष प्रभाव इन्द्र पर ही पड़ा, जो उनकी दृष्टि में सदोष थे ।-रा०म०वा०पृ० ४२

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

शैली होने पर भी रम्भा के पाषाणशरीर में प्राण इन्द्रियाँ आदि पूर्ववत् ही थे; क्योंकि पाषाण पार्थिव तत्त्व है, अतः उसके शरीर में पाषाणमयता पार्थिव अंश में ही आयी थी । इन्द्रियाँ अहङ्कार से उत्पन्न

होने के कारण अपार्थिव हैं अतः उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसलिए रम्भा को शापकाल पर्यन्त कष्ट का अनुभव होने में कोई अनुपपत्ति नहीं। हाँ, वह इन्द्रादि के उपभोग की वस्तु थी इसलिए उनकी भी हानि हुई थी। वस्तुस्थिति तो यह है कि अप्सरायें विलासिनी अधिक होती हैं। इधर शास्त्रों में बुध इत्यादि के कथानकों से विदित होता है कि नारी को पुरुष की अपेक्षा कामसुख दशगुना अधिक मिलता है*। अतः शाप का विशेष प्रभाव रम्भा पर ही पड़ा, न कि इन्द्र पर; क्योंकि दशहजार वर्ष पर्यन्त वह उन सुखों से वंचित रही और कष्ट अलग भोगना पड़ा।

वाल्मीकीयरामायण में अहल्या के शाप प्राप्त स्वरूप पर टीकाकारों के विचार

'वाल्मीकीयरामायण' में महर्षि गौतम द्वारा अहल्या को दिया गया शाप है–

"इह वर्ष सहस्राणि वहूनि निवसिष्यसि। वा०रा०
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी। —वा०का०
अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि"। ४८/२९

इधर पद्ममहापुराण में भगवान् वेदव्यास कृष्णद्वैपायन लिखते हैं–

"शापदग्धा पुरा भर्त्रा राम शक्रापराधतः। } तिलक टीका से
अहल्याख्या शिला जज्ञे शतलिङ्गः कृतः स्वराड्"।। } उद्धृत

इसी भाँति पुराणों एवं अनेक रामायणों में अहल्या की पाषाणरूपता का वर्णन है।

चूँकि पूर्वमीमाँसा के प्रमाणाध्याय के 'स्मृतिप्रामाण्याधिकरण' में इतिहास, पुराण और स्मृतियों का प्रामाण्य वेदमूलकत्वेन निर्णीत हो चुका है। इसलिए इनमें समानमूलकत्वात् समप्रामाण्य ही है। किसी में कम

---

* स्त्रियाः पुरुषसंभोगे प्रतिरभ्यधिका सदा।
एतस्मात् कारणाच्छक्र स्त्रीत्वमेव वृणोम्यहम्।।
रमिताभ्यधिकं स्त्रीत्वे सत्यं वै देवसत्तम।
स्त्रीभावेन हि तुष्यामि गम्यतां त्रिदशाधिप।।
—महाभारत, अनुशासन पर्व, १२ वाँ अध्याय

या अधिक नहीं । ऋतम्भरा प्रज्ञा के धनी दोनों महर्षि हैं, और दोनों को भगवच्चरित्र लिखने में प्रेरणा देने वाले देवर्षि नारद ही हैं । अतः उनमें किसी को कम या अधिक आप्त नहीं कहा जा सकता । इसीलिए दोनों महर्षियों के वचनों की एकवाक्यता करने से अर्थ निष्पन्न होगा–

"तुम वायुभक्षण करती हुई तदतिरिक्त आहार न लेने के कारण निराहार होकर अतएव तप करती हुई (न तपोऽनशनात् परम्) तथा भस्म में शयन करती हुई सम्पूर्ण प्राणियों के लिए इस शरीर से अदृश्य होकर अर्थात् शिला प्रतिमा रूप में दृश्य होकर इस आश्रम में सहस्रों वर्ष निवास करोगी ।"

यह रामायण और पुराणों की एकवाक्यता से सम्पन्न अर्थ है । 'वाल्मीकीयरामायण' में "स्वंवपुर्धारयिष्यसि" से शरीर परिवर्तन की सूचना मिलती ही है । अतः यही प्रदर्शित मार्ग उत्तम है । दोनों महर्षियों के वचनों के प्रामाण्य की सुरक्षा करते हुए यह अर्थ सम्पन्न हुआ । इसका विवेचन पीछे "किंवदन्तीविमर्शभञ्ज" प्रकरण में किया जा चुका है ।

महावैयाकरण नागेशभट्ट का डिमडिमघोष

विश्वविख्यात वैयाकरण श्रीनागेशभट्ट अहल्या के शाप पर विशेष और सूक्ष्म विचार प्रस्तुत करते हैं–

तिलकटीका–शापस्वरूपमाह–वातभक्षेति । तप्यन्ती = स्वकृताकार्यस्मरणेन पीडिता । पुराणादिप्रसिद्धशिलारूपप्राप्तिशापस्तु कल्पान्तरीण इति न विरोधः ।

यहाँ तक नागेश जी ने पुराण-प्रसिद्ध अहल्या की पाषाणरूपता के वृत्तान्त को कल्पान्तर का मानकर विरोध शमन किया । पुनः 'केचित्' से किसी का मत उपस्थित करके सिद्धान्त स्थापित करते हैं–

अत्र शिलारूपत्वे तात्पर्यकल्पने वातभक्षेत्यनेन विरोधः स्पष्ट एवेति केचित् । "वस्तुतस्तु अदृश्येत्यस्य स्वरूपेणादृश्या शिलाप्रतिमारूपेण सर्वदृश्येत्यर्थः । न च तावता चैतन्यहानिरिति क्षुधादिपीडा स्यादेवेत्यतो वातभक्षा तदतिरिक्ताहाराभावाच्च निराहारा, तप्यन्ती स्वकर्मणेतिशेषः । तादृश्यपि भस्मशायिनी न तु स्थिता इति न कश्चिद्विरोधः । इन्द्रशापोऽप्युपलक्षणमत्रानन्तभगवतः शापस्य । तदुक्तं पाद्मे–'शापदग्धा पुरा भर्त्रा राम शक्रापराधतः । अहल्याख्या शिला जज्ञे शतलिङ्गः कृतः स्वराड्' ॥

शिला तत्प्रतिमाकारा । शतशब्दोऽनन्तवाची । लिङ्गशब्देन भगाकारं चिह्नं, स्वराडिन्द्रः" ।

शाप स्वरूप बतलाते हैं–वातभक्षेत्यादि ग्रन्थ से । तप्यन्ती= अपने द्वारा किये गये दुष्कर्म से पीड़ित । पुराणादि में प्रसिद्ध अहल्या के शिलारूप की प्राप्ति का शाप कल्पान्तरीण है अतः 'वाल्मीकीयरामायण' से कोई विरोध नहीं । किसी का मत है कि यहाँ शिला अर्थ में तात्पर्य की कल्पना करने पर वातभक्षेत्यादि से स्पष्ट ही विरोध है । किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि अदृश्या का अर्थ है अपने स्वरूप से अदृश्या, शिलाप्रतिमारूप से सर्वदृश्या । इतना होने पर भी उसमें चैतन्य की हानि नहीं है, फलतः भूख आदि की पीड़ा होगी ही, इसलिए वातभक्षा कहा, तदतिरिक्त-आहार न होने से निराहारा भी कहा गया । तप्यन्ती के आगे स्वकर्मणा को शेष बतलाकर कहना चाहते हैं–अपने कर्म से तप करने वाली । वैसी वह स्थित न रहे, अपितु भस्मशायिनी होवे । इस प्रकार व्याख्यान करने से कोई विरोध नहीं है । अनन्त भगवान् के शाप का इन्द्र–शाप यहाँ उपलक्षण है । पद्ममहापुराण में कहा गया है–हे राम ! पूर्वकाल में इन्द्र के अपराध के कारण पति के शाप से दग्ध होकर अहल्या शिलाप्रतिमा बन गयी और इन्द्र सैकड़ों भगाकार चिह्न वाले बन गये ।

तत्त्वदीपिकाकार का उद्घोष—

१५ वीं शती से भी पूर्ववर्ती प्रख्यात टीकाकार श्रीमहेश्वर तीर्थ "स्वंवपुर्धारयिष्यसि (वा० रा०, बा० का० ४८/३२) प्रमाण के आधार पर अहल्या के शरीर की पाषाणरूपता का उद्घोष करते हैं । इसका विवेचन 'किंवदन्तीविमर्शभङ्ग' पृष्ठ ५७, ५८ में हो चुका है ।

श्रीगोविन्दराज के विचार

'वाल्मीकीयरामायण' के सुप्रसिद्ध टीकाकार श्रीगोविन्दराज जी अहल्या की पाषाणरूपता के वर्णन को कल्पान्तरीण मानते हैं—

"कथं निवासमात्रस्य शापत्वमिति तद्विवृणोति वायुभक्षेति । निराहारा=अन्नपानादिरहिता, तप्यन्ती=तप्यमाना, भस्मशायिनी=भस्मशयना । अत्र बुद्धिपूर्वव्यभिचारस्य विधीयमानं प्रायश्चित्तं शापापदेशेनोच्यते एवं व्यक्ततया वाल्मीकिवचने स्थिते शैलीभवेति शापो, रामपादस्पर्शात् शिलात्वमुक्तिरिति पुराणकथा कल्पान्तरवृत्तमनुसृत्येति बोध्यम्" ।

उक्त टीकाकार का तात्पर्य है कि अहल्या ने देवराज इन्द्र को

पहचान लिया था और कौतूहलवशात् उनसे व्यभिचार करने में प्रवृत्त हुई। अतः ज्ञानपूर्वक व्यभिचार होने से उसके लिए जो प्रायश्चित्त विधीयमान है वही महर्षि गौतम द्वारा शाप से कहा गया। इस प्रकार जब स्पष्टतया वाल्मीकि के वचन विद्यमान हैं तब 'शैलीभव' (पाषाण-प्रतिमा हो जाओ)इस शाप और श्रीराम के पादस्पर्श द्वारा पाषाणत्व से मुक्ति का वर्णन करने वाली पुराण की कथा कल्पान्तर के चरित्र को लेकर लिखी गयी है, ऐसा जानना चाहिए।

इस प्रकार न्यायामीमांसादिसकलशास्त्रपटु विद्वानों में पण्डित-प्रवर श्रीनागेशभट्ट और महेश्वरतीर्थ ने अहल्या के शरीर को पाषाणमय स्वीकार किया और उसकी रामायण से पुष्टि भी की, तथा नागेश ने भासित विरोध को शान्त कर दिया।

पण्डितप्रवर गोविन्दराजजी ने अहल्या की पाषाणरूपता कल्पान्तर में स्वीकार की। तात्पर्य यह कि जिन्हें 'वाल्मीकीयरामायण', पुराण और स्मृतियों का प्रामाण्य वेदमूलकत्वेन पूर्वमीमांसा में विनिर्णीत है फलतः उनका परस्पर समप्रामाण्य है—यह ज्ञान है, उन्होंने तो भासित विरोध को येनकेनप्रकारेण शमन कर लिया। किन्तु जिन्हें पूर्वमीमांसा की गन्ध भी नहीं, केवल "लण्मध्येत्वित्संज्ञकः" तक ही अध्ययन सीमित रहा, वे पुराणप्रामाण्य का अपलाप करते हुए इन टीकाकारों की बात भी पचा जाना चाहते हैं। पण्डितप्रवर द्विवेदीजी सर्वशास्त्ररहस्यज्ञ पद से नागेशभट्ट को विभूषित करके अपने कथन के साक्ष्य में उन्हें प्रस्तुत किये। किन्तु उन्हीं नागेशभट्ट को यहाँ भूल गये ओर उनके विरुद्ध लिख मारे।

भूषण और तिलकटीका की समीक्षा

श्रीनागेशभट्ट ने "वस्तुतस्तु" से अहल्या के शरीर को पाषाण-प्रतिमा स्वीकार करके पुराण और 'वाल्मीकीयरामायण' में वर्णित अहल्या विषयकवृत्त में एकवाक्यता दिखलायी। प्रकारान्तर से ऐसा कह सकते हैं कि 'तिलक' व्याख्या में उन्होंने पद्ममहापुराण का साक्ष्य भी दिया और आपाततः भासित विरोध का शमन हो जाने से पुराणकथा के प्रामाण्य की उपपत्ति के लिए कल्पान्तर का आश्रयण भी नहीं किया।

भूषणकार गोविन्दराज जी ने पूर्वोक्त अनुपपत्तियाँ प्रदर्शित करके पुराणकथा के प्रामाण्य की उपपत्ति उसे कल्पान्तरीण मानकर कर ली। यहाँ भूषणकार और तिलककार दोनों ही पुराण और 'वाल्मीकीयरामायण' की कथाओं में भासित विरोध शान्त करना चाहते हैं; क्योंकि परस्पर

विरुद्ध होने पर दोनों वचनों में अप्रामाण्य प्रसक्त हो जायेगा । किसी एक को वलवान् मानकर अन्य को वाधित नहीं माना जा सकता; क्योंकि पुराण और 'वाल्मीकीयरामायण' दोनों वेदमूलकत्वेन ही प्रमाण हैं, स्वतः नहीं । अतः समानमूलक होने से किसी एक में अप्रामाण्य और किसी में प्रामाण्य मानना न्यायामीमांसादिशास्त्रवेत्ता विद्वान् के लिए असम्भव है । अतः विरोधशमनार्थ कल्पभेद का आश्रय लेकर दोनों का प्रामाण्य गोविन्द राज जी ने उपपन्न कर लिया । नागेशजी ने पाषाणप्रतिमा मानकर वात-भक्षा इत्यादि ग्रन्थ का सामञ्जस्य दिखलाकर कल्पभेदाश्रयण के विना ही दोनों के प्रामाण्य की उपपत्ति कर ली ।

यदि पाषाणप्रतिमा मानने से कल्पभेद के विना प्रामाण्य उपपन्न हो जाय और वातभक्षा इत्यादि ग्रन्थ भी समञ्जस हो जांय तो यह पक्ष अधिक उचित होगा । अतः पाषाणप्रतिमा में वातभक्षा इत्यादि क्रियायें सम्भव होगीं या नहीं ? इस पर विचार करना होगा ।

पाषाण पार्थिवतत्त्व है ऐसा तार्किकगण और स्वयं विशिष्टाद्वैता-नुयायी भूषणकार भी मानते होंगे; क्योंकि श्रीवेदान्तदेशिकजी ने 'न्याय-सिद्धाञ्जन' में पृथिवीनिरूपण के अवसर पर पृष्ठ ११६ में पाषाण को पार्थिव माना है ।

शालग्राम–जो कि पाषाणविग्रहरूप हैं—में चैतन्य सभी आस्तिक जन मानते हैं; क्योंकि उनमें श्रीहरि की नित्य सन्निधि शास्त्रों में वतलायी गयी है । अतएव उनके पूजन हेतु प्राणप्रतिष्ठादि संस्कार नहीं करने पड़ते, किन्तु पाषाणविग्रह (मूर्ति) में ऐसी वात नहीं है, उसमें प्राणप्रति-ष्ठादि संस्कार करके ही पूजन किया जाता है, तदनन्तर वे समर्पित भोग आदि ग्रहण करते हैं । विशेषता यही है कि शालग्राम में स्पष्टतः हस्त-पादादि, जैसा कि प्रतिष्ठित मूर्ति में है–वैसा नहीं है । फिर भी भक्त की प्रार्थना का श्रवण समर्पित भोग का ग्रहण आदि क्रियायें उभयत्र समान हैं । पाषाणविग्रह में जो चक्षुरादि इन्द्रियों की प्रतिष्ठा तत्तन्मन्त्रों से की जाती है । वही देवता के द्वारा भोगादि ग्रहण में कारण वनती है ।

चक्षुरादि इन्द्रियाँ भी पाञ्चभौतिक नहीं, अपितु आहङ्कारिक ही हैं । 'विष्णुमहापुराण' आदि में इनकी समुत्पत्ति अहङ्कार से ही वतलायी गयी है । महाभारत में जहाँ इनका भौतिकत्व उल्लिखित है, वहाँ उस वचन का तात्पर्य तत्तदिन्द्रियों का तत्तद्भूतों से आप्यायनमात्र का वोध कराने में ही है ।

अतः इन्द्रियों के पाञ्चभौतिक न होने से और पाषाण का पार्थिवत्व विनिर्णीत होने के कारण यदि अहल्या के शरीर को उक्त शापनुरोधेन पाषाण स्वीकार कर लें, तो इन्द्रियों में कोई अन्तर नहीं आयेगा; क्योंकि पाषाण पार्थिव है और इन्द्रियाँ आहङ्कारिक हैं। अतः अहल्या का शरीर पाषाण हो जाने पर भी उसमें जीव और इन्द्रियाँ पूर्ववत् व्यवस्थित रहेंगी। "पाषाण होने पर उसकी इन्द्रियाँ और प्राणादि बाहर चले गये; क्योंकि पाषाण में वे रह ही नहीं सकते" ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर शापपरिप्राप्त शालग्रामविग्रह और पाषाण-विग्रह जिनमें वैदिकमन्त्रों से इन्द्रियादि की प्रतिष्ठा होती है, व्यर्थ ही हो जायेगें और वेदमन्त्रों का प्रामाण्य बाधित हो जायेगा। अतः तत्तन्मन्त्रों से पाषाण विग्रह में प्राणादि की प्रतिष्ठा भोगादि ग्रहण हेतु ही की जाती है और उसके पश्चात् उस भगवद्विग्रह में प्रार्थना–श्रवण प्रसाद-ग्रहण आदि की योग्यता आती है। वह योग्यता अहल्या के पाषाण शरीर में स्वतः सिद्ध है; क्योंकि जीव और इन्द्रिय आदि वहाँ प्रतिष्ठित हैं। इस बात को परम आस्तिक विद्वन्मूर्द्धन्य श्रीगोविन्दराज जी भी मानते ही हैं। अतः अहल्या की पाषाणरूपता स्वीकार करने पर वातभक्षा इत्यादि ग्रन्थों से कोई विरोध नहीं होगा। ज्ञानपूर्वक किये गये पाप का प्रायश्चित्त इन्द्रियादि की अक्षुण्णता के कारण वह कर ही लेगी और 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' इस अग्रिम वचन का स्वरसतः प्राप्त अर्थ (अपने शरीर को धारण कर लोगी) भी सुन्दर ढंग से लग जायेगा। इसीलिए महेश्वर तीर्थ जी ने अपनी 'तत्त्वदीपिका' व्याख्या में निःसङ्कोच अहल्या के शरीर को पाषाणमय स्वीकार किया। अतः पुराण और अन्य रामायण के अहल्या की पाषाणरूपता के ख्यापक वचनों का 'वाल्मीकीयरामायण' से कोई विरोध नहीं, जिसके लिए कल्पभेद का आश्रयण करना पड़े। फलतः तिलककार का कथन ही समीचीन है।

ऋषि-दृष्टि में अहल्या का पाषाणमयत्व

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में गौतमशाप का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि अहल्या महर्षि गौतम के आश्रम में सम्पूर्ण प्राणियों से अदृश्य होकर रहेंगी—

"अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि"—बालकाण्ड ४८/३०

इधर भगवान् वादरायण के वचनों से उन्हें सुस्पष्ट ही पाषाण

होना कहा गया है—

'शाप दग्धा पुरा भर्त्रा राम शक्रापराधतः । अहल्याख्या शिला जज्ञे···· ।।
त्वदङ्घ्रिस्पर्शनात्तस्यै शापान्तं प्राह गौतमः । — —वा० रा० वा० का०
तस्मादियं ते पादाब्जस्पर्शाच्छुद्धाभवत् प्रभो ।। तिलकटीका ४६/१६

'हे राम ! इन्द्र के अपराध के कारण अहल्या महर्षि गौतम के शाप से दग्ध होकर शिला हो गयी थीं । तुम्हारे चरणस्पर्श से उनके शाप का अन्त महर्षि ने बतलाया था । इसलिए हे प्रभो ! ये तुम्हारे पादस्पर्श से शुद्ध हो गयीं; क्योंकि अपने पूर्वरूप को प्राप्त कर चुकी हैं'।

यह कथन महर्षि विश्वामित्र का श्रीराम के प्रति है । जब मार्ग में जाते हुए उनके चरणस्पर्श मात्र से शिला सुन्दर नारी बन गयी थी तब श्रीराम के विस्मित होकर पूछने पर उक्त तथ्य महर्षि ने बतलाया था—

"गच्छतस्तस्य रामस्य पादस्पर्शान्महात्मनः । } वा०रा० वा०का०
काचिद् योषाऽभवत् सोऽपि विस्मितो मुनिरब्रवीत्" ।। } तिलकटीका४६/१६

महापण्डित नागेशभट्टजी ने पद्ममहापुराण के इन वचनों को अपनी तिलकटीका में "तदुक्तं पाद्मे" कहकर उद्धृत किया है । दोनों ऋषियों के वचनों में अहल्या का स्वरूप आपाततः विरुद्ध प्रतीत होता है, वह यह कि रामायण के अनुसार वे अदृश्या थीं अर्थात् सम्पूर्ण प्राणियों की दृष्टि में नहीं आती थीं और पुराणों के अनुसार उनका स्वरूप शापवशात् पाषाणमय हो गया था, लोगों की दृष्टि में आती थीं । रामायण और पुराण दोनों में प्रामाण्य भी सम है अतः किसी एक को बाधित या लाक्षणिक भी नहीं कहा जा सकता है और विरोध का शमन न होने पर दोनों अप्रामाणिक हो जायेंगे । कल्पभेद का आश्रयण तो गत्यन्तर के अभाव में ही मान्य है ।

ऐसी विषम स्थिति उन लोगों के समक्ष है, जो 'श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण' के अहल्या प्रकरण को ध्यानपूर्वक नहीं देखते हैं । रामायण और पुराण प्रतिपादित अहल्या के स्वरूप में भिन्नता नहीं है; क्योंकि रामायण के अनुसार भी गौतमशापवशात् अहल्या के शरीर-परिवर्तन का सुस्पष्ट संकेत मिलता है । वहाँ महर्षि गौतम ने कहा है कि तुम अपने शरीर को धारण करोगी—"स्वं वपुर्धारयिष्यसि"—वाल्मीकीयरामायण बालकाण्ड ४८/३२ । यदि अहल्या के शरीर का परिवर्तन न हुआ होता तो महर्षि उसे शरीर धारण करने को न कहते । एक शरीर के रहते हुए दूसरा शरीर तो नहीं धारण किया जा सकता । योगियों में

ऐसी सामर्थ्य है, पर यहाँ नहीं, यह तो व्यभिचारपाप-ग्रस्त प्राणी है जो शाप का फल भोग रही है। अतः "स्वं वपुर्धारयिष्यसि" (अपने शरीर को धारण करोगी) वचन से सुनिश्चित है कि अहल्या का शरीर परिवर्तित हुआ था। महर्षि के शाप से उनका पूर्वशरीर–जिसका इन्द्र ने उपभोग किया था–बदल चुका था। शाप का अन्त होने पर शापमध्य काल में प्राप्त शरीर छूट गया और पुनः पूर्वशरीर प्राप्त हो गया, इसी पूर्व शरीर को धारण करने की बात महर्षि गौतम ने कही थी।

अब रामायण से इतना तो सुनिश्चित हुआ कि उसका शापभोग काल पर्यन्त कोई बदला हुआ शरीर था, किन्तु वह कैसा था यह निश्चय नहीं होता। इसके निश्चय के लिए हमें पुराणों की शरण ग्रहण करनी पड़ेगी; क्योंकि रामायण "वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना" इस अभियुक्तोक्ति से वेदावतार ही है और वेदों की व्याख्या पुराण से करना भारतीय मनीषियों का डिमडिमघोष है—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥
—महाभारत आदिपर्व, १/२६७

इधर पुराणों में गौतमशाप से अहल्या का शरीर शाप-काल-पर्यन्त पाषाण बतलाया ही गया है, अतः रामायण और पुराण के वचनों की एकवाक्यता होने से निश्चित हुआ कि अहल्या का शापभोगकाल में प्राप्त शरीर पाषाणमय था। श्रीराम के वहां आने पर इसी शरीर का त्याग करके अहल्या अपने पूर्व शरीर को प्राप्त की थीं जिसके लिए महर्षि का वचन था— "स्वं वपुर्धारयिष्यसि"।

अब आइए, "अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि" पर विचार करें। इस वचन में महर्षि का शाप है कि वे सम्पूर्ण प्राणियों के लिए अदृश्य होकर इस आश्रम में रहेंगी"। यहां सुस्पष्ट है अहल्या के अदृश्यत्व का कथन, किन्तु जब उस आश्रम पर महर्षि विश्वामित्र प्रभु राम और लक्ष्मण के साथ पहुंचे तब उन्होंने श्रीराम से कहा–हे रघुनन्दन! तुम इन महाभागा अहल्या का उद्धार करो—

"तारयैनां महाभागामहल्यांदेवरूपिणीम्" –वा०रा०बा०का० ४९/११

यहाँ महर्षि विश्वामित्र समीप में जिसको देख रहे हैं उसी का निर्देश 'एनाम्' से कर रहे हैं और वे हैं अहल्या, बिना देखे एनाम् (इनको) ऐसा निर्देश कौन बुद्धिमान् कर सकता है। परोक्ष–नेत्रों से दिखायी न पड़ने वाली वस्तु का निर्देश एतद्' शब्द से न करके 'तद्'

शब्द से ही करने की आज्ञा शास्त्र देते हैं—

" इदमस्तु सन्निकृष्टं समीपवर्ति चैतदोरूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टं तदिति परोक्षे विजानीयात्" ॥

यहाँ अहल्या के लिए 'तद्' (ताम्) शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है, अतः वे परोक्ष नहीं हैं, अपितु प्रत्यक्ष ही हैं। समीपस्थ वस्तु का निर्देश यहां 'एनाम्' (इनको) शब्द से है।

अब स्वंवपुर्धारयिष्यसि, अहल्याख्या शिला जज्ञे, तारयैनां महाभागामहल्यां देवरूपिणीम्" रामायण और पुराण के इन वचनों की एकवाक्यता से यह अभिप्राय निकला कि शापभोगकाल पर्यन्त अहल्या पाषाण रूपा और दृश्या थीं। अतएव शापविमुक्ति के पश्चात् उन्हें पूर्व शरीर की प्राप्ति, स्वंवपुर्धारयिष्यसि के बल से लभ्य शापभोगपर्यन्त किसी अन्य शरीर की सत्ता, 'अहल्याख्या शिला जज्ञे', 'समाक्रान्ता महाशिला' इत्यादि वचनों से शापभोगपर्यन्त लभ्य शरीर के पाषाणमयत्व की तथा 'तारयैनां महाभागाम्' से बोध्य उनके प्रत्यक्षत्व की उपपत्ति हो जाती है।

यहाँ सुधीजन देख सकते हैं कि पुराण और रामायण के वचनों की कितनी सुन्दर सङ्गति लग गयी। परस्पर कोई अनुपपत्ति ही नहीं दिखती। रामायण से सुस्पष्ट प्रतिपादित हुआ कि अहल्या पाषाण हुई थीं तथा शापभोगकाल पर्यन्त दृश्या थीं। "अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमे—" इत्यादि वचन भी इसके अनुकूल हैं, कोई विरोध नहीं दिखता। इस अदृश्यत्व की उपपत्ति पूर्वोक्त वचनों से लभ्य अर्थों पर ध्यान देकर ही करनी होगी। 'अदृश्या सर्वभूतानामाश्रमेऽस्मिन् वसिष्यसि' गौतमवचन में अहल्या को जो अदृश्या कहा गया है, वह दो प्रकार से उपपन्न हो सकता है। प्रथम तो यह कि वे वहां अपने उपभुक्त शरीर को धारण किये रहें, पर शापवशात् न दिखायी दें। द्वितीय यह कि वे शापवशात् पाषाणरूप हो जांय जिससे इन्द्र द्वारा उपभुक्त शरीर विद्यमान न रहे, पाषाणशरीर ही रहे तो भी अहल्या पूर्ववत् दृश्या नहीं रहेंगी; क्योंकि शरीर परिवर्तन जो हो चुका है। इन दोनों परिस्थितियों में अहल्या का अदर्शन हो सकता है। लोक में भी पीले घड़े को नीले रूप में परिवर्तित कर देने पर पीला घड़ा अदृश्य रहता है; क्योंकि पीले घड़े के प्रत्यक्ष की सामग्री के कुक्षि में प्रविष्ट पीलारूप जो बदल गया है। उस समय नीला घड़ा ही दृश्य रहता है।

अदृश्यत्व की उपपत्ति के पूर्वोक्त दोनों पक्षों में 'अहल्या—अदृश्यत्व

के विषय में कौन पक्ष उपयुक्त है ? इसका निर्णय हमें पूर्व विनिर्णीत सभी अर्थों को ध्यान में रखकर ही करना होगा। यदि हम यह मान लें कि अहल्या अपने उसी 'महेन्द्रभुक्त' शरीर से विद्यमान होकर भी गौतमशापवशात् ही सम्पूर्ण प्राणियों को नहीं दिखती थीं, तो रामायण का अग्रिमवचन– 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' (अपने शरीर को धारण करोगी) असङ्गत हो जायेगा। उनके न दिखने पर–"तारयैनां महाभागामहल्याम्" इत्यादि वचन के 'एनाम्' पद से उनका निर्देश भी सुसङ्गत नहीं होगा। आज भी दिखायी देने वाले पुत्र आदि के विषय में 'राम आया इसको भोजन दो' वाक्य के इसको (एनम्) शब्द से उसका निर्देश किया जाता है। इतना ही नहीं, भगवान् वेदव्यास कृष्णद्वैपायन-जो कि ऋतम्भरा–प्रज्ञा के निलय हैं–के "अहल्याख्या शिला जज्ञे" (अहल्या शिला हो गयीं) इत्यादि अहल्या के पाषाणमयत्व के सुस्पष्ट बोधक वचन भी विरुद्ध हो जायेंगे। कल्पभेद का आश्रयण तो गत्यन्तर न होने पर ही किया जाता है। अतः उक्त अनुपपत्तियों के कारण अदृश्यत्व की उपपत्ति का प्रथम पक्ष त्याज्य है। हाँ, द्वितीय पक्ष पूर्णरूपेण उपयुक्त है। अर्थात् अहल्या के शरीर–जिसे इन्द्र ने भोगा था–को शापभोगकाल में पाषाणरूप मान लिया जाय तो पूर्वशरीर परिवर्तित हो जाने से वह नहीं दिखेगा, अपितु पाषाण शरीर ही दिखेगा। इस पक्ष में अहल्या अपने पूर्वशरीर–जिसके असीम सौन्दर्य–लावण्य आदि से आकृष्ट होकर देवराज इन्द्र उससे समागम किये थे–से विद्यमान न होने के कारण अदृश्या रहेंगी और पाषाण-शरीर से दृश्या रहेंगी। अब इस स्थिति में 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' (अपने शरीर को धारण करोगी) वचन सुसङ्गत हो जायेगा; क्योंकि उनका पूर्वशरीर वदलकर पाषाण हो गया है, इसलिए श्रीराम के आगमन के पश्चात् उन्हें पुनः पूर्वशरीर–जो अभी प्राप्त नहीं है– धारण करना गया है। साथ ही "तारयैनां महाभागामहल्याम्" वचन के 'एनाम्' पद से उनका निर्देश भी सुसङ्गत हो जायेगा।

इतना ही नहीं, अष्टादशपुराणप्रणेता भगवान् वादरायण का "अहल्याख्या शिला जज्ञे" (अहल्या पाषाण हो गयी थीं) इत्यादि वचन भी कल्पभेद के आश्रयण के विना ही रामायण से सुसङ्गत हो जायेंगे। अतः अदृश्यत्व की उपपत्ति का द्वितीय प्रकार ही अहल्या के अदृश्यत्वोपपादन में उपयुक्त है।

इस परिशीलन से सुनिश्चित हो गया कि रामायणप्रणेता महर्षि

वाल्मीकि और पुराणप्रणेता भगवान् वादरायण इन दोनों की दृष्टि में अहल्या पाषाणरूपा हो गयी थीं श्रीराम के पादपद्मस्पर्श से उनका उद्धार हुआ था, अर्थात् पाषाणशरीर से मुक्ति और अपने पूर्वशरीर की प्राप्ति उन्हें हुई थी ।

अहल्या की शाप से मुक्ति

भगवान् कृष्णद्वैपायन ने अहल्या को प्राप्त व्यभिचारजन्यपातक को निवृत्ति के किसी भी उपाय का उल्लेख नहीं किया है । जब कि महर्षि वाल्मीकि के रामायण में अहल्या के आश्रम–सम्बन्धी वन में श्रीराम के आगमनकाल को पूर्वोक्त पाप की निवृत्ति के कारणरूप से उल्लिखित किया गया है — "यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि" ।।—वा०रा०बा०का०४८/३१
—"जिस समय इस घोर जङ्गल में दुर्धर्ष दशरथसुत श्रीराम पधारेंगे, उस समय तुम (व्यभिचारजन्यपाप से) पवित्र हो जाओगी" । —

अतः "परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति" न्याय के अनुसार अहल्या के इन्द्रसमागमजन्यपाप की निवृत्ति का वाल्मीकिवर्णित उपाय भगवान् बादरायण को भी स्वीकृत है । इसलिए इस अंश में दोनों महर्षियों का कोई विरोध नहीं, प्रत्युत ऐकमत्य ही है । भगवान् श्रीराम के उस वन में आने पर अहल्या अपने दुष्कर्म से उत्पन्न पाप से अवश्य पवित्र हो चुकी थीं, किन्तु पाषाणशरीर अभी परिवर्तित नहीं हुआ था; क्योंकि वह पापजन्य नहीं, अपितु शापजन्य था । भगवान् व्यास अहल्या को मिले शाप की मुक्ति श्रीरामपादस्पर्श से शिलात्वत्यागपूर्वक उनके पूर्व शरीर की प्राप्तिरूप बतलाते हैं—

"गच्छतस्तस्य रामस्य पादस्पर्शान्महाशिला । वा० रा०
काचिद्योषाऽभवत् सोऽपि विस्मितोमुनिरब्रवीत् ।। —बा०का०
शापदग्धा पुराभर्त्रा गौतमेन द्विजन्मना । अहल्याख्याशिलाजज्ञे ४९ / १६
त्वदङ्घ्रिस्पर्शनात्तस्यै शापान्तं प्राह गौतमः" । की तिलक
गच्छतस्तस्य रामस्य पादस्पर्शान्महात्मनः । } पद्ममहापुराण उ० ख०
अभूत् सुरूपा वनिता समाक्रान्ता महाशिला ।। } २४२/१३४

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में भी "स्वं वपुर्धारयिष्यसि" वा० रा० बा०का० ४८/३२ (अपने शरीर को धारण करोगी) वचन से श्रीराम का उस वन में पदार्पण होने के पश्चात् अहल्या को अपने पूर्वशरीर की

की प्राप्ति वतलायी गयी है जिससे वे महर्षि गौतम की सेवा करती थीं। पूर्वशरीर की प्राप्ति शिलात्वत्याग के विना अनुपपन्न है। अतः महर्षि वाल्मीकि भी गौतमशाप से उनकी मुक्ति शिलात्वत्यागपूर्वक पूर्वशरीर की प्राप्तिरूप ही "स्वंवपुर्धारयिष्यसि"से सङ्क्षेप में कह रहे हैं।

इस विवेचन से सुनिश्चित हुआ कि भगवान् वादरायण और महर्षि वाल्मीकि को अहल्या का शापान्त पूर्वशरीर की प्राप्तिरूप ही मान्य है। अन्तर इतना ही है कि भगवान् व्यास ने अहल्या के पूर्वशरीर की प्राप्ति में श्रीरामपादस्पर्श का कारणत्वेन उल्लेख किया है, पर महर्षि वाल्मीकि ने नहीं। फिर भी 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' न्यायानुसार महर्षि वाल्मीकि भी उससे सहमत हैं, अर्थात् वे भी श्रीराम-चरणस्पर्श से अहल्या के पूर्वशरीर की प्राप्ति का ही सङ्केत "स्वं वपुर्धारयिष्यसि" से कर रहे हैं। अव दोनों महर्षियों के वचनों की एकवाक्यता से यही अर्थ निकला कि श्रीरामाङ्घ्रिस्पर्श से शिलास्वरूपा अहल्या सुन्दर नारी वन गयीं, अर्थात् अपने शरीर को पुनः प्राप्त कर लीं। भगवान् श्रीराघवेन्द्र के आगमनकाल में वे दुष्कर्मजन्यपापों से पवित्र हो ही चुकी थीं, शापजन्य शिलाशरीर से मुक्त होना शेष था, वह भी हो गया। इससे यह निर्णीत हो चुका कि भगवान् वादरायण अहल्या के जिस पूर्वशरीर की प्राप्ति "गच्छतस्तस्य रामस्य......" इत्यादि वचन से बतला रहे हैं। रामायण में उसी की प्राप्ति महर्षि गौत द्वारा "स्वं वपुर्धारयिष्यसि" (अपने शरीर को धारण करोगी) से कही गयी। भगवान् वादरायण ने शापभोगकाल में अहल्या का शरीर शिलामय माना है। महर्षि वाल्मीकि ने इसका निषेध नहीं किया, अपितु "स्वं वपुर्धारयिष्यसि" गौतमवचन से इसका उल्लेख ही किया है। अतः "परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति" न्यायानुसार यह शिलाशरीर शापभोगकाल में इन्हें भी मान्य है। ऐसा मानने पर ही "स्वं वपुर्धारयिष्यसि' इत्यादि वचनों की उपपत्ति शक्य है, जो कि अभी दिखायी जा चुकी है।

रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने गौतमशाप में सम्पूर्ण प्राणियों के लिए अहल्या के अदृश्यत्व का उल्लेख किया है, पर भगवान् वादरायण ने नहीं, अतः 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' न्याय के अनुसार शापभोगकालपर्यन्त सम्पूर्ण प्राणियों के लिए अहल्या का अदृश्यत्व उन्हें भी स्वीकार्य है। वे उसके पाषाणशरीर (अहल्याख्या शिला जज्ञे) का

निर्देश किये हैं, अतः पाषाणशरीर होने से शापभोगकाल पर्यन्त उस रूप में दृश्या होने पर भी जो उनका पाषाणशरीर–प्राप्ति के पूर्व का शरीर था, उससे अदृश्या ही रहेंगी; क्योंकि वह परिवर्तित हो चुका है। फलतः इस अंश में महर्षि वाल्मीकि और भगवान् वादरायण के वचनों में विरोध की सम्भावना नहीं, प्रत्युत ऐकमत्य ही है।

* अहल्या के अदृश्यत्व की अवधि *

'लाला लटूरी लाल' नामक एक विशुद्ध और हठी वैयाकरण कहते हैं कि–मुझे एक वात खटकती है। वह यह कि महर्षि गौतम ने "अदृश्या सर्वभूतानाम्" वा०रा०वा० ४८/३० से अहल्या को सम्पूर्ण प्राणियों से अदृश्य होने का शाप तो दे दिया, यह सुस्पष्ट है, किन्तु उसके निवृत्ति की अवधि नहीं वतलाये।

जव ये महर्षि उनके महेन्द्रसमागमजन्यपातक–निवृत्ति की अवधि श्रीराम के आगमनकाल को निर्णीत कर सकते हैं, तव उनके अदृश्यत्व-निवृत्ति की अवधि का निर्णय देने में इन्हें क्या अनुपपत्ति थी ? यदि कहें कि ये इसे जानते ही नहीं थे तो इससे सर्वज्ञ महर्षि की न्यूनता द्योतित होगी। यदि जानते थे तो क्यों नहीं बतलाये ? समझ में नहीं आता।

पण्डित 'लालालटूरीलालजी' ! जब तक आप 'कु चु टु तु पु' वाली बुद्धि से इसे समझना चाहेंगे, तब तक आपके समझ में नहीं आयेगा; क्योंकि अहल्या को मिले शाप और उसकी निवृत्ति के वचन 'न्यायाचार्य' महर्षि गौतम के हैं, और 'न्यायाचार्य' की वात समझने के लिए न्याय का कुछ संस्कार तो होना ही चाहिए।

जो वस्तु दिखती नहीं, उसकी निवृत्ति कैसे दिखेगी ? अतीन्द्रिय वस्तु का ध्वंस अदृष्टचर है। पाप (अदृष्ट विशेष) चाहे व्यभिचार से उत्पन्न हो अथवा उपयान्तर से, वह अतीन्द्रिय है, उसकी निवृत्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता कि सभी लोग जान जायें –-'अमुक व्यक्ति का पाप नष्ट हो गया'। इसीलिए स्मृति आदि आर्षग्रन्थों में पापनिवर्तक साधनों के अनुष्ठान की अवधि वतलायी गयी है। उस अवधि तक तत्तदुपायों के अनुष्ठान से तत्तत्पाप नष्ट हो जाते हैं।

महर्षि गौतम ने अहल्या को सुरेशसमागमजन्यपाप से छूटने के लिए "वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायिनी" (वा०का०-४८/३०)

कहा, अर्थात् तुम वायु भक्षण करती रहो। मनुष्य का स्वाभाविक भोजन अन्न है। वह फलादि से भी जीवन बिता सकता है, हवा खाकर रहना तो निराहार होना है। आज भी लोग भोजन मांगने वाले को कहते हैं 'चलो यहाँ से, जाओ हवा खाओ, भोजन नहीं मिलेगा' इत्यादि। अहल्या की भी यही स्थिति हो सकती है- 'भस्म में लेटी हुई हवा खाती रहो' महर्षि का वचन है। आज भी लोग मार खाते हैं, गाली खाते हैं। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि मार और गाली उनका भोजन है। अहल्या भी इसी प्रकार हवा खाती रहीं। अथवा वे वायु भक्षण भी करती रही हों तोभी कोई अनुपपत्ति नहीं;क्योंकि हवा पीकर रहने वाले अनेक ऋषियों का उल्लेख आर्षग्रन्थों में उपलब्ध होताहै, हवा खाकर रहना तो स्वाभाविक भोजन से वंचित होने के कारण एक प्रकार का निराहार होना ही है। अतएव महर्षि ने 'वातभक्षा' को स्पष्ट करने के लिए उसके बाद ही 'निराहारा' भी कह दिया। निराहार रहना अर्थात् (अनशन करना) परम तप है -- "तपो नानशनात् परम्"- नारायणोपनिषद्, ७८। अनशन से श्रेष्ठ कोई तप नहीं है। अहल्या निराहरा होकर अनशनरूपी परमतप कर रही थीं इसलिए उन्हें निराहारा कहकर 'तप्यन्ती' भी कहा गया जिसका अर्थ है - तप करती हुई। इस प्रकार भस्म में लेटी हुई अहल्या अपने पाषाणशरीर से व्यभिचारजन्यपापनिवृत्ति हेतु - अनशनरूपी परम तप कर रही थीं। इसके लिए महर्षि गौतम ने अनेक सहस्र वर्ष पर्यन्त निश्चित कर रखा था ❀, पर उसकी कोई निश्चित अवधि नहीं थी। पाप फोड़ा जैसी दिखने वाली वस्तु तो है नहीं, कि दवा करते गये और उसके नष्ट हो जाने पर दवा बन्द कर दिये। अतः महर्षि ने पापनिवृत्ति की अवधि श्रीराम–आगमनकाल को सुनिश्चित कर दी। इससे अहल्या को उसका ज्ञान हो गया कि श्रीराम के आगमन क्षण से अव्यवहितपूर्वक्षण पर्यन्त अनशनरूपी परम तप से उनको इन्द्र–समागमजन्यपाप से पवित्र हो जाना है।

लाला लटूरीलाल जी ? अब आप प्रकृत विषय पर आइए। आप को इतना तो ज्ञात हो ही गया होगा कि महर्षि ने "पापनिवृत्ति की अवधि का सङ्केत क्यों किया था"। रही 'अदृश्यत्वनिवृत्ति की अवधि' उसे भी न्यायाचार्य महर्षि गौतम ने बतला ही दी है।

❀ "इह वर्ष सहस्राणि बहूनि निवसिष्यसि।
वातभक्षा निराहारा तप्यन्ती भस्मशायनी" ॥–वा.रा.बा.का. ४८/२९-३०

जरा, न्यायाचार्य महर्षि की वात समझने के लिए थोड़ा न्याय का संस्कार किसी से मिल सके तो उधार ले लीजिये और समझने की चेष्टा कीजिए। प्रत्येक व्यक्ति जान सकता है कि अहल्या के अदृश्य होने के शाप की निवृत्ति उसी क्षण हो जायेगी, जिस क्षण वे किसी न किसी को दिख जायेंगी, इधर महर्षि गौतम ने कही दिया है—"स्वं वपुर्धारयिष्यसि"–तुम अपने शरीर को धारण करोगी। शापमध्यकाल में उनका परिवर्तित शरीर शिला का था यह निर्णीत हो चुका है और यह भी सुनिश्चित हो चुका है कि श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या को पूर्वशरीर की प्राप्ति भगवान् वादरायण तथा महर्षि वाल्मीकि इन दोनों को मान्य है।

जिस क्षण श्रीराम का चरणस्पर्श अहल्या के शिलाशरीर से हुआ उसके अव्यवहित उत्तरक्षण में ही वे अपना पूर्वशरीर प्राप्त कर लीं, जिसका सङ्केत महर्षि गौतम ने–"स्वं वपुर्धारयिष्यसि" से तथा भगवान् वादरायण ने "गच्छतस्तस्य रामस्य पादस्पर्शान्महात्मनः। अभूत् सुरूपा वनिता समाक्रान्ता महाशिला" से किया है। इस क्षण में तो उन्हें शरीर की प्राप्ति ही हुई है। अतः पादस्पर्श कराने वाले अत्यन्त सन्निहित श्रीराम के चक्षु का संयोगसन्निकर्ष उनके शरीर से इसी क्षण नहीं होगा; क्योंकि शरीरप्राप्त होने के पश्चात् ही उससे चक्षुःसन्निकर्ष हो सकता है। अतः शरीर प्राप्ति के अव्यवहित उत्तरक्षण में उनके शरीर से श्रीराम का चक्षुः सन्निकर्ष हुआ। उसके वाद अर्थात् श्रीरामपादस्पर्श के चतुर्थक्षण में अहल्याविषयकनिर्विकल्पकज्ञान यथा पञ्चमक्षण में अनेकविशेषण–विशिष्ट अहल्या का चाक्षुषप्रत्यक्ष भगवान् भरताग्रज को हुआ। तात्पर्य यह कि अहल्या के शिलाशरीर से श्रीराम का पादस्पर्श होने के वाद उसे पूर्णरूपेण गौतमशाप से मुक्त होने में एक निमेष अर्थात् पलक गिरने जितना समय लगा। फलतः पूर्वशरीर की प्राप्ति के चतुर्थक्षण में उनका विशद प्रत्यक्ष हो गया। बस, यही उनके अदृश्यत्वशापनिवृत्ति का काल है। महर्षि गौतम ने इसका निर्देश 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' से कर दिया; किन्तु उसे चाक्षुषप्रत्यक्ष के कार्यकारणभाव की प्रक्रिया के मर्मज्ञ ही समझ सकते हैं, केवल 'कु चु टु तु पु' के संस्कार वाले नहीं।

इस परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि अहल्या को मिला अदृश्य होने का शाप भगवान् श्रीराम के अहल्याविषयकचाक्षुषप्रत्यक्ष (सविक-

---

"यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥" –वा०रा०बा०का० ४८/३१

ल्पकज्ञान) के अव्यवहित पूर्वक्षण तक ही लागू था। उसी क्षण वे गौतमशापबलात् अपने पूर्वशरीर से तीनों लोकों के लिये अदृश्या थीं, अर्थात् उस शरीर से किसी को भी नहीं दिखीं, हमारे इस कथन की पुष्टि महर्षि वाल्मीकि के वचन से होती है—

"सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह।
त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ॥"

—वा० रा० बा० का० ४६/१६

अस्यार्थः— सा = अहल्या, इदं महर्षिवाल्मीकेः स्वकीयं वचः, तत्कृतेऽहल्यायाः पारोक्ष्यात्, तदिति परोक्षे विजानीयाच्चेति नियमाद् अहल्यायास्तत्पदेन सेतिनिर्देशः। रामस्यदर्शनमित्यत्र 'कर्तृकर्मणोः कृति' (पा० सू० २/३/६५) इति सूत्रेण कर्तरि षष्ठी; प्रागुक्तेषु त्रिषु श्लोकेषु अनेकविशेषणविशिष्टाहल्याकर्मकश्रीरामकर्तृकचाक्षुषप्रत्यक्षस्य 'ददर्श च महाभागामि'त्यादिनोल्लेखात्। ततश्च श्रीरामकर्तृकं चाक्षुषप्रत्यक्षमिति तदर्थः। गौतमवाक्येन= अदृश्या सर्वभूतानामित्यादि गौतमशापेन। दुर्निरीक्ष्या= पूर्वशरीरेणादृश्या। ततश्चायं निर्गलितार्थः—यावत् श्रीरामकर्तृकमहल्याकर्मकं चाक्षुषप्रत्यक्षं न जातं, तावत् सा गौतमशापेन त्रयाणां लोकानां स्वपूर्वशरीरेणादृश्या बभूव। श्रीरामकर्तृकमहल्याकर्मकं चाक्षुषप्रत्यक्षं तदन्यकर्तृकमहल्याकर्मकं चाक्षुष — प्रत्यक्षं च पूर्वशरीरप्राप्तिक्षणे तद्द्वितीयतृतीयक्षणयोर्वा न सम्भवति, ततः पूर्वं तादृशप्रत्यक्षजनकचक्षुस्सन्निकर्षाद्यभावात्। फलतः अहल्यायाः पूर्वशरीरप्राप्तितृतीयक्षणपर्यन्तं श्रीरामकर्तृकप्रत्यक्षं न जातं तावत् पर्यन्तं सा त्रयाणामपि लोकानामदृश्या बभूव। अपिशब्देन श्रीरामादीनामपीत्यर्थः। अनुपदमेवायंविषयोविस्तरेण प्रतिपादितस्तत्रैव द्रष्टव्यः।

जब तक (उनके पूर्वशरीर की प्राप्ति के तृतीयक्षण तक) श्रीराम ने अहल्या को नहीं देखा था तब तक गौतमशाप के कारण वे तीनों लोकों के लिए भी अदृश्या थीं। उसके (तृतीयक्षण के) बाद शाप का अन्त हो जाने से वे तीनों लोकों के दृष्टिपथ में आयीं—

"शापस्यान्तमुपागम्य तेषां दर्शनमागता"। इस सूक्ष्म विवेचन से भगवान् बादरायण और महर्षि वाल्मीकि के वचनों में कल्पभेदाश्रयण के बिना ही सामञ्जस्य हो गया। अतएव पूज्यपाद गोस्वामी जी की "गौतमनारी श्रापवश उपल देह धरि धीर" तथा अध्यात्मरामायण आदि की अहल्याविषयक–शिलाशरीरोक्ति समीचीन है।

शङ्का—

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में "यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः। आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि' श्लोक से श्रीरामागमनकाल में अहल्या की पावनता उल्लिखित होने के वाद ही "तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता। मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि" श्लोक है, जिसमें श्रीरामातिथ्य करने के पश्चात् ही अहल्या के पूर्वशरीर की प्राप्ति उपवर्णित है। जवकि पूर्वोक्त विवेचन से आश्रम में पहुंचने पर श्रीराम के पादस्पर्श से पूर्वशरीर की झटिति प्राप्ति सिद्ध होती है। उचित भी है, क्योंकि पाषाणशरीर से वे भस्मशायिनी थीं। शापग्रस्त होने से इतस्ततः मैनाक की भांति गमनागमन तथा आतिथ्यादि भी सम्भव नहीं था, फिर इस श्लोक का अर्थ कैसे किया जाय ?

समाधान—

आपकी शङ्का उचित है, इसका समाधान मीमांसा–न्याय के समाश्रयण से इस प्रकार होगा—

यह तथ्य निश्चित हो चुका है कि अहल्या श्रीराम का उस वन में पदार्पण होते ही पवित्र हो चुकी थीं, श्रीरामपादस्पर्श से उन्हें पूर्वशरीर भी प्राप्त हो गया था, तथा उसके चतुर्थक्षण में वे श्रीराम को दृष्टिगोचर हो गयीं। यही शाप–निवृत्ति की चरमावधि थी। इसके बाद श्रीराम और लक्ष्मण ने उनका चरणस्पर्श किया और उन्होंने महर्षि गौतम के 'तस्यातिथ्येन... स्वं वपुर्धारयिष्यसि' वचन का स्मरण करते हुए श्रीराम को अतिथित्वेन पूज्यबुद्धि से ग्रहण किया, तथा उनका आतिथ्यसत्कार किया[1]। प्रभु राघवेन्द्र के आतिथ्यग्रहण करते ही पुष्पवृष्टि होने लगी, देवदुन्दुभियां वजने लगीं[2]। देवताओं ने अहल्या को साधुवाद दिया और उनकी पूजा की[3]। तत्पश्चात् महर्षि गौतम

१– "राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा।
स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि च॥
पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं चकार सुसमाहिता।
प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा॥

२– पुष्पवृष्टिर्महत्यासीद् देवदुन्दुभिनिःस्वनैः।
गन्धर्वाप्सरसां चैव महानासीत् समुत्सवः॥

३– साधु साध्विति देवास्तामहल्यां समपूजयन्।
तपोबलविशुद्धाङ्गीं गौतमस्य वशानुगाम्॥ वा.रा.का. ४९/१७,१८,१९

भी आ गये और अहल्या के साथ उन्होंने भी श्रीराम की पूजा की[1]। यही अर्थक्रम है।

पाठक्रम के अनुसार श्रीरामातिथ्य करने के पश्चात् गौतम-सान्निध्य की प्राप्ति, तदनन्तर अहल्या के पूर्वशरीर की प्राप्ति सिद्ध होती है। यदि इसे इसी रूप में स्वीकार कर लें तो सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह होगी कि अहल्या द्वारा श्रीरामातिथ्य करने के पश्चात् और गौतमसान्निध्यप्राप्ति के पूर्व उन्हें गन्धर्व अप्सरा और देवताओं ने साधुवाद देकर उनकी पूजा कैसे की ? श्रीराम और लक्ष्मण ने उनके चरणों का स्पर्श कैसे किया ? क्या उन्हें देखे विना ये सब कार्य हो सकते हैं ? उत्तर मिलेगा-'नहीं'। पाठक्रम के अनुसार तो उन्हें अभी पूर्वशरीर ही नहीं प्राप्त है, जिससे वे दृश्या होंगी और पाषाणशरीर से दृश्या होने पर भी ये सब कार्य हो नहीं सकते, क्योंकि उतने काल तक वे भस्मशायिनी थीं। इसलिये 'पाठक्रमादर्थक्रमो वलीयान्' न्याय से पाठक्रम का निरादर करके अर्थक्रम को आदर देना चाहिये, जैसे—

"यवाग्वा अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति" इस स्थल में पहले यवागू से अग्निहोत्रहोम और वाद में यवागू-पाक का कथन होने पर पाठक्रम से लब्ध अर्थ का तिरस्कार करके अर्थक्रम के अनुसार सर्वप्रथम यवागू-पाक तदनन्तर यवागू से आहुति यही अर्थ माना गया है, वैसे ही प्रकृत स्थल में भी श्रीराम के पदार्पणकालमें अहल्या की पावनता तत्पश्चात् प्रभुपादस्पर्श से पूर्वशरीर की प्राप्ति, तदनन्तर श्रीरामकर्तृक-अहल्याकर्मकदर्शन ततः राम लक्ष्मण द्वारा अहल्या का पादस्पर्श और उसके पश्चात् अहल्याकर्तृक आतिथ्यादि सत्कार, देवदुन्दुभि, गौतम-सान्निध्य की प्राप्ति, ये सब अर्थक्रम हैं। अतः 'ततः पूता भविष्यसि' के वाद ही 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' का संयोजन उक्त न्याय से कर लेना चाहिये। अब--

"यदा त्वेदद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ॥"

१-- गौतमोऽपि महातेजा अहल्यासहितः सुखी।
रामं सम्पूज्य विधिवत्तपस्तेपे महायशाः ॥"

—वा० रा० वा० का० ४६/२१

तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविवर्जिता ।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ॥
—वा० रा० वा० का० ४८/३१-३२

श्लोक का सान्वय अर्थ यों होगा—

यदा तु एतद् घोरं—भयङ्करं, वनं दुर्धर्षः दशरथात्मजः रामः आगमिष्यति तदा – तदागमनकाले त्वं पूता = पवित्रा भविष्यसि, अथ च तदीयपादस्पर्शेन स्वशिलाशरीरत्यागपूर्वकं स्वं—निजं, वपुः—पूर्वशरीरं—येन महर्षिगौतमस्य सेवा कृतेत्यर्थः; धारयिष्यसि = धारणं करिष्यसि, ततः तस्य = श्रीरामस्य आतिथ्येन लोभमोहविवर्जिता सती मुदा—आनन्द युक्ता सती मत्सकाशं = मम सान्निध्यं 'प्राप्स्यसि' इतिशेषः ।

जब इस वन में दुर्धर्ष दशरथसुत श्रीराम पदार्पण करेंगे तब तुम पवित्र हो जाओगी और उनके चरणकमल के स्पर्श से अपने पाषाण-देह को छोड़कर अपना पूर्व शरीर प्राप्त कर लोगी । उन श्रीराम का आतिथ्य करने से तुम लोभ मोहरहित होकर प्रसन्नतापूर्वक मेरा सान्निध्य प्राप्त करोगी ।

"पाठक्रमादर्थक्रमो बलोयान्" न्याय से ऐसा अर्थ करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । यह न्याय पूर्वमीमांसा ५/१/२ के अर्थक्रमाधिकरण से सिद्ध है ।

शङ्का—

भगवान् बादरायण और महर्षि वाल्मीकि के वचनों की एक-वाक्यता जिस प्रकार आपने दिखलाई है उससे मेरा हृदय प्रफुल्लित हो रहा है, पर एक शङ्का हृदय-कमल को झुलसा रही है । वह यह कि जब श्रीराम गौतमाश्रम में महर्षि विश्वामित्र की आज्ञा से प्रविष्ट हुए तो उन्होंने सर्वप्रथम अहल्या को उनके पूर्व शरीर में ही देखा । वहाँ ऐसी कोई गुन्जाइश नहीं है कि उस वर्णन के साथ भगवान् बादरायण के वचनों—जिसमें श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या को उनके पूर्वशरीर का लाभ बतलाया गया है—का सामञ्जस्य बैठाया जा सके । रामायण के 'ददर्श च महाभागामि'त्यादि वचनों में ऐसा कोई शब्द नहीं मिल पा-रहा है जिसके बल पर "श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या के पूर्वशरीर की प्राप्ति" रूप अर्थ संगृहीत किया जा सके ।

समाधान--

श्रीमान् जी ! 'ददर्श च महाभागामि'त्यादि श्लोकघटकीभूत 'च' पद ही 'श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या के पूर्वशरीर की प्राप्ति' रूप अर्थ का संग्राहक है । 'च' की अनुक्तसमुच्चयार्थकता प्रसिद्ध है । "ददर्श च महाभागाम्" में च भिन्नक्रम वाला है, अर्थात् च का पूर्व में उन्नयन करके "श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या अपना पूर्वशरीर प्राप्त कर लीं" अर्थ करने के पश्चात् 'उन महाभागा को श्रीराम ने देखा' यह अर्थ "ददर्श च महाभागाम्" से निकल आयेगा, जिससे भगवान् वादरायण और महर्षि वाल्मीकि के वचनों में एकवाक्यता निष्पन्न हो जायेगी और आपका हृत्कमल झुलसने से बच जायेगा ।

'च' पद का पूर्व में उन्नयन करके इस प्रकार अर्थ प्राप्त करने की पद्धति कोई नवीन नहीं है; क्योंकि अनचि च (पा०सू० ८/४/४७) सूत्र में भी 'च' को भिन्नक्रम वाला मानकर उसको अच् से परे यर् की द्वित्वविधि का समर्पक माना गया है । इसका विचार संक्षेप में प्रस्तुत है—

'अनचि च' सूत्र में 'च' भिन्नक्रम वाला है; इसका कारण यह कि 'अनचि' अंश प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है, अर्थात् अच् से परे यर् के द्वित्व का निषेध करता है अच् परे रहते, और निषेध के लिए आवश्यक है कि पहले प्राप्ति हो— "प्राप्तौ सत्यां निषेधः" । अतः प्रसज्यप्रतिषेध से विधि का अनुमान करते हैं । महावैयाकरण प्रदीपकार कैयट लिखते हैं—"तत्र प्रसज्यप्रतिषेधे विधिरनुमीयते, अच उत्तरस्य यरो नूनं द्विर्वचनं सर्वत्रास्ति यतोऽचि प्रतिषिध्यते ।" इस स्थल में 'अच उत्तरस्येति' ऐसा प्रतीक लेकर महापण्डित श्रीनागेशभट्ट लिखते हैं—"अच उत्तरस्येति । चकारो वा विध्यर्थः" । 'अनचि च' सूत्र में उपात्त 'च' ही विध्यर्थक है । जब 'च' ही द्वित्वविधि का समर्पक हो जायेगा, तब विधि के अनुमान की कोई आवश्यकता नहीं । चूंकि प्रतिषेध प्राप्तिपूर्वक ही होता है और द्वित्वविधि श्रीनागेशभट्ट के अनुसार 'च' का ही अर्थ है । अतः द्वित्वविधि प्रतिषेध के पूर्व होनी आवश्यक है, किन्तु सूत्र में 'च' 'अनचि' के बाद पढ़ा हुआ है, अतः "पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्" न्याय के आधार पर 'च' का पूर्व में उन्नयन करने से, पहले द्वित्वविधि होगी और बाद में 'अनचि' से प्रतिषेध सङ्गत हो जायेगा ।

इस प्रदर्शन का यही उद्देश्य है कि चकार अनुक्त वस्तु का समर्पक होता है और उसका उन्नयन अर्थक्रम के अनुसार पूर्व में किया जा सकता है। इसीलिए "ददर्श च महाभागाम्" में 'च' का पूर्व में उन्नयन करके 'श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या अपना पूर्वशरीर प्राप्त कर लीं' यह अर्थ लब्ध हुआ, उसके वाद 'श्रीराम ने उन्हें देखा' इस अर्थ का संयोजन करना चाहिये। अब--

"ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम्।
लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः॥
प्रयत्नान्निर्मितां धात्रा दिव्यां मायामयीमिव।
धूमेनाभिपरीताङ्गीं दीप्तामग्निशिखामिव॥
सतुषारावृतां साभ्रां पूर्णचन्द्रप्रभामिव।

—वा० रा० वा० का० ४६/१३-१४-१५

इन श्लोकों का अर्थ 'च' पद का पूर्व में उन्नयन करके दर्शाया जा रहा है--

'भगवान् श्रीराम ने अपने पादस्पर्श से शिलाशरीरत्यागपूर्वक पूर्वशरीर को प्राप्त उन महाभाग्यशालिनी अहल्या को देखा, जो सहस्रों वर्ष की कठोर अनशनरूपी तपश्चर्या से प्रदीप्त प्रभा वाली थीं, अतएव जिन्हें सम्पूर्ण सुर और असुर नहीं देख सकते थे। वे जगत्स्रष्टा विधाता द्वारा वड़े यत्न से निर्मित दिव्य = मर्त्यलोक के प्राणियों से विलक्षण, मायामयी जैसी प्रतीत हो रही थीं। लगता था कि वे धूम से घिरीं प्रज्वलित अग्निशिखा, अथवा तुषार से आवृत मेघावष्टब्ध पूर्ण चन्द्र की प्रभा हैं, किं वा जल के मध्य में उद्भाषित होने वाली दुराधर्ष भगवान्-भास्कर की प्रभा हैं'। इस श्लोक में अहल्या की जो दुर्निरीक्ष्यता बतलायी गयी है, वह दुःखेन निरीक्ष्यता = दुःख से दिखना ही है सर्वथा दुर्निरीक्ष्यता = अदृश्यता नहीं, वह तो श्रीरामकर्तृकदर्शन के अव्यवहितपूर्वक्षण तक ही सीमिति थी। यद्यपि भगवान् राघवेन्द्र के वन में पधारते ही अहल्या पवित्र हो चुकी थीं, उनका महेन्द्रसमागम-जन्यपातक निवृत्त हो गया था। श्रीराम के चरणस्पर्श से शिलाशरीर छोड़कर वे पूर्वशरीर भी धारण कर चुकी थीं, जिसका संकेत "स्वं-वपुर्धारयिष्यसि" से महर्षि गौतम ने किया था। तथापि पाप के अतीन्द्रिय होने से उसके नाश का विश्वास अन्य लोगों को नहीं हो सकता था (शापनिवृत्ति तो उनके दृश्य हो जाने से प्रत्यक्ष थी ही) इसी-

लिये महर्षि गौतम ने उन्हें श्रीराम का आतिथ्यादि करने की आज्ञा दी थी।

साक्षाद् धर्मविग्रह श्रीराम किसी पतिता नारी का आतिथ्य नहीं स्वीकार करेंगे–ऐसा सभी ऋषि–मुनि जानते थे। अतः जब धर्मविग्रह श्रीराम ने उनके आतिथ्य को ग्रहण कर लिया तो उससे अहल्या की पावनता प्रमाणित हो गयी, जिसके उपलक्ष में पुष्पवृष्टि और देवदुन्दुभि की ध्वनि हुई तथा देवताओं ने ऋषि–पत्नी की पूजा की। महर्षि गौतम ने उन्हें स्वीकार कर लिया। "जिनके आतिथ्य, पाद्य, अर्घ्य को साक्षात् धर्मविग्रह श्रीराम स्वीकार कर लिये उन्हें धर्म का आचरण करने वाला मैं गौतम स्वीकार करता हूँ" यही वस्तु महर्षि समाज में दिखाना चाहते थे। इसीलिये उन्होंने "तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोह विवर्जिता। मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि"॥ कहा था।

श्रीनागेशभट्ट द्वारा तिलक टीका में उद्धृत पाद्मीय वचनों में इन्द्र के सैकड़ों भग होने का उल्लेख है। रामायण में महर्षि वाल्मीकि ने इन्द्र के अण्डकोष गिरने का निर्देश किया है। भगवान् वादरायण ने इन्द्र के अण्डकोषपतन का प्रतिषेध नहीं किया है। अतः 'अप्रतिषिद्धमनुमतंभवति" न्यायानुसार वाल्मीकिप्रोक्त अण्डकोषपतन का सामञ्जस्य वादरायणमत में भी हो जाता है। इधर महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में इन्द्र के सैकड़ों भगाकारचिह्नों का प्रतिषेध नहीं किया है, अतः "अप्रतिषिद्धमनुमतं भवति" न्याय के अनुसार इन्द्र के वृषणपतन के साथ ही वादरायणप्रोक्त इन्द्र के सैकड़ों भगाकारचिह्न इन्हें भी मान्य हैं। इस प्रकार इन्द्र के अण्डकोषपतन और भगाकारचिह्नों की प्राप्ति के शाप की उपपत्ति भी कल्पभेदाश्रयण के विना ही सुन्दर ढङ्ग से हो जाती है।

इस प्रकार कल्पभेद का आश्रय लिये विना ही पुराण और रामायण के वचनों की एकवाक्यता करके यह निश्चित किया गया कि महर्षि वाल्मीकि और भगवान् वादरायण इन दोनों की दृष्टि में अहल्या शिला हुई थीं। अतः पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी का अहल्या के लिये "शिला होना, श्रीराम के चरणकमलस्पर्श से सुन्दर नारी बनना" लिखना सप्रमाण है, अप्रमाण नहीं।

शङ्का—

क्या कारण है कि महर्षि वाल्मीकि अपने रामायण में अहल्या

की पाषाणरूपता तथा श्रीरामपादस्पर्श से पाषाणत्वत्यागपूर्वक उनके शरीर की प्राप्ति का केवल संकेत ही किये, न कि सुस्पष्ट वर्णन ?

समाधान--

महर्षि वाल्मीकि श्रीरामकथा के माध्यम से 'स्मार्त-धर्म' की पुष्टि स्थल-स्थल पर करते हुए दिखते हैं। 'स्मार्त-धर्म' की प्रतिष्ठा ही उनके काव्यनिर्माण का प्रयोजन था, 'भागवत-धर्म' की प्रतिष्ठा नहीं। अतः जहाँ यथार्थ वर्णन से वर्णाश्रम सम्बन्धी धर्म की न्यूनता दिखती है वहाँ वे उस वर्णन को इस ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं कि वह न्यूनता रफूचक्कर हो जाती है। अहल्याप्रकरण इसका दृष्टान्त है। महर्षि ने श्रीरामपादस्पर्श से उनके पाषाणशरीर के त्याग या प्राप्ति का सुस्पष्ट वर्णन नहीं किया, उसे इस ढंग से प्रस्तुत किया कि सुधीजन ही चिन्तन करके समझ सकते हैं। भगवान् वादरायण 'भागवत-धर्म' का विशेष ध्यान रखते हैं, इसलिये वे गौतमशाप से अहल्या को पत्थर होना तथा श्रीरामपादस्पर्श से नारी बन जाना लिखते हैं। वे 'भगवद्-गीता' में श्रीराम कृष्ण आदि को प्रणाम करना दैवीसम्पत् वालों का कार्य कहते हैं, जबकि महर्षि वाल्मीकि रामायण में दैवीसम्पत् सम्पन्न अगस्त्य सुतीक्ष्ण आदि से ऐसा नहीं करवाते, इसका एक ही कारण है कि प्रत्येक वर्ग के लोग समझ सकें कि क्षत्रिय का ब्राह्मण पूज्य होता है। और वर्णाश्रमधर्म पर किसी प्रकार की आंच न आने पाये। एत-दर्थ श्रीरामपादस्पर्श से अहल्या की पूर्वशरीरप्राप्ति का वर्णन महर्षि ने सुस्पष्ट नहीं किया, केवल 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' इत्यादि से संकेत-मात्र किया।

भ्रान्ति—

पुराणों आदि का निर्माण उसके (वाल्मीकीयरामायण के) सुदूरकाल पश्चात् का है। अतः उक्त रामायण में जिस घटना का जिस प्रकार से उपवर्णन हुआ है उसके विपरीत यदि किसी घटना का कोई उपवर्णन कहीं पश्चात्कालिक ग्रन्थ में उपलब्ध हो तो उसका तात्पर्य रामायण के अनुकूल ही लगाना चाहिये।

—रा० म० वा० पृ० ४३

भ्रान्तिगिरिभङ्ग--

श्रीमान् जी पुराणों को 'वाल्मीकीयरामायण' का परवर्ती बतलाकर 'वाल्मीकीयरामायण' की अपेक्षा उनके प्रामाण्य की न्यूनता सिद्ध करना चाह रहे हैं। तभी तो पुराण की घटनाओं का तात्पर्य रामायण के अनुकूल लगाने के लिये यत्नशील हैं। यह इनकी मात्र भ्रान्ति ही है; क्योंकि किसी भी ग्रन्थ के निर्माणकाल को किसी ग्रन्थ के रचनाकाल से उत्तरवर्ती कहकर या सिद्धकर उसमें पूर्वनिर्मित ग्रन्थ की अपेक्षा प्रामाण्य की न्यूनता नहीं सिद्ध की जा सकती है। अन्यथा तुल्यन्यायात् पाणिनि के सूत्रों पर लिखे गये वार्तिक और महाभाष्य अपना प्रामाण्य ही खो देंगे जो कि सूत्राद्यपेक्षया उत्कृष्ट है।

वैयाकरणों के यहाँ "यथोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्" प्रसिद्ध है, जबकि सूत्र की अपेक्षा वार्तिक और वार्तिक की अपेक्षा महाभाष्य परवर्ती हैं, किन्तु प्रामाण्य पूर्ववर्ती की अपेक्षा परवर्ती ग्रन्थ में अधिक स्वीकृत है और महाभाष्य में तो सूत्र और वार्तिक दोनों की अपेक्षा अधिक प्रामाण्य है। अतः "परवर्ती ग्रन्थ में स्वपूर्ववर्ती ग्रन्थ की अपेक्षा न्यूनप्रामाण्य रहता है" यह नियम महाभाष्यादि में व्यभिचरित होने के कारण पुराणों में वाल्मीकीयरामायण की अपेक्षा न्यूनप्रामाण्य का साधक नहीं हो सकता।

वस्तुस्थिति यही है कि किसी भी ग्रन्थ में प्रामाण्य उसके पूर्ववर्ती होने मात्र से न तो आ जाता है और न परवर्ती होने मात्र से चला ही जाता है। प्रामाण्य ग्रन्थकर्ता के आप्त होने पर निर्भर करता है, और आप्तत्व भी ब्राह्मणत्व के समान कोई जाति नहीं है जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त व्यक्ति में समवस्थित रहे, वह तो यथार्थवक्तृत्वरूप है, और उसकी सर्वतोभावेन उपलब्धि ऋतम्भरा प्रज्ञा के निलय महर्षि वाल्मीकि और भगवान् वादरायण जैसे महर्षियों में होती है। साधारण जनों में वह आप्तत्व क्वाचित्क है।

ऋतम्भराप्रज्ञा के निलय भगवान् वादरायण--

महर्षि वाल्मीकि को श्रीरामचरित के प्रथम उपदेष्टा देवर्षि नारद भगवान् वादरायण के अमोघदृक्त्व और सत्यनिष्ठा का उद्घोष करते हुए उन्हें ऋतम्भरा प्रज्ञा का आश्रय बतलाते हैं—

"अहो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः ।
उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ।।"
—भा० महापु० १/५/१३

अहो महाभाग्यशाली व्यास जी ! आप अमोघदृष्टि वाले, पवित्रकीर्तिमान्, सत्यनिष्ठ तथा व्रतधारी हैं। इसलिए आप सम्पूर्ण जीवों की मुक्ति हेतु भगवान् की विविध लीलाओं का समाधि द्वारा प्रत्यक्ष कीजिये।

आज तक उत्पन्न हुए २८ व्यासों में भगवान् कृष्णद्वैपायन ही साक्षात् नारायण के अवतार हैं— "कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं प्रभुम्"— वि० म० ३/४/५ ।

भगवान् वादरायण के विषय में यह उद्घोष २६वें व्यास भगवान् पराशर का है, किसी साधारण ऋषि का नहीं। श्रीमद्भागवत-महापुराण में भी इन्हें सर्वज्ञ परमात्मा का अवतार बतलाया गया है।

ऐसे सर्वज्ञ परमात्मा के अवतार भगवान् कृष्णद्वैपायन को वेद, पुराण आदि निखिलवस्तुओं का ज्ञान होना स्वाभाविक ही है। दूसरी बात यह कि भगवान् वादरायण जैसे वेदव्यास है वैसे ही इनके पिता महर्षि पराशर, उनके पिता शक्ति, शक्ति के पिता महर्षि वशिष्ठ और वशिष्ठ के पिता साक्षाद् ब्रह्माजी व्यास हुए हैं। इस प्रकार की परम्परा अन्य किसी भी ऋषि की नहीं मिलती है जिसके यहाँ क्रमशः उत्पन्न सन्तानें व्यासपद को अलंकृत की हों।

अतः परम्परा की अक्षुण्णता से भी भगवान् वादरायण उन सभी तथ्यों का ज्ञान अपने पूर्वजों से प्राप्त किये होंगे, जिसके लिए अन्य ऋषियों को अन्यत्र जाना पड़ा होगा।

भगवान् वादरायण और ऋषिप्रवर वाल्मीकि दोनों ही नारद जी के कृपापात्र हैं तथा योगज सन्निकर्ष से समाध्यवस्था में सभी वस्तुओं का यथावत् साक्षात्कार करके ग्रन्थ-प्रणयन करते हैं। देखें—

भगवान् वादरायण—

तस्मिन् स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्ड मण्डिते ।
आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ॥
भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।
अपश्यत् पुरुषं पूर्वं मायां च तदुपाश्रयाम् ॥
यया सम्मोहितो जीव आत्मानं त्रिगुणात्मकम् ।
परोऽपि मनुतेऽनर्थं तत्कृतं चाभिपद्यते ॥
अनर्थोपशमं साक्षाद्भगवद्भक्तिमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥

—भागवतमहापुराण, १/७/३-४-५-६

देवर्षि नारद के अभिप्राय को सुनकर उनके जाने के बाद बेर के यूथों से मण्डित शम्याप्रास नामक अपने आश्रम में समासीन भगवान् व्यास ने आचमन करके अपने मन को समाधिस्थ किया ॥ भक्तियोग से मन के एकाग्र हो जाने पर उन्होंने परमात्मा और उनके आश्रित रहने वाली माया–जिससे सम्मोहित जीव अपने को त्रिगुणात्मक शरीर मान लेता है और इसी देहात्मभ्रम के कारण अनर्थों को प्राप्त होता है–को देखा । तथा समस्त अनर्थों के शमन की कारणभूता भगवान् की भक्ति को भी देखा ।

भगवान् वाल्मीकि—

श्रुत्वा वस्तु समग्रं तद्धर्मार्थं–सहितं हितम् ।
व्यक्तमन्वेषते भूयो यद्वृत्तं तस्य धीमतः ॥
उपस्पृश्योदकं सम्यङ् मुनिःस्थित्वा कृताञ्जलिः ।
प्राचीनाग्रेषु दर्भेषु धर्मेणान्वेषते गतिम् ॥
रामलक्ष्मणसीताभी राज्ञा दशरथेन च ।
सभार्येण सराष्ट्रेण यत्प्राप्तं तत्र तत्त्वतः ॥
हसितं भाषितं चैव गतिर्यावच्च चेष्टितम् ।
तत्सर्वं धर्मवीर्येण यथावत् सम्प्रपश्यति ॥

—वा० रा० बा० का० ३/१-२-३-४ ।

नारद जी के मुख से धर्म अर्थ के सहित समस्त कल्याणप्रद (रामचरित) वस्तु सुनकर वे महर्षि वाल्मीकि श्रीराम— चरित के साक्षात्कार हेतु तत्पर हुए । वे प्राचीनाग्रकुशों के आसन पर विराजमान हो सम्यक् आचमन करके हाथ जोड़े हुए समाधि रूप योगधर्म के द्वारा भगवान् की लीलाओं के अन्वेषण में लग गये । राष्ट्र और रानियों सहित राजा दशरथ समेत राम, लक्ष्मण और सीता से सम्बद्ध हँसना बोलना आदि जो भी चेष्टायें थीं उन सबका समाधि-रूपधर्म के प्रभाव से वे भलीभाँति प्रत्यक्ष करते थे ।

यहाँ विद्वज्जन देख सकते हैं कि ग्रन्थप्रणयन के पूर्व जैसे भगवान् वाल्मीकि आसन पर बैठकर आचमन करके समाधियोग से भगवल्लीला का साक्षात्कार करते हैं, वैसे ही भगवान् वादरायण भी। महर्षिप्रवर वाल्मीकि जी को जैसे देवर्षि नारद से श्रीरामविषयक उपदेश मिला, ठीक वैसे ही महर्षिचक्रचूडामणि वेदव्यास को भी नारद जी से ही भगवल्लीलाविषयक उपदेश मिला।

भगवान् के मूलस्वरूप का वर्णन महर्षि वाल्मीकि से भी अधिक भगवान् वादरायण ने किया है। उन्होंने 'उपास्य पुरुष (परमात्मा), उपासक जीव, परमात्मा के प्राप्ति में प्रतिवन्धिका माया, विरोधिनिरसनपूर्वक भगवत्प्राप्ति की साक्षात् कारणभूता भक्ति और तुल्यवित्तिवेद्यन्याय से उपाय का फल भगवत्प्राप्ति' इन पाँचतत्वों–जिन्हें अर्थपञ्चक कहते हैं,–का साक्षात्कार अपनी ऋतम्भराप्रज्ञा से किया। दोनों महर्षि अपने में अद्भुत और असीम सामर्थ्यसम्पन्न हैं, और दोनों के गुरु भी एक ही हैं–– देवर्षि नारद। भगवान् कृष्णद्वैपायन तो परमात्मा के ज्ञानावतार भी हैं। तभी तो नारायणवर्म में अज्ञान से रक्षा करने के लिए इनकी प्रार्थना की गयी–'द्वैपायनो भगवानप्रवोधाद्"–भा०म०६/८/१६। अज्ञान से रक्षा ज्ञान ही कर सकता है, अतः भगवान् वादरायण साक्षात् ज्ञानस्वरूप हैं। यदि महर्षि वाल्मीकि 'रामायण' जैसे इतिहास के प्रणेता हैं तो भगवान् कृष्णद्वैयापन भी 'महाभारत' जैसे विशालकाय इतिहास के प्रणयनकर्ता हैं। श्रुत्यर्थनिर्णय हेतु इन्होंने ब्रह्मसूत्र की रचना और अधिक ही की है। अतः साहित्य की विपुलता के दृष्टि से भी ये महर्षि वाल्मीकि से अधिक ही हैं, कम नहीं।

निष्कर्ष---

उक्त परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि अभी तक उत्पन्न हुए २८ व्यासों में साक्षात् परमात्मा के अवतार भगवान् वादरायण साक्षात् ज्ञानस्वरूप हैं। जैसे जीव पूर्वजन्म के अभ्यस्त विषयों में अनायास प्रवृत्त और दक्ष हो जाता है। वैसे ही परमात्मा–जिससे वेद, पुराण प्रभृति अनायास प्रकट हुए हैं जो सम्पूर्ण ज्ञान आदि शक्तियों का एक मात्र आश्रय है–कृष्णद्वैयापन के रूप में अवतार लेकर यदि अवतारिकाल में ज्ञात सभी विषयों का विज्ञ हो जाय तो क्या आश्चर्य ? जीव की अपेक्षा परमात्मा श्रेष्ठ है ही। अतः भगवान् वादरायण 'सर्वज्ञ

और आप्ततम हैं। इसकी पुष्टि पूर्व में सप्रमाण की जा चुकी है। अतः इनसे प्रणीत ग्रन्थ चाहे वे पुराण हों या कोई अन्य। वे किसी के पूर्ववर्ती हों या परवर्ती, सर्वदा और सर्वथा प्रमाण ही हैं। उनका प्रामाण्य 'वाल्मीकीयरामायण' से कथमपि कम नहीं है। दूसरी बात यह कि 'वाल्मीकीयरामायण' वेद के अवतार हैं–– "वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना" ॥ वेद का उपबृंहण इतिहास और पुराण से किया जाता है, ऐसा भारतीय ऋषियों का उद्घोष है– 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'। अतः वेदावतार 'वाल्मीकीयरामायण' का उपबृंहण मनमानी ढंग से न करके परम आप्त सर्वज्ञ भगवद्वादरायणप्रणीत पुराणों के द्वारा ही करना चाहिये। जैसा कि पूर्व में अहल्या के विषय में किया जा चुका है।

पुराणों का निर्माण नहीं, अपितु संकलन

जो लोग यह समझते हैं कि पुराणों का निर्माण वेदव्यास जी ने किया, वे वस्तुस्थिति से बहुत दूर हैं; क्योंकि वेदव्यास जी के पूर्व भी पुराण अपने विशाल स्वरूप में विद्यमान थे; क्योंकि वे वेदों के साथ परमात्मा से प्रकट हुए थे–'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे'।–अथर्ववेद ११/४/२४

राजा दशरथ के मन्त्री सुमन्त पुराण में राजा के पुत्र होने के विषय में सुन चुके थे––

एतच्छ्रुत्वा रहः सूतो राजानमिदमब्रवीत्।
श्रूयतां तत्पुरावृत्तं पुराणे च मया श्रुतम्॥ } वा०रा०बा० का० ९/१

वाल्मीकीयरामायण के इस श्लोक में यह सुस्पष्ट है कि दशरथ जी के समय पुराण की सत्ता थी और वह पुराण १०० करोड़ श्लोकों का था। जब मनुष्य के उत्साह, तपोयोगादिजनितप्रभाव और धारणाशक्ति में न्यूनता आने लगती है, और वे शब्दराशि वेद तथा शतकोटिप्रविस्तर पुराण को धारण करने में असमर्थ हो जाते हैं, तब वेदव्यास वेदों का विभाग तथा पूर्वसिद्ध पुराण का संक्षिप्तीकरण करते हुए सङ्कलन करते हैं, निर्माण नहीं––

वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान् करोति सः॥ } वि० म० ३/३/६

कालेनाग्रहणं दृष्ट्वा पुराणस्य ततो नृप ।
व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे-युगे ।
चतुर्लक्षप्रमाणेन द्वापरे द्वापरे सदा ॥ } म०म०५३/८-९

—'हे राजन् ! कालक्रमानुसारेण पुराण की दुर्वोधता देखकर प्रत्येक द्वापर युग में व्यासरूप से मैं सुखपूर्वक वोध कराने के लिये १०० करोड़ श्लोक वाले पुराण को चारलाख के प्रमाण से सङ्कलन करता हूँ । नामकौमुदीकार श्रीलक्ष्मोधर उक्त श्लोक का व्याख्यान करते हैं— पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखग्रहणाय सङ्कलयामीति हि तस्यार्थः ।

—भगवन्नामकौमुदी परिच्छेद ३ ।

पूर्वसिद्धपुराण से अल्पसंख्याक चतुर्लक्षश्लोकपरिमित पुराणों के आनुपूर्वी में भेद हो ही जाता है अतः इसका संकलन करने से ही वेदव्यास को यत्र तत्र पुराणप्रणेता कहा गया है । वस्तुस्थिति यही है कि जैसे वेदों का विभाग आदि करने पर भी वे उसके प्रणेता नहीं हैं, वैसे ही पूर्वसिद्ध पुराण का संक्षिप्तीकरण करते हुए सङ्कलन करने से वे पुराणों के भी प्रणेता नहीं, अपितु सङ्कलक ही हैं ।

पुराण की परम्परा

शास्त्रों के अन्तर्गत पुराण की अभिव्यक्ति सर्वप्रथम हुई, वह भी लोकस्रष्टा ब्रह्मा जी द्वारा । उसके पश्चात् वेदों का प्रादुर्भाव हुआ—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् ।
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः ॥ } म०महा० ३/३-४

सभी शास्त्रों के मध्य पुराण का सर्वप्रथम स्मरण ब्रह्माजी को हुआ । वह पुराण नित्य, शब्दमय, पुण्य का जनक तथा १०० करोड़ श्लोकों के विस्तार वाला है । उस पुराण के पश्चात् ब्रह्माजी के मुखों से वेदों का निर्गमन हुआ । पुराण की प्राप्ति लोकस्रष्टा को वेदों की भाँति परमात्मा से हुई । चतुर्मुख को परमेश्वर से वेदप्राप्ति श्रुत है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

—श्वेताश्वतरोपनिषद्, ६/१८

—जो पूर्व में अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं और उन्हें पुराण (चकार अनुक्तसमुच्चयार्थक होने से यहाँ च

पद से पुराण का ग्रहण है) तथा वेद प्रदान करते हैं, उन परमात्म देव—जो हमारी बुद्धि के प्रकाशक हैं—की मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ।

पूर्वोक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि ब्रह्माजी को वेदों से भी पूर्व पुराण का स्मरण हुआ, उसके पश्चात् उनके मुख से वेदों का निर्गमन हुआ। इसलिये यदि पुराण का उपदेश परमात्मा से उन्हें वेदों के पूर्व माना जाय तभी स्मरण भी वेदों से पूर्व हुआ यह अर्थ युक्तियुक्त होगा। अतः 'वेदांश्च' में च का पूर्व में उन्नयन करके उसमें पुराणपदार्थ की समर्पकता मानकर जो अर्थ किया गया वह उचित ही है। अथवा 'च' का पूर्वोन्नयन न भी करें तो भी चूंकि विभिन्न ग्रन्थों के स्मरण में उनके प्राप्ति (ज्ञान) का पौर्वापर्य्य कारण नहीं है, अपितु तत्तद्विषयक उद्‌बुद्धसंस्कार ही कारण हैं। अतः वेदों के वाद भी पुराण की प्राप्ति चतुरानन को मानकर उद्‌बोधक समवधान से पुराण के संस्कारों की उद्‌बुद्धता स्वीकार करके वेदों से पूर्व उसके स्मरण की उपपत्ति की जा जकती है और स्मरणोत्तर मुख से उनके आविर्भाव में भी कोई वाधा नहीं, अपितु अनुकूलता ही है।

मारकण्डेयपुराण से भी वेदों के पूर्व पुराण की अभिव्यक्ति पितामह के मुख से परिज्ञात होती है—

उत्पन्नमात्रस्य पुरा ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः। } म० पु०
पुराणमेतद् वेदाश्च मुखेभ्योऽनु विनिःसृताः॥ } ४५/२०

अस्यार्थः— उत्पन्नमात्रस्य अव्यक्तजन्मनो ब्रह्मणो मुखेभ्यः पुरा= प्राक् एतत्=शतकोटिप्रविस्तरम्, पुराणम् अनु=पश्चात्, वेदाश्च विनिःसृताः=विनिर्गताः।

अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा जी के उत्पन्न होने पर उनके मुखों से पहले पुराण और बाद में वेद निकले। मत्स्यमहापुराण और मारकण्डेयपुराण के वचनों में एकवाक्यता होने से पुराण की अभिव्यक्ति वेदापेक्षया पूर्व में हुई यह सुनिश्चित होता है। यदि कहें कि मत्स्यपुराण में पुराण के स्मरण की तथा मारकण्डेयपुराण में सर्वप्रथम मुख से विनिर्गमन की चर्चा है। अतः एकवाक्यता सम्भव नहीं, तो इसका समाधान यह है कि "यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति" श्रुति से सिद्ध है कि जो मन से स्मरण किया जाता है वह वाणी से वोला जाता है। अतः पुराण का ब्रह्मा जी को प्रथम स्मरण हुआ और उसके पश्चात् "तद् वाचा

वदति" भी हो गया अर्थात् उनके मुखों से पुराण का प्राकट्य भी वेदों से पूर्व ही हो गया—यह अर्थ उक्त श्रुति के अनुरोध से मत्स्यमहापुराण के श्लोक से निष्पन्न हुआ ।

इधर मारकण्डेयपुराण में उसके स्मरण की चर्चा नहीं है, मात्र निःसरण की चर्चा है, तो भी कोई विरोध नहीं; क्योंकि मुखों से पुराण का विनिर्गमन तभी सम्भव है जब उसका स्मरण हो, दृढ़ स्मरण न होने पर सूत्र, वार्तिक आदि सुनाने वाले भी बीच में भूल जाते हैं । अतः पुराण का मुख से विनिर्गमन, विना उसके स्मरण के सम्भव ही नहीं, फलतः विनिर्गमनान्यथानुपपत्या स्मरण यहाँ भी लब्ध हो जायेगा, इस प्रकार उभयत्र वचनों में पुराण का सर्वप्रथम स्मरण और बाद में मुख से विनिर्गमन सिद्ध होने से कोई विरोध नहीं, अपितु एकवाक्यता ही है ।

पुराण की परम्परा वेदवत् प्राचीन

वृहदारण्यकोपनिषद् में वेद की भाँति पुराण को भी परमात्मा का निःश्वास कहा गया है—'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितं यद्दग्वेदो.... यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासपुराणम् । —वृ० उ० २/४/१

जैसे परमात्मा से अनायास ही प्रकट वेद ब्रह्मा जी को प्राप्त हुए, वैसे ही पुराण भी; क्योंकि दोनों परमात्मा से निकले हैं, लोक-स्रष्टा से पूर्व परमात्मा के अतिरिक्त नामरूपात्मक किसी अन्य जीव का उल्लेख नहीं मिलता है, जिसने ब्रह्मा जी को पुराण प्रदान किया हो। जैसे—वेद पितामह को परमात्मा से प्राप्त हुए विना ज्ञात नहीं हुए वैसे ही पुराण भी । यदि परमात्मा के निःश्वास वेदों का विधाता को परिज्ञान होता तो वे उन्हें वेद का उपदेश क्यों करते ? जैसे निःश्वासभूत वेद हंसवाहन को नहीं ज्ञात थे वैसे ही शतकोटिप्रविस्तर पुराण भी । अतः परमात्मा ने उन्हें इन सब विद्याओं का उपदेश दिया । इसलिए 'वेदांश्चप्रहिणोतितस्मै' में 'चकार' पुराण ही नहीं, अपितु निःश्वासभूत सभी विद्याओं का समर्पक है ।

वेदों में आये पुराण शब्द का अर्थ आचार्य शङ्कर ने उपनिषदों का "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादि अंशविशेष किया है । यह तो तभी सङ्गत होता, जब पुराण कोई ग्रन्थविशेष नहीं प्रसिद्ध होता । शतकोटिप्रविस्तर पुराण की प्रसिद्धि थी ही, ऐसी स्थिति में पुराण शब्द के मुख्यार्थ का परित्याग करके अर्थान्तर का आश्रयण चारु नहीं है ।

वहाँ ऐसा कोई प्रकरण इत्यादि भी नियामक नहीं है कि पुराण शब्द का मुख्यार्थ छोड़ दिया जाय। इस विवेचन से सिद्ध हुआ कि पुराण का आविर्भाव वेदों के पूर्व हुआ है।

शङ्का—

पुराण और वेद श्रीब्रह्माजी को परमात्मा से प्राप्त हुए यह तो शास्त्रसिद्ध है, किन्तु पुराण का स्मरण और आविर्भाव वेदों से भी पूर्व पितामह को हुआ यह बात हृदय में नहीं बैठती; क्योंकि—

यदा तपश्चचारोग्रममराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः सषडङ्गपदक्रमाः॥
ततः पुराणमखिलं सर्वशास्त्रमयं ध्रुवम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम्॥
निर्गतं ब्रह्मणो वक्त्रात्—

स्कन्दमहापुराण के प्रभासखण्ड २/३–४ में पुराण से पूर्व वेदों के प्राकट्य की बात कही गयी है। जब देवताओं के पितामह ने उग्र तप का अनुष्ठान किया तब उस समय, षडङ्ग सहित वेद आविर्भूत हुए। ततः = उसके बाद सर्वशास्त्रमय, नित्य, शब्दराशि, पुण्यजनक १०० करोड़ श्लोकों के विस्तार से युक्त सम्पूर्ण पुराण प्रकट हुआ। श्रीमद्भागवत-महापुराण में भी पुराण के पूर्व वेदों के प्राकट्य की चर्चा है और वृहदारण्यकोपनिषद् में भी पुराण के पूर्व वेद का निःश्वासरूपेण कथन किया गया है।

समाधान—

आपका यह कथन "किन्तु पुराण का....यह बात हृदय में नहीं बैठती" ठीक ही है; क्योंकि कोई बात हृदय में तभी बैठायी जा सकती है जब उसके पूर्व में एकत्र कचड़े को हृदय से निकाल दिया जाय, और गुरुसेवापूर्वक शास्त्राध्ययन किया जाय।

आपको श्लोक का अर्थ ही नहीं लगा। प्रथम ततः का अर्थ आपने 'उनसे अर्थात् ब्रह्मा जी से' ऐसा किया, किन्तु द्वितीय ततः का अर्थ 'उसके बाद' कर डाला, बस ! यहीं हो गया घोटाला। श्रीमान् जी ततः का अर्थ 'उसके बाद' नहीं होता। यदि कहीं ऐसा अर्थ किया गया तो वहाँ 'उत्तरम्' या 'अनन्तरम्' आदि शब्दों का अध्याहार भी

समझना चाहिये । ततः शब्द तो 'तस्मात्' इस विग्रह में तसिल्प्रत्यय के योग से बना है ।

पूर्वोक्त मारकण्डेयमहापुराण के वचन से ब्रह्माजी के मुख से पुराण और वेदों का आविर्भाव सुस्पष्ट हो चुका है । पुराणों के सङ्कलयिता भगवान् बादरायण—जो कि साक्षात् नारायण के अवतार, अमोघदृक् और सत्यनिष्ठ हैं—परस्पर विरुद्ध वचन नहीं लिख सकते । अतः ब्रह्मा जी के मुख से पुराण और वेद निकले यही अर्थ यहाँ भी अभिप्रेत है, और उसके आविर्भाव के पौर्वापर्य्य का निर्णय भी मत्स्यमहापुराण तथा मारकण्डेयमहापुराण द्वारा हो चुका है। इसलिये स्कन्दमहापुराण के उक्त श्लोक में ततः शब्द 'ब्रह्मणो वक्त्रात्' का विशेषण ही मान्य होगा । ब्रह्मा जी का मुख चूंकि द्रव्य है, इसलिये विशेषणीभूत 'ततः' शब्द भी यहाँ मुखरूपी द्रव्य का समर्पक होगा । 'तस्मात्' इस अर्थ में ततः शब्द निष्पन्न होता है और तस्मात् में पञ्चमी विभक्ति "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" (पा० सू० २/३/२५) सूत्र में 'विभाषा' इस योगविभाग का आश्रयण करने से हेत्वर्थ में हुई है । "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते..." "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि स्थलों में भी यच्छब्दार्थ ब्रह्म होने से इसी रीति से पञ्चमी होकर 'यस्मादिति यतः' विग्रह करके 'यतः' शब्द निष्पन्न हुआ है । श्रीभट्टोजिदीक्षित जी कहते हैं—"विभाषेति योगविभागादगुणे स्त्रियां च क्वचित्, धूमादग्निमान्, नास्ति घटोऽनुपलब्धेः"—सिद्धान्तकौमुदी कारकप्रकरण २/३/२५ सूत्र। अतः ब्रह्माजी के मुख (अगुण) के समर्पक तच्छब्द से हेत्वर्थ में पञ्चमी उचित है। पुनः "तस्मादिति ततः" विग्रह करके "पञ्चम्यास्तसिल्" (पा०सू० ५/३/७) सूत्र से तसिल्प्रत्यय से ततः शब्द निष्पन्न होगा । अब श्लोकार्थ हुआ—

पुरा = पूर्वम्, अमराणां = देवानां, पितामहः = लोकस्रष्टा विधाता, उग्रं = अतिकष्टसाध्यं, तपश्चचार = तपश्चर्यां कृतवान्, (तदा तेन तपसा आराधितः परमात्मा प्रीतः सन् तस्मै पुराणं वेदांश्च प्रदत्तवान् "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इति श्वेताश्वतरोपनिषत् प्रमाणात्, अतः) ततः = तस्माद् ब्रह्मणः ब्रह्मणो वक्त्रेभ्यः इत्यर्थाल्लब्धम् । अथवा ब्रह्मणोवक्त्रादिति अधस्तादपकृष्य तस्माद् ब्रह्मणो वक्त्रादित्यर्थः कार्यः पुराणान्तरवचनानुरोधात् सषडङ्गपदक्रमाः = षडङ्गपदक्रमसहिताः वेदाः आविर्भूताः = प्रकटिताः। ततःब्रह्मणोवक्त्राद् = तस्माद् ब्रह्मणो मुखाद् सम्पूर्ण सर्वशास्त्रमयं = सर्व-

शास्त्ररहस्यगर्भितं, पुराणे व्याकरणज्योतिषादेर्विषयस्य इदानीमप्युपलम्भादियमुक्तिः । ध्रुवं = निश्चितम्, नित्यं = परमात्मनो निःश्वासत्वात् सर्वदा लब्धस्वरूपं, शब्दमयं = शब्दात्मकत्वाच्छब्दमयं, पुण्यं = पुण्यजनकं, शतकोटिप्रविस्तरम् = शतकोटिश्लोकेषु विस्तरम्, अखिलं = सम्पूर्णं पुराणं- निर्गतम् = आविर्भूतम् ।'

पूर्व में देवताओं के पितामह ब्रह्मा जी ने उग्र तपश्चर्या की। उस तपश्चर्या से आराधित परमात्मा प्रसन्न होकर उन्हें पुराण और वेदों को प्रदान किये। इसमें "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" यह श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रमाण है अतः) उन ब्रह्मा जी द्वारा छहो अङ्गों और पद तथा क्रम के सहित वेद प्रकट हुए। ब्रह्माजी के उन्हीं मुखों से सर्वशास्त्रमय, नित्य, शब्दस्वरूप, पुण्योत्पादक सौ करोड़ श्लोकों में विस्तृत सम्पूर्ण पुराण भी प्रकट हुआ। यद्यपि उक्त श्लोक में प्रविष्ट 'ततः' शब्द का प्रयोग हेतु और आनन्तर्य अर्थों में देखा जाता है। विश्व कोष आदि से आनन्तर्य आदि अर्थों में उसकी शक्ति भी गृहीत है। अतः श्लोक में ततः शब्द उन अर्थों में किसका समर्पक है—आनन्तर्य (उसके बाद) या हेतु (उससे) ? यह सन्देह अवश्यम्भावी है। तथापि मत्स्यमहापुराण और मारकण्डेयपुराण के वचनों से पुराण का आविर्भाव वेदों के पूर्व सिद्ध होने से वहाँ ततः शब्द हेत्वर्थ का ही समर्पक सिद्ध होगा। सर्वज्ञ और सत्यनिष्ठ वेदव्यास विरुद्ध बातें तो लिखेंगे नहीं, अतः उन वचनों के बल से प्रकृत स्थल में उसकी हेतुसमर्पकता सिद्ध होने से उक्त सन्देह निवृत्त हो जायेगा। स्कन्दमहापुराण के उक्त श्लोक से केवल वेद और पुराण के प्राकट्य का कथन किया गया है। प्राकट्य के पौर्वापर्य्य का नहीं। श्रीमद्भागवत में भी प्राकट्य की ही चर्चा है, पौर्वापर्य्य की नहीं। देखें— भागवतमहापुराण—३/१२, ३७-३९

ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यान् वेदान् पूर्वादिभिर्मुखैः ।
शास्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात् ॥

इतिहासपुराणानि पञ्चमं वेदमीश्वरः ।
सर्वेभ्य एव वक्त्रेभ्यः ससृजे सर्वदर्शनः ॥

यहाँ ऋग्यजुः साम और अथर्ववेद का पूर्वादि मुखों के क्रम से प्राकट्य बतलाया गया और इतिहास पुराण का भी प्राकट्य सभी मुखों से दिखाया गया। इन श्लोकों में ऐसा कोई शब्द नहीं है, जिससे

पौर्वापर्य्य का बोध हो कि वेदों के पश्चात् पुराण प्रकट हुए। ऐसा भी नहीं कह सकते कि जिसका प्राकट्य पूर्व में बतलाया गया, वह पूर्व में प्रकट हुआ और जिसका प्राकट्य बाद में लिखा गया, वह बाद में प्रकट हुआ; क्योंकि बृहदारण्यकोपनिषद् में वेदशिरोभाग उपनिषद् के पूर्व इतिहास पुराण का निःश्वासरूपेण कथन किया गया है। वहाँ भी तुल्यन्यायात् आपको पुराण का प्राकट्य उपनिषदों के पूर्व मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में (उपनिषदात्मक) वेद के प्राकट्य—जिसे आप पुराणों से पूर्व मानना चाहते हैं—से हाथ धो बैठेंगे। अतः जिसका प्राकट्य पूर्व में उल्लिखित है उसे पूर्व में और जिसका बाद में उल्लिखित है उसका प्राकट्य बाद में न माना जाय। हाँ, मत्स्यमहापुराण की भाँति, जिसका जैसा प्राकट्य शब्दतः उल्लिखित है उसका वैसा ही मान्य होगा। इस प्रकार मत्स्य और मारकण्डेय महापुराण के प्राकट्यपरक वचनों से स्कन्द और भागवत महापुराण के वचनों का किञ्चित् भी विरोध नहीं है।

यहाँ पर शङ्का हो सकती है कि जब स्कन्द और भागवत महापुराण के वचनों का तात्पर्य मत्स्य और मारकण्डेय महापुराण के वचनों के अनुरोध से प्राकट्य के पौर्वापर्य्य को बतलाने में नहीं है, केवल प्राकट्य बतलाने में है तब पुराण के प्राकट्य को लिखने के पश्चात् वेद का प्राकट्य क्यों नहीं लिखा गया ? ऐसा लिख देने पर 'प्राकट्य—पौर्वापर्य्य' के विषय में कोई सन्देह ही नहीं होता और वेदों की अपेक्षा पुराण का प्राकट्य भी पूर्व में प्राप्त हो जाता।

इसका समाधान यह है पुराण की अपेक्षा वेद अभ्यर्हित हैं। इसी अभ्यर्हितत्व के कारण वहाँ वेद के प्राकट्य की चर्चा पूर्व में कर दी गयी है। वेदों की आनुपूर्वी प्रत्येक कल्प में समान रहती है और पुराणों की बदलती रहती है। उनके सङ्कलकव्यासों की लेखनी से लोगों को सुख से ग्रहण कराने के लिए अध्याय तक संक्षिप्त कर दिये जाते हैं। अतः पुरुष का सम्बन्ध हो जाने के कारण पुराणों का प्रामाण्य वेद के अनुकूल होने पर ही मान्य है। मानवादि स्मृतियों की भी यही स्थिति है। अथवा ऋषि, मुनि नियोगपर्यनुयोगानर्ह होते हैं—

"मुनेर्नियोगपर्यनुयोगानर्हत्वात्"। उनकी इच्छा केवल वेद और पुराण का प्राकट्य बतलाने की हुई, अतः वैसा लिख दिये। मत्स्य-

महापुराण प्रभृति से पुराण का प्राकट्य वेद से पूर्व सिद्ध है, अतः मनोषियों द्वारा अविरोधेन सभी वचनों का सामञ्जस्य उपपन्न कर लिया जाता है ।

इस विवेचन से सुनिश्चित हुआ कि पुराण— जो परमात्मा के निःश्वास हैं–की परम्परा परमात्मा से ही प्रारम्भ हुई । उन्होंने सर्वप्रथम कमलासन ब्रह्मा जी को पुराण का उपदेश किया और ब्रह्मा जी ने अपने मानसपुत्रों को इसका ग्रहण कराया—

'पुराणं जगृहुश्चाद्या मुनयस्तस्य मानसाः'–मारकण्डेयमहापुराण, अ०४५

इन मानसपुत्रों को उसी शतकोटिप्रविस्तर पुराण की प्राप्ति हुई थी । वह आज भी उसी अविकलरूप से देवलोक में प्रतिष्ठित है—

तदष्टादशधाकृत्वाभूर्लोकेऽस्मिन्प्रभाष्यते ।
अद्यापि देवलोके तच्छतकोटिप्रविस्तरम् । } स्कन्द महापुराण
तदर्थोऽत्र चतुर्लक्षं संक्षेपेण निवेशितम् ।। } आ०रे०१/२८-२९

इसी पुराण की दुर्ग्राह्यता देखकर द्वापर में तत्तद् वेदव्यासों द्वारा ४ लाख श्लोक में संक्षिप्त करके इसे १८ भागों में पृथक् किया जाता है, जिसकी उपलब्धि आज अष्टादशपुराण के रूप में हो रही है।

अट्ठाइस व्यास

युगधर्म से अव्यवस्थित हुए वेद और पुराणों को अल्पतेजा पुरुषों को सुखपूर्वक ग्रहण कराने हेतु प्रत्येक द्वापर में एक व्यक्तिविशेष वेद और पुराण का सङ्कलन करता है, उसी को व्यास कहा जाता है । जैसे प्रधानमन्त्री एक पद है, वैसे ही व्यास भी एक पद है, किसी व्यक्तिविशेष का नाम नहीं । इस श्वेतवाराहकल्प के वैवस्वत मन्वन्तर में २८ द्वापर बीत चुके हैं, अतः तदनुसार व्यास भी २८ हो गये हैं, जिनका क्रमशः नामोल्लेख किया जाता है—–

स्वयम्भू, प्रजापति, शुक्राचार्य, बृहस्पति, सविता, मृत्यु, इन्द्र, वशिष्ठ, सारस्वत, त्रिधामा, त्रिशिख, भरद्वाज, अन्तरिक्ष, वर्णी, त्रय्यारुण, धनञ्जय, ऋतुञ्जय, जय, गौतम, हर्यात्मा, वाजश्रवा, सोमशुष्कायण, ऋच्छ (वाल्मीकि), शक्ति, पराशर, जातूकर्ण, भगवान् कृष्णद्वैपायन । इसके पश्चात् अग्रिम द्वापर में द्रोणपुत्र अश्वत्थामा व्यास होंगे । यह विभाग 'विष्णुमहापुराण' ३/३/११ से २१ वें श्लोक के आधार पर है । 'देवीभागवत' में इन व्यासों के बीच में वर्णी के स्थान पर धर्म,

ऋतुञ्जय के स्थान पर मेधातिथि तथा जय के स्थान पर व्रती का उल्लेख है। इसका कारण इन व्यक्तियों के नामों की अनेकता ही है।

इन परिगणित व्यासों में २८ वें व्यास भगवान् वादरायण साक्षात् नारायण के अवतार हैं। इस कलि के पूर्व द्वापर में इन्होंने ही एक वेद के चार विभाग तथा सौ करोड़ श्लोक वाले पुराण का चार लाख श्लोकों में संक्षिप्तीकरण करते हुए उसे १८ भागों में विभक्त किया। इन्होंने ही महाभारत जैसे विशाल इतिहास का प्रणयन करके भारतीय साहित्य को अनुपम ज्ञानकोष दिया तथा श्रुत्यर्थ–निर्धारण-हेतु ब्रह्मसूत्रों की रचना की। ये अमोघदृक्, सत्यनिष्ठ और ऋतम्भरा प्रज्ञा के निलय हैं। महर्षि वाल्मीकि को रामचरित का उपदेश देने वाले स्वयं देवर्षि नारद इनके इन गुणों का बखान करते हैं। अतः ये महर्षि वाल्मीकि से किसी अंश में कम नहीं, अपितु अधिक ही हैं। इन्होंने पूर्वसिद्ध पुराण, जो भगवान् का निःश्वास है तथा देवलोक में अभी भी विद्यमान है, उसी शतकोटिप्रविस्तर का संक्षिप्तीकरण करते हुए सङ्कलन किया है, निर्माण नहीं। अतः पुराणों को 'वाल्मीकीय रामायण' के पश्चात् की रचना नहीं सिद्ध किया जा सकता। वे रामायण की रचना के पूर्व में भी थे। तभी तो सुमन्त ने 'पुराणे च मया श्रुतम्' श्रीराम के जन्म के पूर्व राजा दशरथ से कहा था। उसी सौ करोड़ श्लोक वाले का संक्षिप्तरूप भगवान् वादरायण द्वारा लोककल्याण हेतु निष्पन्न किया गया। यह चार लाख श्लोकों में संक्षिप्त पुराण 'वाल्मीकीय रामायण' के सुदूर पूर्व में भी अपने सौ करोड़ श्लोक वाले विस्तृत रूप में विद्यमान था। भगवान् वादरायण और महर्षि वाल्मीकि का तुलनात्मक अध्ययन किया जा चुका है। दोनों परम आप्त हैं। इसलिये उनके ग्रन्थों का प्रामाण्य सम है और वेदावतार 'वाल्मीकीयरामायण' का उपबृंहण भगवद् वादरायणप्रणीत पुराण से ही करना श्रेयस्कर है।

निष्कर्ष--

इतिहास और पुराण तथा वेद एक ही परमात्मा से ब्रह्मा जी को उपदिष्ट हुए हैं। अतः जो प्रामाण्य वेदों का है वही इतिहास और पुराणों का है। जब श्रुतिरूपी ज्योत्स्ना का प्रकाश पुराणरूपी पूर्णचन्द्र के विना नहीं हो सकता "पुराणपूर्णचन्द्रेण श्रुतिज्योत्स्ना प्रकाशिता"— म० भा० आदिपर्व १/८६। तब तदवतारभूत 'वाल्मीकीयरामायण' का

प्रकाश तत्तत्स्थलों पर पुराणरूपी पूर्ण चन्द्र के विना कैसे होगा ? हंसवाहन ब्रह्माजी द्वारा रचित शतकोटिप्रविस्तर रामचरित को ही २४सहस्र श्लोकों में महर्षि वाल्मीकि ने पिरोया। इधर शतकोटिप्रविस्तर पुराण-जिसका वेदों के पूर्व ब्रह्माजी के मुख से प्राकट्य हुआ है–को ४ लाख श्लोकों में भगवान् वादरायण ने पिरोया। शतकोटिप्रविस्तर, इतिहास (रामचरित) और पुराण इन दोनों का आविर्भाव भगवान् ब्रह्मा के द्वारा हुआ, और उन्हीं की प्रेरणा से देवर्षि नारद ने उस 'रामचरित' को संक्षेप में महर्षि वाल्मीकि को सुनाया, जिसे महर्षि ने उपनिवद्ध किया। भगवान् वादरायण ने भी ब्रह्मा के मुख से विनिर्गत पुराण का सङ्कलन किया। अतः दोनों इतिहास और पुराणों में अत्यन्त साम्य होने के कारण समप्रामाण्य है।

शङ्का––

जब इतिहास और पुराणों में समप्रामाण्य है, किसी में न्यून या अधिक नहीं, तव 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं–' में अल्पाच्क पुराण शब्द का पूर्व प्रयोग क्यों नहीं हुआ ? इतिहास शब्द का— अजादित्वविशिष्ट अदन्त होने से भी "अजाद्यदन्तम्"—पा०सू० २/२/३३ द्वारा तथा पुराण शब्द का 'अल्पाच्तरम्' पा० सू० २/२/३४ सूत्र से–पूर्व प्रयोग प्राप्त है। चूँकि दोनों सूत्र 'उष्ट्रखरौ' एवं 'शिवकेशवौ' में लब्धावकाश होकर यहाँ प्राप्त हैं। अतः इन दोनों में यहाँ किसकी प्रवृत्ति हो? ऐसी शङ्का होने पर वार्तिक आया "उभाभ्यामल्पाच्तरम्।" इससे 'अल्पाच्तरम्' सूत्र की प्रवृत्ति प्राप्त होने पर 'अभ्यर्हितं च' इस वार्तिक से अभ्यर्हित इतिहास बोधक इतिहास पद पूर्व प्रयुक्त हुआ। अतः पुराणापेक्षया इतिहास में अभ्यर्हितत्व है और वह पुराणापेक्षया प्रचुर प्रामाण्य के कारण या प्रचुरप्रामाण्यरूप ही है।

समाधान––

यह सत्य है कि पुराणापेक्षया इतिहास में अभ्यर्हितत्व है, तभी तो पुराण शब्द की अपेक्षा उसका पूर्वप्रयोग हुआ है। किन्तु वह अभ्यर्हितत्व पुराणापेक्षया प्रचुर प्रामाण्य के कारण या प्रचुरप्रामाण्यरूप है— यह कथन पूर्वोक्त प्रमाणों से बाधित है। भगवान् वादरायण ही पुराण और महाभारत जैसे इतिहास के प्रणेता हैं। अतः उन आप्त, सर्वज्ञ तथा सत्यनिष्ठ के एक ग्रन्थ से दूसरे ग्रन्थ में न्यून प्रामाण्य की शङ्का नहीं की जा सकती। यदि इतिहास से 'वाल्मीकी-

यरामायण' को ही लें तो भी पुराण और रामायण के प्रामाण्य में न्यूनाधिक्य की शङ्का व्यर्थ है; क्योंकि भगवान् वादरायण और भगवान् वाल्मीकि ये दोनों ही ऋतम्भरा प्रज्ञा के निलय हैं। अतः इनके ग्रन्थ पूर्णरूपेण प्रामाण्यसंवलित हैं। फलतः इतिहास में पुराणापेक्षया अभ्यर्हितत्व प्रचुरप्रामाण्य के कारण या प्रचुरप्रामाण्यरूप नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में वह कौन सा कारण है, जिससे इतिहास को पुराणापेक्षया अभ्यर्हित मानकर पूर्वप्रयोग किया गया, यह विचारणीय है। इसके लिए हम विवेचकों के समक्ष महाभाष्य के कुछ अंश प्रस्तुत करते हैं—"अभ्यर्हितम्"–भाष्यम्-अभ्यर्हितं च पूर्वं निपततीति वक्तव्यम्। मातापितरौ। श्रद्धामेधे"। (अभ्यर्हित पूर्वप्रयुक्त होता है ऐसा कहना चाहिये) यहाँ भाष्य में मातापितरौ और श्रद्धामेधे ये दो प्रयोग उपस्थित किये गये। विग्रह चाहे 'माता च पिता च' हो या 'पिता च माता च' हो, दोनों स्थितियों में समास होने पर अभ्यर्हित 'मातृ' शब्द का पूर्व प्रयोग होगा; क्योंकि "गर्भधारणपोषाभ्यांपितुर्मातागरीयसी" वचन से माता में अभ्यर्हितत्व है। 'मेधा च श्रद्धा' च इस विग्रह में समास होने पर अभ्यर्हित श्रद्धा शब्द का पूर्वप्रयोग हुआ। यहाँ श्रद्धा में मेधा की अपेक्षा किस कारण से अभ्यर्हितत्व है ? इस जिज्ञासा की शान्ति के लिए महापण्डित कैयट प्रदीप में लिखते हैं— "श्रद्धामेधेति। सत्यां श्रद्धायामर्थक्रियाकारिणी मेधेति श्रद्धायाः अभ्यर्हितत्वम्।" श्रद्धा होने पर ही अर्थक्रियाकारिणी मेधा हो सकती है अर्थात् यदि श्रद्धा न हो तो अर्थक्रिया को सम्पादित करने वाली बुद्धि नहीं हो सकती, इसीलिए मेधा की अपेक्षा श्रद्धा में अभ्यर्हितत्व है। ठीक इसी विधा का आश्रयण करके इतिहास में पुराण की अपेक्षा अभ्यर्हितत्व मानकर उसका पूर्वप्रयोग हुआ है, कुछ प्रामाण्य की अधिकता के कारण नहीं। 'इतिहासः पुरावृत्तम्' (अमरकोष, १/६/४) कोष के अनुसार पूर्वकाल में सम्पन्न चरितों के प्रतिपादक ग्रन्थ को इतिहास कहते हैं। "धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्। पुरावृत्तकथायुक्तमितिहासं प्रचक्षते"।। इत्युक्तलक्षणपुरावृत्तप्रकाशकग्रन्थे भारतादौ—वाचस्पत्यं, द्वितीयभाग, पृ० ९२४। धर्म अर्थ काम और मोक्ष के उपदेश से समन्वित और पूर्व में घटित घटनाओं की कथा से जो युक्त हो, उसे इतिहास कहते हैं। 'महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमिति श्रुतम्' (वा० रा० बा० का० ५/३) इस 'वाल्मीकीयरामायण' के प्रमाण से बड़े आख्यान को इतिहास कहा जाता है; क्योंकि यहाँ रामायण–जो

कि इतिहास है—को महद् आख्यान कहा गया है। इधर पुराणों का स्वरूप बतलाया गया है कि जिसमें सृष्टि, प्रतिसृष्टि अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय तथा पुनः सृष्टि, वंशावली, मन्वन्तर अर्थात् किस मनु का काल कब था और उस समय कौन सी घटनायें घटीं तथा वंशानुचरित अर्थात् राजवंशों का वर्णन ये पाँच विषय हों, उसे पुराण कहते हैं—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम्॥ } म० महा० ५३/६४

ये पाँच विषय महापुराण में भी होते हैं। इनमें सृष्टि, वंश, मन्वन्तर (बीते हुए मनु और तत्सम्बन्धी घटनायें) और वंशानुचरित अर्थात् पूर्वकाल में उत्पन्न राजवंशों का वर्णन ये सब इतिहास ही तो हैं। 'पञ्चाङ्गानि पुराणेषु आख्यानकमिति स्मृतम्'— मत्स्यमहापु० ५३/६४। इस मत्स्यपुराण के वचन से भी इन सबको आख्यान कहा जाता है और आख्यान इतिहास का ही नाम है–'महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमितिश्रुतम्।' अतः ये इतिहासरूपी अंश जिसमें न हों उसे पुराण कहा ही नहीं जा सकता। जैसे श्रद्धा होने पर ही अर्थक्रियाकारिणी बुद्धि हो सकती है, वैसे ही सृष्टि, प्रतिसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित इन सबके प्रतिपादक भाग इतिहास होने पर ही पुराण हो सकता है। इनके बिना पुराण अपना स्वरूप ही नहीं प्राप्त कर सकता। अतः इतिहास के बिना पुराण की स्वरूपोपलब्धि न होने के कारण पुरावृत्तप्रकाशक इतिहास में पुराणापेक्षया अभ्यर्हितत्व है, कुछ प्रामाण्य के अधिक होने के कारण नहीं। इसीलिए "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" में इतिहास शब्द का पुराण की अपेक्षा पूर्व प्रयोग है।

स्मृत्यपेक्षया पुराणप्रामाण्य का गरीयस्त्व

अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों को 'अद्वैतमकरन्द' में मात्र २८ श्लोकों में गुम्फित करने वाले, भगवन्नामकौमुदी के प्रणेता, न्यायमीमांसादि शास्त्रों के पारदर्शी विद्वान्, श्रीलक्ष्मीधर कहते हैं कि पुराण स्मृतियों की अपेक्षा अधिक प्रमाण हैं; क्योंकि वेदों से अर्थ अवगत होने पर पदान्तरों से उपनिबद्ध महर्षियों के वाक्य ही स्मृतियाँ हैं, किन्तु पुराण तो साक्षात् वेद हैं–"विषमं हि प्रामाण्यमनयोः। वेदादवगतेऽर्थे पदान्तरैरुपनिबद्धानि महर्षिवाक्यानि खलुस्मृतयः। पुराणानि पुनर्वेदा एव। श्रीमहाभारते मानवीये

च 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इति वचनात्, पूरणात् पुराणमिति व्युत्पत्तेश्च। न चात्रावेदेन वेदस्य बृंहणं सम्भवति, नह्यपरिपूर्णस्य कनकवलयस्य त्रपुणा पूरणं सम्भवति" भ०कौ०, ३। श्रीलक्ष्मीधर कहते हैं कि महाभारत और मनुस्मृति में इतिहास और पुराण से वेदों का सम्यक् बृंहण (पूरण) करना कहा गया है। और जो पूरण करे उसे पुराण कहते हैं–ऐसी व्युत्पत्ति भी है। अवेद से वेद का पूरण तो सम्भव नहीं है; क्योंकि अपरिपूर्ण कनकवलय (स्वर्णकङ्कण) का पूरण राँगा से नहीं, अपितु स्वर्ण से ही होता है। अतः वेद को पूरण करने वाले पुराण वेद ही हैं।

शङ्का—

यदि इतिहास पुराण वेद ही हैं अर्थात् वेद से अभिन्न हैं तव तो "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" वचन में वेद शब्द से ही उनका ग्रहण हो जायेगा। फिर इतिहासपुराण शब्द से अन्य (वेदाभिन्न इतिहास पुराण से अन्य) ही इतिहास पुराण को लेना पड़ेगा। किन्तु ऐसा नहीं हो सकता; क्योंकि ये दोनों वेद से भिन्न होने के कारण उसका पूरण नहीं कर सकते। कारण यह कि अपरिपूर्ण कनकवलय का पूरण कनक से भिन्न रांगा इत्यादि से नहीं होता। यदि वेद शब्द से इतिहास पुराण का ग्रहण नहीं हो तो इतिहास पुराण का वेद से अभेद भी नहीं माना जा सकता—"ननु यदि वेद शब्दः पुराणमितिहासं चोपादत्ते तर्हि पुराणमन्यदेवान्वेषणीयम्, यदि तु न, न तर्हीतिहासपुराणयोरभेदो वेदेनेति"।

—भगवन्नामकौमुदी, परिच्छेद ३।

समाधान—

पुराण वेद से अभिन्न और भिन्न भी हैं। जैसे वेद अपौरुषेय हैं, वैसे ही पुराण भी। अतः अपौरुषेयत्वात् दोनों अभिन्न हैं। वेदों से पुराण भिन्न इसलिए हैं कि वेद में नियत स्वरोच्चारण है, किन्तु पुराण में वह अनियत है। अतः स्वरभेद सुनिश्चित है। वेद की आनुपूर्वी प्रतिकल्प एक ही रहती है पर पुराण की आनुपूर्वी में यह नियम नहीं है। अतः आनुपूर्वी भेद भी है और क्रमभेद तो सुस्पष्ट ही है। इसी भेदाभेद को लेकर पुराण, और वेद में कहीं भेद निर्देश तो कहीं अभेद निर्देश मिलता है। पुराण के लिये साक्षाद् वेद शब्द का प्रयोग मिलता है—"पुराणं पञ्चमो वेदः....." "इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते"।

इत्यादि । यहाँ इतिहास पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है । पञ्चम शब्द "पञ्चानां पूरणः" इस विग्रह में पूरण अर्थ में 'तस्य पूरणे डट्' से डट् प्रत्यय करने के पश्चात् 'नान्तादसंख्यादेर्मट्' सूत्र से मडागम होकर निष्पन्न हुआ है । जिसका अर्थ है—पाँच का पूरक, 'पूरण समानजातीय से होता है' यह कनकवलय दृष्टान्त से दिखाया जा चुका है । अतः इतिहास पुराण में वेदसमानजातीयता अवश्य ही है । इन्हीं तथ्यों को विद्वद्वर लक्ष्मीधर लिखते हैं "उच्यते— विशिष्टैकार्थप्रतिपादकपदकदम्बस्यापौरुषेयत्वादभेदेऽपि स्वरक्रमभेदाद्भेदनिर्देशोऽप्युपपद्यते । अपि च साक्षादेव वेदशब्दः प्रयुक्तः पुराणेषु—"पुराणं पचमो वेदः...."। "इतिहासपुराणं च पञ्चमो वेद उच्यते"। इत्यादौ, अन्यथा पञ्चमत्वं च नावकल्पेत, समानजातीयनिवेशित्वात् संख्यायाः"। पुनः विद्वद्वर लिखते हैं—ब्रह्मयज्ञाध्ययने विनियोगो दृश्यतेऽमीषां "यद् ब्राह्मणानीतिहासान् पुराणानीति" सोऽपि नाऽवेदत्वे सम्भवति । अत एवाह भगवान्—

> कालेनाग्रहणं मत्वा पुराणस्य द्विजोत्तमाः ।
> व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे ।। इति ।

पूर्वसिद्धमेव पुराणं सुखग्रहणाय सङ्कलयामीति हि तस्यार्थः। मात्स्यं कौर्ममित्यादिसमाख्यास्तु प्रवचननिवन्धनाः काठकादिवत्, आनुपूर्वीनिर्माणनिबन्धना वा । अत एव श्रुतिपुराणविरोधे पुराणदौर्बल्यमानुपूर्वीभेदात्, कदाचिदर्थोऽप्यन्यथा स्यादिति, स्मृतिपुराणविरोधे पुराणान्येव बलीयांसि ।"

ब्रह्मयज्ञाध्ययन में इन सबका विनियोग भी—"यद्ब्राह्मणानीतिहसान् पुराणानि" इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा दृष्टिगोचर होता है । वह भी इनके अवेद होने पर सम्भव नहीं है । इसलिये इतिहास और पुराण के वेद होने के कारण ही भगवान् ने कहा है— "कालेनेत्यादि ।" कालेनेत्यादि (इसका अर्थ पूर्व में लिखा जा चुका है ।) पूर्व में विद्यमान शतकोटिप्रविस्तर पुराण को सुख से ज्ञान कराने के लिए मैं उसका सङ्कलन करता हूँ। यहाँ यह शङ्का उठायी गयी कि पुराण यदि पञ्चम वेद हैं तो मात्स्य, कौर्म इत्यादि उनकी समाख्या नहीं होनी चाहिये; क्योंकि समाख्या रचितत्वनिबन्धना होती है । इसका समाधान दिया गया कि मात्स्य कौर्म इत्यादि समाख्यायें वैसे ही प्रवचननिवन्धना हैं, जैसे वेद की पैप्लाद, कालाप, काठक, कौथुम इत्यादि समाख्यायें प्रवचननिबन्धना हैं । यह समाधान 'वेदापौरुषेयत्वाधिकरणन्याय' से दिया गया है। उक्त अधिकरण में यह पूर्वपक्ष किया गया कि वेद पैप्लाद, कालाप, काठक,

कौथुम इत्यादि रूप से समाख्यायमान होते हैं। इन समाख्याओं से ज्ञात होता है कि वे पिप्लाद इत्यादि पुरुषों से रचित हैं; क्योंकि तद्धित प्रत्यय अण् "तेनप्रोक्तम्" इस अर्थ में विद्यमान है, अतः वे पौरुषेय हैं। जैसे— "पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं व्याकरणम्। इस प्रकार पूर्वपक्ष करके "आख्या प्रवचनात्" (जैमिनिसूत्र १/१/३०) इत्यादि सूत्रों से सिद्धान्त किया गया कि प्रवचनातिशय से पैप्लाद, काठक इत्यादि समाख्यायें हैं। प्रवचनातिशय पदविभागपाठक्रमतदर्थख्यापनादि रूप ही है। ये सब जिन पिप्लादादि ऋषियों द्वारा जिन भागों में किये गये, उन्हीं की पैप्लाद आदि समाख्यायें हैं। अतः समाख्या के आधार पर वेदों का रचितत्व नहीं सिद्ध हो सकता। यही स्थिति पुराणों की भी हैं।

इस समाधान में यह अस्वारस्य है कि शतकोटिप्रविस्तर पुराण को ४ लाख श्लोकों में संक्षिप्त करके सङ्कलित करने वाले भगवान् कृष्णद्वैपायन प्रसिद्ध हैं— 'व्यासरूपमहं कृत्वा संहरामि युगे युगे'। इसी तात्पर्य से उन्हें पुराणों का कर्ता कहा गया है। अतः यह दृढकर्तृस्मरण अनुपपन्न हो जायेगा। "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" कथन उनमें वेदार्थनिर्णायकत्व के अभिप्राय से है। "पुराणं पञ्चमो वेदः" इत्यादि कथन पुराण में वेदवत् प्रामाण्य के निर्णायक हैं। अतः इनसे पुराण का वेद से अभेद नहीं सिद्ध हो सकता। पौरुषेय भी पुराण धारया अनादि सिद्ध होने से ब्रह्मयज्ञविधि के विषय हो सकते हैं। ऐसी स्थिति में विद्वद्वर लक्ष्मीधर ने समाख्याओं की उपपत्ति हेतु कल्पान्तर का आश्रयण किया "आनुपूर्वी निर्माणनिवन्धना वा।" अर्थात् मात्स्य कौर्म इत्यादि समाख्यायें आनुपूर्वीनिर्माण के कारण पड़ी हैं। अत एव श्रुति और पुराण में विरोध की सम्भावना होने पर पुराण उनसे दुर्बल माने जायेंगे। आनुपूर्वीभेद इनमें सिद्ध होने से कदाचित् अर्थ भी अन्यथा किया जा सकता है। भगवान् कृष्णद्वैपायन ने उनका यथावत् प्रत्यक्ष करके सङ्कलन मात्र किया है। निष्कर्ष यह कि "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत" "पुराणं पञ्चमो वेद" इत्यादि वचनों से पुराण में वेदवत् प्रामाण्य का निर्धारण होने से पुराण स्मृतियों की अपेक्षा बलवान् हैं—

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदः प्रतिष्ठितो देवि पुराणे नात्र संशयः॥
पुराणमन्यथाकृत्वा तिर्यग्योनिमवाप्नुयात्।

सुदान्तोऽपि सुशान्तोऽपि न गतिं प्राप्नुयात् क्वचित् ।
--नारदीयपुराण उत्तरखण्ड २४/१७/२४

श्रुतिस्मृती हि नेत्रे द्वे पुराणं हृदयं स्मृतम् ।
श्रुतिस्मृतिभ्यां हीनोऽन्धः काणः स्यादेकया विना ।
पुराणहीनाद्धृच्छून्यात् काणान्धावपि तौ वरौ ।।
—स्कन्दमहापुराण, काशीखण्ड, २/९६-९७

हे सुमुखि ! वेदार्थ की अपेक्षा मैं पुराणार्थ को अधिक मानता हूँ; क्योंकि हे देवि ! वेद पुराण में ही प्रतिष्ठित हैं ।। इसलिये पुराण को अन्यथा करने पर तिर्यग् योनि की प्राप्ति होती है, चाहे वह कितना ही सुदान्त और सुशान्त क्यों न हो । उसकी कहीं भी सद्गति नहीं होती है ।। श्रुति और स्मृति ये दो नेत्र हैं और पुराण हृदय बतलाया गया है। श्रुति और स्मृति से विहीन अन्धा है और किसी एक के बिना काना है । किन्तु पुराण से हीन होने पर हृदयशून्य होगा, उससे अच्छे तो काने और अन्धे ही हैं ।। तात्पर्य यह कि अन्धे और काने को श्रोत्रेन्द्रिय के न रहने पर भी मन(स्वान्तं हृन्मानसं मनः-अमरकोष १/४/३१, के अनुसार हृदय का एक नाम मन भी है) इन्द्रिय के रहने पर घ्राणज, त्वाच और राशन प्रत्यक्ष तथा सुखादि का मानस प्रत्यक्ष होने में कोई बाधा नहीं है । किन्तु मन ही न हो, जो कि ज्ञानत्वावच्छिन्न=ज्ञानसामान्य के प्रति कारण है, तो कोई ज्ञान ही नहीं होगा, वह व्यक्ति जडवत् ही रहेगा । अतः उसकी अपेक्षा अन्धे और काने ही श्रेष्ठ हैं ।

पण्डितप्रवर द्विवेदी जी अहल्या की व्यभिचारजन्यपापनिवृत्तिरूप पावनता और शापनिवृत्ति में भ्रान्त हैं, देखें—

भ्रान्ति—

अहल्या के प्रति किये गये उस शाप की अवधि भी भगवान् श्रीराम के उस आश्रम में आगमन तथा उनके दर्शन तक ही सीमित थी ।

यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ।। } वा० रा० १/४८/३१

तथा-

सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ।
त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ।। } वा० का० ४९/१६

यहाँ प्रथम वाक्य ग्रन्थकार द्वारा उद्धृत महर्षि गौतम की उक्ति है। तथा द्वितीय वाक्य ग्रन्थकार की स्वतन्त्रोक्ति है। इससे ज्ञात होता है कि प्रथम वाक्य में द्वितीय वाक्याशय भी अनिर्दिष्टरूप से सन्निविष्ट है। अन्यथा उसका कथन ग्रन्थकार द्वितीय स्थल पर नहीं करते।

--रा० म० वा० पृ० ४४

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

यहाँ प्रथम श्लोक में अहल्या की तपश्चर्या से समुद्भूत पावनता के काल का उल्लेख है। चूंकि वे व्यभिचारजन्य-पातक—से ग्रस्त हो गयी थीं। इसलिए महर्षि गौतम ने उन्हें प्रायश्चित्तरूप में वातभक्षा निराहारा होकर तप करने को कहा तथा साथ ही पाषाण होने का शाप भी दिया था, जिसकी उपपत्ति 'अदृश्या सर्वभूतानाम्' से की जा चुकी है। 'अहल्या की स्वतपश्चर्या द्वारा व्यभिचारजन्यकिल्विष से मुक्ति अर्थात् पवित्रता कब होगी' इसका समय ऋषिप्रवर ने श्रीराम के 'आगमनकाल' को ही निर्धारित कर रखा था--'यदा त्वेतद्वनं.... तदा पूता भविष्यसि'। अतः इस वचन से व्यभिचारजन्यपाप की निवृत्तिरूप पावनता ही बतलायी गयी है, शापनिवृत्ति नहीं। शापान्तकाल का निर्देश द्वितीय वाक्य--"सा हि....रामस्य दर्शनम्"—वा० रा० बा० का० ४९/१६ में और व्यभिचारजन्यपापान्तकाल का निर्देश प्रथम वाक्य "यदात्वेतद्.... पूताभविष्यसि" में है, इसीलिए प्रथम वाक्य के 'पूता भविष्यसि' अंश की व्याख्या महापण्डित श्री नागेशभट्ट उक्तार्थपरक ही करते हैं—"पूता=व्यभिचारकृतपापनाशेन पवित्रा भविष्यसि"—वा० रा० बा० का० ४८/३१ की तिलक। अतः पापान्तकालबोधक प्रथम वाक्य 'यदा त्वेतद्....' में शापान्तकालबोधक द्वितीय वाक्य "सा हि—दर्शनम्" का आशय सन्निविष्ट मानना महती भ्रान्ति है। अहल्या को मिले शाप की अवधि पृष्ठ १०२ से १०५ तक विवेचित है। "सा हि गौतम...." वाक्य का आशय भी "यदा त्वेतद्..." में नहीं, अपितु 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' में अनिर्दिष्टरूप से सन्निविष्ट है, इसका भी ज्ञान उक्त पृष्ठों से होगा।

पण्डितप्रवर का कथन है कि जब अहल्या को राम देख लेंगे तथा अहल्या राम को देख लेंगी तब वे गौतमशाप से मुक्त हो जायेंगी। अहल्या ने श्रीराम को देखा था इससे निश्चित होता है कि वे पाषाण नहीं हुई थीं—"श्रीराम जी के देखने के साथ ही 'तं द्रक्ष्यसि यदा भद्रे

ततः पूता भविष्यसि' ७/३०/३४ इस वक्ष्यमाण प्रमाण के अनुसार सिद्ध होता है कि ऋषिपत्नी अहल्या ने भी उन्हें देखा था अर्थात् दृशिक्रिया-निरूपित दोनों का परस्पर कर्तृकर्मभाव सम्पन्न हुआ। ऐसी स्थिति में 'ददर्श इस पद में कर्मव्यतिहार होने के कारण यद्यपि आत्मनेपद उचित था फिर भी आर्षप्रयोग होने से परस्मैपद का साधुत्व उपपन्न हो जाता है। इस प्रकार चक्षुरिन्द्रियजन्य दर्शनक्रिया का कर्तृत्व भी ऋषिपत्नी में पाषाणत्वाभाव को प्रमाणित कर रहा है; क्योंकि अचेतन पाषाण में किसी भी इन्द्रिय की सम्भावना भी नहीं। निरिन्द्रियमचेतनम्—आचार्य चरक"— रा० म० वा० पृ० ४६।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितप्रवर ने 'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' के पृ० ४५ में लिखा कि जब गौतमाश्रम में श्रीराम प्रविष्ट हुए तो उन्होंने अहल्या को देखा—'ददर्श च महाभागाम्'। श्रीराम के देखने के साथ ही अहल्या ने भी उन्हें देखा-'तं द्रक्ष्यसि यदा....'। इसीलिए दृशिक्रियानिरूपित परस्पर कर्तृकर्मभाव सम्पन्न हुआ। पं० जी के अनुसार श्रीराम के देखने के साथ ही जब अहल्या उन्हें देखेंगी तब शाप से मुक्त होंगी। बस! यहीं पर पण्डितप्रवर भ्रान्त हैं; क्योंकि—

"तं द्रक्ष्यसि यदा भद्रे ततः पूता भविष्यसि।
स हि पावयितुं शक्तस्त्वया यद्दुष्कृतंकृतम्।" } वा० रा० उ० का० ३०/४३

—"हे भद्रे! जब तुम श्रीराम को देखोगी, तब पवित्र हो जाओगी। तुम्हारे द्वारा जो दुष्कृत हुआ है, उससे पवित्र करने में वही समर्थ हैं।" यहाँ श्रीरामकर्मक दर्शन से अहल्या की पवित्रता बतलायी गयी है। वे अपवित्र क्यों हुईं' इसका कारण भी "त्वया यद्दुष्कृतं कृतम्" से निर्दिष्ट है। इस प्रकार सुधीजन देख सकते हैं कि "तं द्रक्ष्यसि...." से श्रीराम-दर्शन द्वारा अहल्या की व्यभिचाराख्यदुष्कर्म अथवा तज्जन्य पाप से आत्यन्तिक मुक्ति ही कही गयी है, शाप से मुक्ति नहीं। अतएव एतत्समानार्थक बालकाण्डीय गौतमवचन—"यदा त्वेतद्वनं घोरं रामो दशरथात्मजः। आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि" वा०रा०बा०का० ४८/३१ के 'पूताभविष्यसि' अंश की व्याख्या महापण्डित श्री नागेशभट्ट ने— 'व्यभिचारकृतपापनाशेन पवित्रा भविष्यसि' ही की "गौतमशापाद् मुक्ता भविष्यसि" नहीं। यद्यपि अहल्या 'तप्यन्ती भस्मशायिनी— वा०रा०

बा० का० ४८/३०, 'तपश्चचार सुमहत् सा'— वा० रा० बा० का० ३०/४५ वचनानुसार तपोरत थीं। और अनशनादि परमतप से व्यभिचारजन्य पातक की निवृत्ति शास्त्रसिद्ध है। अतः वे तप से पवित्र भी हो चुकी थीं। तथापि पाप की आत्यन्तिक निवृत्ति तप से नहीं हुई थी; क्योंकि पापवासना का नाश तप से सम्भव नहीं——

विद्यातपः प्राणनिरोधमैत्रीतीर्थाभिषेकव्रतदानजप्यैः।
नात्यन्तशुद्धिं लभतेऽन्तरात्मा यथा हृदिस्थे भगवत्यनन्ते ॥ } भा० म० १२/३/४८

—इन्द्रादिदेवोपासना, उपवासादिकर्म, प्राणायाम, सर्वत्र मैत्रीभावना, तीर्थस्नान 'कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत, सुवर्णादि के दान और ग्रहादि-मन्त्रों से जीव आत्यन्तिक शुद्धि (वासना सहित पापध्वंस) को नहीं प्राप्त करता। जैसा कि—कीर्तनादि द्वारा भगवान् के अन्तःकरणारूढ होने से'। पापवासना न नष्ट होने पर भी पापविनाश तो तप आदि से होता ही है—'तैस्तान्यघानिपूयन्ते तपो दानव्रतादिभिः'—भा० म० ६/२/१७। फलतः अहल्या-का पापध्वंस तपश्चर्या से होना सिद्ध है, पर पापवासना—नाश नहीं। इसलिए श्रीरामागमन से उनकी आत्यन्तिक शुद्धि रूप पावनता का ही उल्लेख 'यदा त्वेतद्वनं' बा० का०, एवं 'तं द्रक्ष्यसि यदा'—उ० का० ३०/४५ से किया गया है। महापण्डित श्री नागेशभट्ट के "व्यभिचारकृतपापनाशेन" कथन का तात्पर्य भी 'समूलपापनाशेन' से लगाना चाहिये।

वालकाण्डीय "यदा त्वेतद्वनं...." ४८/३० वचन द्वारा बोध्य श्रीराम का आगमन उनके दर्शन पर्यन्त अर्थ को समेटे हुए है; क्योंकि यहाँ 'एतद्वनं' शब्द से उसी समीपवर्ती वनविशेष का ग्रहण है, जहाँ अहल्या को शाप मिला है। इसका कारण यह कि 'समीपवर्ति चैतदोरूपम्' वचन से 'एतद्' शब्द का प्रयोग समीपवर्ती वस्तु के लिए ही विनिर्णीत है। अतः शापप्राप्तिस्थल, जहाँ अहल्या भस्मशायिनी थीं, उसी वन-विशेष में श्रीराम के पदार्पण का संकेत ऋषिप्रवर ने किया था। और जब वहां श्रीराघव आयेंगे तब अहल्या की चक्षुरिन्द्रिय से वे अवश्य सम्बद्ध होंगे, फिर अहल्या द्वारा श्रीराम का चाक्षुषप्रत्यक्ष होने में विलम्ब ही क्या; क्योंकि "सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना"—पूर्वमीमांसा श्लोकवार्तिक, प्रत्यक्षसूत्र, ८४, नियम है। अतः यहाँ श्रीरामागमन कथन का तात्पर्य उनके दर्शनों में ही है। इसी दर्शनोपरान्त अहल्या की पापवासना का विनाश हो गया और वे अत्यन्त शुद्ध हो गयीं। पतिपरिचर्यारूपतपश्चर्या से समुद्भूत तेज व्यभिचारजन्यपातक से आवृत

हो गया था। वह पातक अब समूल विनष्ट हो गया। अतः पूर्वशरीर की प्राप्ति एवम् अनावृत पतिपरिचर्याप्रसूततेज से वे "द्योतितप्रभा" हो गयी थीं। उत्तरकाण्डीय 'तं द्रक्ष्यसि' वचन में 'द्रक्ष्यसि' इसलिए अभिहित है कि वहाँ श्रीरामागमन गौतमाश्रीयवन में नहीं कहा गया, अपितु महर्षि विश्वामित्र के आश्रम सम्बन्धित वन में ही बतलाया गया है—रामनाम श्रुतो लोके वनं चाप्युपयास्यति। ब्राह्मणार्थे...." उ०का० ३०/४२। यहाँ ब्राह्मणार्थे की टीका 'विश्वामित्रार्थे' ही श्री नागेशभट्ट जैसे विद्वानों ने की है। अब विश्वामित्र के आश्रम सम्बन्धित वन में उपस्थित श्रीराघवेन्द्र का साक्षात्कार अहल्या को नेत्रों द्वारा नहीं हो सकता। अतः 'द्रक्ष्यसि' कहकर गौतमाश्रम पर्यन्त श्रीराघव का आगमन भी सूचित किया गया; क्योंकि सम्मुख आये विना साक्षात्कार सम्भव नहीं है। बा०का० में 'एतद्वनम्' से गौतमाश्रम सम्बन्धितवनविशेष का ग्रहण होने से 'आगमिष्यति' द्वारा दर्शनरूप अर्थ का संग्रह हो जाता है। अतः 'द्रक्ष्यसि' नहीं कहा गया। दोनों वचनों का तात्पर्यार्थ एक ही है।

इस परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि अहल्या की आत्यन्तिक पापनिवृत्ति ही श्रीरामसाक्षात्कार से बतलायी गयी है, शापनिवृत्ति नहीं। शाप से मुक्ति कैसे हुई, इसका विवेचन पृष्ठ १०० से किया जा चुका है। शाप से मुक्ति के पश्चात् ही श्रीराम ने आश्रम में उन्हें देखा, जिसका उल्लेख—"ददर्श च महाभागाम्" से है। इस तथ्य का भी प्रतिपादन पूर्व में हो चुका है। फलतः 'ददर्श च महाभागाम्' और 'तं द्रक्ष्यसि' के आधार पर 'श्रीराम के देखने के साथ ही अहल्या ने भी उन्हें देखा और शापमुक्त हुई' नहीं कहा जा सकता। अत एव उक्त कर्तृकर्मभाव सम्पन्न न होने से कर्मव्यतिहारानुपपत्ति के कारण ही महर्षि वाल्मीकि ने आत्मनेपद का प्रयोग न करके 'ददर्श' इस परस्मैपद का ही प्रयोग किया। एवं च 'रामस्य दर्शनम्' वा०रा० बा०का० ४९/१६ में भी कर्तृकर्म अर्थ में षष्ठी नहीं मानी जा सकती। वह तो केवल कर्तृ अर्थ में है। श्रीरामकर्तृकदर्शन जिसका अर्थ है।

पण्डितप्रवर ने 'तं द्रक्ष्यसि....' के आधार पर जो यह कहा कि "चक्षुरिन्द्रिय.... .... भी नहीं" वह भी भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि पूर्व में 'भूषण और तिलक टीका की समीक्षा' शीर्षक से यह सिद्ध किया जा चुका है कि अहल्या पाषाणप्रतिमा होने पर भी देख सुन सकती थीं; क्योंकि उनके पाषाणशरीर में प्राण और चक्षुरादि इन्द्रियाँ

पूर्ववत् उपस्थित थीं। उनका पाषाण शरीर अचेतन नहीं, अपितु सचेतन (जीवयुक्त) था। पाषाणादि में शरीरत्व की सिद्धि पूर्व में सप्रमाण की जा चुकी है। "अचेतन पाषाण में किसी भी इन्द्रिय की सम्भावना भी नहीं" यह कथन वालिशभाषितमात्र है; क्योंकि पाषाणविग्रह में विविधमन्त्रों से आत्मा का आवाहन करके प्राण एवं चक्षुरादि इन्द्रियाँ स्थापित की जाती हैं। इसका मूल वेदों में मिलता है—

एह्यश्मानमातिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः।
कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ } अथर्ववेद २/१३/४

अर्थ–हे परमात्मन्! आओ, इस पाषाण में विराजमान् हो जाओ, यह आपका शरीर हो जाये और सम्पूर्ण देवता सैकड़ों वर्ष पर्यन्त इसमें आपकी विभूति स्वीकार करें।

प्राणप्रतिष्ठा

"एतु प्राणा एतु मनः एतु चक्षुरथो वलम्"। अथर्ववेद ५/३०/१२ –'इस प्रतिमा में प्राण आये, मन आये, नेत्र और वल आये'। आत्मा और पाषाणत्व व्यधिकरण धर्म भी नहीं हैं। व्यधिकरण धर्म होने पर हजारों वेदमन्त्र उन्हें समानाधिकरण धर्म नहीं वना सकते; क्योंकि 'नहि श्रुतिसहस्रैरपि घटः पटयितुं शक्यते'- हजारों वेदों द्वारा भी घट को पट नहीं बनाया जा सकता। पाषाण विग्रह में आत्मा और इन्द्रियाँ वैदिकमन्त्रों से प्रतिष्ठित होती हैं। अतः आत्मा और पाषाणत्व व्यधिकरण धर्म नहीं हैं। इसलिए अहल्या के पाषाणशरीर को अचेतन समझकर उसमें इन्द्रिय की सम्भावना का निषेध करना मात्र अज्ञानता है। आचार्य चरक के कथन से भी विरोध नहीं है; क्योंकि अहल्या का पाषाणशरीर इन्द्रिय युक्त चेतन है। अतः अहल्या के शरीर में पाषाणत्वाभाव कथमपि नहीं सिद्ध किया जा सकता।

भ्रान्ति—

वैदिकसनातनधर्मरूपी दुर्ग की सुदृढ़ आधारशिला चूंकि वर्णाश्रमव्यवस्था ही है। अतः उसी के पालन हेतु प्रसन्नतापूर्वक भाई के सहित उन्होंने ऋषिपत्नी का पैर छूकर प्रणाम किया। यहीं नहीं, सर्वत्र ही श्रीराम जी ने वर्णाश्रम की इसी मर्यादा को ध्यान में रखकर ब्राह्मणों को ही प्रणाम किया है; किसी ब्राह्मण से कहीं भी अपना प्रणाम

नहीं करवाया। क्योंकि शास्त्रीयदृष्टि से ब्राह्मण का किसी ब्राह्मणेतर को प्रणाम करना अथवा ब्राह्मणेतर का ब्राह्मण द्वारा प्रणाम करवाना ये दोनों ही घोर अपराध हैं, नरक के कारण हैं। अतः शास्त्र की मर्यादा को सुव्यवस्थित करने के लिए मानवरूप में अवतीर्ण श्रीराम जी शास्त्र के विपरीत कोई कर्म कैसे करते ? –रा०म०वा० पृ० ४७

तात्पर्य–

पं० जी पूर्वोक्त वाक्यों से कहना चाहते हैं कि अहल्या को श्रीराम ने तो प्रणाम किया, किन्तु 'श्रीराम को उन्होंने प्रणाम नहीं किया', जैसा कि अध्यात्मरामायण, श्रीमद्रामचरितमानस आदि ग्रन्थों में वर्णित है; क्योंकि इससे मर्यादा नष्ट होती है। इसका कारण यह कि श्रीराम ब्राह्मणेतर हैं, और अहल्या ब्राह्मणी हैं। ब्राह्मणेतर श्रीराम ब्राह्मणी अहल्या द्वारा प्रणाम जैसा शास्त्र विपरीत कर्म कैसे करा सकते थे ? यदि कराते तो नरकजनक कर्म हो जाने से उन्हें नरक जाना पड़ता। यही पं०जी का तात्पर्य है। पं०जी के अनुसार जो भी ब्राह्मण ब्राह्मणेतर श्रीराम को प्रणाम करते हैं, वे घोर अपराध करते हैं। अतः नरक में अवश्य जायेंगे। इतना ही नहीं, जो उन्हें भोग समर्पित करके प्रसाद तथा चरणामृत ग्रहण करते हैं, वे सभी ब्राह्मण नरकगामी होंगे; क्योंकि जब ब्राह्मण का ब्राह्मणेतर को प्रणाम करना घोर अपराध है, नरक का कारण है, तब प्रसाद का ग्रहण तो घोरतर या घोरतम अपराध हुआ। अतः नरक अवश्यम्भावी है। इस प्रकार पं० जी का आक्षेप समस्त भगवदुपासकों पर है, चाहे वे गृहस्थ ब्राह्मण हों या कोई अन्य।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान् जी के उक्त अभिप्राय से ज्ञात होता है कि महापण्डित नागेशभट्ट—जिनके प्रामाणिकता की दुहाई देते हुए ये थकते नहीं–भी इस नरक के कारण से अनभिज्ञ थे। तभी तो 'स्वशिलारूपतापरित्यागमात्रेण तु तस्मिन् रामत्वनिश्चयोऽस्याः तौ रामपादौ प्रतिजग्राह-स्पृष्ट्वा प्रणनाम'—वा० रा० बा० का० ४६/१७ की तिलक, उनके द्वारा लिखा गया। अध्यात्मरामायणकार भी इनकी दृष्टि में अनभिज्ञ ही सिद्ध होते हैं; क्योंकि उन्होंने भी–"हर्षाश्रुजलनेत्रान्ता दण्डवत् प्रणिपत्य सा। तस्मात्ते शतशो राम ! नमस्कुर्यामनन्यधीः"-- बा०का० ५/४१,५०

अहल्या द्वारा श्रीराम को प्रणाम करना लिखा है ।

पं० जी से पूछना चाहिये कि जब श्रीराम ब्राह्मणेतर हैं, तो महर्षि गौतम ने क्यों कहा कि 'जब श्रीराम वन में आयेंगे तब तुम पवित्र हो जाओगी' । क्या किसी ब्राह्मणेतर से ब्राह्मणी की पवित्रता का कथन शास्त्रसम्मत या मर्यादापूर्ण है ? यदि है तो द्विवेदी जी जैसे धर्मशास्त्रियों को ब्राह्मणेतर 'भङ्गी' आदि के आगमन से अपने को पवित्र करके लुप्त परम्परा की रक्षा करनी चाहिये । इससे वर्गविद्वेष को शान्त होने में बड़ा सहयोग मिलेगा ।

वस्तुस्थिति तो यह है कि भगवान् ही रामरूप में अवतरित हुए, उनका ब्राह्मणेतरत्व या क्षत्रियत्व आदि अहल्या को पवित्र करने में कारण नहीं बना, अपितु भगवत्ता ही कारण बनी, और वही भगवत्ता प्रणम्य होने में भी निमित्त बनी । यदि भगवत्तत्त्व का यथार्थज्ञान हो जाने से अहल्या ने उन्हें प्रणाम कर ही लिया तो कौन सी मर्यादा नष्ट हो गयी ? आज भी बड़े-बड़े विप्र और सन्त श्रीराम को परात्पर ब्रह्म समझकर ही प्रणाम आदि करते हैं, ब्राह्मणेतर क्षत्रिय समझकर नहीं। ब्राह्मण का पूज्य क्षत्रिय भले न हो, किन्तु सनातन परमात्मा तो है ही । इसीलिए परशुराम जी ने परमात्मा श्रीराम की प्रदक्षिणा की थी—

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रशस्य च ।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः ॥

—वा० रा० बा० का० ७६/२४

क्या विप्रश्रेष्ठ परशुराम श्रीराम को ब्राह्मणेतर समझकर उनकी प्रदक्षिणा किये थे ? उत्तर मिलेगा—'नहीं' । वे उन्हें अक्षय परमात्मा समझकर ही प्रदक्षिणा किये थे । प्रदक्षिणा का आरम्भ और समापन नमस्कार से ही होता है— ऐसा सामान्य व्यक्ति भी जानता है । अतः उनके द्वारा श्रीराम को प्रणाम हो ही गया । और प्रदक्षिणा तो प्रणाम से भी गुरुतर कार्य है । यदि कठिन तपश्चर्या से अहल्या को श्रीराम का परमात्मत्वेन ज्ञान हो गया और उन्होंने प्रणाम कर ही लिया, तो उचित ही है, अनुचित नहीं । इस रहस्य को न समझकर कोई इन स्थलों पर मर्यादाभङ्ग की आपत्ति दे, या प्रश्न करे कि 'ब्राह्मणी अहल्या द्वारा ब्राह्मणेतर श्रीराम को प्रणाम करना क्यों लिखा गया ? या उसने प्रणाम क्यों किया ? इससे मर्यादा नष्ट होती है' । तो शास्त्र की दृष्टि में वह बड़ा भारी मूर्ख और राक्षसी स्वभाव वाला है। भगवान्

श्रीकृष्ण ने अपने श्रीमुख से ऐसे लोगों को मूर्ख ही कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ।। } भगवद्गीता ९/११.

—"सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वररूप मेरे परतत्त्व को न जानने वाले मूर्ख लोग मानवशरीरधारी मुझ परमात्मा का तिरस्कार करते हैं" । अद्वैतवेदान्त के सूर्य श्री मधुसूदन सरस्वती इस श्लोक की व्याख्या में कहते हैं—

एवं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वजन्तूनामात्मानमानन्दघनमनन्तमपि सन्तं अवजानन्ति मां साक्षादीश्वरोऽयमिति नाद्रियन्ते निन्दन्ति वा मूढा अविवेकिनो जनास्तेषामवज्ञाहेतुभ्रमं सूचयति—मानुषीं तनुमाश्रितमिति । मनुष्यतया प्रतीयमानां मूर्तिमात्मेच्छया भक्तानुग्रहार्थं गृहीतवन्तं मनुष्यतया प्रतीयमानेन देहेन व्यवहरन्तमिति यावत् । ततश्च मनुष्योऽयमिति भ्रान्त्या छादितान्तःकरणा मम परं भावं प्रकृष्टं पारमार्थिकं तत्त्वं सर्वभूतानां महान्तमीश्वरमजानन्तो यन्नाद्रियन्ते निन्दन्ति तदनुरूपमेव मूढत्वस्य ।

—"इस प्रकार नित्य शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव सब प्राणियों के आत्मा, आनन्दघन, अन्तरहित अर्थात् अविनाशी मुझ परमात्मा का मूर्ख लोग तिरस्कार करते हैं 'ये साक्षात् ईश्वर हैं' ऐसा समझकर मेरा आदर नहीं करते हैं, प्रत्युत 'यह ग्वाला (गोपाल) है, क्षत्रिय है, ब्राह्मणेतर है'—इत्यादि रूप से निन्दा करते हैं । उनके—तिरस्कार हेतु— भ्रम को मानुषीमित्यादि ग्रन्थ से सूचित किया गया है । मनुष्यत्वेन प्रतीयमान शरीर को स्वेच्छया भक्तानुग्रह के लिए ग्रहण करने वाले अर्थात् मनुष्यत्वेन प्रतीयमान देह से व्यवहार करते हुए मुझको 'यह मनुष्य है' इस भ्रान्ति से आच्छादित अन्तःकरण वाले सम्पूर्ण प्राणियों के महान् ईश्वररूप मेरे प्रकृष्ट पारमार्थिक तत्त्व को न जानते हुए जो मेरा आदर नहीं करते हैं प्रत्युत यह ग्वाला है, क्षत्रिय है, ब्राह्मणेतर है— इत्यादिरूप से निन्दा करते हैं । यह सब उनकी मूर्खता के अनुरूप ही है" । इस प्रकार उन लोगों को मूर्ख ही नहीं, अपितु राक्षसी और आसुरी स्वभाव वाला भी कहा गया है—

"मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञानविचेतसः ।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ।।" } भगवद्गीता ९/१२

—"पूर्वोक्तरूप से मेरा अनादर करने वाले मूर्ख लोग असफल आशा, असफलकर्म, असफलज्ञान वाले, मोहित करने वाली राक्षसी और आसुरी

प्रकृति (स्वभाव) को धारण करने वाले होते हैं ।"

भगवान् को मानववपु धारण किये देखकर आज से हजारों वर्ष पूर्व ब्रह्मवादी ब्राह्मणों को भी भ्रम हुआ था जो आङ्गिरसनामक यज्ञ कर रहे थे—

प्रयात देवयजनं ब्राह्मणाः ब्रह्मवादिनः ।
सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ।। } भा० म० १०/२३/३

जिनके पास भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा ओदन के लिये भेजे गये गोपबालक खाली हाथ लौट आये थे । उन ब्राह्मणों के लिए भगवान् वादरायण लिखते हैं—

इति ते भगवद्याच्ञां शृण्वन्तोऽपि न शुश्रुवुः ।
क्षुद्राशा भूरिकर्माणो वालिशा वृद्धमानिनः ।।
तद्ब्रह्म परमं साक्षाद् भगवन्तमधोक्षजम् ।
मनुष्यदृष्ट्या दुष्प्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेनिरे ।। } भा० म० १०/२३/९-११

—"वे सब भगवान् की याचना को सुन कर भी अनसुनी कर दिये; क्योंकि वे क्षुद्र स्वर्गादि फलों की आशा वाले तथा क्लेश-बहुल यज्ञकर्म में निरत एवं मूर्ख होकर भी अपने को वड़ा भारी पण्डित मानते थे । "शरीर में ही मैं ब्राह्मण हूँ" ऐसा अभिमान करने वाले वे दुर्बुद्धि द्विज साक्षात् परब्रह्म इन्द्रियातीत उन भगवान् श्रीकृष्ण को "यह मनुष्य है अर्थात् साधारण गोपाल है, ब्राह्मणेतर है"— ऐसा समझकर आदर न दिये"। भगवद्गीता के उन श्लोकों का उपबृंहण श्रीमद् भागवत के इस श्लोक से सम्यक् हो रहा है । गीता के मूढाः को यहाँ वालिशाः, 'अवजानन्ति' को 'न मेनिरे' और 'मानुषीं तनुमाश्रितम्' को 'मनुष्यदृष्ट्या' से इंगित किया गया। मोघाशा—क्षुद्राशाः, मोघकर्माणः, भूरिकर्माणः, मोघज्ञाना— वृद्धमानिनः, प्रकृतिमोहिनींश्रिता— दुष्प्रज्ञाः" इत्यादि शब्द एक दूसरे का रहस्य पूर्णतया खोल रहे हैं । चूंकि उन विप्रों की पत्नियाँ भगवान् श्रीकृष्ण के सेवा में भोजनादि लेकर उपस्थित हुई थीं, उनकी भगवान् में भक्ति थी । इसलिए उन विप्रों में भी ज्ञान उत्पन्न हुआ, तब उन्होंने पश्चात्ताप किया कि योगेश्वरों के भी ईश्वर श्रीविष्णु भगवान् ने यदुवंश में अवतार लिया है–ऐसा सुनकर भी हम मूर्ख उन्हें जान न सके—

स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।
जातो यदुष्वित्यशृण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ।। भा० म० १०/२३/४८

इस प्रकार का आचरण ब्रह्मवादी, पाण्डित्याभिमानी, कर्मकाण्डी भगवद्विमुख विप्रों का उस समय भी था। शिशुपाल ने तो अशिष्टता की सीमा का ही उल्लंघन कर दिया। जव महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में प्रश्न हुआ कि सर्वप्रथम किसकी पूजा की जाय ? तव पाण्डवश्रेष्ठ सहदेव ने भगवान् श्रीकृष्ण का नाम लिया—

अर्हति ह्यच्युतः श्रैष्ठ्यं भगवान् सात्वतां पतिः। } भा०म० १०/
तस्मात् कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम्॥ } ७४/१९,२३

व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज जैसे ब्रह्मर्षियों ने सहदेव का समर्थन किया। इसके वाद महाराज युधिष्ठिर ने भगवान् श्रीकृष्ण की अग्रपूजा की। कुटिल शिशुपाल उस समय भगवान् श्रीकृष्ण की निन्दा करते हुए कहने लगा "यह गोपाल है, इसका वर्ण और कुल भी उच्च नहीं अर्थात् ब्राह्मण न होने के कारण ब्राह्मणेतर है और निम्न कुल का है" इत्यादि। भला, भगवान् श्रीकृष्ण की भगवत्ता तपः स्वाध्याय-निरत वशिष्ठ, व्यास और भरद्वाज जैसे ब्रह्मर्षियों से भिन्न शिशुपाल जैसे दूषितान्तःकरण कैसे समझ सकते थे ? वह तो उन्हें यदुवंश में अवतीर्ण होने के कारण अन्य यादवों के समान ब्राह्मणेतर ही समझता था। इसलिए ब्राह्मणों की विद्यमानता में ब्राह्मणेतर श्रीकृष्ण की पूजा वह भी सर्वप्रथम, उसे वैसे ही असह्य हो उठी, जैसे—द्विवेदी जी को अहल्या द्वारा ब्राह्मणेतर श्रीराम को प्रणाम। शिशुपाल भगवद्द्रोही था ही, अतः उनकी पूजा के विरोध हेतु मर्यादापोषक वचन उपस्थित करने लगा, जिसका अन्तिम परिणाम उसके वध के रूप में उपस्थित हुआ।

मानववपु धारण करने वाले भगवान् के लिए दूषित-हृदय ब्राह्मणों और शिशुपाल जैसे लोगों द्वारा यही सब होता आया है। अतः मानवरूप में अवतरित परात्परब्रह्म श्रीराम को पं०जी ब्राह्मणेतर कहें या समझें तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसकी परम्परा पुरानी है, शिशुपाल जैसे लोग इस परम्परा के गणमान्य गाद्याचार्य हैं।

अहल्या द्वारा श्रीराम को प्रणाम शास्त्रसम्मत

शास्त्रों में कुछ वचन सामान्य होते हैं और कुछ विशेष। जैसे 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि'—'किसी भी प्राणी की हिंसा न करें'। इससे समस्त प्राणियों की हिंसा का निषेध किया गया है। दूसरा वचन है—

'अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इससे अग्निषोमीय पशु का याग में आलम्भन प्राप्त है । दोनों वचनों का परस्पर विरोध शमन करने के लिए निषेधवाक्य विहितपश्वालम्भनव्यतिरिक्त हिंसा का निषेधक माना जाता है। तात्पर्य यह कि विशेष वचन को 'सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो वलवान् भवेत्' नियमानुसार वलवान् मानकर तद्व्यतिरिक्त स्थल में सामान्य वचन की प्रसक्ति स्वीकार की जाती है। इसी प्रकार सामान्य धर्म और विशेष धर्म में विशेष धर्म ही बलवान् होगा । ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मणेतर की पूजा या प्रणाम न करना रूप सामान्यधर्म शास्त्रसम्मत है फिर भी ब्राह्मणेतर (यह शब्द पं० जी के अनुसार मैंने प्रयुक्त किया है) श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि के नमन पूजन का शास्त्रीय उद्घोष (विधान) ब्राह्मण आदि सभी वर्गों के लिए है । यह विशेष धर्म है । अतः उक्त सामान्य धर्म वोधक वचन अर्थात् ब्राह्मण द्वारा ब्राह्मणेतर को प्रणाम आदि का निषेधक वचन—ब्राह्मण आदि द्वारा ब्राह्मणेतर श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि अवतारों को प्रणाम आदि जो शास्त्रों से विहित है इनसे—अन्यत्र प्रसक्त होगा ।

दूसरी बात यह कि पूर्वोक्त आङ्गिरस सत्र के अनुष्ठाता ब्रह्मवादी विप्रों की निन्दा के वोधक भूतार्थवाद से भी यही तात्पर्य निकलता है कि परमात्मा के अवतार की 'यह मनुष्य है,ब्राह्मणेतर है'अप्रणम्य है' इत्यादि रूप से निन्दा या अनादर नहीं करना चाहिए, अपितु ये साक्षात् ईश्वर हैं, सभी के स्वामी हैं तथा सभी जीवों से प्रणम्य हैं—ऐसा समझकर इनको प्रणाम आदि करना चाहिए । अतः अहल्या ने श्रीराम को प्रणाम करके विशेष धर्म का पालन ही किया। फलतः इसकी जो निन्दा करते हैं वे शास्त्रीयविधान पर आघात करने के कारण अवश्य नरकगामी होंगे ।

भगवान् के नमन-पूजन में शास्त्रीय उद्घोष

भगवदवतारों का तिरस्कार करने वाले ब्रह्मवादी विप्रों को दुष्प्रज्ञ और मूर्ख कहा गया, तथा श्रीमद्भगवद्गीता में भी ऐसे लोगों को मूर्ख और राक्षसी एवं आसुरी स्वभाव वाला बतलाया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण अपने श्रीमुख से गीता में मूर्खों का स्वभाव बतलाकर महात्माओं के विषय में जो उद्गार व्यक्त करते हैं, वह निम्नलिखित है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ।। } भ० गी० ९/१३

—"हे पार्थ ! अभय, अन्तःकरण की संशुद्धि, प्रकृतिभिन्न आत्मस्वरूप में निष्ठा, दान और दम आदि दैवी सम्पद् से युक्त अर्थात् दैवी प्रकृति—देवताओं के स्वभाव वाले महात्मा मुझे सम्पूर्ण प्राणियों का आदि कारण और अविनाशी समझकर अनन्यचित्त से मेरा भजन करते हैं। तात्पर्य यह कि वे राक्षसी और आसुरी स्वभाव वाले मूर्खों की भाँति मेरे मानवशरीर मात्र से "यह वसुदेवपुत्र है, ग्वाला है, अन्य यादवों का सजातीय है, ब्राह्मणेतर है" इत्यादि समझकर अपमान नहीं करते, अपितु ये जगत् के आदिकारण परमात्मा ही हैं, और अपनी अहैतुकी कृपा से लोकोद्धार हेतु मानवसदृश शरीर धारण किये हैं" इस गूढ़ रहस्य को जानकर मेरा भजन करते हैं"। वे महात्मा किस प्रकार भजन करते हैं ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति हेतु भगवान् कहते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ।। } भगवद्गीता ९/१४

—"वे निरन्तर राम, रघुनन्दन, मुकुन्द, माधव इत्यादि नामों से मेरा कीर्तन करने वाले, मेरी अर्चना में प्रयत्नशील, शम, दम, रामनवमी इत्यादि व्रतों में दृढ़, भक्ति से साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करते हुए अनवरत मेरी उपासना करते हैं।"

पाठकवृन्द यहाँ समझ सकते हैं कि भगवान् ने अपने श्रीमुख से परमात्मतत्त्व के ज्ञाता दैवी स्वभाव वाले लोगों द्वारा अपना भजन, प्रणाम, संकीर्तन आदि करना कहा है। इनमें ब्रह्मर्षिगण पहले आते हैं; क्योंकि उनमें दैवी–प्रकृति स्वतः सिद्ध है। अतः हजारों वर्षों से कठिन तपश्चर्या में निरत ऋषिपत्नी अहल्या ने जो श्रीराम का चरणस्पर्श किया, वह इन शास्त्रीयवचनों का सर्वथा पालन ही है। भगवदवतारभिन्न ब्राह्मणेतर को ब्राह्मण प्रणाम करे या वह ब्राह्मण से प्रणाम कराये तो पाप अवश्य होगा और वहीं मर्यादा का भङ्ग भी है। यहाँ यह ध्यान रखना अत्यावश्यक है कि उक्त गीता के वचन उन्हीं परमात्मा के हैं जिनके ऋग्वेद, इतिहास, पुराण आदि निःश्वास बताये गये हैं और भगवद्गीता को तो श्रुतिशिरोभाग उपनिषदों का भी सार कहा गया है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

ऐसी परमश्रेष्ठा भगवद्गीता में भगवान् द्वारा अपना प्रणामादि दैवोप्रकृति वालों से करना कहा गया है। अतः कोई भी व्यक्ति, चाहे

वह ब्राह्मण हो या ब्राह्मणी अथवा तदितर, सभी का– भगवान् के चरणामृत, भोग आदि का ग्रहण एवं प्रणामादि–शास्त्रविहित कर्म है। "मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि" वचन जैसे विहितपशवालम्भन से व्यतिरिक्त हिंसा का निषेधक है, वैसे ही ब्राह्मणेतर को ब्राह्मण से प्रणामाचरण प्रभृति के प्रतिषेधक वचन— श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि से व्यतिरिक्त ब्राह्मणेतर को ब्राह्मण के प्रणाम के— निषेधक होंगे। श्रीराम श्रीकृष्ण आदि के नमन, पूजन में तो शास्त्र का उद्‌घोष ही है। इन शास्त्रीय मर्मों को न समझने के कारण ही पं० जी ने लिख दिया कि 'श्रीराम शास्त्रविपरीत कर्म कैसे करते'? अतः अहल्या का श्रीराम को प्रणाम करना भगवदाज्ञा का पालन ही है तथा शास्त्रशिरोमणि भगवद्‌गीता के अनुकूल परम भागवत धर्म है। इसीलिए अध्यात्मरामायण, रामचरितमानस और पुराणों में इसका वर्णन मिलता है।

भगवद्‌गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने राक्षसी एवं आसुरी स्वभाव वाले मूर्खों का स्वरूप वतलाया। उसी के साथ दैवीप्रकृति वाले महात्माओं का भी स्वरूप वतलाया है और इसका विशद विवेचन भी पूर्व में किया जा चुका है। अव सुधीजन स्वयं निर्णय करें कि द्विवेदी जी इन दोनों में किस कोटि में आते हैं।

वाल्मीकीयरामायणस्थ "स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ" वा० का० ४९/१७ का अर्थ श्री नागेशभट्ट ने 'अहल्या द्वारा श्रीराम को प्रणाम करना लिखा है।' पर पण्डितपुङ्गव उससे बचने के लिये कैसा अर्थ लिखते हैं? देखें—"ऋषिपत्नी अहल्या ने भी पतिदेव महर्षि गौतम के उस वचन, जिसमें श्रीराम के आगमन का संकेत तथा उनके आतिथ्य सत्कार का उपदेश था, को स्मरण करती हुई उनके प्रणाम को आशीर्वाद्यत्वेन तथा उन दोनों को अतिथित्वेन अङ्गीकार किया– स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ। -वा० का० ४९।१७ तथा पति के उसी आदेश के अनुसार ऋषिपत्नी ने भी वड़ी सावधानी से उनका पाद्य, अर्घ्य आचमनादि आतिथ्य सत्कार सम्पन्न किया। पाद्यमर्घ्यं तथातिथ्यं चकार सुसमाहिता। १–४९–१८ भगवान् श्रीराम ने उसे स्वीकार किया; क्योंकि वह शास्त्रविहित कर्म था– 'प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा'–१–४९–१८"।

—रामायणकारमहर्षिवाल्मीकि पृ० ४९।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितपुङ्गव ने "स्मरन्ती गौतमवचः........" इत्यादि श्लोकघटक 'तौ' पद के वल से "उन दोनों को" अतिथित्वेन अङ्गीकार किया, लिखा है । यह निरो भ्रान्ति है; क्योंकि महर्षि गौतम के वचन में केवल श्रीराम के आतिथ्य का संकेत है–

यदा त्वेतद् वनं घोरं रामो दशरथात्मजः ।
आगमिष्यति दुर्धर्षस्तदा पूता भविष्यसि ।।
तस्यातिथ्येन दुर्वृत्ते लोभमोहविर्वजिता ।
मत्सकाशं मुदा युक्ता स्वं वपुर्धारयिष्यसि ।।

सुधीजन इस गौतमवचन में सुस्पष्ट देख सकते हैं कि पूर्वोपात्त श्रीराम का ही 'तस्य' पद से ग्रहण है; क्योंकि 'तद्' आदि पद बुद्धिस्थ के परामर्शक होते हैं । लोक में भी "राम आयेगा, उसकी पुस्तक रख देना" इत्यादि प्रयोगों में 'उसकी' इस सर्वनाम से 'राम की' यही वोध होता है। यही स्थिति उक्त श्लोक में है। अतः श्रीराम के आगमन द्वारा व्यभिचारजन्यपाप से आत्यन्तिक मुक्ति और उनके पादस्पर्श से स्वशरीर की प्राप्ति तथा उनके आतिथ्यसत्कार से पतिसान्निध्य की प्राप्ति।" यही गौतम जी के वचन का अर्थ है। महर्षि के इन वचनों में मात्र श्रीराम के आतिथ्य का निर्देश है, अन्य के नहीं । अतः श्रीराम और लक्ष्मण दोनों को अतिथित्वेन ग्रहण कराना महर्षि के वचनों से विरुद्ध है। दूसरा दोष यह है कि द्विवेदी जी ने चेलों को तो अतिथित्वेन ग्रहण करा दिया किन्तु गुरुजी को छोड़ दिया । ऐसा तो सम्भव नहीं कि आश्रम पर एक साथ पधारे श्रीराम और लक्ष्मण का आतिथ्य अहल्या की हों तथा विश्वामित्र जी को छोड़ दी हों ।

तुष्यतु सुजनन्यायेन यदि श्रीमान् जी के अर्थ को मान भी लें तो महर्षि वाल्मीकि के अग्रिम वचन से भी विरोध होगा; क्योंकि जव अहल्या ने अतिथित्वेन श्रीराम और लक्ष्मण दोनों को स्वीकार किया और बड़ी सावधानी से उनका आतिथ्य भी कीं तो उसे मात्र श्रीराम ने ही क्यों ग्रहण किया ? लक्ष्मण जी ने क्यों नहीं ? यदि दोनों ने भी ग्रहण किया तो मात्र श्रीराम के ही आतिथ्य ग्रहण का उल्लेख क्यों है— प्रतिजग्राह काकुत्स्थोविधिदृष्टेन कर्मणा । लक्ष्मण

जी का क्यों नहीं ?-पं० जी ने भी अतिथित्वेन दोनों को ग्रहण कराकर आतिथ्य के वाद श्रीराम से ही उसके ग्रहण का उल्लेख किया है। यहाँ ये महाशय भी लक्ष्मण जी को भूल गये। अतः महर्षि गौतम और महर्षि वाल्मीकि के वचनों से अत्यन्त विरुद्ध पण्डित जी का अर्थ हेय है। अतएव महापण्डित श्री नागेशभट्ट जी ने 'तौ' का अर्थ 'रामपादौ' करके दोनों महर्षियों के पूर्वोत्तर वचनों के स्वारस्य की रक्षा की है। वे 'स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ' श्लोक की तिलक टीका में लिखते हैं—

"तदा स्वपदस्पर्शमात्रेण शिलारूपतापरित्यागे गौतमवचः स्मरन्ती मदाश्रम प्राप्तराघवपूजया पुनर्मत्सम्वन्ध इत्येवं तद्वचः स्मरन्तीत्यर्थः। स्वशिलारूपतापरित्यागमात्रेण तु तस्मिन् रामत्वनिश्चयोऽस्याः तौ रामपादौ प्रतिजग्राह स्पृष्ट्वा प्रणनाम ।। यत्तु तौ रामलक्ष्मणौ प्रतिजग्राह पूज्यत्वबुद्धिमकरोदिति तन्न अग्र काकुत्स्थ इत्येकवचनप्रयोगात्"।

—श्रीराम के पादस्पर्श मात्र से शिलारूपता का परित्याग हो जाने पर "मेरे आश्रम पर आये श्रीराम की पूजा से पुनः मेरा सम्वन्ध महर्षिगौतम से होगा" इस प्रकार महर्षि गौतम के वचन को स्मरण करती हुईं। अपने शिलारूप के परित्याग मात्र से उनका श्रीराम में श्रीरामत्वप्रकारक 'अयं श्रीरामोऽस्ति' निश्चय हो गया इसलिए उन्होंने श्रीराम के दोनों चरणों का स्पर्श करके प्रणाम किया★।

जो लोग तौ का अर्थ राम और लक्ष्मण करके 'उनको ग्रहण किया अर्थात् तद्विषयक पूज्यत्वबुद्धि की' अर्थ करते हैं, वह उचित नहीं है; क्योंकि आगे महर्षि ने 'काकुत्स्थः' इस एक वचन का प्रयोग किया है। तात्पर्य यह कि जव पूज्यत्वबुद्धि उभयविषयक हुई तो आतिथ्य भी दोनों का होगा फिर श्रीराम के ही आतिथ्य ग्रहण का 'काकुत्स्थः' इस एक वचन से उल्लेख क्यों हुआ ? यदि श्रीराम के साथ लक्ष्मण जी का पूज्यत्वेन ग्रहण हुआ तो आतिथ्य भी दोनों का होगा। अतः 'काकुत्स्थ'

★ यहाँ अहल्या ने श्रीरामचरणों का स्पर्श किया अतः मर्यादा का भङ्ग हुआ—ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिए; क्योंकि भगवद्गीता आदि में सुस्पष्ट निर्दिष्ट है कि दैवीसम्पद् वाले ब्राह्मण आदि भगवान् को प्रणाम करें। अतः वैसा करके अहल्या ने शास्त्रीयमर्यादा का पालन ही किया।

शब्द को द्विवचनान्त होना चाहिये और उसी अनुसार क्रियापद भी। किन्तु वह नहीं है, इसलिए तौ का अर्थ रामपादौ करके श्रीराम का ही आतिथ्य कराकर उनसे ही उसके ग्रहण का उल्लेख महर्षि ने किया। यही महापण्डित श्री नागेशभट्ट का तात्पर्य है।

श्लोक का यथार्थ पाठ

उक्त श्लोक में महापण्डित श्री गोविन्दराज के अनुसार 'तौ' पाठ न होकर 'च' पाठ है, और यही उपयुक्त भी है; क्योंकि इसके अनुसार "पूर्वोक्त गौतमवचन—जिसमें श्रीराम के आतिथ्य का निर्देश है—का स्मरण कर ऋषिपत्नी पूज्यबुद्ध्या काकुत्स्थ को ही ग्रहण करेंगी और उनके द्वारा विधिपूर्वक किये गये आतिथ्य को "प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा"—वा०रा०बा०का० ४९/१८" वचनप्रामाण्यात् श्रीराम ग्रहण किये—यह अर्थ सुतराम् लब्ध होगा। इससे महर्षि वाल्मीकि के "प्रतिजग्राह काकुत्स्थो विधिदृष्टेन कर्मणा"—वा०रा०बा० का० ४९/१८ इस वचन का स्वरसतः प्राप्त अर्थ भी लग जायेगा।

इस प्रकार पूर्वोक्त महर्षि गौतम के वचनों का अक्षरशः लब्ध अर्थ भी उपपन्न हो जायेगा और 'स्मरन्ती गौतमवचः' से उनकी एकवाक्यता होने के साथ-साथ महर्षि वाल्मीकि के अग्रिम "प्रतिजग्राह काकुत्स्थो" इत्यादि वचन का स्वारस्य भी नहीं बिगड़ेगा। उक्त श्लोक के पाठभेद की स्थिति में पूर्वोक्त वचनों के अनुकूल अर्थ जिस पद के उपादान से निकले वही पद पाठ में ग्राह्य है और वह 'च' पद ही है, 'तौ' नहीं। "इस अर्थ में आतिथ्य केवल श्रीराम जी का हुआ लक्ष्मण जी तो छूट ही गये" ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए; क्योंकि पं० जी के पूर्वोक्त अर्थ में 'तौ' पद से श्रीराम एवं लक्ष्मण का अतिथित्वेन ग्रहण होने पर जो अनुपपत्तियाँ आयी थीं, वे दिखायी जा चुकी हैं। उस अर्थ में भी गुरुजी छूट ही गये थे। मेरे द्वारा किये गये इस अर्थ में कोई अनुपपत्ति नहीं। अहल्या ने महर्षि विश्वामित्र और लक्ष्मण जी का भी स्वागत निश्चित ही किया था, किन्तु उसे इस प्रकरण में दिखाने की उतनी आवश्यकता नहीं थी जितनी श्रीराम के आतिथ्य की; क्योंकि उस समय शास्त्र की मर्यादा का पालन प्रायः सब लोग करते थे। अतः इन तीनों के आतिथ्य-सत्कार का उल्लेख करने से कौन बड़ी भारी मर्यादा दिख जाती? अतः महर्षि विश्वामित्र और लक्ष्मण जी का आतिथ्य

जिसे अहल्या ने किया था— का उल्लेख महर्षि वाल्मीकि ने नहीं किया। जिसका उल्लेख महर्षि गौतम के वचन की उपपत्ति के लिये अनिवार्य था, श्रीराम के उस आतिथ्य और उसके ग्रहण का उल्लेख महर्षिप्रवर ने किया।

यहाँ यह ध्यातव्य है कि गौतम के वचनों को स्मरण करती हुईं अहल्या ने अतिथित्वेन श्रीराम को ही ग्रहण किया था। अपने घर या आश्रम पर आये अतिथि के सामान्यतः प्राप्त आतिथ्य में महर्षि गौतम के वचनस्मरण की कोई आवश्यकता ही नहीं थी, वह तो श्रौत-स्मार्तवचन के ज्ञानपूर्वक ही था।

पण्डितप्रवर को आत्मनिरूपणपर्यन्त मुक्तावली में भी महती भ्रान्ति है जिसके कारण ये अहल्या के पाषाणत्व का अपलाप करना चाहते हैं—"किसी वस्तु के अनुभव के पश्चात् उसका संस्कार आत्मा या उसके अन्तःकरण में बनता है, जो समय आने पर अनुकूल परिस्थिति में तद्विषयक स्मृति को उत्पन्न कर देता है। स्मरण की यही सर्वमान्य प्रक्रिया है। इस अनुभव तथा स्मृति का समानदेहस्थत्व रूप सामानाधिकरण्य अपेक्षित होता है। इसीलिए हम लोगों को अपने पूर्वजन्म के अनुभूत विषयों की स्मृति इस जन्म में नहीं होती; क्योंकि शरीर का परिवर्तन हो गया है। इससे प्रतीत होता है कि अहल्या के शरीर का परिवर्तन नहीं हुआ था। शापवशात् उसमें अदृश्यता मात्र आयी थी जिससे उसका पूर्वानुभवजन्यसंस्कार सुरक्षित रहा और श्रीराम जी के दर्शन के पश्चात् तद्विषयक स्मृति बन सकी। इसके विपरीत यदि उनके उस पूर्वशरीर का ध्वंस तथा अचेतन पाषाणस्वरूप की प्राप्ति और पुनः शरीरान्तर की प्राप्ति आदि स्वीकृत किये जांय तो उक्त कार्यकारणभाव के न बन सकने के कारण उक्त स्मृति बाधित हो जायेगी। और सत्यवाक् महर्षि वाल्मीकि का कथन असत्यताग्रस्त हो जायेगा। अतः तत्पश्चात् कालिक पुराणों एवं परवर्ती अनेक रामायणों में उपवर्णित अहल्या का पाषाण-रूपत्व अपने अभिधेयार्थ में बाधित होकर पाषाणसदृशरूप अर्थ में ही पर्यवसन्न है, समन्वय की दृष्टि से यही मार्ग प्रशस्ततम है।

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि, पृ० ५०

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

अहल्या के पाषाणत्व का अपलाप करने के लिए पण्डित जी ने स्मरण की जो प्रक्रिया बतलायी है, उसके औचित्यानौचित्य का विचार प्रस्तुत है। इनके कथनानुसार आत्मा या अन्तःकरण में विद्यमान संस्कार और स्मृति में समानदेहस्थत्वरूप सामानाधिकरण्य अपेक्षित है। तथा समानदेहस्थत्वघटक 'समानदेह' पद से आत्मा या अन्तःकरण विवक्षित है; क्योंकि ऐसा होने पर ही समानदेहस्थ संस्कार एवं स्मृति में समानदेहस्थत्व कहा जा सकता है। यद्यपि समानदेहस्थत्वघटक 'समानदेह' पद का 'समाना देहा यस्य' अथवा 'समानो देहो यस्य' ऐसा विग्रह करके समानदेह पद से आत्मा या अन्तःकरण गृहीत होंगे। तथापि 'समानाः सत्समैके' अमरकोश ३/३/१२७ से समान शब्द 'सदृश' एवं 'एक' अर्थ का समर्पक प्रसिद्ध होने के कारण प्रकृत स्थल में वह पण्डितप्रवर को सदृशार्थक अभीष्ट है अथवा एकार्थक ? यदि सदृशार्थक है तो सादृश्य का भान देहपदार्थ में होगा। और वह भी स्वरूपाकृत्यादि रूप मानने पर समानरूप आकृति वाला जो देह तदवच्छिन्न आत्मा अथवा अन्तःकरण समानदेहपद बोध्य होंगे। ऐसी स्थिति में देवदत्त ने घट, पट आदि वस्तुओं का जिस देह से अवच्छिन्न आत्मा में साक्षात्कार किया है उन विषयों का स्मरण उस देह से अवच्छिन्न आत्मा में तभी तक हो सकता है, जब तक अवच्छेदक देह में आकृत्यादि की समानता है। तात्पर्य यह कि तद्देहावच्छिन्न आत्मा में अनुभव होने के पश्चात् तद्देहसदृशदेहावच्छिन्न आत्मा में ही स्मृति उत्पन्न हो सकती है। किशोरावस्था के देह से विशिष्ट आत्मा में जिन विषयों के अनुभव हुए उनका स्मरण वृद्धावस्था में कथमपि उपपन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि किशोरावस्था के देह सदृश वृद्धावस्था का देह नहीं है। दोनों के स्वरूप और आकृत्यादि में महान् भेद है। अतः समानपद सदृशार्थक नहीं है।

द्वितीय दोष यह कि जन्मान्तरीयदेहावच्छिन्नात्मा में 'दुग्धपान मेरी क्षुधानिवृत्तिरूप इष्ट का साधन है'—ऐसा अनुभव हुआ है। उक्त देह से भिन्न आकृति एवं स्वरूप वाला होने के कारण इस जन्म के देह से अवच्छिन्न शिशु की आत्मा में 'दुग्धपान मेरी क्षुधानिवृत्तिरूप इष्ट का साधन है'-ऐसी स्मृति नहीं हो सकती। फलतः शिशु की प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति ही अनुपपन्न हो जायेगी; क्योंकि पूर्वकालिकानुभव

के संस्कार एवं स्तन्यपानपूर्वकालिक स्मृति में समानदेहस्थत्वरूप सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमहापुराणोपवर्णित, गजेन्द्रमोक्षप्रकरण ८/३/१६ में गजेन्द्र को उसके पूर्वजन्म में अनुभूत स्तोत्र का स्मरण गजशरीरावच्छिन्न आत्मा में कहा गया है, वह भी अनुपपन्न हो जायेगा। गर्भोपनिषद् में गर्भावस्थापन्न जीव को अनन्तजन्मों में अनुभूत विषयों की स्मृति बतायी गयी है। वह भी उपपन्न नहीं हो सकती; क्योंकि यद्देहावच्छिन्न आत्मा में विषयों की अनुभूति एवं संस्कार पड़े। उन देहों से गर्भस्थ बालक का देह असदृश है। अतः समानदेहस्थत्वघटक समान पद को पण्डितप्रवर सदृशार्थक मानकर उक्त सामानाधिकरण्य की उपपत्ति संस्कार एवं स्मृति के बीच नहीं कर सकते।

यदि उक्त सामानाधिकरण्यघटक समान पद एकार्थक अभीष्ट हो तो एकदेहावच्छिन्न आत्मा का ही समानदेह पद से ग्रहण होगा। वह एक देह भी वही ग्राह्य है जिससे अवच्छिन्न आत्मा में अनुभूत वस्तु का संस्कार पड़ा है। देवदत्त ने किसी भी वस्तु का साक्षात्कार इस जन्म के देह से अवच्छिन्न आत्मा में किया। कुछ काल के पश्चात् उसे उसका स्मरण हुआ। इसलिए समानदेहस्थत्वरूप सामानाधिकरण्य माना जाय—ऐसा कहना अनुचित है; क्योंकि जन्मान्तरीयदेहावच्छिन्नात्मा में हुआ इष्टसाधनताविषयक संस्कार इस जन्म के देह से अवच्छिन्न आत्मा में इष्टसाधनताविषयक स्मृति आपके अनुसार नहीं करा सकता। इसका कारण यह है कि पूर्वजन्म के देह से इस जन्म का देह भिन्न है, एक नहीं। फलतः पण्डित जी के अनुसार शिशु के प्रथम स्तन्यपान की प्रवृत्ति कथमपि उपपन्न नहीं हो सकती। गजेन्द्र को भी पूर्वजन्मानुभूत स्तोत्र का स्मरण शरीर की भिन्नता होने से उपपन्न नहीं किया जा सकता। यही नहीं, शरीर के मांसपिण्डादि अवयवों के उपचय एवम् अपचय होने से अवयवी शरीर भी उत्पन्न और नष्ट होता रहता है। अतः बाल्यकाल में अनुभूत विषयों का स्मरण भी यौवनावस्था या वृद्धावस्था में नहीं होना चाहिए; क्योंकि पूर्वशरीर परिवर्तित हो चुका है। अनन्त शरीर हो जाने पर भी 'यह वही शरीर है' ऐसी प्रत्यभिज्ञा 'सेयं दीपकालिका'— 'यह वही दीपज्वाला है' इस प्रत्यभिज्ञा की भाँति स्वरूपाकृत्यादि साजात्य से उपपन्न हो जायेगी। फलतः उन शरीरों में ऐक्य मानकर समानदेहस्थत्वरूप सामानाधिकरण्य उपपन्न नहीं हो सकता।

अनुभव और स्मृति का कार्यकारणभाव

यह सर्वप्रसिद्ध है कि जिन पदार्थों का चक्षुरादि इन्द्रियों अथवा अनुमानादि प्रमाणों से अनुभव हो चुका है उन्हीं की स्मृति होती है। इसीलिए स्मृति में पूर्वानुभव कारण माना जाता है। किन्तु आज हमें उन व्यक्तियों का भी स्मरण होता है जिन्हें हम वर्षों पूर्व देख चुके हैं। यहाँ स्मृति के अव्यवहितपूर्व तत्तद्व्यक्तिविषयक अनुभव नहीं है, फिर उसे कारण कैसे माना जाय ? क्योंकि कारण होने के लिए उसे नियमतः अव्यवहित पूर्ववर्ती होना चाहिए। अतः अनुभव और स्मृति के कार्यकारणभाव के निर्वाह हेतु दार्शनिकगण उन दोनों के बीच एक व्यापार की कल्पना करते हैं जिसे संस्कार (भावना) कहते हैं।

न्यायसिद्धान्त में अनुभव और स्मरण ही नहीं, अपितु समस्त ज्ञान, सुख, दुःखादि आत्मा में ही माने जाते हैं; क्योंकि तार्किकगण आत्मा को ही इन सबका समवायिकारण सिद्ध करते हैं। अतः अनुभव और स्मरण में समवायघटित सामानाधिकरण्य है। समवायसम्बन्धेन तद्विषयकस्मरणं प्रति समवायसम्बन्धेन तद्विषयकानुभवः कारणम्। तथा च समवायसम्बन्धावच्छिन्नतद्विषयकानुभवत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावदात्मनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्व ही अनुभव का स्मृति में सामानाधिकरण्य है, और समवायसम्बन्धावच्छिन्नतद्विषयकस्मृतित्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणतावदात्मनिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नवृत्तित्वरूपसामानाधिकरण्य तद्विषयक अनुभव में है। कालभेद से एक अधिकरण में विरुद्ध वस्तुओं की सत्ता सिद्ध है तथा देशभेद से एक काल में अहि, नकुल की सत्ता भी। अतः इन दोनों में क्रमशः सामानाधिकरण्य के घटक देश और काल होंगे। अनुभव और स्मृति में सामानाधिकरण्य का घटक आत्मा है।

अद्वैती महानुभाव अनुभव का संस्कार आत्मा में नहीं, अपितु अन्तःकरण में मानते हैं, वहीं स्मृति भी होती है। इनका तात्पर्य है कि प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का जहाँ अभेद होता है वहीं ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा जाता है। विषय जब सम्मुख रहता है तब अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय प्रणाली से घटादि देश में जाकर घटाकाराकारित हो जाती है। उपाधि घट और तदाकाराकारितचित्तवृत्ति के एक देश में स्थित होने के कारण उपहितचैतन्य में अभेद हो जाता है; क्योंकि उपा-

धियाँ भिन्न देश में रहकर ही उपहितों में भेद करती हैं। जहाँ विषयचैतन्य का वृत्तिचैतन्य से अभेद न हो, वहाँ ज्ञान प्रत्यक्षेतर होता है। संस्कारजन्य स्मरणरूप अन्तःकरण की वृत्ति अन्तःकरण देश में ही होती है; क्योंकि उसका विषय या तो अन्य देश में है अथवा नष्ट हो गया है। इसलिए विषय चैतन्य और वृत्तिचैतन्य का अभेद न होने से स्मृति ज्ञान प्रत्यक्ष से भिन्न ही है। चूंकि संस्कार अद्वैतिगण अन्तःकरण में मानते हैं अतः स्मृति भी वहीं स्वीकार करते हैं। इनके यहाँ भी समानदेहस्थरूप सामानाधिकरण्य मानकर अनन्त जन्मों के दुःख सुखादि का गर्भ में स्मरण तथा प्रथम स्तन्यपान के पूर्व होने वाले इष्टसाधनताविषयक स्मृति को उपपन्न नहीं किया जा सकता; क्योंकि देह परिवर्तन हो चुका है। हम लोगों को अपने पूर्वजन्म के अनुभूत विषयों की स्मृति न होती हो ऐसी बात नहीं है। शिशु के प्रथम स्तन्यपान में प्रवृत्ति के पूर्व इष्ट-साधनताविषयक स्मृति होती है वह पूर्वजन्म में अनुभूत जो इष्टसाध-नात्मक विषय तद्विषयक ही है। हाँ, सभी विषयों की स्मृति नहीं होती है, उसमें भी शरीरपरिवर्तन कारण नहीं है, अपितु जिन विषयों के संस्कार काल, रोग और मृत्यु आदि से नष्ट हो गये हैं उनकी स्मृति संस्काररूप कारण के अभाव से ही नहीं होती। जो संस्कार बचे हुए हैं, उनके उद्बोधक जब तक सन्निहित नहीं होंगे, तब तक उनकी स्मृति सम्भव नहीं; क्योंकि स्मृति में उद्बुद्ध संस्कार ही हेतु हैं, अनुद्बुद्ध नहीं। अतएव इसी जन्म में अनुभूत जिन विषयों के संस्कार उद्बुद्ध नहीं होते, उनकी स्मृति नहीं होती है। अतः शरीरपरिवर्तन को स्मृति के अभाव का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। अन्यथा अवयवों के उपचय और अपचय से अनन्त शरीर उत्पन्न, विनष्ट होने के कारण बाल्यावस्था में अनुभूत विषयों की स्मृति यौवनावस्था में नहीं होनी चाहिए।

सर्वसाधारण जानते हैं कि हमें बचपन में अनुभूत सभी विषयों की स्मृति वृद्धावस्था में नहीं होती, कुछ की होती है, कुछ की नहीं। ऐसी स्थिति में जब कि अवयवों के उपचय और अपचय से पूर्वशरीर का परिवर्तन हो ही चुका तो द्विवेदी जी के अनुसार बचपन के किसी भी विषय का स्मरण वृद्धावस्था में नहीं होना चाहिए। किन्तु होता है। अतः शरीर-परिवर्तन को शरीरान्तरावच्छिन्न आत्मा में अनुभूत विषयों की स्मृति के अभाव का प्रयोजक नहीं माना जा सकता। बाल्यावस्था में अनुभूत

जिन विषयों के संस्कार नष्ट नहीं हुए, वे ही उद्बुद्ध होकर वृद्धावस्था में स्मरण के कारण बन जाते हैं। और जो चरमस्मरणादि से नष्ट हो गये उनका स्मरण नहीं होता । संस्कार के नाशक काल, रोग, और चरम स्मरण माने गये हैं । इनसे जिन विषयों के संस्कार नष्ट हो गये हैं, उनकी स्मृति न तो इस जन्म में होती है और न ही अन्य जन्म में । जिन विषयों के संस्कार नष्ट नहीं हुए हैं, वे ही उद्बोधकवशात् उद्बुद्ध होकर उन विषयों की स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं, चाहे उन विषयों का अनुभव इस जन्म में हुआ हो या जन्मान्तर में । तात्पर्य यह कि शरीर का परिवर्तन अकिञ्चित्कर है ।

पूर्वजन्म में अनुभूत बहुत से विषयों के संस्कार चरमस्मरण से नष्ट हो चुके हैं अतः उन विषयों की स्मृति इस जन्म में नहीं होती, और कुछ सुप्त पड़े हैं वे उद्बोधकों से उद्बुद्ध होकर तद्विषयक स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं । पूर्वोक्तरीत्या गजेन्द्र को पूर्वजन्म में अनुभूत मन्त्र का स्मरण, इस जन्म की बाल्यावस्था में अनुभूत विषयों का यौवनावस्था में स्मरण इत्यादि उपपन्न हो जायेंगे। अतः अनुभवजन्य संस्कार और स्मृति में एकात्मवृत्तित्वरूप सामानाधिकरण्य अपेक्षित है । समानदेहस्थत्वरूप नहीं । अतएव शरीर परिवर्तन को स्मृति के न होने में कारण मानना न्यायशास्त्रशून्यता का द्योतक है।

इस प्रकार पद्मपुराणादि के वचनों से अहल्या के शरीर को पाषाणमय (शिलाप्रतिमा) मानने से 'स्वं वपुर्धारयिष्यसि' वाल्मीकीय रामायण के इस वचन का स्वारस्य सुरक्षित रह जाता है, और कोई अनुपपत्ति भी नहीं । जैसे— जन्मान्तरों के अनुभूत विषय इस जन्म में स्मृत होते हैं वैसे ही अहल्या का भी पूर्वशरीर पाषाणमय हो गया तो कोई हानि नहीं; क्योंकि पूर्वदेहावच्छिन्नात्मा में अनुभूत विषयों का स्मरण इस पाषाणशरीर की प्राप्ति के पश्चात् उसे पुनः उसी पूर्वशरीर की प्राप्ति होने से सुतराम् प्राप्तपूर्वशरीरावच्छिन्न आत्मा में उत्पन्न हो जायेगा । अतः "स्मरन्तो गौतमवचः" से भी कोई विरोध नहीं । अतएव पुराणों एवं अन्य रामायणों में उपवर्णित अहल्या का पाषाणरूपत्व अपने में सर्वथा उपपन्न होने के कारण पाषाण शब्द को पाषाणसदृश में लाक्षणिक नहीं माना जा सकता । यही सबसे सुन्दर और तर्कनिकष पर कसा हुआ प्रशस्ततम मार्ग है । इसीलिए आज तक किसी भी नागेशप्रभृति विद्वान् ने पाषाण या शिला शब्द का पाषाणसदृश

अर्थ नहीं किया। हाँ, शास्त्रसंस्कारविधुर कोई व्यक्ति ऐसा करे तो कोई परवाह नहीं।

ब्रह्मर्षि विश्रवा

लोकस्रष्टा ब्रह्मा जी के मानसपुत्र महर्षि पुलस्त्य सुमेरु पर्वत में राजर्षि तृणविन्दु के आश्रम के समीप रमणीय स्थान में तप कर रहे थे। वहीं देव, गन्धर्व, किन्नर और राजर्षियों की कन्यायें क्रीडा करती थीं, जिससे उनके तप में विघ्न होता था। एक दिन उन्होंने क्षुब्ध होकर शाप दिया कि जो भी स्त्री मेरी दृष्टि में पड़ जायेगी वह सद्यः गर्भवती हो जायेगी। तृणविन्दु की कन्या ने उस शाप को नहीं सुना था। अतः वह वहाँ चली गयी। उसने महर्षि की वेदध्वनि को सुना और उन्हें देखा भी। इसके वाद वह गर्भवती हो गयी। राजर्षि तृणविन्दु ने अपनी पुत्री की स्थिति को देखकर ध्यानयोग से जान लिया कि यह ये सव महर्षि पुलस्त्य के शाप से हुआ है। अन्ततः उन्होंने अपनी कन्या महर्षि को दे दी। कन्या इडविडा की शुश्रूषा से प्रसन्न महर्षि ने उसे अपने समान तेजस्वी और दोनों के वंशों का संवर्धन करने वाले पुत्र का आशीर्वाद दिया। जिसके फलस्वरूप महर्षि विश्रवा की उत्पत्ति हुई। वे तीनों लोकों में यश और धर्म से समन्वित होने के कारण विख्यात थे। इसका ज्ञान 'वाल्मीकीयरामायण' के उत्तरकाण्ड के द्वितीयसर्ग से होता है। पं० वैजनाथ द्विवेदी इन्हें वर्णसङ्कर मानते हैं। इनकी भ्रान्ति का उल्लेख करके निराकरण किया जाता है— "यद्यपि महर्षि विश्रवा की उत्पत्ति ब्रह्मर्षि पुलस्त्य के वेदाध्ययनसम्भूत तेज से (न कि वीर्य से) अवश्य हुई थी। किन्तु क्षेत्र वहाँ राजर्षि तृणविन्दु की कन्या थी। अतः एक साङ्कर्य वहीं हो गया। विश्रवा से जिन रावणादि की उत्पत्ति हुई वहाँ भी क्षेत्र सुमाली राक्षस की कन्या थी, जो जात्या राक्षस थी। ब्राह्मणत्व तो पिता में ही नहीं था तो पुत्रों में आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसीलिए महर्षि वाल्मीकि ने अपने रामायण में कहीं भी रावण आदि के लिए मनुष्य या ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नहीं किया है, अपितु राक्षस शब्द का ही सर्वत्र स्पष्ट प्रयोग किया है।"

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि, पृष्ठ १०५

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डित जी के उक्त लेख से तीन तथ्य झलकते हैं—

१. महर्षि विश्रवा ब्राह्मण और क्षत्रिय कन्या से उत्पन्न होने के कारण वर्णसङ्कर थे। उनमें ब्राह्मणत्व का अभाव था।

२. अब्राह्मण विश्रवा और कैकसीनामक राक्षसकन्या से समुत्पन्न रावण आदि राक्षस ही थे, ब्राह्मण नहीं।

३. रावण आदि में ब्राह्मणत्व न होने के कारण ही महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में कहीं भी रावण आदि के लिए मनुष्य या ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नहीं किया।

महान् आश्चर्य है कि पं० जी अपनी बात सिद्ध करने के लिए ब्रह्मर्षि विश्रवा को वर्णसङ्कर बना डाले। ब्रह्मर्षि विश्रवा में साङ्कर्याभाव दिखाने के लिए सर्वप्रथम साङ्कर्य पर विचार किया जाता है— ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ये तीनों वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। चतुर्थ वर्ण शूद्र इनसे पृथक् एक जाति है, और पञ्चम वर्ण तो कोई होता ही नहीं—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः॥　　} मनुस्मृति १०/४

सङ्कीर्ण जातियाँ भी हैं। ब्राह्मणादि चारों वर्णों के पुरुषों का स्वजाति की अक्षतयोनि कन्या के साथ शास्त्ररीत्या विवाह होने पर जो सन्तान होगी, वह माता-पिता की जाति वाली होगी।★ —अर्थात् शास्त्ररीत्या परिणीत ब्राह्मणकन्या में ब्राह्मण से समुत्पन्न सन्तान ब्राह्मण, इसी प्रकार क्षत्रियकन्या में क्षत्रिय से समुद्भूत सन्तान क्षत्रिय होगी। वैश्य और शूद्र में भी ऐसा ही समझना चाहिए। इन्हीं चारों वर्णों में परस्पर एक वर्ण के पुरुष से दूसरे वर्ण की कन्या में उत्पन्न सन्तान वर्णसङ्कर होती है।

व्यभिचार से, माता या पिता के गोत्र की कन्या से विवाह करने पर तथा उपनयनरूप स्वकर्म का त्याग होने पर भी उत्पन्न होने वाली सन्तान वर्णसङ्कर होती है—

★सर्ववर्णेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥　　} मनुस्मृति १०/५

व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च । } मनुस्मृति
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसङ्कराः ।। } १०/२४

अनुलोमसङ्कर और प्रतिलोमसङ्कर के भेद से वर्णसङ्कर दो प्रकार के वतलाये गये हैं—

अनुलोमसङ्कर—

ब्राह्मण से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रकन्या में, क्षत्रिय से वैश्य और शूद्र-कन्या में और वैश्य से शूद्र-कन्या में समुत्पन्न सन्तानें अनुलोमसङ्कर मानी जाती हैं। ये पिता से निम्न और माता से उच्च जाति की होती हैं। 'विवाहयोग्य-कन्या-निरूपणप्रसङ्ग' में मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में वताया गया है कि शूद्र को भार्या केवल शूद्रा ही होगी। उससे उत्कृष्ट वैश्या, क्षत्रिया और ब्राह्मणी नहीं। वैश्य की शूद्रा और वैश्या, क्षत्रिय की क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा तथा ब्राह्मण के लिए ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा ये चारों शास्त्रानुमोदित हैं—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते । } मनुस्मृति
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ।। } ३/१३

इनमें अपने-अपने वर्ण की विवाहिता अक्षतयोनि कन्या में उत्पन्न सन्तानें माता और पिता के जाति की निश्चित ही हैं, किन्तु ब्राह्मण से विवाहित क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के कन्या की सन्तानें अनुलोमसङ्कर कही जाती हैं। अनुलोमसङ्कर में ब्राह्मण से क्षत्रिया में उत्पन्न निषाद कहा जाता है। इसको पारशव भी कहते हैं। क्षत्रिय से वैश्यकन्या में उत्पन्न माहिष्य और शूद्रकन्या में प्रसूत उग्र कहा जाता है। इस प्रकार ब्राह्मण से तीन, क्षत्रिय से दो तथा वैश्य से एक, कुल मिलाकर अनुलोमसङ्कर की संख्या छह हुई।

प्रतिलोमसङ्कर—

ब्राह्मणादि का अपने से निम्नवर्ण की कन्या के साथ विवाह अनुमत है, किन्तु निम्नवर्ण का अपने से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह अनुमत नहीं है। शूद्र से वैश्या, क्षत्रिया और ब्राह्मणकन्या में उत्पन्न सन्तानें क्रमशः अयोगव, क्षत्ता और चाण्डाल कही जाती हैं—

शूद्रादयोगवः क्षत्ता चाण्डालश्चाधमो नृणाम् । } मनुस्मृति
वैश्यराजन्यविप्रासु जायन्ते वर्णसङ्कराः ।। } १०/१२

वैश्य से क्षत्रिया और ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तानें क्रमशः मागध और वैदेह कही जाती हैं। क्षत्रिय से ब्राह्मणी में उत्पन्न सन्तान सूत कहलाती है—

क्षत्रियाद्विप्रकन्यायां सूतो भवति जातितः। मनुस्मृति
वैश्यान्मागधवैदेहौ राजविप्राङ्गनासुतौ ॥ १०/११

इस श्लोक में कन्या शब्द स्त्री-मात्र के ग्रहण के लिए है; क्योंकि क्षत्रिय का विप्रकन्या से विवाह शास्त्रानुमोदित नहीं है। इसीलिए अग्रिम वचन कन्याघटित न होकर अङ्गनाघटित है; क्योंकि वैश्य का भी क्षत्रियकन्या या ब्राह्मणकन्या से विवाह शास्त्रविरुद्ध है। यहाँ की मन्वर्थमुक्तावली टीका द्रष्टव्य है। चूंकि ब्राह्मण से उच्च कोई वर्ण नहीं है; इसलिए ब्राह्मण से प्रतिलोमसङ्करसन्तान उत्पन्न होने की कोई सम्भावना ही नहीं है। इसी असम्भाव्यता के कारण ऋतम्भरा प्रज्ञा के निलय भगवान् मनु और याज्ञवल्क्य जैसे मनीषियों ने कहीं भी ब्राह्मण से उत्पन्न सन्तान को प्रतिलोमसङ्कर नहीं कहा।

इस परिशीलन से यह सुनिश्चित हुआ कि ब्राह्मणादि वर्ण के पुरुष द्वारा अपने से निम्नवर्ण की विवाहित अक्षत-योनि कन्या में समुत्पन्न सन्तानें, शूद्रादि निम्नवर्ण के पुरुष से उच्चवर्ण वैश्यादि स्त्रीमात्र में समुद्भूत सन्तानें, परस्पर व्यभिचारजन्य-सन्तानें, सगोत्रादि विवाह से समुत्पन्न तथा उपनयनरूप स्वकर्म से रहित व्रात्यसंज्ञक लोगों से प्रसूत सन्तानें वर्णसङ्कर कहलाती हैं।

साङ्कर्य की सीमा

पूर्वोक्त चारों वर्णों के अन्तर्गत आने वाले पुरुष और स्त्री से ही अनुलोमादि वर्णसङ्कर सन्तानें शास्त्ररीत्या मानी जाती हैं। देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस और उरग आदि का इन चारों वर्णों में अन्तर्भाव न होने से उनमें एक दूसरे से उत्पन्न सन्तानें तथा ब्राह्मणादि द्वारा उनमें किसी की भी कन्या में समुद्भूत सन्तानें वर्णसङ्कर की परिधि से बाहर हैं। जैसे देवराज इन्द्र द्वारा पुलोम दैत्य की कन्या शची में उत्पन्न जयन्त देव ही हैं, दैत्य नहीं। जयन्त की उन दोनों से भिन्न कोई अन्य जाति नहीं, अपितु देवत्व ही श्रुत है—

"ततः शक्रसुतो देवो जयन्त इति विश्रुतः"। —वा०रा०उ०का०,२८/७

यहाँ जयन्त को देव कहा गया है। राक्षस सुकेश को ग्रामणी

नामक गन्धर्व ने अपनी कन्या देववती को पत्नीरूप में समर्पित कर दिया। उससे उत्पन्न माल्यवान् सुमाली और माली राक्षस ही हुए—

माल्यवन्तं सुमालिं च मालिं च बलिनां वरम्।
त्रींस्त्रिनेत्रसमान् पुत्रान् राक्षसान् राक्षसाधिपः ॥ } वा० रा० उ० का०, ५/६

नर्मदा नामक गन्धर्वी ने अपनी सुन्दरी, केतुमती और वसुदा नाम की कन्यायें क्रमशः माल्यवान्, सुमाली और माली को पत्नीरूप में समर्पित किया। जिससे उत्पन्न सन्तानें राक्षस ही हुईं।★ इनमें सुमाली की पुत्रियों में कैकसी अन्यतम थीं जो बाद में रावण, कुम्भकर्ण और बिभीषण की माँ बनीं।

साङ्कर्य के अपवाद महर्षिगण

उन ब्रह्मर्षियों की सन्तानों पर भी वर्णसंकररूपी भयंकर राक्षस का प्रभाव नहीं पड़ता, जो अपनी उत्कृष्ट तपश्चर्या से नारी के बिना ही संकल्पमात्र से सन्तान उत्पन्न करने की सामर्थ्य रखते हैं। उनका वीर्य अमोघ होता है, उसे पुत्र-जनन के लिए स्त्रीरूपी क्षेत्र आवश्यक नहीं। वे कहीं भी अपनी ही जाति के पुत्र या पुत्री उत्पन्न कर सकते हैं। कृप, कृपा❀ एवं शुक आदि इसके दृष्टान्त हो सकते हैं।

सीमितशक्ति सम्पन्न ब्राह्मणों के लिए यह नियम है कि उनसे शास्त्ररीत्या परिणीत ब्राह्मणकन्या में उत्पन्न सन्तान ही ब्राह्मणजाति की होगी। अलौकिक-शक्ति-सम्पन्न महर्षिगण इसके अपवाद हैं। उन्हें इस नियम की परिधि में शास्त्र स्वयं नहीं स्वीकार करते। यदि वे इस नियम से बद्ध होते तो महर्षि शतानन्द के पुत्र सत्यधृति के शर-स्तम्ब (सरकन्डे) पर गिरे वीर्य से उत्पन्न कृप और कृपी ब्राह्मण जाति के नहीं होते। महर्षि विभाण्डक के अमोघवीर्य— जिसे मृगी पी गयी थी-से समुत्पन्न ऋष्यश्रृङ्ग ब्रह्मर्षि (ब्राह्मणत्व विशिष्ट ऋषि) नहीं हो सकते थे; क्योंकि उस नियम में उत्पादयिता को शास्त्ररीत्या ब्राह्मण

★ वाल्मीकीय रामायण उत्तरकाण्ड, सर्ग ५।

❀ "सत्यधृतेर्वराप्सरसमुर्वशीं दृष्ट्वा रेतस्कन्नं शरस्तम्बेपपात ॥ तच्च द्विधागतमपत्यद्वयं कुमारः कन्या चाभवत् ॥ तौ च मृगयामुपयातः शन्तनुर्दृष्ट्वा कृपया जग्राह ॥ ततः कुमारः कृपः कन्या चाश्वत्थाम्नो जननी कृपी द्रोणाचार्यस्य पत्न्यभवत् ॥ —वि० पु० ४/१६/६५,६६,६७,६८

और ब्राह्मणी होना अनिवार्य है। यहाँ ब्राह्मणी की कौन कहे, साक्षात् पशु से समुत्पत्ति हुई है, फिर भी ऋष्यशृङ्ग में ब्राह्मणत्व विद्यमान है—

विभाण्डकसुतं राजन् ब्राह्मणं वेदपारगम्।
नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यपित्रनुवर्तनात्॥ } वा०रा०वा०का० ९/१६–५

ब्रह्मर्षि भृगु की पौलोमी नामक पत्नी–जो पुलोम दानव की कन्या थी, से उत्पन्न च्यवन ब्राह्मण ही हुए—

'पप्रच्छ च्यवनं विप्रं लवणस्य यथावलम्'। –वा०रा०उ०का० ६७/१

यहाँ माँ दानव–कन्या है, फिर भी मात्र पिता में ब्राह्मणत्व होने के कारण ही उनमें ब्राह्मणत्व आया।

अब क्षत्रियकन्याओं से ब्रह्मर्षियों द्वारा उत्पन्न सन्तानें वर्णसङ्कर न होकर ब्राह्मण हुईं, इसका वर्णन किया जाता है।

राजर्षि[१] कुशनाभनन्दन गाधि की सत्यवती नामक कन्या से ब्रह्मर्षि ऋचीक का विवाह हुआ[२]। यहाँ माता क्षत्रिया है। फिर भी इन दोनों से समुत्पन्न जमदग्नि ब्राह्मण ही हुए, वर्णसङ्कर नहीं। यदि जमदग्नि ब्राह्मण नहीं होते तो उनसे उत्पन्न परशुराम जी ब्राह्मण कैसे हो सकते थे? राजा शर्याति की 'सुकन्या' नामक क्षत्रियकन्या में ब्रह्मर्षि च्यवन से दधीचि उत्पन्न हुए जो ब्राह्मण ही हैं, वर्णसङ्कर नहीं; क्योंकि दक्षप्रजापति ने इन्हें द्विज कहकर सम्बोधित किया है—

तस्मात्त्वया न वक्तव्यं पुनरेवं वचो द्विज।'-स्क०म०मा०ख०,के०स० २/२९

इक्ष्वाकुवंशी रेणु की क्षत्रियकन्या रेणुका में ब्रह्मर्षि जमदग्नि से समुद्भूत परशुराम जी ब्राह्मण ही हुए, वर्णसङ्कर नहीं— "जमदग्निरिक्ष्वाकुवंशोद्भवस्य रेणोस्तनयां रेणुकामुपयेमे। तस्यां चाशेषक्षत्रहन्तारं भगवतः सकललोकगुरोर्नारायणान्शं जमदग्निरजीजनत्"।

—विष्णुमहापुराण ४/७, ३५–३६।

'क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः।'–वा०रा०,वा०का०७५/६

१–'कुशनाभस्तु राजर्षि' —वा०रा०बा०का० ३२/११।

कस्याश्चित्त्वथ कालस्य कुशनाभस्य धीमतः।
जज्ञे परमधर्मिष्ठो गाधिरित्येव नामतः॥ } वा०रा०बा० का० ३२/११

२–गाधिश्च सत्यवतीं कन्यामजनयत्। तां च भार्गव ऋचीको वव्रे। गाधिरप्यतिरोषणायातिवृद्धाय ब्राह्मणाय दातुमनिच्छन्....शुल्कमयाचत। तेनाप्यृषिणा दत्तम्। ततस्तामृचीकः कन्यायुपयेमे। अनन्तरं च सा जमदग्निमजीजनत्ः। —विष्णुमहापुराण ४/७/१२-१३-१४-१६-३२

यहाँ सत्यवादी महाराज दशरथ ने परशुराम जी को महातपस्वी ब्राह्मण बतलाया है। अतः सिद्ध होता है कि असीम सामर्थ्य वाले ब्रह्मर्षियों से ब्राह्मणपुत्र की समुत्पत्ति हेतु ब्राह्मणकन्या अनिवार्य नहीं है। वे दानव या क्षत्रिय की कन्या से भी ब्राह्मणसन्तान उत्पन्न कर सकते हैं। इसीलिए भगवान् मनु भी वीर्य को स्त्रीरूपी क्षेत्र से अधिक गौरव देते हुए कहते हैं—

यस्माद् बीजप्रभावेण तिर्यग्जा ऋषयोऽभवन् ।
पूजिताश्च प्रशस्ताश्च तस्माद् बीजं प्रशस्यते ॥ — मनुस्मृति १०/७२

यहाँ सुप्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्ट लिखते हैं— "यस्मादिति। यस्माद् बीजमाहात्म्येन तिर्यग्जातिहिरण्यादिजाता अपि ऋष्यश्रृङ्गादयो मुनित्वं प्राप्ताः पूजिताश्चाभिवाद्यत्वादिना वेदज्ञानादिना प्रशस्ता वाचा संस्तुता तस्माद् बीजं प्रशस्यते। एवञ्च बीज— प्राधान्य— निगमनं बीजयोन्योर्मध्ये बीजोत्कृष्टा जातिः प्रधानमित्येवं परतया बोद्धव्यम्।"

"बीज के माहात्म्य के कारण ही तिर्यग्योनि हिरणी आदि में उत्पन्न होकर भी ऋष्यश्रृङ्ग आदि मुनिभाव को प्राप्त हुए, तथा प्रणामादि से पूजित हुए, और वेदज्ञानादि के कारण उनकी बड़ी प्रशंसा हुई। अतः बीज को प्रशस्त कहा जाता है। इस प्रकार बीज के प्राधान्य का यह निगमन है, अर्थात् बीज और योनि के मध्य बीज के उत्कर्ष से युक्त जाति प्रधान है--ऐसा जानना चाहिए"। तात्पर्य यह कि बीज और योनि के मध्य बीज जिस जाति का है उससे उत्पन्न सन्तान भी उसी जाति की होगी। इसीलिए ब्राह्मण बीज से क्षत्रिया कन्या में समुद्भूत पूर्वोक्त सन्तानें ब्राह्मण ही हुईं। इस प्रकार मनुस्मृति से यही सिद्ध हुआ कि बीज का प्राधान्य होने के कारण क्षेत्र चाहे दानवकन्या हो या क्षत्रियकन्या, उसमें ब्रह्मर्षियों द्वारा उत्पन्न सन्तानें ब्राह्मण ही होंगी; जिन्हें अनेक उदाहरणों द्वारा पूर्व में दिखाया जा चुका है।

विश्रवा के ब्राह्मणत्व में साक्ष्य

ब्रह्मा के साक्षात् पुत्र ब्रह्मर्षि पुलस्त्य, जो साक्षात् पितामह ही थे, जिनके गुण, धर्म और शील का वर्णन करने में कोई समर्थ ही नहीं, के अमोघदर्शन से राजर्षि तृणबिन्दु की कन्या इडविडा द्वारा समुद्भूत महर्षि विश्रवा ब्राह्मण ही थे, वर्णसंकर नहीं। ब्राह्मण होने

के साथ-साथ उन्हें ऋषित्व भी प्राप्त था। अतः श्रीमद् वाल्मीकीय-रामायण' में उन्हें द्विज और ब्रह्मर्षि जैसे शब्दों से विभूषित किया गया है। ब्रह्मर्षि अगस्त्य महर्षि विश्रवा को द्विज कह रहे हैं--

"एतस्मिन्नन्तरे राम पुलस्त्यतनयो द्विजः"-वा०रा०उ०का०, ६/१५।

राक्षसकन्या कैकसी भी पुलस्त्यनन्दन विश्रवा को ब्रह्मर्षे कह-कर सम्बोधित करती है-- "किं तु मां विद्धि ब्रह्मर्षे शासनात् पितुरागताम्"। --वा० रा० उ० का० ६/२०।

महर्षि वाल्मीकि ने स्वयं महर्षि विश्रवा को ब्रह्मर्षि कहा है-

ब्रह्मर्षिस्त्वेवमुक्तोऽसौ विश्रवा मुनिपुङ्गवः। -वा०रा०उ०का०,११/३७।

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, बालकाण्ड के विश्वामित्रोपाख्यान से सुस्पष्ट होता है कि कोई व्यक्ति ऋषित्व प्राप्त कर लेने पर भी ब्राह्मणत्व प्राप्ति के विना ब्रह्मर्षि नहीं हो सकता। ब्राह्मणत्वविशिष्ट ऋषि को ही ब्रह्मर्षि कहते हैं। अतः पुलस्त्यनन्दन विश्रवा वर्णसंकर नहीं, अपितु ब्राह्मण थे। यदि वे वर्णसङ्कर होते तो उनके लिए रामायण में मूर्द्धावसिक्त जाति का उल्लेख होता, न कि द्विज, और ब्रह्मर्षि का, वह भी अनेक बार। अतः ये ब्राह्मण ही थे।

द्विवेदी जी ने उत्तरकाण्ड के द्वितीय सर्ग का सारांश तो लिखा है, किन्तु उसका एकाग्रतापूर्वक मनन नहीं किया; क्योंकि वहाँ लिखा है कि ब्रह्मर्षि पुलस्त्य इडविडा के शील और सदाचार से सन्तुष्ट हो कर ऐसा पुत्र देने का संकल्प करते हैं जो दोनों के वंश को बढ़ाने वाला हो-- 'उभयोर्वंशकर्तारं पौलस्त्य इति विश्रुतम्'।-उ०का० २/३

सभी जानते हैं कि वर्णसङ्कर वंश को डुबोने वाला होता है। पद्ममहापुराण के उत्तर-खण्ड के २४२/१५ वें श्लोक में विश्रवा को विप्र कहा गया गया है। पण्डित जी जरा, चश्मा लगाकर देखें--

"पुलस्त्यस्य सुतो विप्रो विश्रवा नाम धार्मिकः"॥

अतः विश्रवा ब्राह्मण ही हैं, वर्णसङ्कर नहीं।

ब्राह्मणत्व में हेत्वन्तर

ऋषिप्रवर वाल्मीकि के शिष्य महर्षि भरद्वाज ब्राह्मण ही हैं; क्योंकि उनके लिए ब्राह्मण और विप्रवर जैसे शब्दों का प्रयोग वाल्मीकीयरामायण' में मिलता है--

स ब्राह्मणस्याश्रममभ्युपेत्यमहात्मनो देवपुरोहितस्य । — अयो० का०
ददर्श रम्योटजवृक्षदेशं, महद्वनं विप्रवरस्य रम्यम् ।। ८६/२३

यही ब्रह्मर्षि भरद्वाज अपनी देववर्णिनी नामक कन्या पुलस्त्य-नन्दन विश्रवा को विवाहार्थ दे देते हैं। क्या कोई ब्राह्मणोत्तम ऋषि किसी वर्णसङ्कर के साथ अपनी कन्या का विवाह कर सकता है ? ऐसा तो इस घोर कलि में भी कोई वेदज्ञ ब्राह्मण नहीं करता । यदि कोई किसी वेदज्ञ से कहे कि तुम अपनी आतमजा का विवाह वर्णसङ्कर से कर दो, तो वह भी खोपड़ी तोड़ने को तैयार हो जायेगा । फिर अन्य युगों में जबकि वर्णाश्रम व्यवस्था पूर्णरूपेण सुदृढ थी, कोई ब्राह्मणश्रेष्ठ, किसी वर्णसङ्कर को अपनी कन्या कैसे दे सकता है ? अतः देववर्णिनी के साथ पुलस्त्यनन्दन का विवाह भी उनके ब्राह्मणत्व का अनुमापक है। ब्रह्मर्षि भरद्वाज ब्रह्मर्षि विश्रवा की विपुल प्रशंसा और उनके आचरण को जानकर हो उन्हें अपनी कन्या देते हैं, विना जाने नहीं—

सत्यवान्‌ःशीलवान् दान्तःस्वाध्यायनिरतःशुचिः।
सर्वेभोगेष्वसंसक्तो नित्यं धर्मपरायणः ।
ज्ञात्वा तु तस्य तद्वृत्तं भरद्वाजो महामतिः ।
ददौ विश्रवसेभार्यां स्वसुतां देववर्णिनीम् ।। } वा०रा०उ०का० ३/२-३

अतः द्विज और ब्रह्मर्षि शब्दों का अनेक वार प्रयोग, माता और पिता दोनों के वंश की समृद्धि करने वाले पुत्र का ब्रह्मर्षि पुलस्त्य का अमोघ संकल्प, और ब्रह्मर्षि भरद्वाज की कन्या का महर्षि विश्रवा के साथ विवाह ये सब पुलस्त्यनन्दन विश्रवा के ब्राह्मणत्व के साधक हैं। मनुस्मृति से भी कोई विरोध नहीं है; क्योंकि उसमें बीज का प्राधान्य उद्घोषित किया जा चुका है। इधर अनेक प्रमाणों से दिखाया जा चुका है कि ब्रह्मर्षियों से दानव और क्षत्रिय की कन्या में ब्राह्मण ही हुए। अतः महर्षि विश्रवा भी ब्राह्मण ही थे। उनमें ब्रह्मर्षित्व भी था, जिसका सप्रमाण निरूपण किया जा चुका है। ऐसे सत्कुलप्रसूत ब्रह्मर्षि विश्रवा में साङ्कर्य न होने पर भी पण्डितपुङ्गव के साङ्कर्य दिखाने का दुस्साहस देखकर विवश होकर कहना पड़ता है—
"निज अज्ञान राम पर धरहीं" ।

ब्राह्मणत्वाभावसाधकयुक्तिभंग

द्विवेदी जी ने लिखा था कि ब्राह्मणत्व तो पिता में ही नहीं

था तो पुत्रों (रावणादि) में आने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है, इनका यह कथन ध्वस्त हो गया; क्योंकि ब्रह्मर्षि विश्रवा में ब्राह्मणत्व सप्रमाण सिद्ध किया जा चुका है । पण्डितपुङ्गव ने पृ० १०३ पर कहा है कि "महर्षि पुलस्त्य की परम्परा में प्रसूत रावण, कुम्भकर्ण आदि भी राक्षस कन्या में समुत्पन्न होने कारण राक्षस ही हुए, ब्राह्मण नहीं; क्योंकि वहां भी अनुलोमसङ्कर की ही स्थिति थी ।"

इनका यह कथन स्मार्त साक्ष्यों के विरुद्ध है; क्योंकि मनु या याज्ञवल्क्य जैसे प्रामाणिक महर्षियों ने स्मृतियों में ब्राह्मण से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की कन्या में ही समुत्पन्न सन्तान को अनुलोमसङ्कर कहा है । कहीं भी इन त्रैवर्णिकों की कन्याओं से भिन्न राक्षस आदि की कन्या में उत्पन्न सन्तान को अनुलोमसङ्कर नहीं कहा । इस विषय में 'श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण' का भी यही विनिर्णय है कि अनुलोमसङ्कर और उसमें मातृजात्यारोप केवल चतुर्वर्णान्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जैसे लोगों से उत्पन्न सन्तानों में है । ब्रह्मर्षिगण, देवता और राक्षस प्रभृति इसके अन्तर्गत नहीं हैं; क्योंकि रावण की माता कैकसी की समुत्पत्ति केतुमती नामक गन्धर्वी की कुक्षि से सुमाली राक्षस द्वारा हुई । यहाँ भी दोनों के सजातीय न होने के कारण अनुलोमसङ्कर में मातृ-जाति का आरोप होने से कैकसी गन्धर्वी ही मानी जायेंगी । किन्तु ऐसा नहीं है, उसे राक्षसी ही सर्वत्र कहा गया है । अतः अनुलोमसङ्कर और मातृजात्यारोप की परिधि से वे सब बाहर हैं । इतना ही नहीं, कैकसी के पिता सुमाली भी राक्षस नहीं सिद्ध होंगे; क्योंकि राक्षस सुकेश के द्वारा देववती नामक गन्धर्वी में ही माल्यवान् सुमाली आदि समुद्भूत हुए । अतः अनुलोमसङ्कर होने के कारण मातृजाति का आरोप होने से सुमाली प्रभृति गन्धर्व ही माने जायेंगे । पुनः उनसे केतुमती गन्धर्वी में उत्पन्न कैकसी गन्धर्वी ही सिद्ध होंगी । तव तो पण्डित जी की स्थिति "चौबे गये छब्बे वनने दूबे बनकर लौटे" जैसी हो जायेगी । पण्डितप्रवर अनुलोम--सङ्कर में माता की जाति के आरोप को आधार वनाकर रावणादि में राक्षसत्व जाति की सिद्धि करने चले थे, किन्तु हो गया उलटा । उसी आधार से रावणादि ही नहीं, उनके नाना (मातामह) के भी राक्षसत्व से हाथ धो बैठे । यदि इन स्थलों पर कोई व्यक्ति प्रतिलोमसङ्कर की स्थिति स्वीकार करे तो भी रावणादि में राक्षसत्व की सिद्धि नहीं हो सकती ।

अनुलोमसङ्कर की स्थिति में पुलोमकन्या शची में इन्द्र से समुत्पन्न जयन्त देव नहीं, अपितु दानव ही सिद्ध होंगे । इतना ही नहीं; ऋष्यशृङ्ग, जमदग्नि, परशुराम, और्व और विश्रवा प्रभृति में मातृजात्यारोप होगा; क्योंकि ये सब क्षत्रियकन्या में समुद्भूत होने के कारण अनुलोमसङ्कर ही तो होंगे। ऐसी स्थिति में श्रीमद्वाल्मीकीय-रामायण, महाभारत तथा पुराण प्रभृति आर्षग्रन्थों से अत्यन्त विरोध उपस्थित हो जायेगा; क्योंकि महर्षि वाल्मीकि और भगवान् बादरायण ने इन सभी को कण्ठतः ब्राह्मण ही नहीं, अपितु ब्रह्मर्षि तक कह डाला है। अतः शास्त्रों के विरोध-शमन हेतु ब्रह्मर्षिगण और देवता तथा राक्षसादि को साङ्कर्य की परिधि से बाहर ही समझना चाहिए। अनुलोमसङ्कर की संख्या पूर्वोक्त छह ही माननी चाहिए। अतः रावण, कुम्भकर्ण आदि में अनुलोम—साङ्कर्य की प्रसक्ति न होने के कारण मातृजात्यारोप से उन्हें राक्षस मानना पण्डितपुङ्गव की भ्रान्ति है ।

ब्राह्मणत्वाभावसाधक तृतीय हेतु का निरास

"रावण आदि में ब्राह्मणत्व न होने के कारण ही महर्षि वाल्मीकि ने रामायण में कहीं भी रावणादि के लिए मनुष्य या ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नहीं किया, अपितु राक्षस शब्द का ही सर्वत्र स्पष्ट प्रयोग किया है ।" यह कथन भी आपातरमणीय है; क्योंकि इन्द्रशत्रु वृत्र के ब्राह्मण होने पर भी वाल्मीकीयरामायण या अन्यत्र कहीं भी उसके लिए मनुष्य या ब्राह्मण शब्द का प्रयोग नहीं हुआ, अपितु सर्वत्र दैतेय महासुर आदि शब्दों का ही प्रयोग हुआ । अतः मनुष्य या ब्राह्मण शब्द का अप्रयोग रावण आदि के ब्राह्मणत्वाभाव का साधक और राक्षस शब्द का प्रयोग उसके राक्षसत्व का अनुमापक नहीं हो सकता । अन्यथा तुल्यन्यायात् वृत्र में भी ब्राह्मणत्वात्यन्ताभाव और असुरत्व सिद्ध होने लगेगा । इष्टापत्ति नहीं कर सकते; क्योंकि वृत्रवध से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी, और उसके अपाकरण—हेतु अश्वमेधयज्ञ किया गया । वृत्रवध से प्राप्त ब्रह्महत्या की उपपत्ति हेतु श्री नागेशभट्टजी ने उसे ब्राह्मण माना है ।

ब्राह्मणत्वाभावसाधक हेत्वन्तर का उपन्यास

द्विवेदी जी ने रावणादि के ब्राह्मणत्वाभाव की सिद्धि के लिए निम्नलिखित वाक्यों को प्रस्तुत किया है, जो भ्रान्तिमूलक हैं—"किसी भी अपराध की स्थिति में शास्त्र ब्राह्मणवध का विधान नहीं करता ।

न जातु ब्राह्मणं हन्यात् सर्वपापेष्ववस्थितम् ।
राष्ट्रादेनं बहिष्कुर्यात् समग्रधनमक्षतम् ।। } मनुस्मृति ८/३८०

यह सब जानते हुए भी धर्मावतार श्रीराम जी ने सकुल रावण का वध किया, यही इस विषय में सर्वश्रेष्ठ प्रमाण है कि रावण आदि में ब्राह्मणत्व का सर्वथा अभाव था । वे विशुद्ध राक्षस ही थे । यदि रावण परिवार में ब्राह्मणत्व का गन्ध भी होता, तो श्रौत-स्मार्त धर्मसंरक्षण हेतु ही अवतीर्ण श्रीराम जी रावणादि का वध कथमपि नहीं करते । उनके निग्रह के अन्य भी कई प्रकार थे जिन्हें करके उससे सीता जी का अवमोचन किया जा सकता था । जिन्हें न करके श्रीराम जी द्वारा उनका वध करना ही उनके ब्राह्मणत्वाभाव का अनुमापक है"।

—रा० म० वा० पृ० १०७

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डित जी की भ्रान्ति के निराकरणार्थ सर्वप्रथम इनका आशय प्रस्तुत करता हूँ—

श्रीराम जी विग्रहवान् धर्म हैं । उनका अवतार धर्म संरक्षणार्थ हुआ है । अतः वे शास्त्रनिषिद्ध कोई कार्य नहीं कर सकते । ब्राह्मणवध शास्त्रनिषिद्ध है; यदि रावणादि ब्राह्मण होते तो उनका वध-जो कि शास्त्र निषिद्ध है—श्रीराम जी कैसे करते ? वे तो सर्वदा शास्त्रविहित कर्म ही करते रहे । ब्राह्मण वध किसी भी स्थिति में शास्त्रविहित नहीं है । अतः अविहित उक्त वध श्रीराम जी कथमपि नहीं कर सकते । उन्होंने उसका वध किया; अतः वह ब्राह्मण नहीं था । यही पं०जी का आशय है।

धर्मावतार श्रीराम जी ने रावणादि का वध किया; किन्तु कहाँ ? रणक्षेत्र में, जब वह राक्षसों को साथ लेकर भयंकर युद्ध करने आया था । "शास्त्र किसी भी स्थिति में ब्राह्मणवध का विधान नहीं करता' कथन शास्त्र-संस्कार-विधुरता का द्योतक है; क्योंकि 'मनुस्मृति' में आततायी, वधोद्यत ब्राह्मण का वध विहित है—

१. गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।।
नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । } मनुस्मृति ८/३५०-३५१

२. आततायिनमायान्तं ब्राह्मणं वा तपस्विनम् ।
हन्तुकामं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ।। } स्कन्दमहापुराण १/१/१६/७१

३. श्रुतिः स्मृतिश्चेतिहासः पुराणं च शिवात्मज ।
प्रमाणं चेत्ततो दुष्टवधे दोषो न विद्यते ।। } स्कन्दमहापुराण १/२/३३/११

४. पापिनो यदि वध्यन्ते नैव पालनसंस्थितैः ।
ततोऽयमक्षमो लोकः कं याति शरणं गुह ।।
५. कथं यज्ञाश्च वेदाश्च वर्तन्ते विश्वधारकाः ।
तस्मात् त्वया पुण्यमाप्तं न च पापं कथञ्चन ।। } स्कन्दमहापुराण १/२/३३/१५-१६

भगवान् मनु का सुस्पष्ट घोष है कि "गुरु, वालक, वृद्ध अथवा बहुश्रुत ब्राह्मण, इनमें कोई भी आततायी वध के लिए उद्यत होकर आये तो उसे विना विचारे ही मार डालना चाहिए । ऐसे आततायी के वध में हन्ता को कोई दोष नहीं होता ।" यहाँ 'हन्यात्' इस विधिलिङ् से आततायी वधोद्यत ब्राह्मण के वध का विधान है ।

२. वधोद्यत आततायी, ब्राह्मण हो या तपस्वी, उसको मार डालना चाहिए, इससे ब्राह्मणहत्यारा नहीं होगा ।

३. हे शिवात्मज ! यदि श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराण प्रमाण हैं; तो दुष्ट के वध से पाप नहीं होता ।

४. यदि पालनकर्म में तत्पर व्यक्तियों से पापकर्मा पुरुषों का वध नहीं होगा तो असमर्थजन किसकी शरण में जायेंगे ? विश्व को धारण करने वाले यज्ञ और वेद कैसे रह पायेंगे ? अतः तुमने पुण्य ही प्राप्त किया है, न कि पाप ।

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः ।
सुमहद्दुःखमाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ।। } मनुस्मृति ४/१६७

"अयुध्यमान (युद्ध न करते हुए) ब्राह्मण के शिर आदि अङ्गों से रक्त बहाकर मनुष्य महान् दुःख पाता है ।" यहाँ अयुध्यमान, ब्राह्मण का विशेषण है । इससे युद्ध करते हुए ब्राह्मण की व्यावृत्ति की गयी है, तात्पर्य यह कि युद्धरत ब्राह्मण के अङ्गच्छेदन से पाप नहीं होता ।" रावण, ऋषियों, मुनियों की कन्याओं का अपहरण करने वाला, लोककण्टक, और श्रीरामजी की भार्या जानकीजी का अपहर्ता तथा शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर युद्धरत भी था । शस्त्रपाणि और दारहर्ता आततायी कहे गये हैं—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते त्वाततायिनः ।।

वधोद्यत, आततायी, ब्राह्मण का वध शास्त्रविहित है । अंगद और

श्रीहनुमान् जी प्रभृति लोगों द्वारा उसे जानकी जी को लौटाने के लिए भी कहा गया था; किन्तु उसने युद्ध ही स्वीकार किया, और श्रीराम तथा अन्य सभी लोगों के वध हेतु रणक्षेत्र में तत्पर था। ऐसे दुरात्मा, वधोद्यत, युध्यमान आततायी ब्राह्मण रावण का वध, जो कि शास्त्रविहित है, श्रौत-स्मार्त-धर्मसंरक्षणार्थ अवतरित परमात्मा श्रीराम किये। 'रामो विग्रहवान् धर्मः' आप्तवचन से सिद्ध है कि श्रीराम साक्षात् मूर्तिमान् धर्म हैं। वे पूर्वोक्त शास्त्रविहित युध्यमान शस्त्रपाणि, वधोद्यत, आततायी ब्राह्मण लोककण्टक रावण का वध न करते, तो शास्त्रविहित धर्म का पालन कैसे हो पाता ? न होने पर उन्हें शास्त्रीय–मर्यादा का प्रतीक कैसे माना जाता ? क्षात्रधर्मप्रधान पुरुष का रणक्षेत्र से पलायन भी शास्त्र निषिद्ध है 'न निवर्तेत सङ्ग्रामात्'–भ० गी० २/३३ की मधुसूदनी टीका। अतः महाबली श्रीराम ने रणभूमि में रावण आदि का वध करके शास्त्रीय मर्यादा का पालन ही किया है। यदि ब्राह्मण मात्र का वध निषिद्ध होता तो मर्यादा—पोषक श्रीराम के द्वारा रावणादि का वध होने से उनमें ब्राह्मणत्वाभाव का अनुमान हो सकता था; किन्तु ऐसा तो है नहीं; क्योंकि युध्यमान वधोद्यत शस्त्रपाणि, आततायी ब्राह्मण का वध विहित है। अतः श्रौतस्मार्तधर्मसंरक्षक श्रीराम द्वारा रावणादि का वध होने से रावणादि में युध्यमान ब्राह्मण और आततायी वधोद्यत ब्राह्मण भिन्न ब्राह्मण के भेद का ही अनुमान किया जा सकता है। अर्थात् युध्यमान ब्राह्मण भिन्न अथ च आततायिवधोद्यतब्राह्मणभिन्नब्राह्मणत्व के अभाव का ही अनुमान होगा। शुद्ध ब्राह्मणत्व के अभाव का नहीं; क्योंकि युध्यमानादिब्राह्मणों में ब्राह्मणत्व विद्यमान है। 'न जातु ब्राह्मणं हन्यात्' वचन का तात्पर्य युध्यमानब्राह्मणभिन्न, वधोद्यत आततायी ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मण के वध का निषेध करने में ही है। अन्यथा उन वचनों का वैयर्थ्य होगा।

निष्कर्ष—

"न जातु ब्राह्मणं हन्यात्, गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्" इत्यादि शास्त्रीय वचनों की एक-वाक्यता से युध्यमान, आततायिवधोद्यतब्राह्मण से भिन्न ब्राह्मण के वध का निषेध शास्त्र से सिद्ध है। अतः श्रीराम जी युध्यमान आततायि-वधोद्यतब्राह्मणभिन्न ब्राह्मण का वध श्रौतस्मार्तधर्म के संरक्षक होने के कारण नहीं कर सकते। उन्होंने रावणादि का वध किया, अतः वह युध्यमान, आततायिवधोद्यतब्राह्मणभिन्न ब्राह्मण नहीं था' यही सिद्ध हो

सकता है। उसमें ब्राह्मणत्व ही नहीं था यह कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि युध्यमान, आततायिवधोद्यत ब्राह्मणभिन्न ब्राह्मणसे इतर युध्यमान ब्राह्मण आततायि-वधोद्यत ब्राह्मण तथा क्षत्रियादि भी होंगे। यदि इनमें किसी में भी ब्राह्मणत्व नहीं रहता तो रावणादि में ब्राह्मणत्वाभाव सिद्ध किया जा सकता था, किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है; क्योंकि युध्यमान और आततायी वधोद्यत ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व विद्यमान है।

ब्राह्मणत्व के अनुमापक हेतु

उपनीत का ही वेदाध्ययन में अधिकार है-'अध्ययनस्योपनीताधिकारत्वात्'-मीमांसान्यायप्रकाश। अतएव भगवान् याज्ञवल्क्य का कथन है--

उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्। — या० स्मृ०
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥ १/१५

"गुरु शिष्य का उपनयनसंस्कार करके महाव्याहृतिपूर्वक वेद का अध्ययन कराये, तथा शौच और आचारों की शिक्षा दे।" उपनयन भी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन त्रैवर्णिकों का ही वेदविहित है-- अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, एकादशवर्षं राजन्यं, द्वादशवर्षं वैश्यं।-"आठ वर्ष के ब्राह्मण, ग्यारह वर्ष के क्षत्रिय और बारह वर्ष के वैश्य का उपनयन करे।"मीमांसान्यायप्रकाशकार भी इसे स्पष्ट करते हैं-"उपनयनस्यचाष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीतेत्यादिना त्रैवर्णिकाधिकारत्वात्"-मीमांसान्यायप्रकाश।

इस प्रकार उपनयन संस्कार से युक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वटु गुरु की सन्निधि में वेदाध्ययन करते हैं। वेदाध्ययन करने के पश्चात् समावर्तन का अङ्ग स्नान जो कर लेता है, उसे स्नातक कहते हैं। वे तीन प्रकार के होते हैं-- 'त्रयः स्नातकाः भवन्ति, विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातकश्चेति। यः समाप्य वेदम् असमाप्य व्रतानि समावर्तते स विद्यास्नातकः। यः समाप्य व्रतानि असमाप्य वेदं समावर्तते स व्रतस्नातकः। उभयं समाप्य समावर्तते स विद्याव्रतस्नातकः।"

—मनुस्मृति ३/२ की मन्वर्थमुक्तावली टीका।

"तीन स्नातक होते हैं: विद्यास्नातक, व्रतस्नातक और विद्याव्रतस्नातक। जो वेदाध्ययन पूर्ण करके व्रतों को समाप्त करके वेदाध्ययन पूर्ण किये विना ही (स्नान करके) समावर्तन करता है उसे व्रतस्नातक कहते हैं। जो अध्ययनोपयोगी व्रतों और वेदाध्ययन दोनों को पूर्ण करके (स्नान करके) समावर्तन कर लेता है, उसे विद्याव्रतस्नातक कहते हैं"। समावर्तनाङ्ग स्नान करके जो गृहस्थाश्रम में चले गये या नहीं भी गये, वे

दोनों स्नातक कहे जाते हैं। स्नातक शब्द का विग्रह है— 'स्नात एव स्नातकः'। स्नातशब्द से 'यावादिभ्यः कन्'–पा०सू० ५।४।२९ से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होकर स्नातक शब्द बना है। ध्यातव्य है कि उपनीत ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवटु ही अध्ययनोपरान्त स्नान करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये हों या न किये हों वे ही शास्त्ररीत्या स्नातक हैं, शूद्र आदि नहीं; क्योंकि इनका उपनयन ही वेदविहित नहीं है। त्रैवर्णिक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के अतिरिक्त शूद्र, देवता एवं राक्षस आदि का उपनयन वेदविहित नहीं है। इसीलिए उत्तरमीमांसा के देवताधिकरण में पूर्वपक्ष किया गया कि 'शूद्र की भांति देवताओं का–उपनयन वेद-विहित न होने से वेदाध्ययन का अभाव होने के कारण—ब्रह्मविद्या में अधिकार नहीं है'। आचार्य शङ्कर ने कहा–''न चोपनयनशास्त्रेणैषाम-धिकारो निवर्त्येत; उपनयनस्य वेदाध्ययनार्थत्वात्। तेषां च स्वयं प्रति-भातवेदत्वात्''। ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य १।३।२६।

''उपनयनविधायकशास्त्र से देवताओं का अधिकार (ब्रह्मविद्या से) निवृत्त हो जाता है; क्योंकि उपनयन वेदाध्ययनार्थ है, और त्रैवर्णिक के अन्तर्गत न होने से देवों का उपनयन अप्राप्त है। अतः वेदाध्ययनाभाव सुतरां सिद्ध हो गया। ऐसी स्थिति में ब्रह्मविद्या में अधिकार कैसे होगा ? इस शङ्का का उत्तर दिया गया कि उन्हें वेद स्वयं प्रतिभात हैं। अतः ब्रह्मविद्या में अधिकार है। वाचस्पति मिश्र ने भी भामती टीका में— ''न च शूद्रवदुपनयनासम्भवेनाध्ययनाभावात्तेषामनधिकार इत्यत आह— न चोपनयनशास्त्रेणेति।'' देवताओं के उपनयनाभाव को लिखा है। अतः उपनयन–संस्कार–विधुर शूद्र, देवता एवं राक्षस आदि कथमपि स्नातक नहीं हो सकते और इधर रावण को विद्याव्रतस्नातक कहा गया है—

वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तथा। वा० रा० यु०
स्त्रियः कस्माद् वधं वीर मन्यसे राक्षसेश्वर ॥ — का० ९२/६०

—''हे राक्षसों के स्वामिन्! आप वेदविद्याव्रतस्नातक हैं, और अपने अग्निहोत्रादि कर्म में निरत हैं। हे वीर! ऐसा होकर भी आप स्त्री का वध उचित कैसे मानते हैं? चूंकि रावण गृहस्थाश्रम में है, इसीलिए उसका अमात्य सुपार्श्व उसे वेदविद्याव्रतस्नातक कहता है। 'स्नात एव-स्नातकः' कहा जा चुका है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन त्रैवर्णिकों के ब्रह्मचारी ही उपनयन–संस्कारोत्तर वेदाध्ययन और तदुपयोगी व्रतों को समाप्त करके स्नानोपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् या न

करने पर भी विद्याव्रतस्नातक होते हैं। अतः निश्चित है कि रावण इन त्रैवर्णिकों के अन्तर्गत ही किसी वर्ण का था। वैश्य और क्षत्रिय की उत्पत्ति के लिए जो भी सामग्री माता-पिता के रूप में अपेक्षित है; वह यहाँ नहीं है। अतः इसे वैश्य या क्षत्रिय नहीं माना जा सकता। हाँ, ब्राह्मण अवश्य माना जा सकता है। यद्यपि ब्राह्मण सन्तान की उत्पत्ति हेतु शास्त्ररीत्या ब्राह्मण से विवाहित अक्षतयोनि ब्राह्मण कन्या आवश्यक है; तथापि इसकी आवश्यकता अलौकिक शक्तिसम्पन्न तपःप्रचुर ब्रह्मर्षियों को नहीं है। वे तो तिर्यग्योनि मृगी, क्षत्रियकन्या और दानवीकन्या में भी ब्राह्मणसन्तान उत्पन्न कर देते हैं। इसे पूर्व में सप्रमाण प्रदर्शित किया जा चुका है। अतः ब्रह्मर्षि विश्रवा से राक्षसकन्या कैकसी में ब्राह्मणसन्तान रावण आदि उत्पन्न हो गये तो कोई आश्चर्य नहीं।

रावण आहिताग्नि ब्राह्मण था

अग्न्याधान त्रैवर्णिक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के लिए विहित है—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः'—'वसन्तकाल में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय और शरत्—काल में वैश्य अग्नि का आधान करे।' यद्यपि "वर्षासु रथकारोऽग्नीनादधीत" वाक्य से रथकार—(क्षत्रिय से वैश्या में उत्पन्न माहिष्य, वैश्य से शूद्रा में उत्पन्न करणी, माहिष्य से करणी में उत्पन्न रथकार जातिविशेष है) जो तीनों वर्णों से वहिर्भूत है,—के लिए वर्षाकाल में अग्न्याधान विहित है। तथापि उपनयनाभावात् अध्ययनसिद्धवेदज्ञान न होने के कारण उसका अग्न्याधान अग्निसंस्कारार्थ न होने से यागादि का उपयोगी नहीं है; इसीलिए उसे स्वर्ग का जनक प्रधान कर्म माना गया है—

'किन्तु तदाधानं लौकिकाग्निगुणकं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलकं च स्वतन्त्रमेव प्रधानकर्म विधीयते'। — मीमांसा न्यायप्रकाश

रावण विद्याव्रतस्नातक है, और उसे आहिताग्नि भी कहा गया है—

"एषोहिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तगः कर्मसु चाग्र्य—शूरः।
एतस्य यत्प्रेतगतस्य कृत्यं तत्कर्तुमिच्छामि तव प्रसादात्"॥

—वा० रा० यु० का० १०९/२३

यह रावण आहिताग्नि (आधानसंस्कारयुक्त अग्निवाला) वेदान्त का पारगामी विद्वान् और यज्ञादि कर्मों में श्रेष्ठ (कर्मठ) था। परलोक को गये इस रावण का दाहादि कर्म आपकी कृपा से मैं करना चाहता हूँ। भक्त विभीषण का यह कथन भगवान् श्रीराम से है। वे अपने प्रभु से

असत्यभाषण कथमपि नहीं कर सकते। इस श्लोक की टीका में श्रीगोविन्द-राज, श्रीनागेश भट्ट तथा रामायणशिरोमणिकार ने "एषोहिताग्नि" में आहिताग्नि" पदच्छेद माना है और आर्षत्वात् सन्धि स्वीकार की है। तिलकटीकाकार श्रीनागेश भट्ट लिखते हैं—"एषोहिताग्निरिति सन्धि-रार्षः। आहिताग्निरितिच्छेद। वेदान्तगोऽधीतोपनिषत्कः। कर्मस्वग्नि होत्रादिषु अग्र्यशूरः परमानुष्ठाता परमकर्मठ इत्यर्थः।" चूंकि रावण विद्याव्रतस्नातक और आहिताग्नि तथा वेदान्त का परगामी विद्वान् है। अतः वह अवश्य ही ब्राह्मण है; क्योंकि विद्याव्रतस्नातकत्व और आहिता-नित्व शूद्र या देवता अथवा राक्षसादि में अनुपपन्न है।

रावण के ब्राह्मणत्व में वेदप्रमाण

"ब्राह्मणो जज्ञे दशशीर्षो दशास्यः।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्॥" } अथर्ववेद ४/६/१

"पहले दशशिर और दशमुख वाला ब्राह्मण उत्पन्न हुआ। उसने पहले सोमरस का पान किया और विष को निःसत्व बना दिया।" "वैसे दशास्य आदि शब्द पुराणादि में रावण के लिए प्रयुक्त हैं। रावण के दश-शिर प्रसिद्ध हैं ही। फलतः इस मन्त्र में श्रीमाधवाचार्यादि भाष्यकारों ने ब्राह्मण रावण का वर्णन माना है, जिसने कि अनेक यज्ञ यागादि करके पहले तो सोमपान किया; किन्तु वाद में उसे अपने आसुरी कृत्यों से अरस अर्थात् विरस बना दिया। ऐतिहासिक पक्ष की दृष्टि से यह अर्थ सर्वथा सुसङ्गत प्रतीत होता है। इस सूक्त के अन्य मन्त्र में भी तत्सम्बद्ध अर्थ माननीय है।"

उक्त मन्त्र में मेरी दृष्टि से विषम् का अर्थ जटायुषम् है, क्योंकि रावण ने जटायु को अरस अर्थात् सत्वहीन (प्राणहीन) कर दिया था। एकाक्षर कोष के अनुसार 'वि' शब्द का अर्थ पक्षी और 'ष' शब्द का अर्थ 'श्रेष्ठ' है, अतः विषु पक्षिषु षः = श्रेष्ठस्तं विषम् पक्षिश्रेष्ठम् जटायुषम्" ऐसा अर्थ किया जा सकता है। अतः उस मन्त्र का अर्थ होगा—दशशिर दशमुख वाला ब्राह्मण पूर्वकाल में उत्पन्न हुआ। पहले उसने सोमपान किया और पक्षिश्रेष्ठ जटायु को अरस(प्राणहीन)कर दिया। 'वाल्मीकीय रामायण' और पुराणों की रामकथा से इस अर्थ की पुष्टि होती है। अतः वेद के साक्ष्य से भी रावण ब्राह्मण सिद्ध होता है। शरीर की विशालता और दुष्कर्म में प्रवृत्ति, राक्षसों से सम्पर्क, तथा राक्षसी के गर्भ से उत्पन्न होने के कारण ही उसे रामायण आदि में राक्षस कहा गया है। 'न मानुषी

राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति'—वा०रा० सु० का० २५/३, का तात्पर्य है—मानुषी राक्षस अर्थात् राक्षसी के उदर से सम्भूत पुरुष की भार्या नहीं हो सकती। शरीर की विशालता, देवद्रोहित्वादि के कारण वृत्र को जैसे सर्वत्र असुर, दैतेय आदि कहा गया है। वस्तुतः वह ब्राह्मण था। यही स्थिति रावण के विषय में समझनी चाहिए। इस प्रकार मानने पर उसके लिए विद्याव्रतस्नातक, आहिताग्नि, वेदान्तग आदि कथन उपपन्न हो जायेंगे।

रावण जब जानकी जी के हरण हेतु उनके आश्रम पर पहुँचा तब त्रिदण्डी यति के वेश में था। उसके ब्राह्मणोपयुक्त शरीर, वेदघोष, शिखा उपानह, छत्र और कमण्डलु आदि देखकर ही जानकी जी उसे ब्राह्मण कहती हैं—'इयं वृषी ब्राह्मण काममास्यताम'—वा०रा०अर०का०४६/३६, 'हे ब्राह्मण ! यह ऋषियोग्य आसन है इस पर यथेच्छ बैठिये।' 'ब्राह्मणश्चातिथिश्चैष अनुक्तो हि शपेत माम्''—वा० रा०अर० का० ४१/२, यह ब्राह्मण और अतिथि है, इसके प्रश्नों का उत्तर न देने पर मुझे शाप दे देगा।' 'एतद् ब्राह्मण रामस्य व्रतं धृतमनुत्तमम्'—अर०का० ४७/१८, हे ब्राह्मण ! यह राम का धारण किया हुआ अत्युत्तम व्रत है।' 'विचराम द्विजश्रेष्ठ'—वा० रा० अर० का० ४७/२२। 'एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज।'—'द्विजश्रेष्ठ ! हम लोग भ्रमण करते हैं।' 'हे द्विज ! आप अकेले ही दण्डकारण्य में क्यों घूमते हैं ?' इन वचनों में जैसे जानकी जी ने रावण को उसकी ब्राह्मणोचित वेशभूषा, आकृति आदि देखकर ही उसे ब्राह्मण कहा है। वैसे ही उसकी नीलाञ्जनचयोपम भीषण आकृति और भयङ्कर गर्जनादि से उसे लोग राक्षस कहते थे।

लङ्कावासियों के लिए ब्रह्मराक्षस शब्द का प्रयोग

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में सुन्दरकाण्ड के १८वें सर्ग में लङ्कावासियों के लिए ब्रह्मराक्षस शब्द का प्रयोग महर्षिप्रवर वाल्मीकि जी ने किया है—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥ } वा० रा० सु० का० १८/२

'रात्रि बीतने पर (ब्राह्ममुहूर्त में) छहों अङ्गों सहित वेदों के विद्वान् और अत्युत्तम यज्ञ से यजन करने वाले ब्रह्मराक्षसों (ब्राह्मणत्व विशिष्ट राक्षसों) के वेदघोष को हनुमान् जी ने सुना।'

प्रायः सभी प्रामाणिक टीकाकार ब्रह्मरक्षसाम् का अर्थ ब्राह्मणत्व विशिष्ट रक्षसाम्[1], ब्राह्मणराक्षसानाम्[2] ही करते हैं।

श्रीगोविन्दराज से भी सुदूर पूर्ववर्ती विद्वान् स्वामी महेश्वरतीर्थ जी, जो 'रामायणतत्त्वदीपिका' नामक व्याख्या में नाना टीकाओं की पदावलियों का सङ्ग्रह करते हैं*, उन्होंने भी ब्रह्मरक्षसाम् का 'अर्थ ब्राह्मणत्वविशिष्टराक्षसानाम्' लिखा है।

शङ्का—

रावणादि में ब्राह्मणत्व और राक्षसत्व ये दोनों जातियाँ नहीं मान सकते, क्योंकि साङ्कर्य दोष जाति का बाधक है। "परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणधर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः" परस्पर अत्यन्ताभाव के समानाधिकरण जो दो धर्म, उनका एक अधिकरण में समावेश ही साङ्कर्य है। जैसे भूतत्वाभावाधिकरण मन में मूर्तत्व और मूर्तत्वाभावाधिकरण आकाश में भूतत्व है; अतः परस्परात्यन्ताभाव भूतत्वाभाव और मूर्तत्वाभाव तत्तत्समानाधिकरण धर्म हुए मूर्तत्व और भूतत्व, इन दोनों का पृथिव्यप्तेजोवायु में समावेश है। अतः भूतत्व और मूर्तत्व जातियाँ नहीं है। ऐसे ही ब्राह्मणत्वाभावाधिकरण माल्यवान् आदि में राक्षसत्व, और राक्षसत्वाभावाधिकरण वशिष्ठादि में ब्राह्मणत्व है, तथा रावणादि में ब्राह्मणत्व और राक्षसत्व दोनों हैं। अतः ब्राह्मणत्व और राक्षसत्व इन दोनों में कोई भी जाति नहीं माना जा सकता।

समाधान—

साङ्कर्य जाति का बाधक है। इसमें क्या प्रमाण है ? ऐसा पूछने पर वादिगण कहते हैं—"स्वसामानाधिकरण्य, स्वाभावसामानाधिकरण्योभय-सम्बन्धेन जातिविशिष्टजातित्वावच्छेदेन स्वसमानाधिकरणाभावप्रतियोगित्वाभावः" इस नियम के भङ्ग की प्रसक्ति होने से साङ्कर्य में जातिबाधकता मानी जाती है; अर्थात् उक्तोभय सम्बन्ध से यज्जाति विशिष्टजातित्व जहाँ जहाँ हो वहाँ वहाँ तज्जातिसमानाधिकरणाभाव-

---

१—भूषणटीकाकार श्रीगोविन्दराज २—रामायणशिरोमणिकार पंडित शिवसहाय द्विवेदी।

* नानाटीकास्थ-वाक्यानि लिख्यन्तेऽत्र यथामतिः। सर्वेषां ग्रन्थकर्तॄणां लेखकोऽहं न कल्पकः॥ लिखितान्यत्र तैर्यानि लिख्यन्ते तान्यतो मया।
—वा०रा०बा०का० १ की रामायणतत्वदीपिका।

प्रतियोगित्वाभावरूपव्यापकत्व होना चाहिए। पृथिवीत्वजाति की व्यापकीभूतद्रव्यत्वजाति में यह नियम दृष्ट है; क्योंकि पृथिवीत्वसामानाधिकरण्य पृथिवीत्वाभाव–सामानाधिकरण्योभय–सम्बन्ध से पृथिवीत्वविशिष्टद्रव्यत्वजातित्व तादृशद्रव्यत्वजाति में है, वहीं पृथिवीत्वव्यापकत्व भी है; पृथिवीत्वाधिकरण पृथिवी में द्रव्यत्वाभाव उपलब्ध नहीं; अतः शब्दत्वाभावादि ग्रहण करके तत्प्रतियोगित्व शब्दत्व में, प्रतियोगित्वाभाव द्रव्यत्व में आ जायेगा। फलतः उक्त नियम का भङ्ग न होने से पृथिवीत्व और द्रव्यत्व ये दोनों जातियाँ हैं।

इस विषय में मेरा कथन है कि उक्त नियम में कोई प्रमाण ही नहीं है। अतः प्रमाणशून्य उस नियम के भङ्ग से हमें कोई भय नहीं है कि हम साङ्कर्य को जाति का बाधक मानें हो।

उक्तसम्बन्धेन जातिविशिष्टजातित्वमस्तु तज्जातिव्यापकत्वं मास्तु" इस प्रकार व्यभिचार संशय उपस्थित कर देने से व्याप्ति का अनुग्राहक कोई अनुकूल तर्क नहीं, जिससे संशय निरस्त होकर उक्त व्याप्ति का ग्रहण हो सके। इसीलिए नव्यनैयायिकों ने साङ्कर्य को जाति का बाधक नहीं माना। यहाँ ब्रह्मरक्षसाम् का तात्पर्य ब्राह्मणत्वविशिष्टरक्षसाम् ही है। यहाँ मात्र ब्राह्मणत्व जाति ही स्वीकृत है, राक्षसत्व नहीं। राक्षस उन लोगों को शरीर की भीषणता आदि पूर्वोक्त दुर्गुणों के कारण कहा गया है, अतः साङ्कर्य की प्रसक्ति ही नहीं है।

ब्राह्मण और द्विजशब्द का प्रयोग

लङ्कावासियों के लिए कहीं भी ब्राह्मण या द्विज शब्द का प्रयोग न हो, ऐसी बात नहीं है। कुछ स्थलों में ये शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। जिस समय सेनापति प्रहस्त युद्ध के लिए प्रस्थित हुआ; उस समय अग्नि में आहुति देने वाले ब्राह्मणों द्वारा अभिमन्त्रित विविध मालाओं को उसनें और उसके अनुचरों ने ग्रहण किया और ब्राह्मणों को नमस्कार किया। ये ब्राह्मण द्विवेदी या त्रिवेदी नहीं थे; जो धर्मद्रोही राक्षसों के हित में लगे थे, अपितु ये ब्रह्मराक्षस ही थे; जो षडङ्ग वेदों के विद्वान् और ऋतुप्रवर से यजन करने वाले थे। इन्हें ही यहाँ ब्राह्मण शब्द से कहा गया है—

हुताशनं च तर्पयतां ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्॥
आज्यगन्धप्रतिवहः सुरभिर्मारुतिर्ववौ।
स्रजश्च विविधाकारा जगृहुस्त्वभिमन्त्रिताः। } वा० रा० यु० का० ५७/२१-२२

रावण की मृत्यु के पश्चात् उसे स्वर्णमयी शिविका में चढ़ाने वाले इन सबको वहाँ द्विज कहा गया है—

सौवर्णीं शिविकां दिव्यामारोप्य क्षौमवाससम् । वा०रा०यु०का०
रावणं राक्षसाधीश – मश्रुवर्णमुखा द्विजाः ।। १११/१०७,१०८

आगे यही लोग अध्वर्यु का कार्य करते हैं। शास्त्रानुसार सभी क्रियायें करते हुए अन्त में यही मेध्यपशु का वध करते हैं; वहाँ इन्हें राक्षस शब्द से कहा गया है—

शास्त्रदृष्टेन विधिना महर्षिविहितेन च ।
तत्र मेध्यं पशुं हत्वा राक्षसेन्द्रस्य राक्षसाः ।। वा०रा०यु०का०
गन्धमाल्यैरलङ्कृत्य रावणं दीनमानसाः । १११/११८–११९
लाजैरवकिरन्ति स्म वाष्पपूर्णमुखास्तथा ।।

इस स्थल में मृतक रावण के सभी प्रेतकार्य को वेदोक्त विधि तथा महर्षि रचित कल्पसूत्रों से पूर्ण करने वाले इन ब्रह्मराक्षसों को ही दीनमानस और वाष्पपूर्णमुख वाला तथा पूर्व में इन्हें अश्रुवर्णमुख वाला कहा गया है । यही लोग पूर्वोक्त कार्य करते हैं; क्योंकि इन्हें सुन्दरकाण्ड में षडङ्गसहित वेदों का ज्ञाता, श्रेष्ठयज्ञकर्ता और वेदपाठी बताया गया है। इस प्रकार इन लङ्कावासियों के लिये ब्राह्मण और द्विज शब्द का प्रयोग हुआ है । इधर सुन्दरकाण्ड में इन्हें ऋग्वेदादि मन्त्रों के जप में तत्पर स्वाध्यायनिरत बतलाते हुए यातुधान कहा गया है—

शुश्राव जपतां तत्र मन्त्रान् रक्षोगृहेषु वै । वा० रा० सु०
स्वाध्यायनिरतांश्चैव यातुधानान् ददर्श सः ।। का० ४/१३

इस परिशीलन से सुस्पष्ट होता है कि लङ्कावासियों में ब्राह्मणत्व विशिष्ट राक्षसत्व होने के कारण ही उन्हें कहीं ब्राह्मण (ब्राह्मणत्व विशिष्ट) तो कहीं राक्षस और अन्यत्र ब्रह्मराक्षस (ब्राह्मणत्वविशिष्ट राक्षस) कहा गया है । इनमें ब्राह्मण और यातुधान का प्रयोग 'शतेपञ्चाशन्न्यायेन' समझना चाहिए ।

तिलकटीकाकार के कथन में अनुपपत्ति

जब लङ्कावासियों के लिये ब्राह्मण और द्विज शब्द का उल्लेख होने से उनमें ब्राह्मणत्व का उद्घोष तथा उन्हीं वेदपाठियों के लिए यातुधान शब्द का महर्षि द्वारा प्रयोग किये जाने से राक्षसत्व का ज्ञान हो रहा है । तब सुन्दरकाण्ड के १८वें सर्ग के द्वितीय श्लोक में आये 'ब्रह्मरक्षसाम्' का अर्थ "ब्राह्मणत्व विशिष्ट राक्षसानाम्" करने में कोई अनुपपत्ति

नहीं हैं। महर्षिवाल्मीकि ने उन्हें पृथक्-पृथक् ब्राह्मण और राक्षस कहकर एक स्थल में ब्रह्मराक्षस कहने से सिद्ध कर दिया कि ये सब ब्राह्मणत्व विशिष्ट राक्षस हैं। अतएव ब्राह्मणाः या द्विजाः की लक्षणा भी नहीं करनी पड़ेगी। अतः तिलकटीकाकार द्वारा ब्रह्मरक्षसाम् का ब्राह्मणत्व विशिष्टरक्षसाम् अर्थ न करके ब्रह्म वेदस्तज्ज्ञरक्षसाम् अर्थ करना असङ्गत है। ब्रह्मरक्षसाम् का वेदज्ञरक्षसाम् अर्थ किया भी नहीं जा सकता; क्योंकि ब्रह्म का अर्थ वेद और रक्षसाम् का अर्थ राक्षसानाम् प्रसिद्ध होने पर भी केवल ब्रह्म का अर्थ वेदज्ञ कहाँ से आ गया ? तात्पर्य यह कि ब्रह्म शब्द वेदज्ञ अर्थ का समपर्क न होने के कारण ब्रह्मरक्षसाम् का ब्रह्म वेदस्तज्ज्ञरक्षसाम् अर्थ करना धूलिप्रक्षेप मात्र है। यदि ब्रह्म वेदः कण्ठे यस्य तद् ब्रह्मकण्ठं ब्रह्मकण्ठञ्चादो रक्षः ब्रह्मरक्षस्तेषां ब्रह्मरक्षसाम्" इत्यादि विग्रह वाक्य प्रदर्शित भी करें, तो भी ब्रह्मपद के ग्रहण का विशेष अर्थ नहीं निकलेगा। वेदज्ञ अर्थ तो "षडङ्गवेद विदुषाम्" से ही उपलब्ध है।.महर्षि निरर्थक शब्दों का प्रयोग भी नहीं करेंगे। फिर जब ब्रह्मरक्षसाम् में कर्मधारय समास से अवाधित अर्थ की प्रतीत होती है और श्लोकान्तर से उसकी पुष्टि होती है तब उस अर्थ का त्याग कर मध्यमपदलोपी समास की विलष्ट कल्पना क्यों की जाय।

ब्रह्मरक्षसाम् का "ब्राह्मणत्वविशिष्टरक्षसाम्" अर्थ करने पर भगवान् वादरायण के "ब्रह्मराक्षस-जातिमान्"–प०पु०पा०ख० ८/३३, वचन का भी आनुकूल्य रहेगा। त्रिकालज्ञ महर्षि के भाव को त्रिकालज्ञ महर्षि ही समझ सकते हैं। वेदों का उपबृंहण पुराणों से होता है। अतः वेदावतार वाल्मीकीयरामायण के ब्रह्मरक्षसाम् का उपबृंहण 'ब्रह्मराक्षस–जातिमान्' श्लोक से कर लेना न्यायसङ्गत है। फलतः ब्रह्मरक्षसाम् का अर्थ ब्राह्मणत्वविशिष्टरक्षसाम् ही है, वेदज्ञरक्षसाम् नहीं।

रावणादि के ब्राह्मणत्व में अन्य साक्ष्य

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में उत्तरकाण्ड के ८४वें सर्ग में लक्ष्मण जी श्रीराम से कहते हैं—

अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम्।
पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन॥ } वा० रा० उ० का० ८४/२

हे रघुनन्दन ! महान् यज्ञ अश्वमेध सम्पूर्ण पापों से पवित्र करने वाला है, यह दुर्धर्ष यज्ञ आपको पवित्र करने वाला है; अतः आप इसे

अनुष्ठान हेतु पसन्द करें।

यहाँ लक्ष्मण जी अश्वमेध यज्ञ में सर्वपापप्रणाशकता बतलाते हुए उसे श्रीराम का पावनकर्ता कहकर उनमें किसी किल्विष का सङ्केत कर रहे हैं और वह सम्भावित किल्विष रावणादिहनन से जन्य ही है; क्योंकि जैसे कोई किसी से कहे कि "इस औषधि का सेवन करो यह आप के रोग को नष्ट कर देगी। इसके सेवन से देवदत्त का क्षय रोग नष्ट हो गया" तो समीपस्थ विना बताये ही समझ लेगा कि जिसे औषधि सेवन के लिए कहा जा रहा है, वह निश्चित ही क्षयरोगी है। लक्ष्मण जी भी अश्वमेध यज्ञ से श्रीराम की पवित्रता बतलाते हुए कहते हैं कि प्राचीन-काल में देवराज इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी थी, और वे अश्वमेध यज्ञ से ही पवित्र हुए थे—

ब्रह्महत्यावृतो शक्रः हयमेधेन पावितः। –वा० रा० उ० का० ८४/३

यदि लक्ष्मणजी द्वारा ब्रह्महत्यात्मक किल्बिष का सङ्केत श्रीराम में करना अभीष्ट न होता तो 'पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन' कह कर शक्र के वर्णन को प्रस्तुत करने की क्या आवश्यकता थी? शक्रोपाख्यान को प्रस्तुत करने से ज्ञात होता है कि लक्ष्मण जी समझते थे श्रीराम रावणादिहनन का स्मरण करके क्षुब्ध हो रहे हैं; अतः अश्वमेध यज्ञ, जिसे श्रुतियों में सर्वपापनाशक बतलाने के साथ साथ ब्रह्महत्या का भी निवर्तक बतलाया गया है, इनसे कहना चाहिए। अतएव उन्होंने ब्रह्महत्यानिवृत्ति वोधक उपाख्यान भी सुना दिया, जिसे सुनकर श्रीराम अति सन्तुष्ट हुए—

इति लक्ष्मणवाक्यमुत्तमं नृपतिरतीव मनोहरं महात्मा। –वा.रा.यु.
परितोषमवाप हृष्टचेताः स निशम्येन्द्रसमानविक्रमौजाः॥ का.८६/२१

वाक्यशेषात् उक्त कथन का समर्थन

अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम्।
पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन॥ } वा० रा० उ० का० ८४/२

में पावनस्तव (सर्वपापनाशक यज्ञ आपको भी पवित्र करने वाला है।) सुनकर सन्देह होता है कि श्रीराम में कौन सा पाप है, जिसकी निवृत्ति अश्वमेध से होगी और वे पवित्र होंगे। ऐसी स्थिति में उस प्रकरण के अन्य वाक्यों का अवलोकन करना चाहिए; क्योंकि सन्देह होने पर वाक्यशेष से निर्णय होता है—सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्–पू.मी.१/४/१६/२०। "अक्ताः शर्करा उपदधाति" यह वाक्य

अञ्जन क्रिया का विधायक है । अञ्जन-घृत, जल, मधु प्रभृति किसी भी द्रव्य से हो सकता है । यहाँ-किससे अञ्जन करना चाहिए, ऐसा सन्देह होने पर "सन्दिग्धे तु वाक्यशेषात्" इस सूत्रानुसार "तेजो वै घृतम्" इस वाक्यशेष, जिसमें घृत की प्रशंसा की गई है, से अञ्जनोपयोगी द्रव्य घृत ही निश्चित हुआ; और सन्देह निवृत्त हुआ । इसी प्रकार वृत्रवधोपाख्यानरूप भूतार्थवाद से अश्वमेध द्वारा इन्द्र के ब्रह्महत्यानिवर्हणरूप पावनत्व की भाँति श्रीराम की पावनता भी अश्वमेध से ब्रह्महत्यानिवर्हणरूपा ज्ञात होती है । इस पापविशेष का निर्णय हो जाने से उक्त संशय निर्मूल हो जाता है ।

यदि श्रीराम अपने में उक्त ब्रह्महत्या का सम्पर्क नहीं मानते तो वृत्रवधोपाख्यान सुनने के वाद निश्चित ही कहते-"लक्ष्मण ! क्या तुम मुझमें ब्रह्महत्या समझ रहे हो ? जिसकी निवृत्ति हेतु अश्वमेध में निष्कम्पप्रवृत्त्यर्थ वृत्रवधोपाख्यान सुनाये । यह उचित नहीं, मैंने राक्षसों का वध किया है, ब्राह्मणों का नहीं-इत्यादि"; किन्तु श्रीरामने रोका नहीं; अपितु प्रसन्न होकर प्रामाणिकता की मुहर लगा दी—

एवमेव नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण ।
वृत्रघातमशेषेण वाजिमेधफलं च यत् ।। } वा०रा०उ० का० ८७/२

नरश्रेष्ठ लक्ष्मण ! वृत्रवध का सम्पूर्ण प्रसङ्ग और अश्वमेध का फल जैसा तुम कह रहे हो, वैसा ही है ।

ध्यातव्य है कि वृत्रवध में इन्द्र को ब्रह्महत्या की प्राप्ति और अश्वमेध से उसकी निवृत्ति कही गयी है; इन सम्पूर्ण घटनाचक्रों को 'वृत्रघातमशेषेण' से सङ्गृहीत किया गया और "अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम् । पावनस्तव" द्वारा अश्वमेध में सर्वपापप्रणाशकता तथा श्रीरामपावनतारूपफल 'वाजिमेधफलम्' से सङ्गृहीत हुआ । 'यथा वदसि एवमेव' से उस कथन पर प्रामाणिकता की मुहर लगी ।

शङ्का—

इलोपाख्यान से पुरुषत्वप्राप्ति एवम् अन्य सम्पत्-प्राप्ति की कारणता अश्वमेध में ज्ञात होने से, उसके लिए श्रीराम जी ने उसका अनुष्ठान किया-ऐसा क्यों न मान लिया जाय । वा० रा० उ० का० के ९० सर्ग में उक्त कारणता का ज्ञान सुस्पष्ट होता है ।

समाधान—

किसी भी नरपुङ्गव को उक्त शङ्का नहीं करनी चाहिए,

क्योंकि श्रीराम अपने अप्रतिम पौरुष के लिए विख्यात थे—पौरुषे चाप्रतिद्वन्द्वः ❀ । पुरुषोत्तम श्रीरामको इला की भांति न तो स्त्रीत्वकी प्राप्ति हुई और न ही उनके यहाँ सम्पत्ति की ही कमी थी। अयोध्या में इतनी प्रचुर सम्पत्ति थी कि उसके लिए देवता भी लालायित रहते थे–"त्यक्त्वा सुदुस्त्यज सुरेप्सितराज्यलक्ष्मीम्" ✱। ऐसे श्रीराम के लिए उक्त अर्थवादगम्य फल स्त्रीत्व और सम्पत्ति - प्राप्ति की कामना से अश्वमेधारम्भ की कल्पना नहीं की जा सकती।

शङ्का—

इलोपाख्यान में कहा गया है कि 'इला को पुरुषत्व प्राप्ति के लिए भगवान् वृषभध्वज के अतिरिक्त कोई अन्य औषध नहीं देखता हूँ और अश्वमेध से श्रेष्ठ कोई यज्ञ नहीं है, जो उन महात्मा का प्रिय हो—

नान्यं पश्यामि भैषज्यमन्तरा वृषभध्वजम् ।
नाश्वमेधात् परो यज्ञः प्रियश्चैव महात्मनः ॥+

तत्पश्चात् रुद्र की आराधना हेतु अश्वमेधानुष्ठान का उल्लेख है। वहीं इससे शिव का परितोष और उनकी कृपा से इला को पुरुषत्व प्राप्ति का वर्णन है। अतः इलोपाख्यानरूप भूतार्थवाद से अश्वमेध का फल शिवतोष प्रतीत होता है और उससे अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति। इसलिए श्रीराम जी ने अश्वमेध का अनुष्ठान शिवप्रीत्यर्थ किया, भगवान् शिव का परितोष होने से वे रावणादिहननजन्य किल्बिष से छूट गये-ऐसा निश्चित होता है।

समाधान—

वा० रा० के उ० का० के ८५वें सर्ग में इन्द्र के ब्रह्महत्या से पीड़ित होने पर देवताओं द्वारा पूछने से भगवान् विष्णु ने कहा कि अश्वमेध यज्ञ से शक्र मेरा यजन करें तो मैं उनको पवित्र कर दूँगा–

मामेव यजतां शक्रः पावयिष्यामि वज्रिणम् ॥
पुण्येन हयमेधेन मामिष्ट्वा पाकशासनः ।
पुनरेष्यति देवानामिन्द्रत्वमकुतोभयः ॥ } वा० रा० उ० उ०८५/२०,२१

इन्द्र की ब्रह्महत्यानिवृत्ति हेतु यज्ञ हुआ और वे पवित्र हुए। जब भगवान् विष्णु के वचनानुसार वे स्वयं अश्वमेध से प्रसन्न होकर

❀ वा० रा० यु० का० ९०/६६ ✱ भा० म० ११/५/३४
+ वा० रा० उ० का० ९०/१२

ब्रह्महत्या दूर कर देते हैं तब उसी के निराकरणार्थ अश्वमेध का फल शिवपरितोषपूर्वक ब्रह्महत्याऽपाकरण क्यों माना जाय। यहाँ तो शिव परितोष से उसकी कल्पना करनी पड़ेगी, जबकि भगवान् विष्णु के परितोष से वह वचन – सिद्ध है, कल्पित नहीं। अतः अश्वमेध के अनुष्ठान से माधव ही उक्तहननजन्य किल्विष दूर कर देंगे, फिर वह पाप अवशिष्ट कहाँ रहा, जिसके लिए शिवपरितोष और उससे उक्त पापप्रणाश की कल्पना की जाय।

वस्तुस्थिति यह है कि इला को पुरुषत्व की प्राप्ति भी अश्वमेध का फल नहीं है; क्योंकि अश्वमेध राजाओं के ब्रह्महत्यान्त सभी पापों के विनाश हेतु ही विहित है—

'स सर्वपाप्मानं तरति, स ब्रह्महत्यां तरति, योऽश्वमेधेन यजते।'

शतपथ ब्राह्मण, १२/३/१/१

इसीलिए महापण्डित नागेश भट्ट और भूषणकार श्रीगोविन्दराज "नान्यं पश्यामि" श्लोक के "नाश्वमेधात् परोयज्ञः" प्रतीक को लेकर 'राज्ञां ब्रह्महत्यान्तसर्वपापनिवर्तकत्वादितिभावः, राज्ञां ब्रह्महत्यान्तसर्वपापनिवारक इति शेषः' लिखते हैं अर्थात् राजाओं के ब्रह्महत्यान्त सभी पापों का निवर्तक अश्वमेध यज्ञ है, अतः श्रेष्ठ है। इसीलिए वृषभध्वज को प्रिय भी है। यद्यपि प्रजापति – देवताक उक्त याग प्रजापति की प्रीति का जनक है; क्योंकि यद्देवताक याग होता है वह तद्देवताक प्रीति का जनक होता है। तथापि सर्वदेवताप्रीतिकरत्व इसमें प्रमाण सिद्ध होने से रुद्रप्रीतिकर भी यह हो ही जायेगा। चूंकि रुद्र के शाप से ही इला को स्त्रीत्व की प्राप्ति हुई है, इसलिए अश्वमेध का अनुष्ठान शिवप्रीत्यर्थ किया गया और उन्होंने प्रसन्न होकर अपना शाप निवृत्त कर दिया, जिससे उसे पुरुषत्व की प्राप्ति हो गयी। यह शिव की कृपा का फल है, अश्वमेध का नहीं; क्योंकि याग और उसके फल में कार्यकारणभाव की ग्राहिका श्रुति है और उससे अश्वमेध में ब्रह्महत्यान्तसर्वपापप्रणाशकता ही द्योतित होती है।

श्रीरामवर्णित इलोपाख्यानरूपभूतार्थवाद का तात्पर्य पूर्वोपाक्रान्त अश्वमेध के प्राशस्त्यमात्र में है; क्योंकि ब्रह्महत्यानिवर्तनार्थ लक्ष्मण द्वारा अश्वमेध की अनुष्ठेयता बतलायी जा चुकी है और साथ ही उस से विष्णु की आराधना भी उक्त हो गयी है। भगवान् प्रजापति तो अश्वमेध के देवता हैं ही, अतः उनकी आराधना सुतरां सिद्ध है, पृथक्

कहने की आवश्यकता ही नहीं। बचे भगवान् भोलानाथ; इनके लिए श्रीरामजी ने इलोपाख्यान प्रस्तुत करके दिखला दिया कि अश्वमेध से इनकी भी आराधना सम्पन्न होती है। बस, यहीं ब्रह्महत्यान्तसर्वपाप-प्रणाशनार्थ विहित अश्वमेध का अनुपम प्राशस्त्य द्योतित होने लगा। वह यह कि "जिस अश्वमेध से ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीनों देवों की आराधना सम्पन्न हो जाती है, वह अवश्य ही प्रशस्त कर्म है।" यद्यपि लक्ष्मण जी ने वृत्रोपाख्यान सुनाते हुए "मामेव यजतां शक्रः" से अश्वमेध द्वारा विष्णु की आराधना वतलाकर प्राशस्त्य सिद्ध कर ही दिया था और प्रजापति की आराधना तद्देवताकत्वात् स्वतः सिद्ध है ही। तथापि अश्वमेध प्रशस्त कर्म है; क्योंकि इससे ब्रह्मा और विष्णु की आराधना सम्पन्न होती है" इतने मात्र से अत्युत्कृष्ट प्राशस्त्य का भान नहीं होता; क्योंकि इसमें शिवजी की गणना न होने से कुछ न्यूनता प्रतीत हो रही है। किन्तु जव उनकी भी आराधना इलोपाख्यान से वता दी गयी तो अत्युत्कृष्ट प्राशस्त्य का लाभ हो गया, जिसे दिखाया जा चुका है। अतः इलोपाख्यान का तात्पर्य केवल अश्वमेध के प्राशस्त्य वोधन में ही है। इसीलिए 'ईदृशोऽश्वमेधस्य प्रभावः पुरुषर्षभ' (हे पुरुषश्रेष्ठ! अश्वमेध का ऐसा प्रभाव है) द्वारा अश्वमेध के प्राशस्त्य में इलोपाख्यान का उपसंहार हुआ। इससे यह निष्कर्ष निकला कि श्रीराम ने अश्वमेध शिव जी की प्रसन्नता के लिए नहीं किया था। उसका प्रयोजन पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्महत्याऽपाकरण ही है।

शङ्का—

जैसे इलोपाख्यान अश्वमेध के प्राशस्त्यमात्र का समर्पक है, उससे गम्य पुरुषत्वप्राप्ति या शिवपरितोष अश्वमेध का फल नहीं माना गया, अर्थात् उसके लिए श्रीराम जी ने अश्वमेध का अनुष्ठान नहीं किया। वैसे ही वृत्रवधोपाख्यान से गम्य विष्णुपरितोषपूर्वकब्रह्महत्यानिबर्हण अश्वमेध द्वारा श्रीराम चाहते थे एतदर्थ उसका अनुष्ठान किये—ऐसा भी क्यों माना जाय। वृत्रवधोपाख्यान अश्वमेध के प्राशस्त्यमात्र का समर्पक है, यही मानना चाहिए।

समाधान—

इलोपाख्यान के उपक्रम में पुरुषत्व की प्राप्ति या शिव परितोष के लिए अश्वमेध का अनुष्ठान करने को नहीं कहा गया है, अपितु लक्ष्मणप्रोक्त वृत्रघात और ब्रह्महत्यापाकरणरूप अश्वमेध के फल पर

श्रीराम द्वारा सहमति व्यक्त की गयी है—

एवमेव नरश्रेष्ठ यथा वदसि लक्ष्मण । वा०रा०उ०
वृत्रघातमशेषेण वाजिमेधफलं च यत् ।। का० ८७/२

श्रीराम में इला की भाँति पुरुषत्व का अभाव नहीं, प्रत्युत अप्रतिम पौरुष था। अतः उसके लिए अश्वमेधानुष्ठान की कल्पना नहीं की जा सकती। श्रुति से अश्वमेध का फल ब्रह्महत्यान्त सभी पापों का नाश विदित है और लक्ष्मणजी द्वारा बताये गये उक्त फल पर श्रीराम ने अपनी स्वीकृति भी दे दी है। अतः शिव – परितोष का तात्पर्य अश्वमेध के प्राशस्त्यबोधन मात्र में माना गया। वृत्रवधोपाख्यान की स्थिति इससे भिन्न है; क्योंकि वहाँ पहले अश्वमेध का अनुष्ठान करने के लिए श्रीराम को प्रेरित किया गया है—"अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम्। पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन ।।" और इस अश्वमेध को 'पावनस्तव' से श्रीराम जी का पावनकर्ता भी बतलाया गया है। वह कौन सा किल्विष है, जिससे मुक्त होकर वे पवित्र होंगे, इसका विचार पूर्व में किया जा चुका है। 'पावनस्तव' से श्रीराम की ब्रह्महत्यानिवृत्ति अश्वमेध से कही गयी है; ऐसा मानने पर वेद के साथ वेदावतार वाल्मीकीय रामायण की एकवाक्यता देखते ही बनती है, दोनों में अर्थक्रम देखें—

वेद	वेदावतार रामायण
तरति सर्वपाप्मानम्	अश्वमेधो महायज्ञः पावनः सर्वपाप्मनाम्।
यह वाक्य सम्पूर्ण पापों की निवृत्ति अश्वमेध से बतलाता है।	यह भी उसी का बोधक है।
तरति ब्रह्महत्याम्	पावनस्तव दुर्धर्षः
यह वाक्य अश्वमेध से ब्रह्महत्या की निवृत्ति बतलाता है।	यह भी उसी की निवृत्ति कहता है।
योऽश्वमेधेन यजते	रोचतां रघुनन्दन।
इस वाक्य से अश्वमेध यज्ञ करने को कहा गया है।	यहाँ भी रघुनन्दन को अश्वमेध करने को कहा गया है।

पाठकगण यहाँ देख सकते हैं कि श्रुतिवाक्य के साथ रामायण-वाक्य का क्रमिक अर्थ भी 'पावनस्तव' से श्रीराम में ब्रह्महत्या का उद्घोष कर रहा है। प्रतीत होता है कि उक्त श्रुतिवाक्य ही श्लोक रूप में अवतरित हो गया है। यहाँ रामायण में वेदावतारत्व सुस्पष्ट

देखा जा सकता है ।

अर्थवादवाक्य से जैसे विधेय वस्तु की प्रशंसा की जाती है वैसे ही लोक में भी किसी को किसी कर्म में प्रवृत्त कराने के लिए उस कर्म की प्रशंसा की जाती है । गोक्रयण में प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए "यह गाय बहुत दूध देती है, इसका दूध बहुत मीठा है" इत्यादि रूप से गाय की प्रशंसा की जाती है । प्रकृत में 'रोचतां रघुनन्दन' से अश्वमेध में प्रवृत्त होने को कहा गया है, पुनः झटिति निष्कम्प प्रवृत्ति हेतु वृत्रवधोपाख्यान सुनाया गया । यह भूतार्थवाद है । इसमें विष्णु की आराधना अश्वमेध के प्राशस्त्य की बोधिका अवश्य है । तात्पर्य यह कि इलोपाख्यान रूप भूतार्थवाद में उसी उपाख्यान से पुरुषत्व प्राप्ति एवं शिवपरितोष ज्ञात होता है, उपक्रम वाक्य से नहीं । उपक्रम में तदर्थ अश्वमेध करना चाहिए या करें-इस अर्थ का बोधक वाक्य नहीं है, अतः उसे प्राशस्त्य समर्पक माना गया । वृत्रवधोपाख्यान के पूर्व में "पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन" वाक्य से अश्वमेध का अनुष्ठान पावनता हेतु करने को कहा गया है और श्रुतिवाक्य के साथ इस वाक्य का क्रमिक अर्थ ब्रह्महत्या का सङ्केत भी कर रहा है । इसकी उपपत्ति पहले की जा चुकी है । अतः 'अश्वमेधो..........रोचतां रघुनन्दन' इस लोट्लकार-घटित वाक्य से श्रीराम का अश्वमेधानुष्ठान ब्रह्महत्या-निवर्हणार्थ सुतरां सिद्ध है, वृत्रवधोपाख्यान उसी का उपपादक है । इसी ब्रह्महत्यादिसर्वपापनिबर्हणफलक अश्वमेध का प्राशस्त्य इलोपाख्यान से ज्ञात होता है, कुछ अन्य नहीं ।

इस विवेचन से निश्चित हुआ कि पूर्वोक्त युक्ति, मीमांसान्याय और श्रुति के साथ रामायण वाक्य के क्रमिक अर्थ से 'पावनस्तव' के द्वारा ब्रह्महत्या की निवर्तकता का ही सङ्केत है ।

पद्ममहापुराण का साक्ष्य

अध्येता यह न समझें कि लेखक ने परमात्मा श्रीराम में ब्रह्म-हत्या सिद्ध करने का घोर अपराध किया है । मैंने तो उत्तरकाण्ड में स्थित श्लोकों का अर्थ ही लगाया है । श्रीराम रावणवध को स्वयं ब्रह्महत्या स्वीकार कर रहे हैं—

कुर्वतो बुद्धिपूर्वं मे ब्रह्महत्यां सुनिन्दिताम् ।
न मे दुःखापनोदाय साधुवादः सुसम्मतः ।। } प०पु० पा० ख० ८/२७

प्रब्रूहि तादृशं मह्यं यादृशं पापदाहकम् । } प० पु० पा०
व्रतं दानं मखं किञ्चित्तीर्थमाराधनं महत् ।। } ख० ८/२८

—"श्रीरामजी महर्षि अगस्त्य से कहते हैं कि रावण आदि का वध मैंने अज्ञानपूर्वक नहीं किया है, अपितु ज्ञानपूर्वक ही किया है । अतः मुझसे ज्ञानपूर्वक सुनिन्दित ब्रह्महत्या हो गयी है । अब मेरे दुःख की निवृत्तिहेतु साधुवाद (तुमने दुष्टों का नाश करके बहुत अच्छा किया है इत्यादि) उचित नहीं । आप मुझे पापनाशक कोई व्रत, दान, यज्ञ, तीर्थ या बहुत बड़ी आराधना बतलायें ।" श्रीराम जी के वचनों को सुनकर अगस्त्य जी कहते हैं—

शृणु राम महावीर लोकानुग्रहकारक ।
विप्रहत्याऽपनोदाय तव यद्वचनं ब्रुवे ।। } प० पु० पा०
सर्वं स पापं तरति योऽश्वमेधं यजेत वै । } ख० ८/३०-३१
तस्मात्त्वं यज विश्वात्मन् वाजिमेधेन शोभिना ।।

'हे महान् वीर ! लोकानुग्रहकारक ! श्रीराम ! तुम्हारी ब्रह्महत्या निवृत्ति हेतु मैं जो कुछ कहता हूँ, उसे सुनो । जो अश्वमेध यज्ञ करता है वह सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाता है । इसलिए हे विश्वात्मन् ! आप सुन्दर अश्वमेध यज्ञ करें ।

अब पाठक समझ सकते हैं कि अश्वमेध विधायक श्रुतिवाक्य से रामायण का और रामायण से पद्ममहापुराण के इन वाक्यों का कितना अधिक साम्य है । पद्ममहापुराण से सुस्पष्ट ब्रह्महत्या और उसके प्रायश्चित्त का कथन "पावनस्तव दुर्धर्षो रोचतां रघुनन्दन" का अर्थ मैंने जो किया है, उसकी पुष्टि करता है । अतः रावणादि में ब्राह्मणत्व अवश्य था । इस प्रकार 'वाल्मीकीय रामायण' के अनुकूल होने के कारण पौराणिक उपवर्णन लाक्षणिक नहीं, अपितु यथार्थ ही है ।

सत्यवाक् महर्षि वाल्मीकि और भगवान् वादरायण एक स्वर से रावणादि को ब्रह्मराक्षस कहते हैं । अन्तर इतना ही है कि श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण वेदावतार होने के कारण जिस अर्थ को संक्षेप में कहता है, उसी को पुराण सुस्पष्ट रूप से । अहल्या प्रकरण में महर्षि वाल्मीकि ने "स्वंवपुर्धारयिष्यसि" से मध्य में अहल्या के शरीर परिवर्तन का सङ्केत मात्र किया जबकि भगवान् वादरायण ने पाषाण कहकर उसी को सुस्पष्ट कर दिया । यहाँ भी महर्षि ने ब्रह्मराक्षस शब्द से लङ्कावासियों का उल्लेख कर रावण आदि को ब्रह्मराक्षस कहा । किन्तु

वेदव्यास जी ने स्पष्टतया उसका नाम लेकर "ब्रह्मराक्षसजातिमान्" कह दिया। मात्र कथन शैली में भेद है। महर्षि वाल्मीकि ने 'पावन-स्तव' से अस्पष्ट रूप से श्रीराम में ब्रह्महत्या का सङ्केत किया। भगवान् वादरायण ने उसे सुस्पष्ट रूप से कह दिया। अतः इन दोनों के शैली-भेद को समझते हुए किसी को भी पुराणों पर आक्षेप नहीं करना चाहिए।

श्रीराम में ब्रह्महननजन्य किल्बिष की अप्रसक्ति

यद्यपि श्रीराम ने वेदविद्याव्रतस्नातक, अग्निहोत्रादि कर्म में निरत रावणादि ब्राह्मणों का वध किया। तथापि उनमें ब्रह्महननजन्य किल्विष की प्रसक्ति नहीं हुई; क्योंकि उनके नाम में ही पापक्षय की इतनी सामर्थ्य है कि पापी उतना पाप ही नहीं कर सकता। फिर साक्षात् उन श्रीराम में ब्रह्महत्या की प्रसक्ति कैसे हो सकती है? ब्राह्मण होकर भी रावणादि अपने क्रूर स्वभाव और क्रूरकर्मा लोगों से घिरे होने के कारण वहुत से ऋषियों का संहार, उनके यज्ञादि श्रौत कर्मों में विघ्न तथा उनकी रूपवती नारियों का अपहरण करके तीनों लोकों को व्यथित कर चुके थे। अतः उनका वध करना पुण्य ही था, पाप नहीं। फिर भी मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीराम उनके ब्राह्मण होने की बात सुनकर इक्ष्वाकुवंशियों की ब्राह्मणभक्ति, लोक में ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और ब्राह्मणवध को घोर दुष्कृत ख्यापित करने हेतु अश्वमेध किये। रावणादि ब्राह्मणों के वधोपरान्त भी वे ब्रह्महत्या से सर्वथा शून्य ही थे। उसकी निवृत्तिहेतु अश्वमेधानुष्ठान लीलामात्र था; क्योंकि उस अश्वमेध में पधारे हुए ब्रह्मर्षि आरण्यक का स्वागत करते हुए श्री राम ने कहा था—

अद्य मे ब्रह्महत्योत्थपापहानिं करिष्यति। } प० पु० पा०
अश्वमेधः क्रतुर्युष्मच्चरणेन पवित्रितः॥ } ख० ३७/४५

"आज आपके चरण से पवित्र हुआ यह अश्वमेध यज्ञ रावणादि ब्राह्मणों की हत्या से उत्पन्न मेरे पाप को नष्ट कर देगा।" राघव के इन वचनों को सुनकर महर्षि आरण्यक वोले—हे ब्रह्मण्यदेव! आप जो कुछ कहते हैं, वह आपके ही योग्य है। हे महाराज! वेदपारगामी ब्राह्मण आप के स्वरूप ही हैं। जव आप ब्राह्मणों की पूजा आदि शुभ कर्म करेंगे, तभी सभी राजा ब्राह्मणों का आदर करेंगे—

त्वन्मूर्तयो महाराज ब्राह्मणा वेदपारगाः॥

त्वं यदा ब्रह्मपूजादि शुभं कर्म करिष्यसि । प०पु०पा०ख०
ततोऽखिला नृपा विप्रं पूजयिष्यन्ति भूमिप ॥ — ३७/४७—४८

आपने जो यह कहा कि "मैं ब्रह्महत्या को दूर करने के लिए यह पवित्र यज्ञ कर रहा हूँ" यह तो अत्यन्त हास्यास्पद है—

त्वयोक्तं यन्महाराज विप्रहत्यापनुत्तये ।
यागं करोमि विमलं तत्तु हास्यकरं वचः ॥

आपका उक्त कथन क्यों हँसी उत्पन्न करता है ? इस जिज्ञासा के शमन हेतु महर्षि कहते हैं—

त्वन्नाम स्मरणान्मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः ।
सर्वपापाब्धिमुत्तीर्य स गच्छेत् परमं पदम् ॥
सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम् ।
यद्रामनामस्मरणं क्रियते पापतारकम् ॥
तावद् गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च ।
न यावत् प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम् ॥
त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातक कुञ्जराः ।
पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया ॥
तस्मात्तव कथं हत्या ? महापुण्यदर्शन ! ।
राम ! त्वत्सुकथां श्रुत्वा पूतः सद्यो भविष्यति ॥
मया पूर्वं कृतयुगे गङ्गातीरवासिनाम् ।
ऋषीणां मुखतो वाक्यं श्रुतमेतत् पुराविदाम् ॥
तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम् । प० पु०
यावन्न वदते वाचा रामनाम मनोहरम् ॥ —पा० ख०
तस्माद्धन्योऽहमधुना मम संसृतिनाशनम् । ३७/४८ से
साम्प्रतं सुलभं रामचन्द्रत्वद्दर्शनादभूत् ॥ ५७ तक

अर्थ—सम्पूर्ण शास्त्रों के संस्कार से शून्य अज्ञ भी आपके नाम-स्मरण से निखिलपाप-सागर को पार करके परमपद को प्राप्त कर लेता है। समस्त वेदों और इतिहासों का यही सारतत्त्व सुस्पष्ट हो रहा है कि राम नाम का स्मरण सम्पूर्ण पापों से तार देता है ॥ हे रामचन्द्र ! ब्रह्महत्या जैसे भीषण पाप तभी तक गर्जते हैं, जब तक आपके नाम की गर्जना नहीं होती ॥ हे महाराज ! आप के नाम की गर्जना सुनकर महान् पाप रूपी मातङ्ग कहीं छिपने की इच्छा से भाग जाते हैं।

हे महापुण्यजनकदर्शन वाले श्रीराम ! अब आप ही बतलाइए

कि (जब आपके नाम के प्रभाव से दूसरे लोग ब्रह्महत्यादि सभी पापों से छूट जाते हैं तब उस नाम वाले स्वयं) आपको ब्रह्महत्या कैसे लग सकती है ?

हे राम ! आपकी सुमधुर कथा को सुनकर प्राणी शीघ्र ही पवित्र हो जायेगा ।। मैंने बहुत पहले कृतयुग में गङ्गातीरवासी पुराविद् महर्षियों के मुख से यह सब सुना था कि "व्यसनाकुलचित्त महान् पापियों को भी तभी तक पापों से भय है जब तक वे अपनी वाणी से सुमनोहर राम नाम का कीर्तन नहीं करते "।। हे रामचन्द्र ! सम्प्रति आपके दर्शन से संसार–निवृत्ति अर्थात् मुक्ति सुलभ हो गयी, इसलिए अब मैं धन्य हो गया ।

आरण्यक महर्षि की सत्यवादिता का ज्ञान इसी से सबको हो सकता है कि उन्होंने श्रीराम के दर्शन से मुक्ति लाभ बतलाया और उसके बाद वे ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर श्रीराम में मिल गये—

एवं प्रवदतस्तस्य ब्रह्मस्फोटोऽभवत्तदा । प० पु० पा०
निर्गतं तद्भवं तेजो विवेश रघुनायके ।। — ख० ३८/६४

—'इस प्रकार भगवन्नाममाहात्म्य का कथन करते हुए महर्षि का ब्रह्मरन्ध्र फट गया और उनका तेज निकलकर श्रीराम के चरणों में प्रविष्ट हो गया ।' यहाँ सुस्पष्ट देखा जा सकता है कि "अथ मे.................. चरणेनपवित्रित:" वाक्य में श्रीराम ने ब्रह्महत्या–निवृत्ति-हेतु अनुष्ठित अश्वमेध में पधारे हुए विप्रवर आरण्यक की प्रशंसा की । ब्रह्मर्षि आरण्यक ने हँसते हुए कहा कि आप की नाम–गर्जना से ब्रह्महत्यादि सभी महापातक भाग जाते हैं, ऐसे आपको ब्रह्महत्या कैसे लग सकती है ? यहाँ पर ध्यातव्य यह है कि यदि रावण आदि ब्राह्मण नहीं होते, तो ब्रह्मर्षि आरण्यक यही कहते कि श्रीराम ! रावण आदि ब्राह्मण तो थे नहीं, फिर आप को ब्रह्महत्या कैसे लगी ? किन्तु उन्होंने ऐसा न कहकर यही कहा कि जब आपके नाम से ब्रह्महत्यादि महापातक भाग जाते हैं, अर्थात् नाम को भी स्पर्श करने की सामर्थ्य उन पापों में नहीं है तो वे साक्षात् नामी आपका स्पर्श कैसे कर सकते हैं ? इस से भी निश्चित होता है कि रावण आदि ब्राह्मण ही थे, जिनका श्रीराम द्वारा वध हुआ । महर्षि आरण्यक के कथन का तात्पर्य यह है कि आप ब्राह्मण की महिमा स्थापित करने के लिए अश्वमेध कर रहे हैं, जिससे अन्य लोग यह समझ सकें कि जब रावण जैसे दुष्ट, विप्रहिंसक, लोक

भयावह ब्राह्मण के वध से इतना दारुण पाप होता है कि श्रीराम ने उसकी निवृत्ति हेतु अश्वमेध यज्ञ किया, तब सद्ब्राह्मण के वध से उत्पन्न पाप की दारुणता कितनी होगी ? अतः सद्ब्राह्मण की हिंसा कभी न करें अपितु दान, मान से उसे सन्तुष्ट रखें ।

इस विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि "तस्मात्तव कथं हत्या" से श्रीराम में ब्रह्महत्या का असंस्पर्श द्योतित किया गया । अतः उनमें रावणादि के वध से जन्य पातक की प्रसक्ति नहीं हुई थी । इसीलिए ब्रह्मर्षि च्यवन ने भी आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा था—

चित्रं पश्यत भो विप्रा रामोऽपि मखकारकः ।
यन्नामस्मरणादीनि कुर्वन्ति पापनाशनम् ।। } प० पु० पा० ख० १६/३२

—"हे ब्राह्मणों ! महान् आश्चर्य ! देखो, जिनके नामस्मरण कीर्तनादि समस्त पापों को नष्ट कर देते हैं, वे श्रीराम भी ब्रह्महत्या की निवृत्ति हेतु अश्वमेध यज्ञ कर रहे हैं ।"

पद्मपुराण का वचन रामायण के अनुकूल

बाल्मीकीय रामायण के साक्ष्य से रावण आदि को ब्राह्मण सिद्ध किया जा चुका । अतः रावण आदि के ब्राह्मणत्व के ख्यापक पद्मपुराण के वचन रामायण के अनुकूल ही नहीं, अपितु रावण के ब्राह्मणत्व – बोधक रामायणीय वचनों के उपपादक भी हैं । सुप्रसिद्ध 'अध्यात्मरामायण' में भी रावण को ब्राह्मण कहा गया है—

"अतस्त्वं ब्राह्मणो भूत्वा पुलस्त्यतनयश्च सन् ।"

अध्यात्मरामायण यु० का० ४/५२

वाल्मीकीयरामायण के "वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तथा । एषोहिताग्निः महातपाश्च वेदान्तविद् कर्मसु चाग्र्यशूरः । रावणस्याग्निहोत्रं.... ....सत्वरम्" इत्यादि वचनों से रावण के ब्राह्मणत्व का ज्ञान न्यायमीमांसाविद् को हो सकता है, तत्संस्कारशून्य को नहीं । पुनः पद्ममहापुराण पातालखण्ड के अश्वमेध कथा-प्रकरण में श्रीराम द्वारा रावणादि को ब्राह्मण कहने से पूर्वज्ञान की पुष्टि होती है । वेदों का उपबृंहण पुराणों से होता आया है । अतः वेदावतार वाल्मीकीयरामायण का उपबृंहण भी पुराणों से करना न्याययुक्त है । और ऐसा करने पर रावणादि के ब्राह्मणत्व का अपलाप कोई विद्वान् नहीं कर सकता, अन्य की बात और है ।

राक्षस कथन का तात्पर्य

यहाँ यह शङ्का होती है कि जब रावणादि ब्राह्मण थे तब उनके लिए रामायण में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग न करके राक्षसादि शब्दों का ही प्रयोग ऋषियों ने क्यों किया ? इसका समाधान यह है कि रावण आदि आकृति तथा क्रूर कर्म से राक्षस प्रतीत होते थे । लोकोत्पीड़न, परनारीहरण, ऋषियों का रक्तपान और देवताओं से द्रोह ये सब ब्राह्मण-स्वभाव के प्रतिकूल तथा आसुरी एवं राक्षसी स्वभाव के अनुकूल हैं । इसलिए ब्राह्मण होने पर भी उन्हें ब्राह्मण नहीं कहा गया; क्योंकि त्रेतायुग पर्यन्त ब्राह्मण परमतपस्वी, परोपकारी और वेदाभ्यासी होते थे । ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त होने वाले ब्राह्मण शब्द का प्रयोग निखिलरहस्यविद् ऋषिगण - दुराचारी, लोकोत्पीडक, देवद्रोही, ब्राह्मणहिंसक रावण आदि के लिए-कैसे कर सकते थे ? वाल्मीकीय रामायण के सुन्दर-काण्ड में उन सब के लिए महर्षि के द्वारा ब्रह्मराक्षस शब्द का प्रयोग हुआ जिससे ब्राह्मणत्व का ज्ञान होने पर भी (राक्षस शब्द के प्रयोग से) उनके क्रूरकर्मों तथा ब्राह्मणोचित परोपकार आदि के अभाव का भी ज्ञान होता रहे । लङ्कावासियों के लिए ब्राह्मण और द्विज शब्द का प्रयोग पूर्व में दिखाया जा चुका है । उन सब के लिए राक्षस शब्द का प्रयोग उनकी दारुण आकृति दारुण, कर्म और दारुण स्वभाव के कारण किया गया । 'सिहो माणवकः' की भाँति उनके लिये राक्षस शब्द गौणी वृत्या प्रयुक्त है । वाल्मीकीय रामायण की भांति पद्मपुराण आदि आर्षग्रन्थों में भी रावण और कुम्भकर्ण आदि के लिए राक्षस शब्द का प्रयोग गौणी वृत्या ही किया गया है-रावणः कुम्भकर्णश्च राक्षसौ लोकविश्रुतौ-प.पु.उ.ख.२४२/१८ । अतः उनके लिए कहीं ब्राह्मण और कहीं राक्षस शब्द का प्रयोग अनुपपन्न नहीं है ।

श्रीरामकृत अश्वमेध पापनिबर्हणार्थ नहीं

पद्मपुराण के पातालखण्ड में श्रीरामकृत अश्वमेध का विशद वर्णन है । जिसमें विप्रों की महिमा और भगवन्नाम का अमोघ माहात्म्य पाठकों के स्वान्त में भक्ति स्रोतस्विनी प्रवाहित कर देता है । अश्वमेध

–वर्णन के कतिपय वाक्यों से उन लोगों को–जो सम्पूर्ण पातालखण्ड पढ़े या सुनें नहीं हैं–भ्रम हो जाता है कि श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान ब्रह्महत्यानिवारणार्थ किया था। उनमें द्विवेदी जी जैसे पण्डित भी हैं, अतः इनकी भ्रान्ति को प्रस्तुत करके खण्डन किया जायेगा।

भ्रान्ति–यद्यपि यत्र तत्र पुराणों में तथा उनके अनुवर्ती कतिपय रामायण ग्रन्थों में यह वर्णन हो गया है कि श्रीराम ने रावणादिवध-जन्य ब्रह्महत्या रूप महापातक के अपनोदनार्थ प्रायश्चित्त रूप में ही अनेक अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था। जैसे–पद्मपुराण पाताल खण्ड के छठें अध्याय में वर्णन है कि महर्षि अगस्त्य की प्रेरणा से ब्राह्मण रावण के वध के प्रायश्चित्त रूप में ही श्रीराम ने अश्वमेध यज्ञ किया। .... पद्मपुराण का यह कथन रामायण से विरुद्ध होने से स्वाभिधेयार्थ में प्रमाण नहीं माना जा सकता।

—रामायणकार महर्षिवाल्मीकि, पृष्ठ १०७

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितप्रवर ! आपने जिस छठें अध्याय का उल्लेख किया है उसमें अश्वमेध की कोई चर्चा ही नहीं है, फिर भी चश्मे की गड़बड़ी से आप आठ को छह समझकर उक्त उल्लेख किये हैं। पद्मपुराण में श्रीरामकृत अश्वमेध ब्रह्महत्याऽपाकरणार्थ नहीं, अपितु ब्राह्मणों का प्रतिष्ठाख्यापन एवं लोकशिक्षणार्थ ही है, जैसा कि यज्ञ में पधारे ब्रह्मर्षि आरण्यक श्रीराम से कहते हैं—

त्वयोक्तं यन्महाराज विप्रहत्यापनुत्तये।
यागं करोमि विमलं तत्तु हास्यकरं वचः॥
त्वन्नाम स्मरणान्मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः।
सर्वपापाब्धिमुत्तीर्य स गच्छेत् परमं पदम्॥
त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातक कुञ्जराः।
पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया॥
तस्मात्तव कथं हत्या ? महापुण्यददर्शन !।

(इन श्लोकों का अर्थ पृष्ठ १८८ में दिया जा चुका है।) ब्रह्मर्षि दधीचि भी श्रीराम में ब्रह्महत्या का अभाव बोधित करते हुए तदर्थं श्रीरामकृत अननुष्ठेयता ही अश्वमेध में द्योतित किये—

चित्रं पश्यत भो विप्रा रामोऽपि मखकारकः।
यन्नामस्मरणादीनि कुर्वन्ति पापनाशनम्॥ } प० पु० पा० ख० १६/३२

ब्रह्मर्षि आरण्यक ने श्रीराम के मुख से ब्रह्महत्यानिवारणार्थ अश्वमेध का अनुष्ठान सुनकर कहा कि यह कथन आपके ही योग्य है। ब्राह्मण आपके स्वरूप हैं जब आप उनका पूजन आदि शुभकर्म करेंगे तभी सभी राजा उनकी पूजा करेंगे। इस प्रकार महर्षि आरण्यक द्वारा अश्वमेध का प्रयोजन ब्राह्मणप्रतिष्ठा ही द्योतित हुआ, ब्रह्महत्यानिवृत्ति नहीं। उन्होंने स्वयं उसका प्रत्याख्यान भी कर दिया है–तस्मात्तव कथं हत्या ? द्विवेदी जी इन अध्यायों का अवलोकन किये होते तो इन्हें ज्ञात हो जाता कि पद्मपुराणोपवर्णित श्रीरामकृत अश्वमेध का प्रयोजन विप्रमहिमा का बोधन ही है, ब्रह्महत्यानिवृत्ति नहीं। द्विवेदी जी जिस छठें अध्याय का पूर्व में उल्लेख किये हैं; यदि ये उसका एकाग्रचित्त होकर अवलोकन किये होते तो इन्हें यह भ्रान्ति नहीं होती कि "श्रीराम ने ब्रह्महत्याऽपाकरणार्थ ही अश्वमेध किया";क्योंकि छठें अध्याय के आरम्भ में महातपस्वी अगस्त्य जी ने श्रीराम से कहा— "हे राम ! तुम्हारे दर्शन से आज मेरा दुष्कृत निश्चित ही नष्ट हो गया। हे सुरोत्तम ! मेरा अन्तःकरण आपके दर्शन से आनन्दपूर्ण हो गया" ऐसा कहकर वे कुम्भजन्मा महर्षि चुप हो गये; क्योंकि श्रीराम के दर्शन से समुद्भूत आह्लाद से उनका मन विह्वल हो गया था—

राम त्वद्दर्शनान्मेऽद्य गतं वै दुष्कृतं किल।
सम्पूर्णो मे मनः कोश आनन्देन सुरोत्तम॥
इत्युक्त्वा स बभूवाशु तूष्णीं कुम्भसमुद्भवः।
रामसंदर्शनाह्लादविह्वलीकृतमानसः॥
(प० पु० पा० ख०६/१०-११)

क्या ब्रह्महत्याख्यकिल्बिषसंश्लिष्ट किसी व्यक्ति के दर्शन से किसी का पाप नष्ट होता है ? पापियों के दर्शन और सम्भाषण से तो पाप उत्पन्न होता है, न कि विनष्ट। प्रचुरपुण्यविशिष्ट व्यक्ति के दर्शन से आह्लाद अवश्य होता है। परमाप्त ब्रह्मर्षि अगस्त्य–यदि श्रीराम में ब्रह्महत्याख्य किल्बिष होता तो उनके दर्शन से–अपनी पावनता का उद्घोष कभी भी नहीं करते और न उनका हृदय ही श्रीराम जी के दर्शन से आनन्दमग्न होता। इतना ही नहीं, पद्ममहापुराण के पातालखण्ड में दुर्धर्ष तपस्वी महर्षि अगस्त्य ने श्रीराम में ब्रह्महत्याख्यकिल्बिष का अभाव भी बतलाया है और कहा कि आप विषाद न करें; क्योंकि आपने रावण आदि दुष्ट ब्राह्मणों के नाश की इच्छा से उनका वध किया है—

मा विषादं महाधीर कुरु राजन् महामते ! । } प० पु० पा०
न ते ब्राह्मणहत्या स्याद् दुष्टानां नाशमिच्छतः ।। } ख० ८/१७

यहाँ महर्षि अगस्त्य का तात्पर्य यह है कि रावणादि दुष्ट ब्राह्मण थे और उनका वध आपने युद्ध स्थल में किया है; अतः आपको ब्रह्महत्या नहीं लग सकती; क्योंकि युद्धरत ब्राह्मण यदि मर जाय तो उसे मारने वाले योद्धा को पाप नहीं लगता। भगवान् मनु ने कहा—

अयुध्यमानस्योत्पाद्य ब्राह्मणस्यासृगङ्गतः । } मनु स्मृति
सुमहद्दुःखमाप्नोति प्रेत्याप्राज्ञतया नरः ।। } ४/१६७

यहाँ पूर्वोक्त अर्थ के प्रद्योतनार्थ ब्राह्मण का विशेषण 'अयुध्यमान' दिया गया है। जिससे युध्यमान ब्राह्मण की व्यावृत्ति हुई। अत एव भीष्म जैसे धर्मज्ञ अपने गुरु, विप्रवर परशुराम से घोर युद्ध किये। इस प्रकार पद्ममहापुराण में महर्षि अगस्त्य ही श्रीराम में ब्रह्महत्या का निषेध कर दिये। आप्त पुरुष असत्यभाषण भी नहीं कर सकते, इस लिए इस कथन से ही सिद्ध है कि उन्होंने ब्रह्महत्यानिवृत्ति के लिए अश्वमेध करने को नहीं कहा। वे परम तपस्वी बार-बार श्रीराम द्वारा ब्रह्महत्यानिवृत्ति का उपाय पूछे जाने पर समझ गये कि श्रीराम हम ऋषियों की वाणी में अविश्वास तो कर नहीं सकते फिर मेरे द्वारा इनमें ब्रह्महत्या का आत्यन्तिक अभाव बतलाये जाने पर भी ये उसे अपने में आरोपित कर उसकी निवृत्ति का उपाय पूछ रहे हैं। अतः सुनिश्चित है कि ये इसी बहाने लोक पर अनुग्रह करने वाले हैं कि 'सब लोग ब्राह्मणों की महिमा समझें और कभी भी उनके अनादर की भावना हृदय में न लायें।' लोकानुग्रह हेतु अपने में दोषारोपण करना इनकी कितनी बड़ी महानता है। इसी रहस्य को समझकर मुनि ने उन्हें 'लोकानुग्रहकारक' शब्द से सम्बोधित करते हुए कहा—

शृणु राम महावीर लोकानुग्रहकारक । } प०पु०पा०
विप्रहत्यापनोदाय तव यद्वचनं ब्रुवे ।। } ख० ८/३०

—'हे लोकानुग्रहकारक ! महावीर श्रीराम ! ब्रह्महत्यानिवृत्ति के लिए आपका जो वचन है, उस पर कहता हूँ सुनो'। 'तुम्हारी ब्रह्महत्या की निवृत्ति के लिए जो वचन कहता हूँ उसे सुनो' अर्थ उक्त श्लोक का नहीं होगा; क्योंकि समस्तपदघटक ब्रह्महत्या पदार्थ से तव पदार्थ का अन्वय नहीं हो सकता। दूसरी बात यह है कि "न ते ब्राह्मणहत्या स्यात्" से परम आप्त अगस्त्यजी ने श्रीराम में ब्रह्महत्या का आत्यन्तिक अभाव

बतला दिया है फिर वही उनमें ब्रह्महत्या का सद्भाव कैसे कह सकते हैं? अतः 'तुम्हारी ब्रह्महत्या की निवृत्ति' इत्यादि अर्थ अनुचित है। महर्षि आरण्यक भी "तस्मात्तव कथं हत्या" से ब्रह्महत्या की अप्रसक्ति ही बोधित किये हैं। अतः श्रीराम में ब्रह्महत्या का निषेध करके पुनः उसकी निवृत्ति के लिए अश्वमेध बतलाना अनुपपन्न है। महर्षि अगस्त्य कृत लोकानुग्रहकारक शब्द के प्रयोग तथा महर्षि आरण्यक और दधीचि द्वारा ब्रह्महत्यापनोदनार्थ अश्वमेध की बात सुनकर आश्चर्यप्रकटीकरण– एवं "त्वं यदा ब्रह्मपूजादिशुभं कर्म करिष्यसि। ततोऽखिला नृपा विप्रं पूजयिष्यन्ति भूमिप ॥" इत्यादि वचनों – से अश्वमेध का प्रयोजन ब्राह्मणपूजा और लोकशिक्षण ही पद्ममहापुराण के वर्णन से सिद्ध होता है; ब्रह्महत्या का ध्वंस नहीं; क्योंकि प्रतियोगिनी ब्रह्महत्या के बिना उसका ध्वंस असम्भव है और ब्रह्महत्या का अभाव श्रीराम में ऋषियों द्वारा बतलाया जा चुका है। ऐसी स्थिति में "महर्षि अगस्त्य की प्रेरणा से ब्राह्मण रावण के वध के प्रायश्चित्त रूप में ही श्रीराम ने अश्वमेध किया" ऐसा पद्मपुराण के वाक्यों का तात्पर्य समझना और उसको वाल्मीकीय रामायण से विरुद्ध कहकर अप्रमाणिक मानना द्विवेदी जी का लोकोत्तर पाण्डित्य नहीं तो और क्या है? पण्डित जी को पहले अश्वमेध प्रकरण को समझकर पढ़ना चाहिए था फिर लेखनी उठानी थी।

सिद्धान्तपक्ष

रावणादि राक्षस ही थे

वस्तुस्थिति तो यह है कि रावणादि ब्राह्मण थे ही नहीं कि उनके वध से श्रीराम में ब्रह्महत्या की सम्भावना की जा सके। रावणादि विशुद्ध राक्षस ही थे। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण ही नहीं, अपितु सभी आर्षग्रन्थ, चाहे वे पुराण हों या तदितर, मुक्तकंठ से रावणादि को राक्षस ही घोषित किये हैं। महातेजा विश्वामित्र–महाराज दशरथ की राजसभा में जहां ब्रह्मर्षि वशिष्ठ जैसे महाज्ञानी विराजमान थे–रावण को राक्षस ही बतलाते हैं—

पौलस्त्यवंशप्रभवो रावणो नाम राक्षसः –वा० रा० बा० का० २०/१६।

महाराज दशरथ की पुत्रेष्टि में पधारे हुए देवताओंने तो लोकस्रष्टा ब्रह्मा एवं भगवान् विष्णु को रावण के अत्याचारों का परिचय उसे राक्षस बतलाते हुए ही दिया है—

भगवंस्त्वत्प्रसादेन रावणो नाम राक्षसः । } वा० रा० बा०
राक्षसो रावणो मूर्खो वीर्योद्रेकेण बाधते ॥ } का० १५/६,२३

परम आप्त महर्षि वाल्मीकि ने शूर्पणखा का परिचय देते हुए लिखा कि वह राक्षस रावण की बहन है—सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः । भगिनी..........वा०रा०अर०का० १७/६ । शूर्पणखा स्वयं अपने भाई रावण को राक्षस कहकर सम्बोधित करती है—

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस—वा०रा०अर०का० ३३/८

विभीषण भी अपना परिचय देते समय कहते हैं कि राक्षसों का स्वामी, दुराचारी राक्षस रावण है मैं उसी का भाई हूँ—

रावणो नाम दुर्वृत्तो राक्षसो राक्षसेश्वरः । } वा० रा० यु०
तस्याहमनुजो भ्राता........ .... ॥ } का० १७/१२

रावण अपने सीताहरण कर्म को राक्षसों का धर्म बतलाकर (स्वधर्मो रक्षसां भीरु-वा०रा०सु०का० २०/५ ।) उसमें अधर्मत्व का निषेध कर रहा है । इससे सिद्ध है कि वह अपने को राक्षस ही मान रहा है । हव्य-वाहन भगवान् अग्निदेव ने भी धर्मविग्रह श्रीराम से जानकीहर्ता रावण को राक्षस ही कहा है—

रावणेनोपनीतैषा वीर्योत्सिक्तेन रक्षसा—वा०रा०यु०का०११८/७ ।

ऋषि, देवता एवं राक्षस ही नहीं अपितु पक्षियों तक को ज्ञान था कि रावण राक्षस है; क्योंकि पक्षिराज जटायु ने राक्षस की आशङ्का से वधोद्यत श्रीराम को देखकर कहा था—मैं राक्षस रावण द्वारा पहले ही मारा जा चुका हूँ—रक्षसा निहतं पूर्वम्–वा०रा०अर०का० ६७/२० । जटायु के अग्रज सम्पाति ने भी वानरों को रावण का पूर्ण परिचय देते हुए उसे राक्षस बतलाया है—

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद् भ्राता वैश्रवणस्य च । } वा०रा०कि०
अध्यास्ते नगरीं लङ्कां रावणो नाम राक्षसः ॥ } का० ५८/१९

परम तपस्वी महर्षि निशाकर ने सुदूर पूर्व सम्पाति को बतला दिया था कि रावण नामक राक्षस श्रीराम की भार्या का हरण करेगा—

नैर्ऋतो रावणो नाम तस्य भार्यां हरिष्यति–वा०रा०कि०का० ६२/२

वाल्मीकीय रामायण ही नहीं, अपितु पुराणों में भी भगवान् बादरायण ने रावणादि को राक्षस ही लिखा है । मत्स्य महापुराण में सूतजी रावण को राक्षस कह रहे हैं-मुमोच रक्षः पौलस्त्यं पुलस्त्येनेह सान्त्वितम्-४३/३९ । गरुडमहापुराण में स्वयं ब्रह्माजी ने रावण को राक्षस कहा है—

भर्त्सितां राक्षसीभिश्च रावणेन च रक्षसा । आ०का०
भव भार्येति वदता चिन्तयन्तीञ्च राघवम् ॥ १४३/५१

वहीं चतुर चतुरानन ने यह भी बतला दिया कि– अगस्त्यादि मुनियों को नमस्कार करके श्रीराम ने उनसे राक्षसों की उत्पत्ति सुनी–

अगस्त्यादीन् मुनीन् नत्वा श्रुत्वोत्पत्तिञ्च रक्षसाम्–आ.का. १४३/५१ ।

महर्षि विश्रवा ने तो रावणादि की समुत्पत्ति के पूर्व ही उनकी माता कैकसी से कह दिया था कि तुम पुत्राभिलाषा से दारुणवेला में मेरे समीप आयी हो अतः दारुण आकार और दारुण स्वभाव वाले राक्षसों को उत्पन्न करोगी—

सुताभिलाषो मत्तस्ते मत्तमातङ्गगामिनि ।
दारुणायां तु वेलायां यस्मात्त्वं मामुपस्थिता ॥
शृणु तस्मात् सुतान् भद्रे यादृशाञ्जनयिष्यसि ।
दारुणान् दारुणाकारान् दारुणाभिजनप्रियान् ॥ वा.रा.उ.का.
प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मणः । ९/२२,२३,२४

इन प्रमाणों से सुस्पष्ट है कि वाल्मीकि, वादरायणप्रभृति ऋषि लोकस्रष्टा ब्रह्मादि, समस्तदेवता, जटायु आदि पक्षी तथा विभीषण जैसे राक्षसों के साथ स्वयं रावण अपने को राक्षस कहता है । अतः उसके राक्षसत्व में कोई सन्देह नहीं ।

कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनका ज्ञान आकृति के उपदेश मात्र से होने लगता है जैसे किसी ने देवदत्त से कहा--"घट इस आकार का होता है ।" तत्पश्चात् वह घटान्तर की आकृति का दर्शन करते ही घटत्व का प्रत्यक्ष कर लेता है । इसी प्रकार घटत्व, मनुष्यत्व, गोत्व आदि लोकसिद्ध जातियों का भी तत्तदाकृतिविशेष में प्रत्यक्ष होता है । इसी अभिप्राय से 'आकृतिग्रहणा जातिः' जाति का लक्षण किया गया । हाँ, ब्राह्मणत्वादि जातियाँ आकृतिव्यङ्ग्या नहीं होती हैं; क्योंकि ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रादि के अवयव संस्थान में कोई ऐसी विशेषता नहीं दिखती कि किसी एक ब्राह्मण को देखकर 'इस आकार का ब्राह्मण होता है' इस उपदेश मात्र से घटत्वादि की भाँति सभी ब्राह्मणों में आकृतिदर्शन से ही ब्राह्मणत्व का बोध हो सके । अतः ब्राह्मणत्वादि जातियाँ "यह ब्राह्मण से शास्त्ररीत्या परिणीता ब्राह्मणी में समुत्पन्न हुआ" इत्यादि उपदेश से देवदत्त एवम् उसके बन्धु तथा पितृप्रभृति में ब्राह्मणत्व ज्ञात होता है ।

राक्षसत्व जाति भी मनुष्यत्वजातिवत् आकृतिग्राह्या है। 'दारुणआकृति विशिष्ट प्राणिविशेष राक्षस कहा जाता है' इस प्रकार उपदेशश्रवण के पश्चात् तादृश आकृतिविशेष के दर्शन से उसमें राक्षसत्व का प्रत्यक्ष हो जाता है। रावणप्रभृति के दर्शन से ही उनमें राक्षसत्वग्रह देवता एवम् ऋषियों की बात क्या पक्षियों तक को हो गया था। अतः उनमें प्रमाण-सिद्ध राक्षसत्व का अपलाप नहीं किया जा सकता।

विद्याव्रतस्नातकत्वादि की उपपत्ति—

'ब्राह्मणत्व के अनुमापक हेतु' शीर्षक पृ० १७०-१७१-१७२ में जो कहा गया था कि तीन स्नातकों में सर्वश्रेष्ठ स्नातक विद्याव्रतस्नातक है और वह वही हो सकता है जिसने विद्योपयोगी व्रतों का सम्यक् पालन करते हुए वेदाध्ययन पूर्ण किया हो। रावणादि यदि त्रैवर्णिकों से बहिर्भूत, राक्षस हैं तो वेदाध्ययन का अङ्ग उपनयन न होने से उनका उक्त अध्ययन ही अनुपपन्न हो जायेगा। फलतः विद्याव्रतस्नातकत्व की उपपत्ति उनमें नहीं हो सकती; जबकि 'वेदविद्याव्रतस्नातः स्वकर्मनिरतस्तथा'—वा. रा. यु. का. ६२/६० से उसे विद्याव्रतस्नातक कहा गया है। इतना ही नहीं 'एषोऽहिताग्निश्च' महातपाश्च-यु. का. १०६/२३ से समाम्नात आहिताग्नित्व भी उसमें उपपन्न नहीं हो सकता; क्योंकि वह त्रैवर्णिक से बहिर्भूत एवं रथकार से भी इतर है। अतः उसे ब्राह्मण विश्रवा से समुत्पन्न होने के कारण ब्राह्मण मान लेना चाहिए। महर्षि ब्राह्मणीतरकन्या में भी ब्राह्मण सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं—यह पूर्व में प्रतिपादित हो चुका है।

उक्तयुक्ति रावणादि के ब्राह्मणत्व की अनुमापिका नहीं हो सकती; क्योंकि देवता एवम् असुर प्रभृति जो त्रैर्वणिकों के अन्तर्गत नहीं हैं, उनका भी अध्ययन किसी साधारण पुरुष के समीप नहीं अपितु साक्षात् प्रजापति के समीप श्रुत है। इन्द्र और विरोचन विद्याग्रहणार्थ प्रजापति के समीप समित्पाणि होकर पहुँचे और वहाँ ब्रह्मचर्यपूर्वक ३२वर्ष निवास किये—इन्द्रो हवै देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः तौ ह वै द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः—छा.उ. ८/७/२-३। एवञ्च जब त्रैर्वणिकेतर अनुपनीत देवता एवम् असुर विद्याग्रहण कर सकते हैं, तब अनुपनीत त्रैर्वणिकेतर राक्षस रावण आदि विद्याग्रहणोपयोगी ब्रह्मचर्यादि व्रतों का पालन करते हुए वेदविद्या ग्रहण करके विद्याव्रतस्नातक हो जांय तो क्या आश्चर्य !

उपनयन वेदाध्यन का अङ्ग है इसमें कोई सन्देह नहीं और उपनयन-विधुर देवतादि का भी वेदाध्ययन श्रुत है इससे सुनिश्चित होता है कि उपनयन त्रैवर्णिकों के ही वेदाध्ययन का अङ्ग है, तदितर के वेदाध्ययन का नहीं, अत एव प्रजापति ने इन्द्र एवं विरोचन को उनके योग्यतानुसार विद्या प्रदान की। फलतः रावणादि का अध्ययन उपपन्न हो जाता है।

अर्थित्व, सामर्थ्य और निषेधाश्रवण होने से देवता तथा राक्षसादि के वेदाध्ययन एवम् अग्न्याधानादि में किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं दिखती। पुराणों में चन्द्रवरुणादिकर्तृक यज्ञों का उल्लेख भी है। इतना ही नहीं, वृत्रवध से समुत्पन्नब्रह्महत्यादोषदलनहेतु शक्रकर्तृक अश्वमेधानुष्ठान इतिहास पुराणादि में उपवर्णित है। यह अश्वमेधाख्य श्रौत कर्म लौकिकाग्नि में नहीं, अपितु आधानसंस्कारविशिष्टवह्नि में ही किया गया। इधर प्रजापति के समीप महेन्द्र का विद्यार्जन श्रुत है। अतः फलार्थित्व, सामर्थ्य और निषेधाश्रवण ही द्विजातीतर के वेदाध्ययन एवम् अग्न्याधान के प्रयोजक हैं। चतुर्थवर्ण का वेदाध्ययन आर्षवचनों से निषिद्ध है। 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनववलृप्तः' से यज्ञ में पादज का निषेधश्रवण एवम् अध्ययनसिद्धविद्याऽभाव उसके आहिताग्नित्वका वाधक है। रथकारादि के विषय में प्राग्विवेचन ही पर्याप्त है। रावणादि भी अर्थित्व, सामर्थ्य एवं निषेधाश्रवण होने से इन्द्रादिवत् ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक वेदाध्ययन और यथोचित काल में अग्न्याधान भी कर सकते हैं। एवञ्च वे विद्योपयोगी व्रतों के पालन तथा विद्या का यथावत् ग्रहण करके समावर्तन करने से विद्याव्रतस्नातक हो जायेंगे। लङ्केश वेदान्तविद् होने के साथ-साथ कर्मकाण्ड में भी प्रवीण था। अत एव श्रौतकर्म के लिए उसने अग्न्याधान भी किया था। जिसका सङ्केत विभीषण ने- "एषोहिताग्निश्च महातपाश्च वेदान्तविद् कर्मसु चाग्र्यशूरः" शब्दों में किया है। निष्कर्ष यह कि फलार्थित्व, सामर्थ्य और निषेधाश्रवण होने से रावणादि में विद्याव्रतस्नातकत्व, आहिताग्नित्व एवं ऋतुप्रवरयाजित्व उपपन्न हो जायेगा। एतदर्थ राक्षसत्वख्यापक प्रमाणों का अपलाप करके उन्हें ब्राह्मण मानने में कोई औचित्य नहीं है।

उत्तरमीमांसा के देवताधिकरण (१/३/अधि. ७) में देवताओंका ब्रह्मविद्या में अधिकार है या नहीं- ऐसा सन्देह करके 'अनुपनीत होने से उनका अधिकार नहीं है,- ऐसा पूर्वपक्ष प्रस्तुत कर सिद्धान्त किया गया कि "देवताओं को वेदों का भान स्वतः है। अतः ब्रह्मविद्या

में उनका अधिकार है।" इसी प्रकार राक्षसादि के भी देवयोनिविशेष होने से उन्हें वेदों का प्रतिभान स्वतः होगा ही। फलतः उनके अध्ययन की कल्पना नहीं करनी चाहिए। इस स्वतोवेदप्रतिभान-पक्ष में 'वेद-विद्याव्रतस्नातः' का 'वेदविद्याव्रतस्नात इव श्रेष्ठो विद्वान्' अर्थ कर लेना चाहिए। इसी भाँति अन्य वचनों का भी यथायोग्य अर्थ करके रावणादि में आहिताग्नित्व एवं क्रतुप्रवरयाजित्व उपपन्न किया जा सकता है। एवञ्च पूर्वोक्त-साक्ष्यसिद्ध-राक्षसत्वविशिष्ट रावणादि में विद्याव्रतस्नातकत्वादि का कथन सूपपन्न हो जाने से उन्हें ब्राह्मण कथमपि नहीं माना जा सकता।

अब देवयोनिविशेष होने से रावणादि का वेदवैदुष्य देवतान्तरवत् स्वतः माना जाय या अध्ययनाख्यश्रमजन्य ? इन दोनों पक्षों में अन्तिम पक्ष ही सबल है; क्योंकि जैसे- स्वतः प्रतिभातवेद देवराज इन्द्र का प्रजापति के समीप सम्पन्न श्रुतिमुण्डगम्य अध्ययन स्वीकारा जाता है, वैसे ही श्रुतिसमवताररामायणगम्य दशग्रीव की अधीति भी स्वीकारने योग्य है। दशानन का पाण्डित्य श्रमजन्य है--इसमें उसके अनुज विभीषण की उक्ति ही प्रमाण है। जब रावण पवनसुवन को मृत्युदण्ड देना चाहता है तब विभीषण उसे समझाते हुए कहते हैं-

गृह्यन्ते यदि रोषेण त्वादृशोऽपि विचक्षणाः। } वा० रा० सु०
ततः शास्त्रविपश्चित्त्वं श्रम एव हि केवलम्॥ } का० ५२/८

'यदि आपके समान विचक्षण भी रोषवशीभूत हो जाँय तब तो शास्त्रवैदुष्य केवल श्रम ही है अर्थात्-श्रमसाध्य शास्त्रपाण्डित्य से आपको केवल श्रम ही हाथ लगा और कुछ (विवेकादि) नहीं।' विभीषण की दृष्टि से शास्त्रग्रहण करने में लङ्कापति की प्रखरप्रज्ञा के सदृश किसी अन्य की प्रज्ञा नहीं थी-

न शास्त्रबुद्धिग्रहणेषु वापि। विद्येत कश्चित्तव वीर तुल्यः-सु.का. ५२/७।
यदि अध्ययन के विना देवतान्तरवत् दशग्रीव का वैदुष्य मान लिया जाय तो विभीषण की उक्तोक्ति असङ्गत हो जायेगी। इतना ही नहीं, उसके लिए विद्याव्रतस्नातकत्व का कथन भी अनुपपन्न हो जायेगा। अतः उसका वैदुष्य अध्ययनाख्यश्रमजन्य ही मानना चाहिए। जैसे उपनयन के विना काव्यों का अध्ययन किया जा सकता है और होता है। वैसे ही राक्षस-राज का वेदाध्ययन भी हुआ होगा। 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' विधि से प्राप्त उपनीताधिकारिक अध्ययन स्वशाखाविषयक होने से त्रैवर्णिकों के

लिए ही है, देवता या राक्षसादि के लिए नहीं; क्योंकि उनकी कोई शाखा नहीं होती। अतः लङ्केश का अध्ययन उपनीताधिकारिक वैध नहीं, अपितु लौकिक था। एवञ्च लौकिकाध्ययनसिद्ध वेदविद्या होने से उसने अग्न्याधान भी किया था। जिसका उल्लेख–"एषोहिताग्निश्च" से किया जा चुका है।

उपनयन केवल वेदाध्ययनार्थ ही नहीं, अपितु सन्ध्यावन्दनादि सभी कर्मों के लिए भी है। इसीलिए सन्ध्यावन्दनादि में समर्थ होने पर भी उपनयनकालोत्तर ही व्यक्ति इन कर्मों में अधिकृत होता है,पूर्व नहीं। अत एव मूक, बधिरादि जो वेदाध्ययन नहीं कर सकते उनका भी उपनयन नित्यकर्मों के अनुष्ठानार्थ होता है–ऐसा पूर्वमीमांसा ६/२/६ में निर्णीत है। एवञ्च देवयोनिविशेष होने से उपनयनसंस्कारविधुर रावणादि के अग्निहोत्र, अग्न्याधानादि सभी कर्म अनुपपन्न हैं– ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि तत्तत्कर्मों में त्रैवर्णिकों के ही अधिकार का हेतु उपनयन है। अत एव उपनयन न होने पर भी शूद्रों का स्वधर्म एवं दानादि सामान्यधर्मों में अधिकार है। देवता और राक्षसादि त्रैवर्णिक से बहिर्भूत हैं। अतः फलार्थित्व, सामर्थ्य और निषेधाश्रवण होने से ये अग्न्याधानादि में अधिकृत हैं। रावणादिवत् अध्ययन श्रुत न होने पर भी जिनके द्वारा किये गये वैदिकमन्त्रों के जप का उल्लेख रामायण आदि में मिलता है, उन्हीं बालि प्रभृति में देवकुमारत्वादिहेतुक वेदप्रतिभान परिकल्पित है, देवयोनिविशेष होने पर भी रावणादि में नहीं।

उपनयनाख्य अङ्ग से विकल रावणादि का लौकिकाध्ययनसिद्ध वेदविद्या एवम् आधानादि यागसाध्यफलों की समुत्पत्ति नहीं कर सकते- ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि "देवानामीषद् विकृतान् यज्ञान् दर्शयति"–वा०रा०सु०का० ४/१५ की ति० टी०। इस भाष्योक्ति से सिद्ध है कि किञ्चिदङ्गविकल होने पर भी देवताओं के अनुष्ठित कर्म से फलोत्पत्ति होती है। वृत्रोत्पत्ति इसका दृष्टान्त है। राक्षस भी देवयोनिविशेष हैं अतः उपनयनहीन होने पर भी उनके कर्म से फलसिद्धि होगी ही, अत एव लङ्का में वेदपाठ एवं श्रेष्ठ यज्ञ अनुष्ठित होते थे और मेघनाद ने तो अग्निष्टोम, राजसूयादि अष्टक्रतुओं से लङ्का में ही अनेक शक्तियों को प्राप्त किया था जब कि उसका कर्म देशरूप अङ्ग से भी विहीन था; क्योंकि कर्मभूमि भारत ही है, लङ्का नहीं।

इस परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि रावणादि में विद्याव्रत-

स्नातकत्व एवम् आहिताग्नित्व सूपपन्न है, अतः उनके पूर्वोक्त साक्ष्यसिद्ध राक्षसत्व का अपलाप करके उन्हें ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। और रावण के ब्राह्मणत्व में जो "ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः" इत्यादि वेदमंत्र प्रस्तुत किया गया था, वह भी अभीष्ट साधक नहीं; क्योंकि वह मन्त्र विषदूरीकरण के लिए विनियुक्त होता है और उसका देवता रावण नहीं प्रत्युत तक्षक है। इसीलिए तक्षक को हाथ जोड़कर 'ब्राह्मणो जज्ञे' इत्यादि मन्त्र का जप करते हुए जल को अभिमन्त्रित करके विषावृत पुरुष को पिलाने और उस पर छिड़कने को कहा गया है—

'ब्राह्मणो जज्ञे' इति तक्षकायाञ्जलिं कृत्वा जपन्नाचामयति अभ्युक्षति"—

—कौशिकसूत्र ४/४।

वेदों के सुप्रसिद्ध भाष्यकार आचार्य सायण ने दशसिर दशमुख वाला ब्राह्मण तक्षक को ही मानकर उक्त मन्त्र का भाष्य किया है—मनुष्यजातिवत् सर्पजातावपि चातुर्वर्ण्यमस्ति। तत्र प्रथमः सर्पजातीयानामादिभूतः तक्षकाख्यो ब्राह्मणः=ब्राह्मणजातिः जज्ञे=उत्पन्नः। स विशेष्यते। दशशीर्षः=दशसंख्यानि शीर्षाणि=शिरांसि यस्य स तथोक्तः। अतएव दशास्यः=दशमुखः। यस्मादयं ब्राह्मणः तस्मात् स तक्षकः प्रथमः=क्षत्रियादिजातीयेभ्यः पूर्वभावी सन् सोमं पपौ=द्युलोकस्थम् अमृतमयं सोमं पीतवान्। स च सोमपो ब्राह्मणः कन्दमूलादिजनितम् एतद्विषम् अरसं=रसरहितम् निर्वीर्यम्, चकार=करोतु छान्दसोलिट्।

—'मनुष्यजाति की भाँति सर्पों में भी चार वर्ण हैं। उनमें प्रथम=सर्पजातियों में पहला तक्षक नामक ब्राह्मण=ब्राह्मणजातीय उत्पन्न हुआ। उसके दशसिर और दशमुख थे। चूंकि यह ब्राह्मणजातीय सर्प था, इसलिए क्षत्रियादिजातिसर्पों से पूर्व में रहने वाला था। अतः स्वर्ग लोकस्थ अमृतमय सोम का इसने पान किया। सोमपान करने वाला ऐसा ब्राह्मणजातीय सर्प कन्दमूलादिजनित विष को दूर करे।'

'बृहत्सर्वानुक्रमणी'-जिसके द्वारा ऋषि छन्द एवं देवता का ज्ञान होता है-में इस मन्त्र का ऋषि गरुत्मान् छन्द अनुष्टुप् और देवता तक्षक बतलाया गया है। एवञ्च यह मन्त्र तक्षक का ही प्रकाशक है, रावण का नहीं। फलतः इसके द्वारा रावण को ब्राह्मण नहीं सिद्ध किया जा सकता। यदि 'तुष्यतु सुजनन्यायेन' इस मन्त्र के 'दशशीर्षो' 'दशास्यः' आदि शब्दों को देखकर कोई नरपुङ्गव इसमें रावण का ही वर्णन माने तो भी वह ब्राह्मण नहीं सिद्ध हो सकता; क्योंकि इसका विरोधी

वेदवचन रावण को राक्षस बतला रहा है—

स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः । रा० पू०
रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे ।। उ० ४/१७

इन दोनों श्रुतिवाक्यों में रावण के राक्षसत्व का समर्थक वाक्य ही प्रबल है; क्योंकि वेदावतार वाल्मीकीयरामायण में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों, देवताओं और वेदों के उपबृंहक पुराणों में लोकस्रष्टा ब्रह्माजी ने रावण को राक्षस कहा है, ब्राह्मण नहीं। वेदों का रहस्य वेदावतार रामायण एवम् ऋषि ही बतला सकते हैं। इन लोगों ने रावण के (पूर्वपक्षसम्मत) ब्राह्मणत्वसमर्थक ब्राह्मणः शब्द को 'आदित्यो यूपः' की भाँति लाक्षणिक माना है। जो रावण के लिए तपःप्राचुर्य और वेदपारगामित्व गुण के कारण प्रयुक्त हुआ है, कुछ ब्राह्मणत्व बतलाने हेतु नहीं।

'शरीर की विशालता, देवद्रोहित्वादि के कारण वृत्र को जैसे सर्वत्र असुर, दैतेय आदि कहा गया है। वस्तुतः वह ब्राह्मण था। यही स्थिति रावण के विषय में समझनी चाहिए'– पृष्ठ १०४।

उक्त कथन असमीचीन है; क्योंकि वृत्र की समुत्पत्ति दक्षिणाग्नि से हुई थी, राक्षस या राक्षसी से नहीं और अग्नि को ब्राह्मण कहा गया है– "अग्निर्वै ब्राह्मणः"। इधर वृत्रवध से इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी और इसके प्रणाशार्थ शक्र ने अश्वमेधानुष्ठान किया।

'ब्रह्महत्या हते तस्मिन्नाससाद वृषाकपिम्' –भा० महा० ६/१३/१० में आये ब्रह्महत्या शब्द को 'तस्मात्त्वां नाविशत्याशु ब्रह्महत्या नराधिप— वा०रा०अयो०का० ६४/५५ श्लोकस्थ 'ब्रह्महत्या शब्द की भाँति ब्रह्महत्याव्यतिरिक्त उग्र पाप में लाक्षणिक नहीं माना जा सकता; क्योंकि श्रवण ने अपनी ब्राह्मणेतर जाति का उल्लेख करके अपने वध में ब्रह्महत्यात्व का निषेध कर दिया है। अतः रामायण के उक्त शब्द की अर्थान्तर में लक्षणा की गयी। पर यहाँ ऐसी स्थिति नहीं है; क्योंकि यहाँ ब्रह्महत्या का मूर्तिमान् स्वरूप चित्रित करके सुस्पष्ट कहा गया कि इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी। 'ब्रह्महत्या नहीं लगी' एतादृश निषेधक कोई वचन नहीं है। अतः वृत्र में ब्राह्मणत्व की उपपत्ति श्रीनागेशभट्ट जैसे सभी विद्वानों ने की। वृत्र की ब्राह्मण (अग्नि) से उत्पत्ति और उसके वध से ब्रह्महत्यावर्णनपरक उपदेश सुनकर तन्निष्ठ ब्राह्मणत्व का निश्चय हो जाता है। दशग्रीव की स्थिति वृत्र से भिन्न है। इसकी समुत्पत्ति राक्षसी के गर्भ से हुई और समुत्पत्ति के पूर्व ही इसकी जाति

का निर्धारण हो चुका था— 'प्रसविष्यसि सुश्रोणि राक्षसान् क्रूरकर्मण:" उ०का० ९/२४। इसके वध से श्रीराम को इन्द्र की भाँति ब्रह्महत्या भी नहीं लगी थी। पद्ममहापुराण के पातालखण्ड में अगस्त्यजी ने श्रीराम में ब्रह्महत्या का निषेध ही किया है। उन्होंने रावणादि की समुत्पत्ति का वर्णन करते हुए— 'हतस्त्वया रावणाख्यस्त्वसुरो लोककण्टक: –प० महा० पा०ख० ६/९ उपक्रम वाक्य में रावण को असुर कहकर मध्य में भी उसके लिए अनेक बार दैत्य, दितिजेन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग किया। इसी बीच पुलस्त्य जैसे विप्रवर के कुल में रावणादि का प्रभव सुनकर तथा उनके वध को ब्रह्महत्या समझकर श्रीराम दु:खी हो गये। तत्पश्चात् महामना अगस्त्यजी ने कहा— राघवेन्द्र ! तुम्हें ब्रह्महत्या नहीं लगी है; क्योंकि तुमने दुष्टों के विनाश की इच्छा से उनका वध किया है— 'न ते ब्राह्मणहत्या स्याद् दुष्टानां नाशमिच्छत:" – प० महा०पा०ख० ८/१७। "रावणादि दुष्ट ब्राह्मणों के नाश की इच्छा से उनका वध किया है"— इत्यादि पृ० १९४ पर लिखित अर्थ अनुचित है; क्योंकि महातेजा अगस्त्य ने स्वयं दशरथनन्दन से कहा है कि रावण भी वस्तुत: दैत्य नहीं था, वह तो वैकुण्ठ में आपका सेवक था, ऋषियों के शाप से ही उसे दैत्यत्व प्राप्त हुआ था—

रावणोऽपि न वै दैत्यो वैकुण्ठे तव सेवक: ।
ऋषीणां शापतोऽवाप्तो दैत्यत्वं दनुजान्तक ।। } प०महा०पा० ख० ८/२१

ध्यातव्य है कि यहाँ सनकादिकों द्वारा जय-विजय को दिये गये शाप की ओर सङ्केत किया गया है। इससे सुस्पष्ट है कि रावणादिरूप में आये जय-विजय को ब्राह्मणत्व नहीं अपितु राक्षसत्व की ही प्राप्ति सनकादि जैसे ऋषियों के शाप से हुई थी। अतएव अगस्त्यजी श्रीरामकर्तृक-रावणादिवध को उसके ऊपर किया गया उपकार मानते हैं— 'तस्यानुग्रहकर्ता त्वं न तु हन्ता द्विजन्मन:' अत: आप दैत्यहन्ता ही हैं, ब्राह्मणहन्ता नहीं— ऐसा विचार कर आप शोक न करें। उक्त श्लोक के प्रथमपाद से बतलाया गया कि आपने रावणादि का वध करके उनके ऊपर अनुग्रह ही किया है। अन्यथा वे अपने पापमय शरीर से पापाचार करके और भी निम्नयोनि में चले जाते।

ध्यातव्य है कि महर्षि कुम्भज श्रीराम में ब्रह्महत्या असंस्पर्श के दो कारण बतलाये। प्रथम श्रीराम का अपना स्वरूप एवं स्वनाम माहात्म्य और द्वितीय रावणादि का स्वरूप। श्रीराघवेन्द्र को पुराण पुरुष, मायातीत

ईश्वर, साक्षी, कर्ता, हर्ता एवं सब कुछ बतलाकर ऋषि ने कहा— मद्यप, ब्राह्मणहन्ता, सुवर्णापहर्ता जैसे सभी महापापी आपके नामोच्चारण से सद्यः पवित्र हो जाते हैं। फिर साक्षात् आपको ब्रह्महत्या कैसे लग सकती है। दूसरी बात यह कि रावण राक्षस था, आपने राक्षस का वध किया है, ब्राह्मण का नहीं। इसलिए भी आपको ब्रह्महत्या नहीं लग सकती।

ब्रह्मर्षि आरण्यक और महातेजा च्यवन ने श्रीराम के नाम की महिमा बतलाते हुए कहा कि जिनके नाम से ही ब्रह्महत्यादि सभी पाप दूर हो जाते हैं उन श्रीराम को ब्रह्महत्या कैसे लग सकती है—देखें, पृष्ठ १८८, १८९, १९०। ध्यातव्य है कि ब्रह्मर्षि कुम्भज ने श्रीराम में ब्रह्म-हत्या के असंस्पर्श में दो कारण बतलाया और अन्य दोनों ऋषियों ने एक ही। ये सभी ऋषि आप्त हैं अतः कुम्भजप्रोक्त रावण का राक्षसत्व 'परम-तमप्रतिषिद्धमनुमतं भवति' न्याय के अनुसार इन्हें भी स्वीकृत है।

अतः "दशमुखदलन श्रीराम के ब्रह्महत्याख्यकिल्बिषध्वंसहेतु यज्ञ का अनुष्ठान सुनकर उक्त ऋषियों ने रावणादि ब्राह्मण नहीं थे, अपितु राक्षस थे फिर उनके वध से आपको ब्रह्महत्या कैसे लगी ? ऐसा न कहकर आपके नाम से ही सब पाप भाग जाते हैं फिर आपको ब्रह्महत्या कैसे लग सकती है ? यही कहा। अतः रावणादि के ब्राह्मणत्व का अनुमान होता है— ऐसा नहीं कहा जा सकता; क्योंकि इस अनुमान का बाधक महर्षि अगस्त्य का—'ऋषीणां शापतोऽवाप्तो दैत्यत्वं दनुजान्तक' आदि पूर्वोक्त वचन विद्य-मान हैं और 'नहि वचन विरोधे न्यायः प्रवर्तते' (शास्त्रवाक्य से विरोध होने पर अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होती) नियम है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब रावणादि वेद, इतिहास एवं पुराणादि से राक्षस सिद्ध हो रहे हैं, तब ब्रह्मर्षि आरण्यक एवं च्यवन ने भी उन्हें राक्षस कहकर ही श्रीराम में ब्रह्महत्या का असंश्लेष क्यों नहीं बतलाया ? ऐसे वचनों का प्रयोग क्यों किया जिनसे रावणादि में ब्राह्मणत्व की अबाधित न सही, बाधित कल्पना का ही अवसर मिले।

समाधान यह कि जिस प्रकार श्रीराघवेन्द्र द्वारा अनुष्ठित अश्व-मेध का प्रयोजन मात्र विप्रमहिमा का ख्यापन ही है, कुछ और नहीं। वैसे ही महातेजा च्यवन और आरण्यक के 'त्वन्नामस्मरणादीनि—' इत्यादि वचन भगवान् भरताग्रज के नाम का माहात्म्य बतलाने के लिए हैं। राव-णादि को राक्षस कहकर सीतापति में किल्बिष का अभाव बतलाया जा सकता था, पर इससे उनके नाम-माहात्म्य का बोधनरूप प्रयोजन सिद्ध

न होता। अतः ऋषियों ने नाम महिमा बतलाकर ही पूछा कि जब आपके नाम का ही ऐसा प्रभाव है तब आपको ब्रह्महत्या कैसे लग सकती है। यद्यपि अगस्त्य जी ने भी नाममाहात्म्य बतलाया था किन्तु वह मात्र एक श्लोक में था अतः विस्तारपूर्वक बतलाने हेतु ऋषिद्वय ने उक्त मार्ग का अनुसरण किया।

दूसरी बात यह कि अगस्त्यजी ने नाममाहात्म्य बतलाकर यह नहीं कहा कि ऐसे अनुपम प्रभावशाली नाम वाले साक्षात् आपको ब्रह्म-हत्या कैसे लग सकती है? ऐसा अर्थ तो उक्त ऋषिद्वय के वचनों के साथ महर्षि अगस्त्य के वाक्य की एकवाक्यता से ही निकल सकता है, कण्ठतः नहीं। अतः ब्रह्महत्याऽसंस्पर्श के कारणान्तर को कण्ठतः बतलाने के लिए भी इन दोनों ऋषियों ने नाममाहात्म्यपरक शब्दकदम्ब का प्रयोग किया। इस परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि पद्ममहापुराण भी श्रीराम में ब्रह्महनन का असंस्पर्श एवं रावणादि में ब्राह्मणत्वाभाव के साथ राक्षसत्व का उद्घोष कर रहा है।

ब्रह्मराक्षस शब्द के प्रयोग की उपपत्ति

पृ० १७४ से 'ब्रह्मरक्षसाम्' शब्द को आधार बनाकर पूर्वपक्षी की ओर से रावणादि में ब्राह्मणत्वविशिष्ट राक्षसत्व सिद्ध किया गया था, वह भी उचित नहीं; क्योंकि साङ्कर्य जाति का बाधक है अत एव रावणादि में ब्राह्मणत्व एवं राक्षसत्व अथवा ब्राह्मणत्वविशिष्टराक्षसत्व को जाति नहीं माना जा सकता। पुनः पृष्ठ १७६ पर 'स्वसामानाधिक-रण्य.... प्रतियोगित्वाभावः' व्याप्ति में जो प्रमाणवैधुर्य बतलाया गया था, वह भी अनुचित है; क्योंकि उक्तनियम में धर्मशास्त्र ही प्रमाण है। यदि उक्त नियम न होता तो ब्राह्मण से क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्रकन्या में समुत्पन्न सन्तान ब्राह्मणत्वविशिष्ट क्षत्रियत्वादि जाति वाली वह स्वीकार कर लेता। किन्तु स्वीकार नहीं किया प्रत्युत मूर्धावसिक्तत्व, अम्बष्ठत्व निषादत्व जैसी जातियों को ही धर्मशास्त्र स्वीकार कर रहा है। फलतः वह नियम शास्त्रानुमोदित है। एवञ्च पूर्वोक्तव्यभिचारशङ्का का निवर्तक तर्क भी है-'यदि तज्जातिव्यापकत्वमुक्तोभयसम्बन्धेन तज्जातिविशिष्टजातित्व व्यभिचारि स्यात्तर्हि तज्जातिव्यापकत्वाभावे मूर्धावसिक्तादिनिष्ठब्राह्मणत्व विशिष्टक्षत्रियत्वादौतादृशसम्बन्धेनजातिविशिष्टतादृशजातित्वं धर्मशास्त्रेण स्वीकृतं स्यात्'। इसलिए नव्यनैयायिकों का धर्मशास्त्रविरुद्ध कथन तुच्छ है। अत एव रावणादि में ब्राह्मणत्वविशिष्टराक्षसत्व नहीं माना जा सकता।

'ब्राह्मणांश्च नमस्यताम्' पृ० १७६ में राक्षसों को ब्राह्मण नहीं कहा गया है अपितु शुक्राचार्यादि ही वहाँ 'ब्राह्मणान्' पद से सङ्केतित हैं; क्योंकि रामायण के उत्तरकाण्ड २५वें सर्ग में भी ऐसा वर्णन मिलता है कि शुक्राचार्य जी ने मेघनाद को अग्निष्टोमादि यज्ञ कराया है। अतः वे और उनके अनुयायी ब्राह्मण ही यहाँ युद्ध के अवसर पर उपस्थित थे। जिन्हें राक्षसों ने प्रणाम किया था। अथवा 'ब्राह्मणान्' शब्द की ब्राह्मण सदृश वेदज्ञ राक्षसों में लक्षणा है। एवञ्च 'वेदज्ञराक्षसों को राक्षससैनिकों ने प्रणाम किया' अर्थ हुआ। इसी प्रकार द्विजाः' आदि पदों में भी समझना चाहिए। एवञ्च जब लङ्कावासियों में ब्राह्मणत्व विशिष्ट राक्षसत्व पूर्वोक्त साक्ष्यों से बाधित है तब 'शतेपञ्चाशन्'न्यायेन उनके लिए ब्राह्मणादि शब्दों का प्रयोग उपपन्न नहीं किया जा सकता। अतएव तिलक-टीकाकार श्रीनागेशभट्टजी ने 'विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्' घटक ब्रह्मरक्षसाम् शब्द का अर्थ किया—ब्रह्मवेदस्तज्ज्ञरक्षसाम्। 'ब्रह्मन्' ऐसा सम्बोधन ब्राह्मण के लिए प्रचुर मात्रा में भागवतादि महापुराण में मिलता है। अतः 'ब्रह्मरक्षसाम्' घटक ब्रह्म पद की ब्राह्मणसदृश में लक्षणा मानकर भी उक्त प्रयोग उपपन्न किया जा सकता है। एवञ्च क्रतुप्रवरयाजिनाम् षडङ्गवेदविदुषाम्' आदि पदार्थ ब्रह्मरक्षसाम् पदार्थ के हेतुगर्भ विशेषण मान लिए जायेंगे। अब कोई अनुपपत्ति नहीं है।

पद्ममहापुराण के 'ब्रह्मराक्षसजातिमान्' घटक ब्रह्म पद भी ब्राह्मणसदृशवेदज्ञ राक्षस में लाक्षणिक है; क्योंकि वहाँ भी अगस्त्यजी ने रावणादि में ब्राह्मणत्व का निषेध करके राक्षसत्व का ही उद्घोष किया है। अतः वेदोपबृंहक पुराण का सामञ्जस्य ही नहीं, अपितु उसके असुरत्वबोधक वचन रावणादि के राक्षसत्व का उद्घोष भी करते हैं।

लङ्केशादि में पूर्वोक्त साक्ष्यों से राक्षसत्व की सिद्धि और ब्राह्मणत्व का अभाव ऋषियों से घोषित हो चुका है। अतएव "अश्वमेधो-महायज्ञः-पावनस्तवदुर्धर्ष" वचन से श्रीराम में किसी किल्विष का सङ्केत नहीं माना जा सकता। सौमित्रि के उक्त कथन का तात्पर्य अश्वमेघ में सर्वपापप्रणाशकता बतलाना ही है। जैसा कि अगस्त्य जी ने श्रीराम से कहा था—'हे राम! तुम्हारे दर्शन से आज मेरा पाप नष्ट हो गया'— "राम त्वद्दर्शनादद्य गतं वै दुष्कृतं किल" — प०महा०पा०ख० ६/१०। अन्यथा अगस्त्य जी में भी उक्तवचनानुरोधेन पातक की परिकल्पना करनी पड़ेगी।

दूसरी बात यह कि यदि लक्ष्मण जी का वचन वस्तुतः श्रीराम में ब्रह्महत्या की सत्ता के अवबोधन हेतु होता और श्रीराघवेन्द्र में उक्त किल्बिष होता तो महातेजा अगस्त्य, च्यवन और आरण्यक जैसे ब्रह्मर्षि श्रीराम द्वारा ब्रह्महत्यापनोदनार्थं अनुष्ठित यज्ञ के दर्शन से विस्मित न होते। वे उस किल्बिष का सङ्केत श्रीराम से वार्तालाप करते समय अवश्य करते। किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अत एव लक्ष्मण जी के वचन की मर्हाषवाक्यों से एकवाक्यता करके यही समझना चाहिए कि जैसे श्रीराम अपने में ब्रह्महत्या का आरोप करके विप्रमहिमाख्यापनार्थ अश्वमेधानुष्ठान किये। वैसे ही लक्ष्मणजी अपने अग्रज में किल्बिष का आरोप करके अश्वमेध में तन्निवर्तकता बतलाने हेतु अश्वमेधानुष्ठान की राय दे रहे हैं, न कि उनमें किल्बिष की सत्ता का बोधन कर रहे हैं; क्योंकि रावणादि में ब्राह्मणत्व बाधित है। अतः वाल्मीकीयरामायण एवं पुराणादि से रावण राक्षस ही सिद्ध होता है, ब्राह्मण नहीं। अध्यात्मरामायण में रावण के लिए प्रयुक्त ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणसदृश वेदज्ञ राक्षस में लाक्षणिक है; क्योंकि वहीं उसे एक नहीं, अपितु अनेक बार राक्षस कहा गया है। एवञ्च रावणादि के ब्राह्मण न होने से दशरथनन्दन श्रीराम में ब्रह्महत्या के संस्पर्श की कल्पना नहीं की जा सकती।

द्विवेदी जी को यह भ्रम है कि अश्वमेध यज्ञ से सन्तान उत्पन्न होती है। इस भ्रम की पुष्टि हेतु ये हठात् प्रयासरत भी हैं। देखें—

'वाल्मीकीय रामायण कहीं भी श्रीराम के अश्वमेध का ब्रह्महत्यानिर्णेजनार्थत्व नहीं प्रतिपादित करता, अपितु—

अश्वमेधशतैरिष्ट्वा दत्त्वा बहुसुवर्णकैः।
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम्॥
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।
राजवंशाञ्छतगुणान् पालयिष्यति राघवः॥ वा० रा०
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन् स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति। १/१/९६

इस प्रघट्टक में प्रयुक्त इष्ट्वा, दत्त्वा ये दोनों पद यजन एवं दान इन दोनों क्रियाओं की राजवंश स्थापन एवं चातुर्वर्ण्य का स्वधर्म नियोजनरूप क्रियाद्वय की अपेक्षा पूर्वकालिकता बोधित करते हुए इनका परस्पर पुण्यं कृत्वा स्वर्गं याति की भाँति हेतु-हेतुमद्भाव बोधित करते

हैं। इसलिये दोनों क्त्वान्तपदों के प्रयोग हुए हैं। अन्यथा इसके स्थान पर स्वतन्त्र क्रिया पद प्रयुक्त हुए होते। वहाँ पुण्य तथा स्वर्ग में कार्य-कारणभाव शास्त्रान्तर से सिद्ध है जिसका अनुवदनमात्र वह वाक्य कर रहा है; तो यहाँ भी अश्वमेध का दानवीरत्वादिगुणविशिष्ट सन्तानोत्पत्ति में कार्यकारणभाव शास्त्रसिद्ध है। देखें—

"आ अस्य यजमानस्य वीरो जायताम् ॥" —यजुर्वेद २२/२२

(इस अश्वमेध के यजमान को दानवीर,कर्मवीर, युद्धवीर पुत्र उत्पन्न हों)

अस्मात् पुरेजानस्य वीरो जज्ञे —शतपथ १३/११९/६

इस अश्वमेध के यजमान को वीर पुत्र उत्पन्न हुआ।

राज्ञोऽश्वमेधः पुत्रकामस्य सर्वकामस्य वा॥ —श्रौतसूत्र २०/१/१

पुत्र की इच्छा करने वाले या किसी भी वस्तु की इच्छा करने वाले राजा को अश्वमेध करना चाहिए—

तस्माच्छिष्टाः प्रजा जायन्ते॥ —शत० ब्रा० १३/१/६/१

अश्वमेध करने से शिष्ट सन्तान उत्पन्न होती है।

इस प्रकार मन्त्र-ब्राह्मण-सूत्र आदि सभी ग्रन्थों से अश्वमेध यज्ञ का सद्वंश प्राप्ति के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध है। इसलिए भगवान् श्रीराम ने भी सद्गुणविशिष्ट राजवंश की स्थापना एवं क्षत्रियोचित यागादि सम्पादनरूप स्वाचरणद्वारा चारों वर्णों को स्वधर्म में व्यवस्थित करने के उद्देश्य से ही अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया। यही महर्षि वाल्मीकि द्वारा प्रयुक्त इष्ट्वा और दत्त्वा पदों का तात्पर्यार्थ है। अन्यथा पूर्णकाम परमनिष्काम भगवान् श्रीराम को अपने लिए क्या करना था? अतः महर्षि अगस्त्य के उपदेश से श्रीराम ने रावणवधरूपब्रह्महत्या के प्रायश्चित्तरूप में अश्वमेध का अनुष्ठान किया, पद्मपुराण का यह कथन रामायण से विरुद्ध होने से स्वाभिधेयार्थ में प्रमाण नहीं माना जा सकता। —रामायणकार महर्षिवाल्मीकि, पृष्ठ १०८-१०९

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितपुङ्गव ने जिन वाक्यों को अश्वमेध और सन्तानोत्पत्ति में कार्यकारणभाव दिखलाने हेतु प्रस्तुत किया है, उनसे उक्त कार्य-कारणभाव कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि—

"आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे

निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्''
—यजुर्वेद २२/२२

—हे ब्रह्मन् ! हमारे देश में ब्रह्मतेज सम्पन्न ब्राह्मण उत्पन्न हों। क्षत्रिय शूर धनुर्विद्या में निपुण, अचूक निशाना मारने वाले और महारथी उत्पन्न हों, गायें प्रचुर दुग्ध देने वाली और बैल अधिक भार वहन करने वाले हों। अश्व शीघ्रगामी हों। स्त्रियाँ रूपादिगुण सम्पन्न हों। रथारूढ़ हमारे सैनिक जयनशील हों। इस यजमान का युवापुत्र सभा के योग्य और वीर हो अथवा इस यजमान के समर्थ, सभायोग्य और वीर उत्पन्न हों। हमारे राष्ट्र में समय-समय पर जब आवश्यकता हो तब मेघ वर्षा किया करें, हमारे देश में जौ गेहूँ आदि अन्न, औषधियाँ प्रचुर फलवाली होकर पकें। हमारा योगक्षेम चलता रहे।

अश्वमेध में उक्त मन्त्र का जप अध्वर्यु करता है। पाठकगण सुस्पष्ट देख सकते हैं कि इस मन्त्र में अध्वर्यु परमात्मा को सम्बोधित करके उनसे ब्रह्मतेजस्वी ब्राह्मण, वीरक्षत्रिय, दुग्धदात्री गायें, अश्वों तथा यजमान के वीरपुत्र, समय समय पर मेघों से वर्षा तथा अपने योगक्षेम की मङ्गलकामना कर रहा है, ठीक वैसे ही, जैसे लोग "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्" इस मन्त्र से सबके सुखी और रोगरहित होने की मङ्गलकामना करते हैं। इससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि अश्वमेध यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है ? यदि अध्वर्यु की मङ्गलकामना से यजमान को पुत्र प्राप्त भी हो जाय तो वहाँ कारण मङ्गलकामना ही होगी,अश्वमेध नहीं। और यदि अश्वमेध वस्तुतः पुत्रप्राप्ति में कारण होता तो सर्वज्ञ एवं सर्वसमर्थ वशिष्ठ जैसे ऋषि की छत्रच्छाया में निर्विघ्नसाङ्ग सम्पन्न अश्वमेध से पुत्रकाम महाराज दशरथ को पुत्रप्राप्ति अवश्य ही हुई होती। किन्तु उन्हें अश्वमेध से पुत्रप्राप्ति न होकर वह पुत्रेष्टि से ही हुई है। इससे सुनिश्चित होता है कि पुत्रप्राप्ति में अश्वमेध नहीं अपितु 'पुत्रेष्टि' ही कारण है।

अश्वमेध यज्ञ का जिसके साथ कार्यकारणभाव सम्बन्ध है उसका बोधक वाक्य है-तरति सर्वं पाप्मानं, तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते ।।
—श० ब्रा० १२/३/१/१

'वह समस्त पापों से छूट जाता है, ब्रह्महत्या से छूट जाता है जो अश्वमेध यज्ञ करता है।' यहाँ अश्वमेध याग और ब्रह्महत्यादि सर्वपापविमोचन

में कार्यकारणभाव सुस्पष्ट बोधित हो रहा है। 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' –पुत्र की कामनावाला पुत्रेष्टियाग करे। 'अग्निहोत्रं जुहुयात स्वर्गकामः' –स्वर्ग का इच्छुक अग्निहोत्र हवन करे। इन स्थलों में पुत्रेष्टियाग का पुत्रोत्पत्ति से तथा अग्निहोत्र का स्वर्ग से कार्यकारणभाव सिद्ध है। ऐसी स्थिति उस मन्त्र में नहीं है; अर्थात् वहाँ पुत्रोद्देश्येन अश्वमेध का विधान नहीं है, अतः अश्वमेध और सन्तानोत्पत्ति में कार्यकारणभाव की सिद्धि उस मन्त्र-वाक्य से नहीं हो सकती। वह मन्त्र अश्वमेध प्रकरण में पठित है अतः प्रकरणप्रमाण से उसका सम्बन्ध अश्वमेध से बोधित है। इसलिए वह मन्त्र जपे जाने पर अदृष्ट द्वारा अश्वमेध का उपकारक होगा; क्योंकि प्रकरण प्रमाण से उसमें अश्वमेध की अङ्गता सुनिश्चित है और अङ्गानुष्ठान के विना प्रधान कर्म अपना फल दे नहीं सकता।

"अस्मात् पुरेजानस्य वीरो जज्ञे" (श०ब्रा० १३/१/६/६) वाक्य से भी अश्वमेध का पुत्रोत्पत्ति से कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि अश्वमेध प्रकरण में पठित 'आब्रह्मन् ब्राह्मणो ....कल्पताम्' का अंश "आ अस्य यजमानस्य वीरो जायताम्" है; और इस अंश की फल श्रुति इस प्रकार है "आ अस्य यजमानस्य वीरो जायतामिति। यजमानस्यैव प्रजायां वीर्यन्दधाति तस्मात् पुरेजानस्य वीरो जज्ञे ॥–

श०ब्रा०१३/१/६/१। (अध्वर्युयजमान की प्रजा में वीर्य का आधान करता है इसीलिए पूर्वकाल में यजमान के वीर पैदा होते थे)। यह "आ अस्य-जायताम्" मन्त्र का अर्थवाद है। इससे यही सुस्पष्ट हो रहा है कि अध्वर्यु द्वारा वीर्याधान होने से यजमान के पुत्र वीर हो जाते थे। यहाँ अध्वर्युकर्तृक वीर्याधान और वीर पुत्रोत्पत्ति का ही कार्यकारणभाव परिलक्षित हो रहा है, अश्वमेध और पुत्रोत्पत्ति का नहीं। अतः इस आधार पर अश्वमेध और सन्तानोत्पत्ति में कार्यकारणभाव सम्बन्ध दिखाने वाले द्विवेदी जी के पाण्डित्य की अच्छी झलक मिलती है। दूसरी बात यह कि "आ अस्य यजमानस्य" इस मन्त्रावयव की फलश्रुति भी प्रशंसा मात्र है; क्योंकि समग्रमन्त्र अश्वमेध का अङ्ग है और अङ्ग की फलश्रुति 'फलवत्सन्निधावफलंतदङ्गम्' इस न्याय से केवल अर्थवाद ही होती है। इस विषय में महर्षि जैमिनि कहते हैं–

अङ्गे स्तुतिः परार्थत्वात्– जै०सू० ४/३/१६ अंग के विषय में श्रुत फलश्रुति अर्थवाद मात्र होती है, क्योंकि अंग परार्थ (अर्थात् प्रधान कर्म के लिए) होते हैं। जैसे पर्णताद्रव्य की फलश्रुति अपकीर्ति अश्रवण,

नेत्राञ्जन रूप संस्कार की फलश्रुति शत्रु चक्षुः स्फोटन, प्रयाज और अनुयाज की फलश्रुति यजमान का कवचसम्पादन वस्तुतः अर्थवादमात्र है– द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादस्स्यात्–जै.सू.पू०मी०४/६/१ ;क्योंकि ये अंगों की फलश्रुतियाँ हैं, जो स्वतन्त्रकर्म नहीं । अतः "आ अस्य यजमानस्य वीरो जायताम्" मन्त्र और "तस्मात् पुरेजानस्य वीरो जज्ञे" अर्थवाद वाक्य द्वारा अश्वमेध से पुत्रोत्पत्ति का कार्यकारणभाव सम्बन्ध कथमपि नहीं सिद्ध हो सकता ।

सूत्रपाठ का घोटाला

सभी वादी अपने पक्ष की सिद्धि हेतु श्रौत, स्मार्त और पौराण आदि वाक्यों का उपन्यास करते हैं; किन्तु इन वाक्यों से अपने लक्ष्य की सिद्धि न दिखने पर स्वाभिमतार्थ प्रकाशक कुछ पदों या श्लोकों को श्रौतस्मार्तादि वचनों में मिला देते हैं। ऐसे ही पण्डितों ने इतिहास, पुराण और स्मृतियों में अपने-अपने मतपोषक वाक्यों को मिलाकर शास्त्रों और शास्त्राध्येताओं के साथ धोखा किया है। द्विवेदीजी भी कुछ ऐसा ही करते रहते हैं। च्यवन को ह्यवन, च्यवन को च्यावन,आदि रूप में लिखकर अपने लक्ष्य की सिद्धि करने का प्रयास किये हैं। यहाँ भी इनकी कुछ कला द्रष्टव्य है– "राज्ञोऽश्वमेधः पुत्रकामस्य सर्वकामस्य वा"— का०श्रौ०सू०२०/१/१ यह द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत श्रौतसूत्र है। आज तक मुद्रित सभी संस्करणों में "पुत्रकामस्य वा" पाठ नहीं है। 'सरस्वती भवन वाराणसी' की पाण्डुलिपियों में भी इस पाठ का दर्शन नहीं होता। किसी टीकाकार ने भी ऐसा पाठ नहीं लिखा। फिर भी पं० जी 'पुत्रकामस्य वा' पदों को घुसेड़कर अपनी बात सिद्ध करना चाहते हैं। चूंकि अब इनके प्रक्षिप्त पाठ की पोलपट्टी खुल गयी है। अतः इस आधार से भी अश्वमेध का पुत्रोत्पत्ति से कार्यकारणभाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं हो सकता। श्रौतसूत्र के परमप्रामाणिक भाष्यकार कर्काचार्य जी ने तथा वृत्तिकार ने भी'राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य' ही मानकर भाष्य और वृत्तियां लिखी हैं।

सर्वकाम में पुत्रकाम भी प्रविष्ट है ही, अतः अश्वमेध और पुत्रोत्पत्ति का कार्यकारणभाव ,राज्ञोऽश्वमेधः सर्वकामस्य' सूत्र से ही सिद्ध हो जायेगा– ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यहाँ सर्वकामस्य का अर्थ "मुमुक्षोः" है, देखें– अश्वमेध इति त्रिरात्रस्य यज्ञक्रतोर्नामधेयम्। स सर्वकामस्य भवति सर्वकामावाप्तिश्च परमात्माख्यसत्त्वप्राप्तिमन्तरेण

न भवति यावच्छरीरकालभाविनो हि कामा इति। तेन सर्वकामस्येति मुमुक्षोरित्येतदुक्तं भवति । तथा चाह-सर्वान् ह वै कामानाप्नोति सर्वा व्यष्टीर्व्यश्नुते योऽश्वमेधेन यजते ।

समस्त कामों की प्राप्ति परमात्मा रूपी वस्तु के बिना नहीं होती; क्योंकि जब तक शरीर विद्यमान है तब तक कामनायें बनी रहती हैं। इसलिए सर्वकामस्य का अर्थ है-मुमुक्षोः। ब्राह्मणवाक्य-वह सम्पूर्ण कामों को प्राप्त कर लेता है, सम्पूर्ण व्याप्तियों को भी प्राप्त करता है, जो अश्वमेध से यजन करता है।

इस परिशीलन से सुनिश्चित हुआ कि श्रौतसूत्र से भी अश्वमेध का सन्तानोत्पत्ति के साथ कार्यकारणभाव सम्बन्ध नहीं है । द्विवेदीजी ने पुनः अश्वमेधको सन्तानोत्पत्ति का कारण सिद्ध करने हेतु लिखा है-'तस्माच्छिष्टाः प्रजा जायन्ते' ।-अश्वमेध करने से शिष्टसन्तान उत्पन्न होती है।

श्रीमान्‌जी का उक्त कथन भी पूर्वमीमांसा की संस्कारशून्यता का द्योतक है; क्योंकि अश्वमेध प्रकरण में निम्नलिखित मन्त्र पठित है—
विभूर्मात्रा प्रभूःपित्राश्वोऽसि हयोऽस्यत्योऽसि मयोऽस्यर्वासि सप्तिरसि वाजयसि वृषाऽसि नृमणा असि। ययुर्नामासि शिशुर्नामास्यादित्यानांपत्वान्विह ।

अध्वर्यु और यजमान इस मन्त्र को अश्वमेधीय अश्व के कान में जपते हैं और अश्व का उत्सर्ग करते हैं। उक्त मन्त्र अश्वमेध के अंग अश्व का संस्कारक होता है। यद्यपि प्रकरणप्रमाण से उक्त मन्त्र का सम्बन्ध अश्वमेध यज्ञ से बोधित होता है, तथापि लिङ्ग प्रमाण से वह अश्व का प्रकाशक होने से अश्वका ही अंग सुनिश्चित है। अतः उक्तमन्त्रसे संस्कृत अश्वसे याग करने पर फलजनक अपूर्व उत्पन्न होगा, अन्यथा नहीं। सभी अंगों का अनुष्ठान अपूर्वोत्पत्ति हेतु ही है, किसी किसी के अवघातादि दृष्टफल भी होते हैं। उक्तकथन का प्रयोजन केवल यही है कि 'विभूर्मात्रा'-इत्यादि मन्त्र अंग हैं, स्वतन्त्र कर्म नहीं। इसी मन्त्र के अवयव 'अश्वोऽसि हयोऽसि' की फलश्रुति है- ''अश्वोऽसि हयोऽसीति शास्त्येवैनन्तस्माच्छिष्टाः प्रजा जायन्ते' ।

—श० ब्रा० १३/१/६/१

—इस अश्व पर शासन करता है इसलिए शिष्ट प्रजा उत्पन्न होती है। यहाँ पर भी अश्वकर्मकशासनकरण और शिष्ट प्रजामें ही कार्यकारणभाव दिख रहा है, अश्वमेधयाग और शिष्टप्रजोत्पत्ति में नहीं। चूंकि उक्तमन्त्र में अङ्गता सुनिश्चित है। अतः उसकी फलश्रुति जो अभी दिखायी

गयी है–अर्थवादमात्र है; क्योंकि 'अङ्गे स्तुतिः परार्थत्वात्' सूत्र द्वारा अङ्ग की फलश्रुति अर्थवाद घोषित हो चुकी है। उस अर्थवाद का तात्पर्य केवल मन्त्र के प्राशस्त्यबोधन में ही है, उक्त कार्यकारणभाव बोधन में नहीं।

इन सब विवेचनों से सुस्पष्ट हो गया कि द्विवेदी जी द्वारा उपस्थापित किसी भी वाक्य से अश्वमेध और सन्तानोत्पत्ति का कार्यकारणभावसम्बन्ध बोध्य नहीं है। केवल पुत्रेष्टियाग का पुत्रोत्पत्ति से कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध है। अत एव 'वाल्मीकीयरामायण' में भी चक्रवर्ती महाराज दशरथ जी द्वारा अश्वमेध करने के पश्चात् पुत्रोत्पत्ति हेतु पुत्रेष्टियाग करने के लिए कहा गया—

इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रीयां पुत्रकारणात्। —वा०रा०बा०का १५/२

–'पुत्रप्राप्ति हेतु तुम्हारे लिए मैं पुत्रेष्टि कराऊँगा, और महाराज दशरथ ने उसे किया—

स चाप्यपुत्रो नृपतिस्तस्मिन् काले महाद्युतिः।
अयजत्पुत्रियामिष्टिं पुत्रेप्सुररिसूदनः॥ } वा०रा०बा० का० १६/९

पुत्रहीन पुत्र के इच्छुक महाद्युति महाराज दशरथ ने उस समय पुत्रेष्टि याग किया। और उसी इष्टि में अग्नि से एक दिव्य पुरुष प्रकट होकर महाराज दशरथ को पायस दिया जिसका महारानियों द्वारा सेवन होने से चारों कुमारों का प्राकट्य हुआ।

अतएव महापण्डित श्रीनागेशभट्ट एवं श्रीगोविन्दराजजी जैसे विद्वान् टीकाकारों ने अश्वमेध का प्रयोजन दुरितनिवारण ही माना—

यद्यपि पुत्रेष्ट्यैव पुत्रावाप्तिः सम्भवति, तथापि तपोरतस्य वैश्यस्य श्रवणस्य वधे तद्वियोगातुरतपोरततन्मातापितृमरणेन च ब्रह्मवधसमपापोत्पत्त्या तत्प्रायश्चित्तत्वेनाश्वमेधानुष्ठानं बोध्यम्।

—वा०रा०बा०का०१४/६० की तिलकटीका।

–यद्यपि पुत्रेष्टि से ही पुत्रप्राप्ति होती है, तथापि तपश्चर्या निरत वैश्य श्रवणकुमार का वध होने पर और उसके वियोग से आतुर तपोरत श्रवण के माता–पिता के मरण से ब्रह्महत्यासदृश पाप की समुत्पत्ति होने के कारण उसके प्रायश्चित्तरूप में अश्वमेधानुष्ठान समझना चाहिए'।

एवं पुत्रोपत्तिप्रतिबन्धकेसकलदुरितनिवारणक्षमे भगवदङ्गभूतब्रह्मादिदेवताराधनरूपेऽश्वमेधे निर्वृत्ते साक्षाद् भगवदाराधनं पुत्रप्राप्तिकारणं क्रतुं सुमन्त्रोक्तं मनसि निधाय ऋष्यश्रृङ्गमर्थयते–तत इति।

—वा०रा०बा०का० १४/५८ की भूषणटीका।

इस परिशीलन से यह निष्कर्ष निकला कि अश्वमेध और पुत्रोत्पत्ति का कार्यकारणभाव मन्त्र, ब्राह्मण, सूत्र, एवं रामायण आदि किसी से भी सिद्ध नहीं होता। इसलिए अश्वमेधयाग का फल राजवंश की स्थापना (यहाँ स्थापना शब्द पंडितजी ने उत्पत्ति अर्थ में प्रयुक्त किया है तभी तो अश्वमेध और सन्तानोत्पत्ति में कार्यकारणभाव सिद्ध करने का असफल प्रयास किये) न होने से पूर्वप्रदर्शित "अश्वमेधशतैरिष्ट्वा" इत्यादि श्लोकों में इष्ट्वा और दत्त्वा इन दोनों पदों, यजन एवं दान इन दोनों क्रियाओं की राजवंश स्थापना और चातुर्वर्ण्य का स्वधर्मनियोजन के प्रति कारणता मानना द्विवेदी जी महान् भ्रम है।

महापण्डित श्रीनागेशभट्ट ने इसी कार्यकारणभाव की असिद्धता के कारण इष्ट्वा और दत्त्वा को केवल स्वरूप कथन माना है–

इष्ट्वा दत्त्वेत्यादिस्वरूपकथनम्। राजवंशानिति। कामरूपकान्यकुब्जादितत्तद्राज्यपदस्थान् राजवंशान् शतगुणाननेकगुणवृद्धिर्यथा भवति तथा स्थापयिष्यति। शाश्वततत्तद्राज्यप्रदानेनेतिशेषः।

–वा०रा०बा०का०१/९४ की तिलकटीका

यहां नागेश जी ने यही लिखा है कि "कामरूप कान्यकुब्जादि राज्यपदों पर स्थित राजवंशों की–श्रीरामजी शाश्वतराज्य प्रदान करके –ऐसी स्थापना करेंगे कि उनकी वृद्धि सैकड़ों गुने हो। और जिनके धर्मभ्रंश की शंका है उन्हें भी धर्म में लगायेंगे।

पण्डितप्रवर श्रीगोविन्दराजजीने भी राजवंशान् का अर्थ क्षत्रियवंशान् कहकर 'राजवंशान् प्रत्येकं राज्यप्रदानेन पालयिष्यतीत्यर्थः'।

—वा०रा०वा०का० १/९५ की भूषणटीका, लिखा है।

द्विवेदीजी को अश्वमेध में सन्तानोत्पत्ति की कारणता दिखाते हुए यह भी स्मरण न रहा कि जिस समय श्रीराम अश्वमेध कर रहे थे उसके कई वर्ष पूर्व उनके पुत्र लव और कुश का जन्म हो चुका था। श्रीमान् जी ! अव बतलाइए, क्या आप कारण से भी पूर्व कार्य की उत्पत्ति मानते हैं ? यदि नहीं, तो अश्वमेध के यजमान श्रीराम द्वारा अनुष्ठित अश्वमेध का फल उन यजमान की सन्तानोत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास क्यों कर रहे थे ? अश्वमेधानुष्ठान से सुदूर पूर्व श्रीराम के वीरव्रती पुत्रों का जन्म सिद्ध होने से श्रीरामकृत अश्वमेध का फल उन्हें सत्सन्तान की प्राप्ति नहीं मानी जा सकती। जो ऐसा मानता है। निश्चित ही उसका मस्तिष्क सुचारू रूप से कार्य नहीं कर रहा है।

पं० जी का कथन भी परस्पर विरुद्ध है; क्योंकि ये एक जगह लिखते हैं कि "अन्यथा पूर्णकाम परमनिष्काम भगवान् श्रीराम को अपने लिए क्या करना था?" दूसरे स्थल पर लिखते हैं कि "अश्वमेध का सद्वंश-प्राप्ति के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध है और श्रीरामजी ने अश्वमेध सद्वंशप्राप्ति के लिए किया, ब्रह्महत्यानिराकरणार्थं नहीं"। सद्वंश की प्राप्ति हेतु यज्ञ का अनुष्ठान करने के पूर्व सद्वंश अर्थात् सन्तानोत्पत्ति की कामना अनिवार्य है। ऐसी स्थिति में श्रीरामजी को पण्डितजी निष्काम कैसे कह रहे हैं ? ये बातें तो परस्पर विरुद्ध ही हैं।

उक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हुआ कि श्रीरामजी ने सैकड़ों अश्वमेध किया। चारों वर्णों को उन्होंने अपनी सच्चरित्रता से स्वधर्मपालन में नियुक्त किया, जो भ्रष्ट थे उन्हें भी उन्होंने स्वधर्मपालन में लगाया। पद्मपुराण के पातालखण्ड का अश्वमेधवर्णन वाल्मीकीयरामायण से कथमपि विरुद्ध नहीं है। वहाँ अश्वमेधानुष्ठान विप्रपूजादि में ही पर्यवसित है, ब्रह्महत्यानिवृत्ति उसका प्रयोजन नहीं है,–ऐसा वहीं के श्लोकों से परिलक्षित होता है। इसका दिग्दर्शन भी पूर्व में कराया जा चुका है। अतः पद्मपुराण के अश्वमेधानुष्ठानोपवर्णन का वाल्मीकीय रामायण से विरोध प्रतीत होना मात्र भ्रान्तिमूलक है।

भक्तिमयी शबरी

अखिलब्रह्माण्डनायक निखिललोकसौन्दर्यसारसर्वस्व परमात्मा के दिव्य चरित्रों के रहस्य गरुड जैसे महाज्ञानियों को भी सन्देहसिन्धु में निमज्जित कर देते हैं। हाँ, हरिवाहन होने से उनके उस सन्देहसिन्धु का शोषण भक्तराज काकभुसुण्डि द्वारा होता है। भगवान् के चरित्रों का रहस्योद्घाटन भक्तिप्रवणचेता सन्तों से होता है, केवल शब्दभारवाहीगर्दभों से नहीं। इसी प्रकार भक्तों के चरित्र का यथार्थज्ञान भक्तिमत्पुरुषों को ही होता है। भक्तिविधुर पण्डित अपनी मेधा से वस्तुस्वरूप के निर्धारण हेतु यत्नशील तो अवश्य रहते हैं,पर परमात्मतत्त्व का ग्रहणकर नहीं पाते;क्योंकि परमात्मतत्त्व मेधा से गृहीत नहीं होता–'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'–क०उ०२/२३। 'तस्मिन् तज्जने भेदाभावात्'–ना०भ०सू०२/१७। 'भगवान् और उनके भक्तोंमें भेद नहीं होता'। इसलिए

भक्तों के चरित्र को मात्र मेधा से यथावत् समझना अशक्य है। उसके लिए भक्ति चाहिए, जिससे भक्तमालकार नाभाजी की भाँति भक्तों का ज्ञान स्वान्त में स्वयं समुद्भूत हो।

भक्तिमयी शबरी को अध्यात्मरामायण, श्रीरामचरितमानस प्रभृति आर्षग्रन्थों में हीनजातिसमुद्भूत शबरजाति की महिला माना गया है। चूंकि इन ग्रन्थद्वय के प्रणेता भक्तिसमाप्लावितस्वान्त हैं, अतः शबरी के स्वरूप को अपनी तपःपूतवाणी से निरूपित कर सके। पर विद्याभिमानी जन इनके वाग्वैभव पर विश्वास न करने के कारण आज तक शबरी स्वरूपनिर्धारणसिन्धुतट के समीप भी न पहुँच सके।

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण के प्रख्यात टीकाकार श्रीगोविन्दराज जी शबरी को शबरजातीया स्वीकार करते हैं। महापण्डित श्रीनागेश भट्ट शबरी उसकी संज्ञा मानते हैं, जाति के विषय में वे मौन हैं। "मौनं स्वीकारलक्षणम्" उक्ति के अनुसार शबरी शबरजाति की नारी इन्हें भी मान्य है। श्रद्धेय स्वामी करपात्री जी के अनुसार शबरी ब्राह्मणी है। इनका कथन है कि रामायण के अरण्यकाण्ड में उसे श्रमणी कहा गया है, जिसका अर्थ सन्न्यासिनी है। सन्न्यास में अधिकार केवल ब्राह्मण का है, अतः वह ब्राह्मणी है। इस प्रकार विप्रतिपत्ति वाक्यों से संशय होता है कि शबरी शबरजतीया हैं या नहीं ? वे ब्राह्मणी हैं या अब्राह्मणी (शबरजतीया) ? इसके निर्णय हेतु विचार किया जाता है; क्योंकि विचार करने के बाद एक निर्णय पर पहुँचने से सन्देह नष्ट हो जायेगा।

❀ शबरी सन्न्यासिनी नहीं थीं ❀

भगवान् मनु के अनुसार सन्न्यास में मात्र ब्राह्मण का ही अधिकार है, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र का नहीं; क्योंकि "आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात" –मनु ६/२५, इस उपक्रम वाक्य में ब्राह्मण द्वारा सन्न्यास ग्रहण का उल्लेख करके—"एष वोऽभिहितो धर्मो ब्राह्मणस्य चतुर्विधः" –मनु० ६/९७, इस उपसंहारवाक्य में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्न्यास ये चार धर्म ब्राह्मण के ही बतलाये गये हैं। अतः उपक्रमोपसंहारन्याय से सन्न्यास आश्रम में मात्र ब्राह्मण का ही अधिकार सिद्ध होता है। "ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति" श्रुति भी सन्न्यास में मात्र ब्राह्मण का ही अधिकार बतलाती है, द्विजाति मात्र का नहीं। श्रीशंकराचार्यजी भी "ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाय

भैक्षचर्यं चरन्ति"–वृह०उ०३/५/१,के भाष्य में "ब्राह्मणानामेवाधिकारो व्युत्थानेऽतो ब्राह्मणग्रहणम्" से सन्न्यास के केवल ब्राह्मण का ही अधिकार मानते हैं ।

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण से भी सन्न्यास में केवल ब्राह्मण का ही अधिकार सुनिश्चित होता है; क्योंकि विदेहनन्दिनी के अपहरण हेतु रावण परिव्राजक (सन्न्यासी) का रूप धारण करके आता है। उस समय वह स्वच्छ काषाय वस्त्र, शिर पर शिखा, त्रिदण्ड और कमण्डलु धारण किये रहता है—

"तदासाद्यदशग्रीवःक्षिप्रमन्तरमास्थितः।अभिचक्रामवैदेहींपरिव्राजकरूपधृक्। श्लक्ष्णकाषायसंवीतःशिखी छत्री उपानही। वामे चांऽसेऽवसज्याथ शुभे यष्टि-कमण्डलू।। परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत ।।"–वा.रा.अर.का.४६/२-३-४

'उस समय रावण अवसर पाकर जनकनन्दिनी के समीप सन्न्यासी रूप धारण करके गया । वह स्वच्छ काषाय वस्त्र धारण किये हुए था, उसके शरीर पर शिखा, छाता तथा पैरों में जूते थे, वायें कन्धे पर त्रिदण्ड और कमण्डलु थे । इस प्रकार सन्न्यासी वेश में वह वैदेही के समीप पहुँचा'। सन्न्यासी रूप में आश्रम पर दशग्रीव को उपस्थित देखकर जानकी जी बार-बार उसे ब्राह्मण शब्द से सम्बोधित करती हैं—

इयं वृषी ब्राह्मण काममास्यताम् । ब्राह्मणश्चातिथिश्चैष अनुक्तो हि शपेत् माम्। एतद् ब्राह्मण रामस्यधृतव्रतमनुत्तमम् । विचराम द्विजश्रेष्ठ। एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसिद्विज।-वा.रा.अर.का.४६/३६,४७/२-१८-२२-२४

यदि सन्न्यास में क्षत्रिय एवं वैश्यादि का भी अधिकार होता तो सन्न्यासी के पूर्वोक्त वेशभूषा के दर्शनमात्र से जनकपुत्री उसे बार-बार ब्राह्मण ही क्यों कहतीं ? उन्होंने सन्न्यासी रूप में आये रावण को बार-बार ब्राह्मण ही कहा है। अतः सन्न्यास में मात्र ब्राह्मण का ही अधिकार शास्त्रसिद्ध है। श्रीराम-काल में मात्र ब्राह्मण ही सन्न्यास लेते थे, आज कल जैसे चमार, सियार आदि नहीं । अत एव जानकी जी सन्न्यासी वेश के दर्शन से ही उसे ब्राह्मण कहीं । शवरी श्रीराम-काल में थीं । उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था अति सुदृढ़ थी, अतः तात्कालिक परिस्थिति के आधार पर ही वे सन्न्यासिनी थीं या नहीं ? आगे निर्णय किया जायेगा ।

भगवान् वादरायण भी मनु की भाँति सन्न्यास में मात्र ब्राह्मण का ही अधिकार मानते हैं—

ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो ।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥ } म०भा०शा० प० ६२/२

चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् । —म०भा०शा०प०६१/२ ।

—'हे प्रभो ! ब्राह्मण के लिए चार आश्रम शास्त्रविहित हैं । हे भारतसत्तम ! अन्य तीनों वर्ण उन चारों आश्रमों को ग्रहण नहीं करते हैं। ब्राह्मणों द्वारा चतुर्थ आश्रम भी स्वीकृत है'। इस प्रकार मनुस्मृति, श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण तथा महाभारत से निर्णीत हुआ कि सन्न्यास नामक चतुर्थ आश्रम में मात्र ब्राह्मण का ही अधिकार है। सन्न्यास आश्रम की वेशभूषा अभी वाल्मीकीयरामायण द्वारा प्रदर्शित की जा चुकी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में भी त्रिदण्ड और कमण्डलु आदि वस्तुएं सन्न्यासियों से ग्राह्य बतलायी गयी हैं —

सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।
एकारामः परिव्रज्य...... .... ॥ } याज्ञवल्क्य स्मृति व्यवहाराध्याय—५८

महर्षि अङ्गिरा भी कहते हैं—

यतेर्लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः ।
ब्रह्मसूत्रं त्रिदण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारकम् ॥
शिक्यं पात्रं वृषीचैव कोपीनं कटिवेष्टनम् ।
यस्यैतद्विद्यतेलिङ्गं स यतिर्नेतरो यतिः ॥

उसना का कथन—

ब्रह्मसूत्रपरित्यागाद्ब्रह्मचारी गृही वनी ।
परिव्राट् चापि पतति तस्मान्न परित्यजेत् ॥ } शतदूषणी यतिलिङ्ग भेदवाद से उद्धृत

इन स्मृतिवचनों में त्रिदण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत आदि सन्न्यासी के धारणयोग्य चिह्न बतलाये गये हैं। श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमें वर्णित रावण की सन्न्यासी वेशभूषा से इसकी पुष्टि होती है। प्राचीनकालिक समाज में सन्न्यासी के इसी वेश की प्रतिष्ठा थी। इसीलिए तो सद्यः विश्वास समुत्पत्ति हेतु रावण त्रिदण्डी वैष्णववेश में जानकीजी के समीप आया था।

कुछ लोग "कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः । केशान् यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः" इस वचन तथा "सशिखान् केशान् निकृन्त्य विसृज्य यज्ञोपवीतं" प्रमाण से सन्न्यासी के लिए शिरोमुण्डन एवं यज्ञोपवीत का त्याग स्वीकार करते हैं। इन दोनों पक्षों में सन्न्यास के पूर्व यज्ञोपवीत धारण सिद्ध है।

शबरी चूंकि स्त्री है और स्त्री तथा शूद्र का यज्ञोपवीत शास्त्रविहित नहीं है। अतः इन दोनों का सन्न्यास में अधिकार कथमपि नहीं

माना जा सकता। यज्ञोपवीत आदि का अभाव होनेसे शबरी का सन्न्यास आश्रम में अधिकार किसी भी पक्ष में उपपन्न नहीं हो सकता। अतः वे सन्न्यासिनी नहीं थीं।

कुछ लोग स्त्रियों का भी सन्न्यास आश्रम में अधिकार प्रमाद-वशात् मानते थे, जिसका निर्देश महर्षि बोधायन ने "स्त्रीणां चैके" वचन से किया है। परन्तु मन्वादिप्रोक्त स्मृतियों से उन लोगों का कथन विरुद्ध होने के कारण महर्षि ने 'एके' कहकर उसे उपेक्षित कर दिया।

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में शबरी को सन्न्यासिनी बतलाने वाला न तो कोई शब्द ही आया है और न ही सन्न्यासी-वेशभूषा का कोई सङ्केत ही। "श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीवनी" —वा०रा० अर०का० ७३/२६, वचन में आये 'श्रमणी' शब्द के आधार पर शबरी को सन्न्यासिनी मानना महान् भूल है; क्योंकि श्रमण शब्द मेदिनी तथा हेमचन्द्र आदि कोषों के आधार पर मुमुक्ष, वाचंयम, ऋषि, निर्ग्रन्थ, मुनि, अनगर, तपस्वी, भिक्षु आदि शब्दों का पर्याय है, केवल सन्न्यासी का नहीं।

यदि श्रमण शब्द मात्र सन्न्यासी का पर्याय होता तो श्रमणी शब्द के आधार पर शबरी को सन्न्यासिनी माना जा सकता था, वह भी थोड़ी देर के लिए; क्योंकि यज्ञोपवीत आदि का अभाव होने से उसका सन्न्यास आश्रम में प्रवेश ही प्रवाधित है। चूंकि श्रमण शब्द मात्रसन्न्यासी का पर्याय नहीं है, अतः उसके (श्रमणी शब्द के) आधार पर शबरी को सन्न्यासिनी नहीं मान सकते।

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में वर्णित उसकी वेशभूषा के साक्ष्य से भी उसका सन्न्यासिनी होना अनुपपन्न है; क्योंकि रामायण में सन्न्यासी का काषायवस्त्र = रक्तवस्त्र सुनिश्चित है। रावण इसी वेश में सन्न्यासी बनकर विदेहजा के समीप आया था। इधर शबरी का काषायवस्त्र नहीं है, वह तो वल्कल और कृष्णाजिन के साथ ही जटा भी धारण कर रही है— "इत्युक्ता जटिलावृद्धा चीरकृष्णाजिनाम्बरा"—वा०रा०अर०का०७४/३२। कतिपय लोगों के पक्ष में सन्न्यासी के लिए जटाधारण निषिद्ध ही है।

वनवासी के लिए जटा, वल्कल और कृष्णाजिन धारण करने का उपवर्णन श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणमें मिलता है। श्रीराम-जो वानप्रस्थ या सन्न्यास आश्रम में नहीं, अपितु गृहस्थाश्रम में थे— वनवास-काल में जटा, वल्कल और कृष्णाजिन धारण करते हैं—

उटजे राममासीनं जटामण्डलधारिणम्।
कृष्णाजिनधरं तं तु चीरवल्कलवाससम्॥ } वा०रा०अर०का० ९९ / २५—२६

राक्षस मारीच–जो कि सन्न्यासी नहीं है— वनवास करते हुए जटा, वल्कल और कृष्णाजिन धारण करता है–

तत्र कृष्णाजिनधरं जटावल्कलधारिणम् ।
ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ।। } वा० रा० अर० का० ३५/३८

इस विवेचन से निश्चित हो गया कि सन्न्यासी के लिए काषायवस्त्र शिखा आदि हैं और जो सन्न्यास नहीं हैं, अपितु श्रीराम की भाँति गृहस्थाश्रम में रहकर भी वनवासी हैं। या मारीच की भाँति ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य नहीं हैं फिर भी वनवासी होकर योगाभ्यास, तप आदि कर रहे हैं, उनके लिए जटा, वल्कल औरकृष्णाजिन धारण करना उपयुक्त है।

भक्तिमयी शबरी को 'जगामात्मसमाधिना, तापसी आदि शब्दों का प्रयोग समाधिनिष्ठ तथा तपोरत सिद्ध करता है । उनकी वेशभूषा जटा, वल्कल और कृष्णाजिन है ही । काषायवस्त्र आदि का कोई सम्पर्क उनके जीवन में नहीं दिखता, जो कि सन्न्यासी का प्रधान वेश है, अतः वे सन्न्यासिनी कथमपि नहीं हो सकतीं । सन्न्यासिनी न होने से उन्हें उसके आधार पर ब्राह्मणी भी नहीं माना जा सकता। शबरी के लिए सन्न्यासिनी अर्थ में "श्रमणी" शब्द का प्रयोग अनुपपन्न होने से उसे तापसी अर्थ का बोधक ही मानना चाहिए। श्रमणी शब्द "श्रमु तपसि खेदे च" धातु से उस अर्थ में निष्पन्न भी होता है। इधर मेदिनी आदि कोशों की भी इस अर्थ में अनुकूलता है ।

शबरी ब्राह्मणी या क्षत्रिया नहीं थीं

श्रौतस्मार्तधर्मसंरक्षक, भक्तजनरञ्जक, मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराघवेन्द्र जिस किसी भी आश्रम पर गये, वहाँ उन्होंने लक्ष्मण और जानकी जी के सहित ऋषियों, मुनियों और विप्रों को चरणस्पर्श करके प्रणाम ही किया है; क्योंकि क्षत्रियवंश में प्रकट मर्यादापुरुषोत्तम की यही मर्यादा थी कि वे पत्नियों सहित ब्राह्मणों को सादर चरणस्पर्श करके प्रणाम करें। यहाँ तक की अहल्या का उद्धार करने के पश्चात् उन्होंने लक्ष्मण जी के सहित उनके चरणों को स्पर्श करके ही प्रणाम किया है। अत्रि, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य और शरभङ्ग प्रभृति महर्षियों के आश्रमों पर जाकर श्रीराम ने उनकी पदवन्दना की है। इसके प्रचुर प्रमाण श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में मिलते हैं ।

श्रीराम ने किसी ब्राह्मण, ब्राह्मणी से अपना चरणस्पर्श कराया हो–ऐसा उल्लेख श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में नहीं मिलता। और न यह

मर्यादापुरुषोत्तम की मर्यादा ही कही जा सकती कि वे किसी ब्राह्मण या ब्राह्मणी अथवा पूज्यजन से अपना पादस्पर्श करायें। जब श्रीराम किसी भी ब्राह्मण या ब्राह्मणी से अपना पादस्पर्श नहीं कराते तब शबरी यदि ब्राह्मणी होतीं तो वे उनको चरणस्पर्श करके प्रणाम न करके उलटे अपना चरणस्पर्श कराकर प्रणाम कैसे करवाते? दशरथनन्दन के आश्रम पर पधारने पर शबरी ने लक्ष्मणजी के साथ उनका चरणस्पर्श किया है—

तौ दृष्ट्वा तु तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः। } वा० रा० अर०
पादौ जग्राह रामस्य लक्ष्मणस्य च धीमतः॥ } का० ७४/६

किन्तु श्रीराम या लक्ष्मण ने उनका चरणस्पर्श नहीं किया। श्रीराम द्वारा क्षत्रियोचित मर्यादा का सर्वत्र सुपालन हुआ है। इसीलिए तो वे मर्यादापुरुषोत्तम और धर्मविग्रह कहे जाते हैं। तापसी शबरी के ब्राह्मणी होने पर वे उनको प्रणाम न करें—ऐसा सम्भव ही नहीं। क्या मर्यादापुरुषोत्तम, साक्षाद् धर्मविग्रह श्रीराम, सिद्धा तापसी शबरी के ब्राह्मणी होने पर उन्हें स्वयं प्रणाम न करके अपना ही चरणस्पर्श कराकर "क्षत्रिय द्वारा ब्राह्मण को प्रणाम करने की तथा ब्राह्मण से अपना प्रणाम न करवाने" की सनातनशास्त्रीयमर्यादा का नाशकर सकते हैं? उत्तर मिलेगा—'कभी नहीं'। अत एव शबरी द्वारा श्रीराम और लक्ष्मण को प्रणाम किये जाने तथा शबरी को राघवेन्द्र एवं सौमित्रि के द्वारा चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम न किये जाने से सुनिश्चित है कि शबरी ब्राह्मणी नहीं थीं। वे क्षत्रिया भी नहीं थीं; क्योंकि उनके क्षत्रिया होने पर, चिरजीविनी, वृद्धा तापसी शबरी से अल्पवयस्क मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम और लक्ष्मण चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम नहीं करा सकते। किन्तु उन्होंने अपना चरणस्पर्शपूर्वक प्रणाम कराया है, अतः वे क्षत्रिया भी नहीं थीं।

★ शबरी वैश्यजातीया भी नहीं थीं ★

ब्राह्मणी या क्षत्रिया न होने से शबरी वैश्यजाति की थीं या शूद्रजाति की? ऐसा संशय होता है; क्योंकि क्षत्रियकुलप्रसूत श्रीराघव और लक्ष्मण का चरणस्पर्श उनसे निम्नवर्ण का कोई भी वैश्य या शूद्र कर सकता है।

त्रेतायुग में वर्णाश्रम व्यवस्था अति सुदृढ़ थी। सभी व्यक्ति अपने शास्त्रानुमोदित धर्म का पालन करते थे। उस समय प्रत्येक वर्ण के कर्म सुनिश्चित थे तथा उसका पालन न करने पर राजदण्ड की बिभीषिका थी।

अतः आजकल जैसा कर्मसाङ्कर्य उस समय नहीं था। फलतः कर्म को देखकर ही लोग व्यक्तिविशेष की जाति का अनुमान कर लेते थे। वैश्य का कर्म-कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य=व्यापार तथा शूद्र का स्वाभाविक कर्म परिचर्या बतलाया गया है—

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥ } भगवद्गीता १८/४४

कृषि=खेती करना, गोरक्ष्य=पशुपालन, वाणिज्य=व्यापार–ये वैश्य के स्वाभाविककर्म हैं और परिचर्यात्मक=शुश्रूषारूपकर्म शूद्र का स्वाभाविककर्म है। इनमें कृषि, पशुपालन या वाणिज्य का सम्पादन शबरी ने किया हो–ऐसा उपवर्णन श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण आदि ग्रन्थों में नहीं मिलता। अतः शबरी को वैश्यजातीया नहीं माना जा सकता।

शबरी शूद्रजातीया थीं

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के स्वाभाविक कर्म से विपरीत कर्म परिचर्या जो शूद्र का स्वाभाविक कर्म बतलाया गया है—शबरी के जीवन में सुस्पष्ट देखने को मिलता है—

तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी।
श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी॥ } वा॰रा॰अर॰ का॰ ७३/२६

—'हे काकुत्स्थ ! उन महर्षियों के परधाम चले जाने पर भी उनकी परिचर्या करने वाली चिरजीविनी तापसी शबरी आज भी वहाँ दिखायी देती हैं। श्रीराम से तपस्विनी शबरी स्वयं अपने परिचर्या कर्म का परिचय देती हुई कहती हैं —

चित्रकूटेत्वयिप्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः।इतस्तेदिवमारूढा यानहं पर्यचारिषम्॥
तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम्।
मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी॥ } वा॰रा॰अर॰का॰ ७४/१४–२६

–'जिन महर्षियों की मैं परिचर्या करती थी, वे तुम्हारे चित्रकूट पदार्पण–काल में ही अतुल प्रभा वाले विमानों से दिव्यलोक चले गये'। –'यह जिन मुनियों का आश्रम है, उनकी मैं परिचारिणी=सेवा करने वाली=सेविका हूँ। उन भगवदनुरागियों के समीप मैं जाना चाहती हूँ'। इनमें प्रथम वचन कबन्ध का है। इससे प्रतीत होता है कि शबरी की परिचारिणी रूप में प्रसिद्धि राक्षसों तक हो चुकी थी। तभी तो वह श्रीराम को शबरी का परिचय परिचारिणी रूप में देता है।

वस्तुतः इसी प्रसिद्धि के द्योतनार्थ श्लोक में 'नाम' शब्द आया हुआ है। 'नाम' शब्द प्रसिद्धि अर्थ का भी बोधक है—

नाम प्राकाश्यसम्भाव्यक्रोधोपगमकुत्सने । —अमरकोष ३/४/२५१

प्राकाश्ये यथा–हिमालयो नाम नगाधिराजः, हिमालयः प्रकाशोऽतिप्रसिद्ध इत्यर्थः। यहाँ 'हिमालयो' शब्द के पश्चात् आया 'नाम' शब्द प्राकाश्य=प्रसिद्धि अर्थ का द्योतक है। इसी प्रकार सम्भाव्य का उदाहरण— इह 'नाम' सीता भविष्यति। क्रोध का–ममापि 'नाम' दशाननस्य परैरभिभवः। उपगम का-एवं नामास्तु, उपगमः सासूयोऽङ्गीकारः। कुत्सन का—को नामाऽयं स सवितुरुदये स्वापमेवं विधत्ते। विस्मयार्थक भी नाम शब्द है— अन्धो नाम गिरिमारोहति। ये सब उदाहरण इसी प्रकार वाचस्पत्यम् बृहत्संस्कृताभिधानम् और शब्दकल्पद्रुम-कोष में क्रमशः पृष्ठ ४०३८ तथा पृष्ठ ८६१ में देखे जा सकते हैं।

'नाम' शब्द में प्रसिद्धिबोधकता होने एवं शबरी की परिचारिणी रूप में राक्षसों तक प्रसिद्धि होने से ही रामायण के प्रख्यात टीकाकार पण्डितप्रवरश्रीगोविन्दराज जी "श्रमणीशबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी" श्लोककी व्याख्यामें नाम शब्द को प्रसिद्धिपरक ही मानते हैं–'शबरी नाम शबरीति प्रसिद्धा' –वा०रा०अर०का०७३/२६ की गोविन्दराजीयटीका।

चूंकि कबन्ध वन में रहकर ऋषियों का मांसभक्षण करता रहता था और कृशकाया, वृद्धा शबरी वनवास करते हुए भगवद्–भजन में सदा संलग्न ऋषियों की सेवा करती रहती थीं। चिरजीविनी होने से दीर्घकाल पर्यन्त शबरी द्वारा की गयी परिचर्या की प्रसिद्धि यदि राक्षसों तक हो जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी प्रसिद्धि का द्योतन कबन्ध ने "श्रमणी शबरी नाम"–स्ववचन में 'नाम' शब्द से किया है। अतः इस 'नाम' शब्द के आधार पर उनकी 'शबरी' ऐसी व्यक्तिवाचक संज्ञा मानना उचित नहीं है। शबरी अपने परिचर्यात्मक कर्म का अनेक बार उल्लेख की हैं। कबन्ध जैसे दुर्दान्त राक्षस भी उनके परिचर्यात्मक कर्म से परिचित होनेके कारणही उन्हें परिचारिणी कहते हैं। "परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्" भगवद्गीता १८/४४, भगवद्वचन से परिचर्या शूद्र का ही स्वाभाविककर्म बतलाया जा चुका है। फलतः अपने कर्म के साक्ष्य से शबरी शूद्र जाति की ही सिद्ध होती हैं। त्रेतायुग में आजकल जैसी स्थिति नहीं थी कि चमारों के कर्म ब्राह्मण और ब्राह्मणों के कर्म चमार करते रहे हों, जिससे कर्म के साक्ष्य से जाति का अनुमान करने में बाधा आये।

प्रकारान्तर से शूद्रत्व की उपपत्ति

जातिवाचकशब्दों से आजकल भी प्रसिद्धि दिखती है। क्षत्रियजाति की नारीको ठकुराइन, चमार जातिकी महिलाको चमारिन कहकर इस समयभी पुकारा जाता है। यद्यपि ये दोनों शब्द जातिवाचकसंज्ञाहैं, तथापि लोग व्यक्ति वाचकसंज्ञा का भी कार्य इनसे चला लेते हैं। इन शब्दोंको सुनने से भले ही व्यक्ति विशेष का बोध हो, किन्तु उसके क्षत्रियत्व अथवा चर्मकारत्व का भी बोध अनुभवसिद्ध है। जब तक प्रबल प्रमाण बाधक न हो तब तक जातिवाचक शब्दों से व्यक्ति का उसकी जाति के साथ ही बोध होता है।

शबर जङ्गल में रहने वाली एक जाति विशेष है, जिसे आजकल 'भील' कहा जाता है। उस शबर जाति में उत्पन्न स्त्रीमात्र को शबरी (भीलनी) कहते हैं। फलतः शबरी एक जातिवाचक संज्ञा हुई। अतः शबरी कहने से ही शबरजाति की महिला का ज्ञान उसकी जाति के ज्ञान के साथ ही होगा। कबन्ध ने श्रीराम से-वनवासिनी चिरजीविनी महिला को शबरी-बतलाया है, साथ ही उसे परिचारिणी भी कहा है। परिचर्या शूद्र का स्वाभाविक कर्म है। इधर जातिवाचक संज्ञा शब्दों की सामर्थ्य सुनिश्चित है कि वे जाति के साथ ही व्यक्ति का ज्ञान कराते हैं। अतः- "तेषां गतानामद्यापि दृश्यते परिचारिणी। श्रमणी शबरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी"॥ कबन्धके इस वचन से उन्हें शबरी और परिचारिणी कहने से वे 'शबरजातीया' हैं- ऐसा निश्चय दशरथनन्दन श्रीराम को हो जाना स्वाभाविक है। उनकी शबरजातीयत्व में कोई प्रमाण भी बाधक नहीं है, प्रत्युत 'परिचारिणी' पद का प्रयोग उसका साधक ही है। अत एव कबन्ध द्वारा शबरी की जाति का पृथक् निर्देश न किये जाने पर भी श्रीराम ने जटा, वल्कल और कृष्णाजिन धारण किये हुए शबरी को देखकर भी प्रणाम नहीं किया, प्रत्युत उनके द्वारा किये गये चरणस्पर्श को स्वीकार ही किया; क्योंकि उन्हें शबरी एवं परिचारिणी इन दोनों शब्दों से उनके शबरजातीयत्व का ज्ञान जो हो गया था।

शबरी स्वयं 'चित्रकूटे......पर्यचारिषम्, तेषामि......परिचारिणी" इन दोनों वचनों से अपना स्वाभाविक कर्म परिचर्या बतलाती हैं, जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के स्वाभाविक कर्म से विपरीत शूद्र का कर्म है। अतः वे शूद्रान्तर्गत शबर जाति की महिला थीं, ब्राह्मणी, क्षत्रिया या वैश्यजातीया नहीं। अध्यात्मरामायण में भी उन्हें हीनजाति की नारी

बतलाया गया है— "योषिन् मूढाप्रमेयात्मन् हीनजातिसमुद्भवा"। "अधमजन्माऽपि शवरी मुक्तिमाप सा"॥—अर० का० १०/१७-४२। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज ने भी इन्हें भीलनी लिखा है। इससे भी मेरे कथन की पुष्टि हो रही है।

इस विशद विवेचनसे सिद्ध हुआ कि शवरी श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण के अनुसार शूद्रान्तर्गत शवर (भील) जातिकी भक्तिमयी महिला थीं। उन्हें सन्न्यासिनी या ब्राह्मणी अथवा क्षत्रिया किंवा वैश्यजातीया नहीं मानाजा सकता। ऐसा मानने वालों का कथन उक्त विवेचन से निरस्त हो गया।

तापसी आदि शब्दों के प्रयोग की उपपत्ति

यदि कहें कि—

शमोदमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम्॥ } भगवद्गीता १८ / ४२

इस भगवद्वचनसे तप ब्राह्मणका ही स्वाभाविककर्म बतलाया गया है, शूद्रका नहीं। उसका तो स्वाभाविककर्म परिचर्या ही है। वनवासिनी शवरी जो मतङ्ग आदि ऋषियोंकी विनम्रभावसे सेवा करती रहीं, वे शूद्र के लिए शास्त्राननुमोदित तपः कर्म कैसे कर सकती हैं? वह भी उस युगमें, जबकि वर्णव्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी। जब अपने आश्रमके लिए विहितकर्म का त्याग और निषिद्धकर्म के आचरण पर जनसाधारण राजदण्ड का भागी होता था। और कम से कम भगवान् श्रीराम जो तपोरत शूद्र शम्बूक का शिरच्छेदन स्वयं अपने हाथ से करते हैं, वे शूद्रमहिलाशवरी को तपश्चर्या में प्रवृत्त देखकर उसे दण्ड देने के बजाय उसका आतिथ्य ग्रहण करें, अपना चरणस्पर्श करायें और उससे पूछें कि 'तुम्हारा तप बढ़ रहा है न – "क्वचित्ते वर्धते तपः"—वा०रा०अर०का० ७४/८।

शवरी को शूद्रजातीया मानने पर ये विसङ्गतियाँ खड़ी हो जाती हैं। भला एक शूद्रमहिला वह भी त्रेता जैसे युगमें तापसी कैसे हो सकती है? परिचर्या तो अपने गुरु की ब्रह्मचारी भी ब्रह्मचर्याश्रममें प्रवेश करने के पश्चात् करता है। इसलिए परिचर्याकर्म के आधार पर शवरी को शूद्रजातीया मानना उचित नहीं। उन्हें वैश्य जातिकी महिला मान लेने पर भी तप और परिचर्या इन दोनों कर्मोंकी उपपत्ति हो सकती है।

श्रीमन्! आप शबरीके लिए तापसी शब्दका प्रयोग तथा 'क्वचित्ते वर्धंतेतपः" वचन को देखकर घवड़ा गये हैं। घवड़ानेकी कोई जरूरत नहीं।

शूद्र के लिए द्विजाति की परिचर्या ही तप है। वेद में शूद्र द्वारा की जाने वाली परिचर्या को 'तप' शब्दसे कहा गया है– 'ब्रह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं, मरुद्भ्यो वैश्यं, तपसे शूद्रम्'—यजुर्वेद ३०/४॥
'वेदज्ञानादि हेतु ब्राह्मण, रक्षादिकार्यार्थं क्षत्रिय, मरुद्गणों से कृषि आदि को समृद्ध करनेके लिए वैश्य तथा परिचर्यात्मक तप:केलिए शूद्रको नियुक्त करे'।

अत: श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में परिचर्यात्मक तप के कारण ही शबरी को तापसी कहा गया है और इसी तप की वृद्धि के विषय में भगवान् ने पूछा भी था। शम्बूक इस प्रकार का परिचर्या रूप तप न करके अधोमुख होकर अन्य प्रकार का तप कर रहा था, जिससे उसका शिरच्छेदन हुआ। 'जो लोग 'तपसे शूद्रम्' वचनमें तप शब्दका वास्तविक तप रूप अर्थ ही ले रहे हैं, परिचर्या रूप अर्थ नहीं। उन्हें मेरी राय है कि उसी "तपसे शूद्रम्" प्रमाण से कृपया यह भी समझ लें कि तपमें शूद्रकाभी अधिकार है। इसीलिए शबरीको तापसी कहा जाना और उसके तप की वृद्धि के विषय में पूछा जाना उपयुक्त' है। ऐसे झम्पूदासों को और क्या उत्तर दिया जाय ! और जो यह कहा गया कि– 'परिचर्या तो अपने गुरु की ब्रह्मचारी भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करने के पश्चात् करता है'— ठीक है; क्योंकि वेदाध्ययनाङ्ग उपनयन जब तक सम्पन्न न हो जाय तब तक वेदाध्ययन वटु करेगा कैसे ? वेदाध्ययन–काल में आवश्यक नियमों का पालन करते हुए वह गुरु की परिचर्या करता ही है। किन्तु श्रीमान् जी ! जरा यह बतलाइए कि उपनयन संस्कार क्या नारियों का हो सकता है ? उत्तर मिलेगा—"कभी नहीं"। फिर शबरी जी उपनयन न होने से वेदाध्ययन और उस काल में गुरु परिचर्या कैसे करेंगी ? नहीं कर सकती हैं न ? तब आपने उनके परिचर्या की उपपत्ति जिस ढंग से करनी चाही वह तो नहीं हो सकती है न? हाँ, महिलाओंके लिए कोई ऐसा विधान होता कि वे भी ब्रह्मचारी जैसे संस्कारयुक्त होकर परिचर्या आदि कर सकतीं, तब आपका कथन मान्य हो सकता था। किन्तु ऐसा तो है नहीं, अत: आपका कथन निर्मूल है।

'तौ तु दृष्ट्वा तदा सिद्धा'—वा०रा०अर०का० ७४/६, इत्यादि वचनों में शबरी को सिद्धा इसलिए कहा गया कि उन्हें सिद्धियाँ प्राप्त थीं। योगमें चारों वर्णोंका अधिकार शास्त्रसिद्ध है— 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्त्रीशूद्राणां च पावनम्। शान्तये कर्मणामन्यद्योगान्नास्ति विमुक्तये॥ इत्यादिपुराणवाक्येषु प्राणिमात्रस्य योगेऽधिकार उपलभ्यते।'

—हठयोग प्रदीपिका १/११ की ज्योत्स्नाटीका।

अत:शबरीको अपने सेव्य ऋषियोंसे योगादि की शिक्षा मिली होगी, अथवा उन्हें भगवन्नाम-जपका आदेश ऋषियोंने दिया होगा; क्योंकि ऋषि परम दयालु होते हैं। वे अपने समीपस्थ, उस पर भी परिचर्या करने वाले का उद्धार अपना आवश्यक कर्तव्य समझते हैं। अत: भगवन्नाम के अधिक जप से शबरी को सिद्धिलाभ कोई आश्चर्यजनक कार्य नहीं है।

दूसरी बात यह कि–

स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धि लभते नर: ।
स्वकर्मनिरत: सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ।।

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव: ।। } भगवद्‌गीता १८/४५-४६

इत्यादि प्रमाणों से यही बतलाया गया है कि अपने–अपने कर्म में निरत प्राणी को परमपदरूपा सिद्धि मिलती है। वह अपने सत्कर्मों से सर्वव्यापी परमात्मा की आराधना करके अर्थात् सत्कर्म भगवान् को समर्पित करके परमपदरूपा सिद्धि प्राप्त करता है। शबरी जीवन पर्यन्त शास्त्रविहित परिचर्यात्मक कर्म करती ही रहीं और उसी से परमात्मा श्रीराम की अभ्यर्चना भी कीं, जिससे प्रसन्न होकर प्रभु ने कहा– हे भद्रे ! तुमने मेरी अर्चना की है, इसलिए तुम अपने अभीष्ट को प्राप्त करो—

"अर्चितोऽहं त्वया भद्रे गच्छ कामं यथासुखम्"–वा०रा०अर०का०७३/३९

तत्पश्चात् शबरी अग्नि में अपने शरीर की आहुति देकर परमधाम को प्राप्त कीं–

'अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ।
ज्वलत्पावकसंकाशा स्वर्गमेव जगाम ह ।। } वा०रा०अर०का० ७४ / ३२ – ३३

यहाँ स्वर्गपद अपुनरावृत्ति भगवल्लोकका वाचक है; क्योंकि महर्षियों ने शबरीसे यही कहा था कि तुम्हारे आश्रम पर श्रीराम आयेंगे,उन दिव्य अतिथि के सत्कार और दर्शन से तुम अक्षय लोक को प्राप्त करोगी—

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभि: ।
आगमिष्यति ते राम: सुपुण्यमिममाश्रमम् ।।

स ते प्रतिगृहीतव्य: सौमित्रि: सहितोऽतिथि: ।
तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि।। } वा०रा०अर०का० ७४ / १५ – १६

सभी जानते हैं कि स्वर्ग क्षयिष्णु है। अत: महर्षि प्रोक्त इन वचनों के अनुसार "स्वर्गमेव जगाम ह" श्लोक में आया स्वर्ग शब्द अक्षयलोक

भगवद्धाम का ही वाचक है; क्योंकि "यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्त-मनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वः पदास्पदम्" अभियुक्तोक्ति के अनुसार स्वर्गशब्द अभिधाशक्त्या भगवद्धामका वाचक महापण्डित अप्पय दीक्षित ने माना है--- "यन्न दुःखेनसम्भिन्नमित्यादिश्लोकस्तत्कृतनिर्वचन स्वर्गशब्दश्च मुख्यवृत्त्या परमेश्वर पद एव स्वारसिकः कथञ्चिदिन्द्रादिपदेष्वपि वर्तते जनाधिपेष्विवेश्वरशब्द इतिभावः"— श्रीकण्ठभाष्य १/३/२५ की शिवार्कमणिदीपिका । अत एव अध्यात्मरामायाण में भी शबरी को भगवद्धाम ही प्राप्त होने का उल्लेख है—

"मुहूर्तं तिष्ठ राजेन्द्र यावद्दग्ध्वा कलेवरम् ।
यास्यामि भगवान् राम ! तव विष्णोः परं पदम् ॥ } अर०का० १० / ४०

"वराँल्लोकानक्षयान्" में वहुवचन भगवल्लोक में अन्यलोकों की अपेक्षा ज्यायस्त्व के कारण हुआ है ।

इस प्रकार भगवद्धामरूप सिद्धि-जिसे महर्षियोंने "तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि" से कहा था, श्रीरामका दर्शन करने से उनके अति सन्निकट है, अतः शबरीको भगवान् राघवेन्द्रके साक्षात्कारोत्तर दो वार सिद्धा कहा गया है-

तौ तु दृष्ट्वा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।
रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा साधुसम्मता ॥ } वा०रा० अर० का० ७४/१०

शबरीको योगबल से आगत, अनागत सभी विषयों का ज्ञान भी था-
राघवः प्राह विज्ञाने तां नित्यमबहिष्कृताम् ।-वा०रा०अर०का०७४/१६

दासीपुत्र विदुर भी इसी प्रकार के ज्ञानी थे । यहाँ विज्ञान का परमात्मविषयकज्ञान अर्थ करनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । पूर्वजन्मकी तपश्चर्या और गुरुकृपासे प्राप्त होनेवाला दृढ़ज्ञान उन्हें किसी प्रतिबन्धकवशात् नहीं हो पाया था । जो शबरी जन्म में महर्षियों की निष्ठापूर्वक सेवा के द्वारा प्राप्त श्रीरामचन्द्र के साक्षात्कार से सम्पन्न हो गया ।

इस प्रकार हीनजातिसमुद्भूत शबरी में 'तापसी' 'सिद्धा' 'विज्ञाने नित्यमवहिष्कृताम्' 'जगामात्मसमाधिना' आदि शब्दोंके प्रयोगकी उपपत्ति की गयी । एवञ्च सम्पूर्ण वाक्यों के सामञ्जस्य से सिद्ध हो गया कि शबरी ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या, किंवा सन्न्यासिनी नहीं थीं, अपितु हीनजाति समुत्पन्न शूद्रा थीं । जो परमात्मा श्रीराम का साक्षात्कार करके मोक्ष जैसे पद को प्राप्त कीं । वे अपने कर्म से महान् बनीं ।

शबरी का पूर्व जन्म

शबरी के विषय में प्रसिद्ध है कि ये पूर्व जन्म में एक महारानी थीं। हृदय सात्विक होने के कारण भगवान् और उनके भक्तों में इनकी अपूर्व निष्ठा थी। फिर भी राजमहल के नियमानुसार इन्हें सन्तों से यथेष्ट सत्सङ्ग का लाभ नहीं प्राप्त होता था। एक बार तीर्थराज प्रयाग में ये इस आशा से पहुँचीं कि वहाँ त्रिवेणीस्नान और जङ्गम तीर्थराज साधु समाज से जीवन-लाभ प्राप्त करने का सुअवसर मिलेगा, किन्तु हुआ इसके विपरीत, राजकीय व्यवस्था के अनुसार इन्हें महारानी होने के कारण परदे के भीतर स्नानादि करना पड़ा जिससे सत्सङ्ग से वञ्चित हो गयीं। इससे इन्हें अपने रानीपने और उच्चकुलके कारण बहुत क्षोभ हुआ। इसलिए त्रिवेणी-स्नान करते समय इन्होंने ग्लानिपूर्वक यही वर माँगा कि दूसरे जन्म में मैं निम्नकुल में जन्म लूँ जिससे सन्तों के दर्शन और सेवाका लाभ मिल सके। त्रिवेणीकी कृपासे यही जाकर अगले जन्ममें शबरी बनीं। अपने विवाहके अवसरपर सैकड़ों पशुओंको बरातियोंके भोजन हेतु उपस्थित देखकर इनका हृदय चीत्कार कर उठा। ये उन पशुओंका बन्धन रात्रि में काटकर स्वयं अपना संसार–बन्धन काटने के लिए जङ्गल में सन्तों की सेवा करने चल पड़ीं। पूर्व जन्म के पुण्यातिरेक से वैराग्य के कारण गुप्तरूप से सन्तों की सेवा–जैसे लकड़ी पहुँचाना, मार्ग साफ करना आदि करती थीं; महर्षि मतङ्ग को इनकी इस कर्तव्यपरायणता से अति प्रसन्नता हुई। उन्होंने इन्हें श्रीराम मन्त्र का उपदेश किया। दीर्घकाल तक ये महर्षि और उनके शिष्यों की सेवा करती रहीं। जब वे लोग भगवद्धाम जाने लगे तब इनसे बोले–"शबरी ! तुम इस आश्रम में इसी प्रकार अपना जीवन बिताओ। कुछ काल के पश्चात् निखिल–ब्रह्माण्डनायक भगवान् श्रीराम तुम्हें यहीं दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे, जिसके फलस्वरूप तुम भगवद्धाम प्राप्त करोगी।

शबरी ने वैसा ही किया। जब भगवान् राघवेन्द्र अनुज लक्ष्मणके साथ इनके आश्रम पर पधारे, तब इन्होंने भक्तिपूर्वक उनका चरण पखार कर आतिथ्य सत्कार किया तथा उनके सामने ही योगाग्नि में शरीर जलाकर भगवद्धाम प्राप्त कर लिया। ये भक्तिमयी शबरी परमधन्य हैं।

"इत्ययोध्यानगरीस्थश्रीमणिरामछावनीपीठाधीश्वरश्रीनृत्यगोपालदासजी
महाराजेभ्यो लब्धदीक्षेण आचार्यसियारामदासनैयायिकेन कृते
'भ्रान्तिगिरिभङ्गे' जातिविमर्शभङ्गः पूर्णः" ॥

वंशविमर्शभङ्ग

यस्य दिव्यं चरित्रं वाल्मीकिमुनिर्महात्मा
व्यालिखन्नाम जप्त्वा मारीचरिपोर्मरेति ।
यस्य नाम्नो महिम्नः शम्भुर्भवमुक्तिदाता
तन्नमन् रम्*प्रकुर्मो वै वंशविमर्शभङ्गम् ॥

पुराणों में श्रीमद्भागवतमहापुराण की लोकप्रियता किसी से छिपी नहीं है। मूर्ख से लेकर विद्वान् तक यह ग्रन्थ समादृत रहा है। इस पर तीसों से अधिक संस्कृत टीकाएं हैं। इसी से इसके प्रचयगमन का अनुमान किया जा सकता है।

पं० वैजनाथ द्विवेदी इसकी प्रसिद्ध कथाओं के विषय में भी भ्रान्त हैं, इनकी भ्रान्ति इन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है—

"दक्षप्रजापति ने असिक्नी नामक भार्यामें साठ कन्याओं को उत्पन्न किया और जिनमें से १०+२=१२ कन्याओं को महर्षि कश्यपको दिया। द्रष्टव्य भागवत ६/६/१-२"– रामायणकार महर्षि बालमीकि पृ० १२६

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान्‌जी के उक्त कथनसे इनके भागवतादिपुराणविषयकज्ञान का सम्यक् परिचय मिलता है। इनका कथन मात्र भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि दक्ष प्रजापति ने महर्षि कश्यप को १०+३=१३ कन्यायें समर्पित की थीं— दशधर्माय कायेन्दोर्द्विषट् त्रिणवदत्तवान् । भागवतपुराण
भूताङ्गिरःकृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे ताक्ष्यार्य चापराः ॥ ६ / ६ / २

—प्रजापति दक्ष ने १० कन्याएं धर्म को, १३ कश्यप को, २७ चन्द्रमा को और दो-दो कन्याएं भूत, अङ्गिरा, कृशाश्व तथा ४ कन्याएं ताक्ष्य को दीं। उक्त श्लोक में काय का कश्यपाय और द्विषट् का त्रयोदश (१३) अर्थ सभी (श्रीधरी, वंशीधरी, भागवतचन्द्रिका, सारार्थदर्शिनी, सिद्धान्तप्रदीप, बालप्रबोधिनी भक्तमनोरञ्जिनीऔरअन्वितार्थप्रकाशिकादि) टीकाओं में किया गया है। द्विषट् की व्याख्या में श्रीवंशीधर लिखते हैं— द्वाभ्यां गुण्यन्ते वध्यन्त इति द्विगुणास्तेषड् यासु त्रयोदश संख्यासु ता द्विषट्। इह वैयधिकरण्ये मध्यमपदलोपः। त्रयोदशसु द्वादशसंख्यायाः सम्भवात्

* रम् = रामं, 'रश्चरामेऽनिले वह्नावि' त्येकाक्षरकोषः।

इति भावः। नन्वियं कल्पना कुतः कृता द्वादशैव ताः सन्त्विवतिचेन्न, 'ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश। कालस्य नयनैर्युक्ताः सप्तविंशति-मिन्दवे।'' इतिपुराणान्तरोक्तेः —वंशीधरीटीका।

भागवतकार भगवान् वादरायण को भी यहाँ 'द्विषट्' से १३ संख्या ही अभीष्ट है; क्योंकि दक्ष की ६० पुत्रियों में १० धर्म को मिलीं। जिनका नाम्ना वर्णन भागवत के ६/६/४ श्लोक में है : इसी प्रकार भूत, अङ्गिरा कृशाश्व की दो-दो पत्नियों से उत्पन्न सन्तानों का वर्णन १७, १८, १९, और २०वें श्लोक में करके तार्क्ष्य की मात्र विनता, कद्रू, पतंगी और यामिनी इन चार पत्नियों की सन्तानों का वर्णन किया गया। इसके पश्चात् चन्द्रमा की २७ पत्नियों का सङ्केत है। अब कुल मिलाकर १०+६+४+२७= ४७ पुत्रियों का वर्णन हुआ। १३ अवशिष्ट है। इन्हीं का उल्लेख पूर्व में द्विषट् से किया है। अत एव व्यासजी ने आगे कश्यप-पत्नियों की संख्या नामोल्लेखपूर्वक १३ ही लिखी है —

अथकश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदंजगत्। अदिति[१]र्दिति[२]र्दनुः[३]काष्ठा[४]अरिष्टा[५] सुरसा[६] इला[७]। मुनिः[८]क्रोधवशा[९]ताम्रा[१०]सुरभिः[११]सरमा[१२]तिमिः[१३] ॥

—भा० पु० ६/६/२५।

यदि भगवान् वादरायण को द्विषट् से १२ संख्या अभीष्ट होती तो यहाँ कश्यपजीकी १३ पत्नियोंका उल्लेख न करके १२का ही उल्लेख करते। जैसा कि उन्होंने दश, त्रिणव, द्वे द्वे का अर्थ १०,२७,२,२ ही अभीष्ट होने से उसी संख्या में उन धर्मादि की पत्नियों का उल्लेख किया है।

'तार्क्ष्यायचापराः' भा०पु० ६/६/२ में 'अपरा' शब्द से अवशिष्ट दक्ष की ५ पुत्रियों का ग्रहण मान लें तो द्विषट् का अर्थ १२ करने में कोई कठिनाई नहीं है। दक्ष की ६०पुत्रियों का समर्पण भी धर्मादि छहों व्यक्तियों को हो जायेगा और द्विषट् का स्वरसतः प्राप्त '१२' अर्थ का त्याग करके '१३'अर्थ की क्लिष्ट कल्पना भी नहीं करनी पड़ेगी''कथन भी असंगत है; क्योंकि ऐसा होने पर तार्क्ष्य की पांच पत्नियों का उल्लेख २०वें श्लोक में होना चाहिए था, न कि केवल चार का। अतः मात्र ४ पत्नियों का वहाँ नाम्ना उल्लेख होने से तार्क्ष्याय चापराः में अपरा से अवशिष्ट चार पत्नियों का ही ग्रहण भगवान् वादरायण को अभीष्ट है, पाँच का नहीं। यदि द्विषट्का स्वरसतः प्राप्त १२'अर्थ ही अभीष्ट होता,(१३नहीं)तो ऐसी स्थिति में ''अथ कश्यपपत्नीनां यत्प्रसूतमिदंजगत्'' के बाद १२ पत्नियों के नाम का ही उल्लेख करके उनकी सन्तानों का वर्णन ही होना चाहिए था,

न कि १३ पत्नियों का नाम्ना उल्लेख करके उनकी सन्तानों का वर्णन। अतः आगे कश्यप की १३ पत्नियों का उल्लेख और तार्क्ष्य की ४ पत्नियों के निर्देश से सुस्पष्ट हो जाता है कि "दश धर्माय कायेन्दो द्विषट् त्रिणव दत्तवान्। भूताङ्गिरः कृशाश्वेभ्यो द्वे द्वे तार्क्ष्याय चापराः" में द्विषट् का अर्थ १३ (तेरह) और अपरा का तात्पर्य ४ संख्या से है। इसी रीति से दक्ष की ६० पुत्रियों का समर्पण धर्म आदि छहों व्यक्तियों को हुआ था।

विष्णुपुराणमें दक्ष द्वारा कश्यप को १३ पुत्रियाँ दिये जाने का कण्ठतः उल्लेख है- ददौ स दश धर्माय कश्यपाय त्रयोदश। } वि० पु०
सप्तविंशति सोमाय चतस्रोऽरिष्टनेमिने ॥ } १/१५/१०७

देवी भागवत में तो कश्यप जी को दक्ष से १३ पुत्रियों के ही प्राप्त होने का कथन है—

तस्य पुत्रोऽतिविख्यातः कश्यपः सर्वसम्मतः। } दे०भा०पु०
त्रयोदशैव तस्यासन् भार्या दक्षसुताः किल ॥ } ७/२/१४

यदि पण्डित पुङ्गव १०+२=१२ न लिखकर केवल १२ लिखे होते तो कदाचित् मुद्रण दोष कहकर छुटकारा पा सकते थे। किन्तु इन्होंने ऐसा न करके सुस्पष्ट १०+२=१२ लिख दिया। यही नहीं, आगे भी पृष्ठ १७३ पर इन्होंने लिखा है कि "महर्षि कश्यप को दी गयीं १२ कन्याओं में अदिति से द्वादश आदित्यों की उत्पत्ति हुई" यह है पं० जी के पुराण विषयकज्ञान का दिग्दर्शन।

महर्षि च्यवन और प्रचेता एक नहीं

महर्षि च्यवन महर्षि भृगु से पौलोमी नामक भार्या में उत्पन्न हुए थे। पं० जी की धारणा है कि च्यवन, प्रचेता एक ही ऋषि की संज्ञायें है जो कि भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि 'ब्रह्माण्डपुराण के अनुसार इन्हीं महर्षि च्यवन का एक नाम प्रचेता भी था-प्रचेताश्च्यवनः क्रोधाद् दग्धवान् पुरुषादकान्' इस वचन से च्यवन विशेषणीभूत प्रचेता शब्द को च्यवन का नाम स्वीकार कर पुनः ऋषिद्वय के अभेद की उपपत्ति हेतु कहते हैं- च्यवन से अतिरिक्त कोई प्रचेता भृगुवंशमें हुए होंगे, जिनके लिए भूषणकार ने 'भृगुवंश्यः कश्चित्' यह प्रयोग किया है- ऐसा कहकर इस प्रमाण सिद्ध वस्तु की उपेक्षा नहीं की जा सकती; क्योंकि मत्स्य पुराण के १२१ वें

अध्याय में भृगुवंशीय उन्नीस मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की एक सूची प्रस्तुत है– भृगुः काश्यः प्रचेताश्च दधीचो ह्यात्मवानपि । और्वोऽथ जमदग्निश्च विदः सारद्वतस्तथा ।। आर्षिषेणो ह्यवनश्च वीतहव्यः सवेधसः । वैन्यः पृथुर्दिवोदासो वन्ध्यश्वो गृत्स शोनकः । एकोनविंशतिह्यते भृगवो मन्त्रकृत्तमाः ।

ध्यान देने की बात है कि इस सूची में प्रचेता का नाम तो हैं किन्तु च्यवन का नाम नहीं है । जबकि ऋग्वेद दशम मण्डल १९ वें सूक्त के वैकल्पिकरूप से भृगुपुत्र च्यवन भी द्रष्टा माने गये हैं । अतः यह निश्चित होता है कि इस सूची में महर्षि च्यवन ही प्रचेता रूप से निर्दिष्ट हैं ।

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि पृष्ठ १४१

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

राम ! राम !! द्विवेदी जी द्वारा ऋषियों के प्रति घोर अपराध ! वह भी जानबूझ कर अध्येता समाज की आँखों में धूल झोकने के उद्देश्य से किया गया है । कुटिल व्यक्ति जब अपने कथन की पुष्टि सत्तर्क और सद्ग्रन्थ से नहीं कर पाता है, तब छल प्रपञ्च का आश्रय लेता ही है । श्रीमान् जी कभी वाल्मीकि जी को शूद्र तो कभी महर्षि विश्रवा को वर्णसङ्कर कहते हैं, पर यहां तो एक महर्षि को ही चट कर गये ।'च्यवन' के स्थान पर 'ह्यवन' लिखते समय इनकी लेखनी नहीं टूटी !

पाठकगण ! मत्स्यमहापुराण के विभिन्न संस्करण कई जगहों से निकले हैं– प्रसिद्ध वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई सं० १९८०, नन्दलाल मोर कलकत्ता, सन् १९५४ (बंगदेशीयादर्श प्रस्तुत साहित्य प्रकाशक श्रीजीवानन्द विद्यासागर महाशय के द्वारा मुद्रित संस्करण के आधार पर मोर प्रकाशन का मत्स्यमहापुराण है) और आनन्दाश्रम पूना तथा मेहरचन्द लक्ष्मन दास, दिल्ली सन्१९८४ ई०। इन जगहों से निकले मत्स्य पुराण में च्यवन पाठ है, ह्यवन नहीं । आनन्दाश्रम पूना की प्रति सर्वाधिक प्रामाणिक मानी गयी है जो कि अनेक पाण्डुलिपियों के आधार पर प्रकाशित है, तथा स्थल-स्थल पर पाठभेद भी दिये गये हैं । किन्तु उसमें भी च्यवन के स्थान पर ह्यवन पाठ भेद नहीं है । शुद्ध च्यवन ही पाठ है । वह श्लोक भी १४५ वें अध्याय का ९९वां श्लोक है । मत्स्य पुराण के अनुवादक पं० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री ने अपने अनुवाद मत्स्यपुराण भाषा टीका, प्र० हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, सं० २००३ में च्यवन ही नाम रखा है, ह्यवन नहीं ।

पं० जी प्रचेता और च्यवन को अभिन्न सिद्ध करने के लिए च् की जगह् ह् बना दिये। छली व्यक्ति जब बुद्धि और शक्ति के आधार पर अपना कार्य नहीं सिद्ध कर सकता है, तब मिलावट करता ही है। भृगु वंश में ह्यवन नामक कोई व्यक्ति नहीं मिलता। पं० जी ने अपने मत्स्य पुराण के विषय में नहीं लिखा, कि वह कहाँ से प्रकाशित हुआ है। इनके झूठ फरेब का भण्डा फूट गया। अतः उस भृगुवंशी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सूची में प्रचेता और महर्षि च्यवन का पृथक्-पृथक् उल्लेख होने से ये दोनों ऋषि एक नहीं माने जा सकते। कहीं-कहीं प्रचेता शब्द कई लोगों के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है—'प्रचेताश्च्यवनः क्रोधाद्दग्धवान् पुरुषादकान्' यहाँ विशेषणीभूत प्रचेता का अर्थ 'प्रकृष्ट बुद्धि वाला' है। वेदों में भी प्रचेताशब्द मरूत[1], अग्नि[2], रूद्र[3], और यजमान[4] आदि के लिए प्रयुक्त हुआ है।

महर्षि वाल्मीकि प्राचेतस थे, च्यावन नहीं

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि प्राचेतस थे, च्यावन–च्यवन पुत्र नहीं, च्यवन और प्रचेता भिन्न–भिन्न व्यक्ति हैं; क्योंकि भृगुवंशी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सूची में इनका पृथक्-पृथक् नामोल्लेखपूर्वक परिगणन है। महर्षि वाल्मीकि को च्यवनपुत्र सिद्ध करने का एक अति घृणित प्रयास द्विवेदीजी का है। जो समाज के साथ छल है। ऐसे ही धोखेबाज पण्डितों ने स्मृतियों और पुराणों में अनेक स्थलों पर कपोल कल्पित पाठ घुसेड़ने का प्रयास जारी रखा है। इनके छल पूर्ण प्रयास को देखें—

"मत्स्य पुराण १२०वें अध्याय में अपनी कठिन तपश्चर्या के बल पर ऋषित्व प्राप्त करने वाले ऋषियों की एक सूची है, जिसमें च्यावन शब्द का प्रयोग भी हुआ है—

काव्योबृहस्पतिश्चैव कश्यपश्च्यावनस्तथा ।
उतथ्योवामदेवश्च अगस्त्यः कौशिकस्तथा ॥
कर्दमोवाल्खिल्यश्च विश्रवाः शक्तिवर्चसः ।
इत्येते ऋषयः प्रोक्तास्तपसा ऋषितां गताः ॥

यहाँ प्रथम पंक्ति में आया 'च्यावन' शब्द वाल्मीकि के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।" —रामायणकार महर्षि वाल्मीकि पृष्ठ १४३

---

[1] ऋग्वेद–१/२९/९ [2] ऋग्वेद४/१/१ [3] ऋग्वेद-४/१/१ [4] ऋग्वेद ८/२६/२१

निराकरण–

छिः ! छिः ! पुनः समाज की आँख में धूल झोंकने का घृणित प्रयास ! किन्तु यह सफल नहीं हो सकता । पाठकगण ! उक्त श्लोक में 'च्यावन' शब्द नहीं, अपितु च्यवन शब्द है । पं० जी शब्द में ही नहीं अपितु अध्याय की संख्या में भी घोटाला कर रहे हैं । वे श्लोक मत्स्य पुराण के १२० वें अध्याय के नहीं, अपितु १४५ वें अध्याय में ९२, ९३, ९४वें श्लोक है । देखें– मत्स्य पुराण, वेंकटेशप्रेस बम्बई, सं १९८०, या मेहरचन्द लक्ष्मनदास द्वारा प्रकाशित सन् १९८४ ई० के मत्स्य पुराण में । आनन्दाश्रमपूना की प्रति में भी 'च्वयन' ही पाठ है, च्यावन नहीं । इसके अनुवादक रामप्रताप त्रिपाठी भी पृ० ३३९ पर अनुवाद में च्यवन शब्द ही रखे हैं । मुद्रित, अमुद्रित किसी भी प्रति में च्यावन पाठ नहीं है । अतः उक्त श्लोक में 'च्यावन' शब्द का प्रयोग द्विवेदी जी का छल मात्र है। प्रचेता और महर्षि च्यवन के एक न होने से कहीं अन्यत्र भी आया च्यावन या च्यावनि शब्द का प्रयोग महर्षि वाल्मीकि के लिए नहीं माना जा सकता । वह तो च्यवनपुत्र आप्नुवान् या दधीचि के लिए ही होगा।

पं० जी अवसर देखकर कहीं च्यवन को ह्यवन तो कहीं च्यवन को च्यावन लिखकर महर्षि वाल्मीकि को च्यवन पुत्र सिद्ध करना चाहते हैं, जो कि छल होने से पुराणों के प्रति घोर अपराध है ।

च्यवन और वल्मीक अभिन्न नहीं

जब महर्षि च्यवन रेवा तट पर उग्र तपश्चर्या में स्थित हुये तो उनके ऊपर दीमकों ने वल्मीक अर्थात् बाँबी (दिमट या दिमउट अथवा विमौट, दीमकों द्वारा बनाया गया मिट्टी का ढेर)बना दिया । इस वल्मीक के लिए प्रयुक्त वल्मीक शब्द को च्यवन के लिए प्रयुक्त समझकर द्विवेदी जी भ्रान्तिकूप में गिर पड़े । देखें—

तत्र दृष्ट्वाथ वल्मीकं महातरु सुशोभितम् । (पद्मपुराण पा०ख०१४/५२)

इस श्लोक में तपस्यारत महर्षि च्यवन को सुस्पष्टरूप से वल्मीक शब्द से आख्यात किया गया है । तात्पर्य यह कि वल्मीकावृत हो जाने से अवल्मीक भी च्यवनमें वल्मीक शब्द की प्रवृत्ति हुई । जिसे च्यवन शब्द की भाँति अन्वर्थ संज्ञा ही कहा जायेगा । इससे निश्चित होता है कि तिलक-कार नागेशभट्ट ने इन्हीं के लिए लिखा है—वल्मीक इति ऋषिविशेषस्य

संज्ञेत्याहुः।" —रामायणकार महर्षि वाल्मीकि पृ० १४०।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

श्रीमान् जी ! उक्त श्लोक में महर्षि च्यवन को वल्मीक नहीं कहा गया है; क्योंकि जब वे रेवा तट पर दश सहस्र वर्ष की तपश्चर्या में निमग्न हुए, तो उनके ऊपर दीमकों ने मिट्टी का ढेर अर्थात् वल्मीक बना दिया। उस वल्मीक की मात्रा इतनी अधिक बढ़ी कि वह दोनों कन्धोंके ऊपर तक पहुँच गयी। उन्हीं कन्धों के ऊपर की वल्मीक पर पलाश वृक्ष उत्पन्न होकर सुशोभित होने लगे--

गत्वा तत्र तपस्तेपे वर्षाणामयुतं महान्।
अंसयोः किंसुकौ जातौ वल्मीकोपरिशोभितौ॥ } प० पु० पा० ख०, १४/४७

यहाँ अंसयोः (स्कन्धयोः) किंसुकौ (पलाशवृक्षौ) जातौ (उत्पन्नौ) कहने से शङ्का होती है कि कन्धों पर पलाशवृक्ष कैसे उग गये ? इसकी निवृत्ति के लिए पुनः आगे कहा गया— वल्मीकोपरिशोभितौ"। अब अन्वय होगा–अंसयोः वल्मीकोपरि शोभितौ किंसुकौ जातौ" अर्थात् दोनों कन्धों पर स्थित वल्मीक (बाँबी) के ऊपर सुशोभित दो वृक्ष उग आये। वे वृक्ष दीर्घकाल के बाद बड़े-बड़े हो गये। चूंकि वे दोनों सुशोभित वृक्ष वल्मीक (बाँबी) के ऊपर उगे हैं। अतः उनसे शोभा भी वल्मीक की ही होगी। वल्मीक (बाँबी) को उनसे सुशोभित होने के कारण ही आये वल्मीक का विशेषण 'महातरु सुशोभितम्' कहा गया।

तत्र दृष्ट्वाऽथ वल्मीकं महातरुसुशोभितम्।
निमेषोन्मेषरहितं तेजःकिञ्चिद् ददर्श सा॥ } प० पु० पा० ख०, १४/५२

अस्यार्थः– अथ सा=सुकन्या महातरुसुशोभितं वल्मीकं दृष्ट्वा तत्र=तदाभ्यन्तरे निमेषोन्मेषरहितं किञ्चतेजःददर्श=दृष्टवती।तत्पश्चात् उसने दोनों बड़े-बड़े पलाशवृक्षों से सुशोभित वल्मीकं (बाँबी) को देखने के बाद उसके अन्दर निमेष और उन्मेष रहित कोई तेज देखा। तेज भी वल्मीक के अन्दर तपोरत महर्षि के नेत्र थे। इसी तेज में शलाका घुसेड़ने से महर्षि के नेत्र फूट जाने की चर्चा है—

चक्षुर्विस्फोटनं कृतम्। —प० पु० पा० ख० १४/६१

अब पाठकवृन्द समझ सकते हैं कि पूर्व में महर्षि च्यवन के दोनों कन्धों के ऊपर जिस वल्मीक पर वृक्ष उगने की चर्चा हुई है। उसी का यहाँ भी वल्मीक पद से ग्रहण है, च्यवन का नहीं।

देवी भागवत में भी च्यवन और वल्मीक का पृथक्-पृथक् निर्देश है— चङ्क्रममाणा वल्मीकं च्यवनस्य समाददत् । –७/२/४८ । सुकन्या जब वल्मीक के अन्दर खद्योतसदृश ज्योति देखती है तो 'यह क्या है'– इस जिज्ञासा से तीक्ष्ण कांटे के द्वारा उसको निकालने का विचार करती है। महर्षि च्यवन उसके अभिप्राय को ताड़ जाते हैं । अतः कहते हैं कि हे विशालाक्षि ! मैं तपस्वी हूँ । तुम इस कांटे से इस वल्मीक को मत तोड़ो–

दूरं गच्छ विशालाक्षि तापसोऽहं वरानने । } दे०भा०पु०
मा भिदस्वाद्य वल्मीकं कण्टकेन कृशोदरि ।। } ७/२/५२ ।

महर्षि चूंकि बांबी के अन्दर हैं, बाँबी को तोड़े बिना चमकने वाली वस्तु सुकन्या को मिल नहीं सकती । अतः वह नुकीले कांटों का प्रयोग करना चाहती है । उसे ज्ञान नहीं था कि इसके अन्दर महातेजा च्यवन हैं । अतः च्यवन उसे रोकते हैं । उनका तात्पर्य है कि वल्मीक (बांबी) के अन्दर मैं बैठा हूँ । प्रकाशशील वस्तु कोई अन्य नहीं, अपितु मेरे नेत्र हैं । यहाँ च्यवन अपने को तपस्वी कहकर अपने से पृथक् बाँबी के लिए वल्मीक शब्द का प्रयोग करते हैं । यदि महर्षि च्यवन को ही वल्मीक पद से भगवान् व्यास कहना चाहते तो–

दूरं गच्छ विशालाक्षि वल्मीकोऽहं वरानने । मा भिदस्वाद्य मां देवि कण्टकेन कृशोदरि ।। इस आकार का श्लोक रखते, जिसमें तापस की जगह 'वल्मीकोऽहं' और वल्मीकं के स्थान पर 'मां देवि' होता । किन्तु ऐसा नहीं है, अतः च्यवन को संज्ञा वल्मीक नहीं मानी जासकती । वह तो वल्मीक की ही संज्ञा होगी । श्रीमद्भागवतमहापुराण में च्यवन का वल्मीक से पृथक् भेदेन निर्देश है—

मुनिं प्रसादयामास वल्मीकान्तर्हितं शनैः । —भा० पु० ६/३/८ ।

इस विवेचन से निश्चित हुआ कि वल्मीक च्यवन का वाचक नहीं है । तिलकटीकाकार श्रीनागेश भट्ट ने भी "वल्मीक इति ऋषि विशेषस्य संज्ञेत्याहुः" में आहुः से अस्वारस्यका ही बोधन किया है । यदि यह तिलककार को अभिमत होता तो आहुः न कहते । आहुः प्रथम पुरुष के बहुवचन की क्रिया है । यह क्रिया अपने लिए नहीं प्रयुक्त होती । हाँ, कहीं कहीं अपने लिए प्रथमपुरुष की क्रिया प्रयुक्त होती है किन्तु वहाँ एकवचन ही रहता है–स्व-औद्धत्य के अभाव का ध्वनन ही जिसका प्रयोजन है दार्शनिकोंकी मर्यादा है कि जहाँ अस्वारस्यका बोधन करना होता है, वहाँ

आहुः का प्रयोग करते हैं । दृष्टान्तरूपमें न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के दिनकरी की रामरुद्री के पृष्ठ ९, २०, ३२, ३३, आदि देखे जा सकते हैं।

नागेश जी ने आहुः से जिस अस्वारस्य का बोधन किया है। उसका बीज मैंने "वल्मीकं महातरुसुशोभितम्" का अर्थ करने के साथ दिखा दिया है।

अस्वारस्य का बीज—

आहुः के द्वारा अस्वारस्य का एक यह भी बीज ध्वनित होता है– कि वल्मीक को ऋषिविशेष की संज्ञा मानने पर "वल्मीकस्यापत्यम्" ऐसा विग्रह करने के पश्चात् वाल्मीकि शब्द की निष्पत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि 'अतइञ्' सूत्र का अपवाद सूत्र है— "ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च" (पा० सू० ४/१/११४) । इससे अपत्यार्थक अण् प्रत्यय होकर वाल्मीक शब्द बनेगा, वाल्मीकि नहीं । अतः वल्मीक के लिए ऋषि विशेष की संज्ञा का कथन तुच्छ है ।

निष्कर्ष—

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि च्यवन के पुत्र नहीं है; क्योंकि अगस्त्यसंहिता आदि ग्रन्थों में 'वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना' रामायण की रचना प्राचेतस–प्रचेता के पुत्र से कही गयी है। प्रचेता और च्यवन परस्पर भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं– ऐसा भृगुवंशी मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की सूची से सिद्ध किया जा चुका है। महर्षि वाल्मीकि का यह नाम उनके वल्मीक (दीमकों द्वारा किये गये मिट्टी का ढेर) से निकलने के कारण पड़ा । "वल्मीकप्रभवो यस्मात्तस्माद्वाल्मीकिरित्यसौ" ब्रह्मवैवर्तपुराण का यह बचन इसमें प्रमाण है। यहाँ भी वल्मीक का अर्थ बाँबी या पूर्वोक्त मिट्टी का ढेर ही है, कोई ऋषि विशेष नहीं । अत एव नागेश जी ने "वल्मीकप्रभवत्वेन गौणीपुत्रादिवद्गौणमस्य वल्मीकापत्यत्वं गृहीत्वेञ् साधुरपत्यार्थः" लिखा । अत एव रामायणशिरोमणिटीकाकार ने 'गौणत्वं च वहुकालिकतपस्स्थिति हेतुकवल्मीकाकृतित्वप्राप्त्यनन्तरं वरुणकृतवृष्ट्या निष्पन्नत्वात्' से वाल्मीकि में प्रचेता के गौणपुत्रत्व की उपपत्ति की। भूषणटीकाकार श्रीगोविन्दराज जी ने भी "निश्चलतरतपोविशेषण वल्मीकावृत्तौ जातायां प्रचेतसा वरुणेन कृतनिरन्तरवर्षेण प्रादुर्भावोऽभूत्" लिखकर वाल्मीकि में वल्मीकापत्यत्व और प्रचेतसोऽपत्यत्व की पुष्टि की।

वास्तविक स्थिति तो यह है कि ये सभी टीकाकार स्कन्दपुराण

की कथाओं पर विश्वास न करके वाल्मीकि के विषय में भ्रान्त हैं।

द्विवेदी जी ने जातिविमर्श के अन्त में पृष्ठ ११९ पर लिखा है कि "याज्ञवल्क्य मनुआदि स्मृतिकारों ने यह व्यवस्था दी है कि विधिवद् विवाहित सजातीय पत्नी में स्वद्वारा उत्पादित सन्तान ही सजातीय हो सकती है, अन्य नहीं। इसके विपरीत पति पत्नी में यदि कोई अन्य-जातीय हो गया तो वह सन्तान वर्ण-सङ्कर हो जायेगी"। इधर पं०जी वाल्मीकि को च्यवन का पुत्र भी मान रहे हैं। जब कि च्यवन महर्षि भृगु से पुलोमदानव की कन्या पौलोमी द्वारा उत्पन्न हुए जो कथमपि ब्राह्मणी नहीं थी, अपितु दानवी ही थी। अतः पत्नी पौलोमी के ब्राह्मण-भिन्नजातीय होने के कारण पं० जी के कथनानुसार ब्रह्मर्षि च्यवन वर्णसङ्कर सिद्ध हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में उनसे उत्पन्न वाल्मीकि कथमपि ब्राह्मण नहीं हो सकते।

दूसरी बात यह की च्यवन की पत्नी सुकन्या राजर्षिशर्याति की कन्या है; उनकी अन्य किसी पत्नी का उल्लेख शास्त्रों में है नहीं। अतः उनसे उत्पन्न वाल्मीकि पं० जी के अनुसार ब्राह्मण कैसे हो सकते हैं!

वाल्मीकि वरुण पुत्र थे

श्रीमद्भागवतमहापुराण में—

चर्षणी वरुणस्यासीद्यस्यां जातो भृगुःपुनः। } भा०म०पु०
वाल्मीकिश्च महायोगी वल्मीकादभवत् किल॥ } ६/१८/६

वाल्मीकि को वरुणपुत्र कहा गया है। इस श्लोक पर सुप्रसिद्ध प्रामाणिक टीकाकार श्रीधर स्वामी लिखते हैं— चर्षणी वरुणस्य भार्या आसीत् पूर्वं ब्रह्मणः पुत्रो भृगुर्यस्यां जातः। वाल्मीकि र्वरुणस्यैव पुत्रोऽभवत्। वरुणस्यासाधारणौ पुत्रौ।

अर्थ—चर्षणी वरुणदेव की भार्या थीं जिनमें ब्रह्मा के पुत्र भृगु पुनः उत्पन्न हुए। महायोगी वाल्मीकि वरुण के ही पुत्र हुए, अर्थात् इनका भृगु की भाँति द्वितीय जन्म नहीं था। इन्होंने ऐसा दुष्कर तप किया कि इनके ऊपर वल्मीक हो गयी। अतः उससे निकलने के कारण ये वाल्मीकि नाम से प्रसिद्ध हुए। भागवत के सभी टीकाकारों ने वाल्मीकि को वरुण का पुत्र माना है। भक्तमनोरञ्जिनी टीका के प्रणेता भगवत्प्रसादाचार्य इस पक्ष का उपपादन भी करते है—"महायोगी वाल्मीकिश्च स्वयं वाल्मी-किरित्यर्थः। वरुणस्य चर्षण्यां जातः जातमात्रः स यथा स्वोपरि वल्मीको जातस्तथा तपोऽकरोत् कालेन ततो निःसृतः अत एव वल्मीकादभवत् किल

इत्युक्तः ऋषिभिरिति शेषः" ।। स्वयं वाल्मीकि वरुण की चर्षणी पत्नी में उत्पन्न हुए। उन्होंने ऐसा कठिन तप किया कि उनके ऊपर वल्मीक (बाँबी) हो गया। कुछ काल के पश्चात् उससे निकलनेके कारण ऋषियों नें कहा कि ये वल्मीक से निकले हैं। इन्हीं को भृगु का भाई होने के कारण भार्गव और वरुण–जिनका एक नाम प्रचेता है– से उत्पन्न होनें के कारण प्राचेतस कहते हैं। इन्होंने रामायण का निर्माण किया। स्कन्द पुराण की सभी कथाएँ कल्पभेद से सत्य हैं, अतः कोई दोष नहीं।

पण्डितपुङ्गव द्वारा प्रदत्त सभी आपत्तियों का निराकरण हो जाने से भागवत के सभी टीकाकारों के अनुसार महर्षि वाल्मीकि वरुण के पुत्र सिद्ध हुए। भगवान् वादरायण ने स्वयं जिन्हें वरुणपुत्र लिखा है, उन्हें च्यवनपुत्र कहना और पुराणों तथा स्मृतियों के शब्दों में घोटाला करना द्विवेदी जी जैसे लोगों के ही कार्य हैं। ये महाशय पृष्ठ १४५ पर लिखते हैं कि "भागवत के सभी टीकाकारों ने भी वाल्मीकि का चर्षणीपुत्रत्व नहीं प्रतिपादित किया" यह नितान्त झूठ है; क्योंकि भागवत के सभी टीकाकारों ने वाल्मीकि को चर्षणी का पुत्र माना है और भक्तमनोरञ्जिनीकार ने 'किल' इस प्रसिद्धि का उपपादन भी किया है। अभक्तों को उचित न मालूम पड़े तो कोई हानि नहीं। धर्मसम्राट् पूज्य श्री करपात्री जी ने वाल्मीकि को वरुणपुत्र मानकर उसका उपपादन भी "रामायण मीमाँसा" में किया है।

इत्ययोध्यानगरीस्थ श्रीमणिरामछावनीपीठाधीश्वरश्रीनृत्यगोपालदासजी महाराजेभ्यो लब्धदीक्षेण आचार्यसियारामदासनैयायिकेन कृते 'भ्रान्तिगिरिभङ्ग' वंशविमर्शभङ्गः पूर्णः।"



कालविमर्शभङ्ग

त्रिलोक्यां दह्यमानायां शक्त्यासङ्कर्षणाग्निना। } भा० पु०
यान्त्युष्मणा महर्लोकाज्जनं भृग्वादयोऽर्दिताः ।। } ३/११/२६

पण्डितप्रवर श्रीद्विवेदीजी उक्तश्लोकका कैसा गलत अर्थ कररहे हैं देखें—"श्री ब्रह्मा जी के दिवसान्तकाल में भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र से निर्गत सङ्कर्षण नामक भीषण अनल की ज्वाला से जब भूरादि तीनों लोक जलने लगते हैं। तो उसके ताप से चतुर्थ महर्लोक भी सन्तप्त हो जाता है। अतः उस स्थिति में उस महर्लोक में रहने वाले भृगु, मरीचि आदि ब्रह्मपुत्र दशों ऋषि उससे भी ऊपर जनलोक में चले जाते हैं।

—महर्षि वाल्मीकि, पृष्ठ–१७६

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

श्रीमान्‌जी ने 'सङ्कर्षणाग्नि' शब्द का व्याख्यान 'भगवान् शङ्कर के तृतीय नेत्र से निर्गत सङ्कर्षण नामक भीषण अनल' किया है जो कि नितान्त अनुचित है; क्योंकि सङ्कर्षणाग्नि शब्द 'भगवान् शेषनाग के मुख से निकली संवर्ताग्नि' (प्रलयकालिक अग्नि) का वाचक है। इसे श्रीमद्-भागवत महापुराण १२/४/६ में स्वयं व्यासनन्दन शुकदेव जी सुस्पष्ट कर रहे हैं— ततः संवर्तको वह्निः सङ्कर्षण मुखोत्थितः।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ।।

—'तत्पश्चात् भगवान् शेषनाग के मुख से निकली हुई प्रलयकालिक संवर्तक अग्नि वायुवेग से बढ़कर तल अतल आदि सम्पूर्ण भूविवरों को जला देती है। सङ्कर्षण शब्द के वाच्य सहस्त्रशिर वाले भगवान् शेषनाग हैं। इसका निरूपण भा० म० पु० ५/२५/ शब्दावलियों में है– "तस्य मूलदेशे त्रिंशद्योजन सहस्रान्तर आस्ते या वै कला भगवतस्तामसी समाख्याताऽनन्त इति सात्वतीया द्रष्टृदृश्ययोः सङ्कर्षणमहमित्यभिमान लक्षणं यं सङ्कर्षणमित्याचक्षते ।१। यस्येदं क्षितिमण्डलं भगवतोऽनन्तमूर्तेः सहस्रशिरस एकस्मिन्नेव शीर्षणि ध्रियमाणं सिद्धार्थ इव लक्ष्यते ।।२।।

पाठक देख सकते हैं कि सङ्कर्षण शब्द शेषनाग का वाचक है अतः उक्त विवेचन से सङ्कर्षणाग्नि शब्द भगवान् शेष के मुखसे निर्गत अनल का ही बोधक है, भगवान् शिव के तृतीय नेत्र से निकली अग्नि का नहीं। और मत्स्यमहापुराण में तो नैमित्तिक प्रलय का वर्णन करते हुए भगवान् मत्स्य ने सुस्पष्ट कहा है कि भगवान्सकङ्कर्षण के मुख से निकली भयङ्कर

विषाग्नि तथा भगवान् शिव के तृतीय नेत्र से निर्गत अनल तीनों लोकों को दग्ध कर देता है—

विषाग्निश्चापि पातालात् सङ्कर्षणमुखच्युतः। } म० पु०
भवस्यापि ललाटोत्थतृतीय नयनानलः ।। } २ / ५

यहाँ श्री शिव के तृतीयनेत्र से समुद्भूत अग्नि से पृथक् ही सङ्कर्षणमुख से निर्गत अग्नि बतलायी गयी है। एक ही काल में दोनों अग्नियों के भिन्न-भिन्न स्थानों से निर्गत होने के कारण उनमें अभिन्नता नहीं है अर्थात् सङ्कर्षण मुख से निकली अग्नि शिवके तृतीयनयनानल से भिन्न है। अतएव 'सङ्कर्षणाग्नि' शब्द का पण्डितप्रवर प्रोक्त अर्थ भ्रान्तिमूलक है। चूंकि द्विवेदी जी की भ्रान्ति प्रलय सम्बन्धी श्लोकार्थ के विषय में है। इसलिए प्रलय का निरूपण भी किया जा रहा है। नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य ये चार प्रकार के प्रलय हैं।

नैमित्तिक प्रलय— एक हजार चतुर्युग का ब्रह्मा जी का एक दिन होता है इसे ही कल्प भी कहते हैं। कल्प के अन्त में प्रलय होता है। यही ब्रह्मा जी की रात्रि है। इस समय भूर्भुवः स्व इन तीनों लोकों का प्रलय हो जाता है। सहस्र चतुर्युग के अन्त में प्रलयकाल उपस्थित होने पर सौ वर्ष पर्यन्त वर्षा नहीं होती है, फलतः अन्नादि न मिलने से प्रजा भूख से पीड़ित होकर एक दूसरे को खाने लगती है। जब प्रजा नष्ट हो जाती है तब सप्तरश्मि वाले भगवान् भास्कर सम्पूर्ण नदी समुद्रादि के समस्त जल का शोषण कर लेते हैं। तत्पश्चात् भगवान् सङ्कर्षण के मुख एवं भगवान् शिव के तृतीय नेत्र से निकली अग्नि तीनों लोकों को सौ वर्ष तक जलाती रहती है। (इसका ताप महर्लोक पर्यन्त पहुँचता है, अतएव भृगु आदि ऋषि वहाँ से ऊपर जनलोक को चले जाते हैं) इसके बाद संवर्त, भीमनाद, द्रोण, चण्ड, बलाहक, विद्युत्पताक और शोण ये सात प्रलयकालिक मेघ सौ वर्ष पर्यन्त घोर गर्जना करते हुए प्रचण्ड वर्षा करते हैं। इस समय तीनों लोक समुद्रमय हो जाते हैं। यही नैमित्तिक प्रलय है। इस समय भगवान् विष्णु ब्रह्मा जी को उदरस्थ कर भगवान् शेष पर शयन करते हैं। ब्रह्मा जी प्रभु के उदर में ही शयन करके प्रलय काल (अपनी रात्रि) बिताते हैं। ब्रह्माजी के दिवसावसान के निमित्त से यह प्रलय होता है इसीलिए इसे नैमित्तिक प्रलय कहते हैं।

प्राकृतिक प्रलय—जब ब्रह्माजी की दो परार्द्ध = उनके अपने मान से सौ वर्ष की आयु समाप्त हो जाती है। तब प्रलय काल उपस्थित

होता है। उस समय सौ वर्ष तक वर्षा नहीं होती है। तत्पश्चात् सांवर्तक सूर्य समुद्र, प्राणियों के शरीर एवं पृथिवी का सम्पूर्ण रस सोख लेते हैं। पुनः सदा की भांति उसे भूमण्डल पर बरसाते नहीं हैं। इसके पश्चात् सौ वर्ष तक भगवान् शेषनाग के मुख से भयङ्कर अग्नि निकलती है। उस समय ऊपर-नीचे चारों ओर यह ब्रह्माण्ड जलने लगता है और जल कर गोबर के उपले जैसा प्रतीत होने लगता है। तत्पश्चात् सौ वर्ष तक प्रचण्ड वायु बहता है इससे आकाश धुएं एवं धूल से भर जाता है। पुनः प्रलयकालिक पूर्वोक्त मेघ सौ वर्ष तक भयंकर गर्जन करते हुए मूसलाधार वृष्टि करते हैं जिससे सारा ब्रह्माण्ड जलमग्न हो जाता है। अब जल पृथिवी के गन्ध गुण को ग्रस लेता है। गन्धहीन होकर पृथिवी जल में लीन हो जाती है। तत्पश्चात् जल के गुण रस को तेज ग्रहण कर लेता है, जिससे जल तेज में लीन हो जाता है। इसीप्रकार वायु द्वारा तेजका रूप गुण ग्रस लिये जाने से तेज वायु में तथा आकाश द्वारा वायु का गुण स्पर्श ग्रस लिये जानें से वायु आकाश में लीन हो जाता है। आकाश का गुण शब्द तामस अहंकार द्वारा ग्रस लिये जाने से आकाश तामस अहङ्कार में लीन हो जाता है। इसी प्रकार तैजस अहंकार में इन्द्रियाँ एवं वैकारिक अहंकार में इन्द्रियाधिष्ठातृदेवता लीन हो जाते हैं। तत्पश्चात् अहङ्कार महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्व सत्त्वादि गुणमें लीन हो जाता है। पुनः गुण प्रकृति में लीन हो जाते हैं। महत्तत्त्व, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा ये सातों प्रकृतियाँ अपने कारण प्रकृति में लीन हो जाती हैं। इसलिए इसका नाम प्राकृतिक प्रलय है। प्राकृतप्रलय में ब्रह्माण्ड के आवरण पृथिव्यादि का भी पूर्ववत् ही प्रलय होता है।

आत्यन्तिक प्रलय– जब जीव भगवद्भजनादि से अहंकार के बन्धनको काटकर निस्सीमसुखलक्षण भगवत्प्राप्ति कर लेता है तब उसकी इसस्थिति को आत्यन्तिक प्रलय कहा जाता है; क्योंकि इसके बाद वह माया के बन्धन में नहीं पड़ता।

नित्य प्रलय– लोक में क्षण-क्षण जो विनाश दिख रहा है-अमुक व्यक्ति मर रहा है, अमुक वस्तु नष्ट हो रहा है–यह नित्य प्रति हो रहा है इसी का नाम नित्यप्रलय है।

"इत्ययोध्यानगरीस्थ श्रीमणिरामछावनी पीठाधीश्वर श्रीनृत्यगोपालदासजी महाराजेभ्यो लब्धदीक्षेण आचार्य सियारामदास नैयायिकेन कृते 'भ्रान्तिगिरिभङ्गे' कालविमर्शभङ्गः पूर्णः॥"

वृत्तविमर्शभङ्ग

वृत्तविमर्श में द्विवेदी जी ने ऋग्वेद के १०म मण्डल के ६६वें सूक्त को प्रस्तुत कर उसके द्रष्टा ऋषिवम्र को वाल्मीकि से अभिन्न मान कर महर्षि में दस्युता का निराकरण करने का असफल प्रयास किया है। ऋषिवम्र विखना के पुत्र हैं, च्यवन आदि के नहीं–यह सायणभाष्य से पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। अतः इस सूक्त से महर्षि वाल्मीकि का कोई सम्बन्ध नहीं है। फलतः इसके आधार पर उनके विषय में कुछ कहना मात्र भ्रान्ति ही है।

ऋषिवम्र द्वारा दृष्ट ऋग्वेद १०/६६ सूक्त में १२ ऋचाएं हैं जिनमें निम्नलिखित ऋचा—

स रुद्रेभिरशस्तवार ऋभ्वा हित्वी गयमारे अवद्य अगात्।
वम्रस्य मन्ये मिथुना विवव्री अन्नमभीत्यारोदयन् मुषायन्॥

का सायणभाष्य है– स इन्द्रो रुद्रेभिः रुद्रपुत्रैर्मरुद्भिः सहितः अगादागच्छतु। कीदृशः अशस्तवारः स्तोतृभिरप्रार्थितधनः स्वयमेव प्रदातेत्यर्थः। यथा ऋभ्वा महान् गयं हित्वी हित्वा स्वस्थानं परित्यज्य अगादागच्छतु तत्र सम्बन्धः आरे अवद्यः दूरे गतगर्ह्यः। किञ्च वम्रस्यैतन्नामकस्य ऋषेर्मम मिथुनौ मातापितरौ विवव्री विगतज्वरौ मन्ये अवगच्छामि अयं वम्रः अन्नं शत्रुसम्बन्धि अभीत्य अभिप्राप्य मुषायन् मुष्णन् अरोदयन् रोदयति छन्दसि शायजपीत्यहावपि मुषेः श्नः शायजादेशः।

इस भाष्य के विषय में द्विवेदी जी कहते हैं कि यहाँ के सायण भाष्य में "अयं वम्रः" पाठ कब और कैसे घुस आया, पण्डितों के लिए अन्वेषणीय विषय है। पं० जी इसे प्रक्षिप्त इसलिए मानते हैं कि "यह वम्र शत्रुओं के धन के पास पहुँचकर उसे चुराता हुआ शत्रुओं को रुलाता है" यह अर्थ ऋषि के लिए दुर्घट है; क्योंकि वे चोरी भी करते रहें और ऋषि भी बने रहें यह सम्भव नहीं। यदि उसे भूतानद्यतन 'अरोदयत्' से ऋषित्व प्राप्ति के पूर्व की घटना मान लें तो अनुपपत्ति नहीं है ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यहाँ का लङ्लकार बाहुलकात् वर्तमान काल में हुआ है। जैसे इस सूक्त के द्वितीय मन्त्र में वर्तमान अर्थ में भूतार्थक लिट् का प्रयोग हुआ है 'ससाद'। इसी प्रकार तृतीय मन्त्र में परिषदत् तथा अभिभूत, सप्तम में साविषत् तथा अष्टम में उपसीदत्, एकादश में अभिभूत ये सभी लङ् लुङ् आदि के प्रयोग वर्तमान अर्थ में ही

बाहुलकात् हुए हैं। ऐसे ही पञ्चम मन्त्र में अरोदयत् का लङ् भी वर्तमान अर्थ में बाहुलकात् प्रयुक्त है, इसीलिए इसकी स्वयं आचार्य सायण ने व्याख्या की है– रोदयति (रुलाता है, न कि रुलाया) और वर्तमान कालिकरोदनकर्तृत्व का ऋषित्व के साथ सामञ्जस्य नहीं।'

—महर्षि वाल्मीकि, पृ० २११

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

द्विवेदीजी का उक्त कथन भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि 'अरोदयत्' का 'रोदयति' ऐसा भाष्य आचार्य सायण ने नहीं किया है। भूतानद्यतन लङ् 'अरोदयत्' का 'रोदयतिस्म' ही विवरण हो सकता है, केवल 'रोदयति' नहीं। अब अर्थ हुआ कि यह वम्र शत्रुओं के धन के पास पहुँचकर उसे चुराता हुआ उन्हें रुलाता था– इस अर्थ में कोई अनुपपत्ति नहीं है। ऋषित्व प्राप्ति के सुदूर पूर्व ऋषि वम्र चोरी आदि करते थे तो किया करें, ऋषित्व प्राप्त होने के पश्चात् तो नहीं करते थे। अतः कोई विरोध नहीं। लिपिकार और मुद्रक "ईश्वर की रचना" को 'सात सेर चना' लिखते देखे जाते हैं। अतः 'स्म' यदि छूट गया तो कोई आश्चर्य नहीं है। ग्रन्थ में कहाँ पाठ छूटा ! कहाँ प्रमादवशात् अधिक घुस गया ! इसका परिज्ञान गुरु द्वारा अध्ययन किये विना नहीं हो सकता।

पं० जी वम्रदृष्ट सूक्त के द्वितीय, तृतीय, सप्तम, अष्टम और एकादश मन्त्र में लङ् लुङ् आदि का प्रयोग वर्तमान अर्थ में बताये हैं, और कहते हैं कि ऐसे ही पञ्चम मन्त्र में 'अरोदयत्' का लङ् भी वर्तमान अर्थ में है। यहाँ पं०जी से यह भी कहा जा सकता है कि 'वम्र दृष्ट सूक्त के ही प्रथम मन्त्र में अपिन्वत्, छठें में दमन्यत् व्यहन्, ७वें में अभिनत्, ८वें में विदत् (अलभत्), ९वें में अदात्, अनयत्, १०वें में अवेदि अमिमीत, ११वें में दरयत् (अदारयत्), दीदयत्, १२वें में उपसर्पत् इन सभी लुङ् लङ् लकारों का प्रयोग भूतकाल में ही हुआ है। अतः इसी प्रकार अरोदयत् का भी प्रयोग भूतकाल में माना जाना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'बाहुलकात्' वर्तमान अर्थ में इसकी उपपत्ति भी नहीं करनी पड़ेगी।'

अब पं०जी "उन मन्त्रों में लुङ् लङ् आदि लकारों के कुछ प्रयोग बाहुलकात् वर्तमान अर्थ में क्यों माने गये !" इसका कारण सुनें।

द्वितीय मन्त्र में 'वेति' (जाते हैं) वर्तमान अर्थ में प्रयुक्त है।

यहाँ इन्द्र के स्वभावादि का वर्णन किया गया है कि "वे कहाँ जाते हैं' कहाँ बलपूर्वक उपस्थित होते हैं, किसे हराते हैं, किसके भाई हैं, इत्यादि"। यदि ऐसा प्रतीत होता कि "पहले जाते थे, पहले उपस्थित होते थे, पहले हराते थे, इत्यादि" तो वर्तमान अर्थ में ससाद आदि का प्रयोग नहीं माना जाता। यहां तो स्वभाव बतलाना है। अत: सामगान के समीप जाते हैं, इसे बतलाने के लिए वेति वर्तमानकाल का प्रयोग है। उपस्थिति बताने हेतु ससाद का बाहुलकात् वर्तमाम अर्थ में प्रयोग है।

जहाँ इन्द्र या अन्य के द्वारा पूर्व में सम्पादित कार्य का वर्णन है, वहाँ भूतकालके अर्थमें ही लुङ् आदि का प्रयोग हुआ है। जिसको ८ मन्त्रों में पूर्व में अभी तत्तत्क्रियाओं द्वारा सूचित किया जा चुका है। तृतीय, सप्तम और अष्टम मन्त्र में भी "इन्द्र क्या–क्या करते हैं"– यही बताया गया है। अत: लङादि का प्रयोग वर्तमान अर्थ में उपपन्न किया गया। आज भी मोहन, सोहन, राम और श्याम भोजन करते हैं, दौड़ते हैं, पढ़ते हैं, इत्यादि बतानें के लिए वर्तमानकाल का ही प्रयोग होता हैं। अष्टम मन्त्र में "इन्द्र ने हमें जाने के लिए मार्ग बताया"– इस तथ्य को प्रस्तुत करने के लिए लङ् लकार का प्रयोग भूतकाल में ही माना गया। यही नहीं, सूक्त के प्रथम, छठें, सातवें, आठवें, नवें, दशवें और ग्यारहवें मन्त्रमें 'वज्रनिर्माण' विश्वरूप बध आदि अतीत की घटनाओंके वर्णन हेतु लुङ् लङ् आदि का प्रयोग भूत-काल में ही हुआ है। अब आइए ५म मन्त्र में, यहाँ अगात् इस लुङ्लकार का ही प्रयोग बर्तमानकालमें आचार्य सायणने नहीं माना, वे इसका विपरिणाम लोट्लकारमें करते हैं–अगात् = आगच्छतु। इन कथनोंका तात्पर्य यही है कि यदि ९९वें सूक्त के सभी मन्त्रों में लुङ् लङ् लकार के प्रयोग वर्तमानकाल में ही हुएहैं–ऐसा कोई नियम होता तो 'अरोदयत्' इस लङ्लकार के प्रयोग को भी वर्तमानकाल में मानने के लिए बाध्य होना पड़ता। किन्तु ऐसा कोई नियम तो है नहीं; क्योंकि सप्तम, अष्टम, और ग्यारहवें मन्त्र में ही लङ्लकार का प्रयोग भूतकाल में हुआ है, अन्य मन्त्रों की तो कोई बात ही नहीं है।

इधर ऋषि वम्र अपने अतीत जीवन की चोरी आदि घटनाओं का वर्णन कर रहे हैं। अत: 'अरोदयत्' इस लङ्लकार का प्रयोग भूतकाल में ही है और उसका विवरण 'रोदयतिस्म' ही है, केवल रोदयति नहीं। मुद्रित पुस्तक में मुद्रक के प्रमाद से 'स्म' छूट गया है। अपरोक्षे च (पा० सू० ३/२/११९) इस सूत्र से यहाँ स्म के योग में लट्लकार हुआ है।

'एवं स्म पिता ब्रवीति । यजति स्म युधिष्ठिरः' इत्यादि । उक्त परिशीलन से विरोध की गन्ध भी प्रतीत न होने से "अयं वम्रः" को प्रक्षिप्त समझना पं० जी की भूल है । श्रीनीलकण्ठ जी ने उक्त सूक्त के आरम्भ की पाँचों ऋचाओं में सम्पूर्ण रामकथा का वर्णन किया है । वहाँ सभी लकार अपने अपने अर्थमें ही प्रस्तुत हुए हैं। लकारों का विपरिणाम या बाहुलकात् प्रयोग नहीं मानना पड़ा । दूसरी बात यह कि पण्डितप्रवर महर्षि वाल्मीकि को 'वंशविमर्श' में च्यवन का पुत्र मान चुकें हैं । और उक्त ऋचाओं के द्रष्टा महर्षि वम्र च्यवन के पुत्र नहीं अपितु ब्रह्माजी के पुत्र हैं-ऐसा सायण भाष्य से प्रमाणित हो चुका है । अतः भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पुत्र होने से महर्षि वाल्मीकि एवं ऋषिप्रवर वम्र समानार्थक नाम होने पर भी परस्पर भिन्न हैं । क्या देवदत्त के पुत्र गणेश और यज्ञदत्त के पुत्र गजानन को केवल समानार्थक नाम होने से अभिन्न माना जा सकता है; उत्तर मिलेगा-कभी भी नहीं । इसी प्रकार ऋषि वम्र एवं वाल्मीकि को भी एक नहीं माना जा सकता । इधर प्रचेता और च्यवन में भी भेद सिद्ध किया जा चुका है । फलतः प्राचेतस वाल्मीकि पं० जी के अनुसार च्यवन पुत्र वाल्मीकि और विखना ब्रह्मा के पुत्र महर्षि वम्र में ऐक्य न होने से महर्षि वम्र के दस्युतादि का कथञ्चित् निराकरण हो जाने पर भी इससे रामायणकार महर्षि प्राचेतस वाल्मीकि के जीवन की लूटमार प्रभृति घटनाओं में अनुपपत्ति नहीं दिखायी जा सकती ।

ऋषित्व और चौर्य का सामञ्जस्य

पं० जी की धारणा है कि ऋषि वम्र दृष्ट सूक्त की ५म ऋचा के सायण भाष्य 'अयं वम्रः अन्नं शत्रुसम्बन्धि अभीत्य अभिप्राप्य मुषायन् मुष्णन् अरोदयन् रोदयति' के अन्दर जो "अयं वम्रः' पाठ है वह प्रक्षिप्त है; क्योंकि उसके रहने पर अर्थ होगा- 'यह वम्र शत्रुओं के धनके समीप पहुँचकर उसे चुराता हुआ रुलाता है । और ऋषित्व प्राप्ति कठिन तपश्चर्या का फल है । अतः तप के अनन्तर मन्त्रदर्शनकाल में ऋषित्व प्राप्त हो जाने पर भी मनुष्य का चौर्यकर्तृत्व और रोदनकर्तृत्व कैसे सम्भव होगा ? चोरी भी करता रहे, लोगों को रुलाता भी रहे, साथ में ऋषि भी बना रहे ये दोनों स्थितियाँ एक साथ कैसे सम्भव हैं ?"

पण्डितप्रवर ! ये दोनों स्थितियाँ आपत्तिकाल में सम्भव हैं; क्योंकि दुर्भिक्ष पड़ा हो या किसी अन्य कारण से कहीं भी भिक्षा उपलब्ध न हो तो

बड़े-बड़े ऋषियों को भी चोरी आदि साधन करके जीवन को सुरक्षित रखने का आदेश शास्त्रों ने दे रखा है—

यथा यथैव जीवेद्धि तत्कर्तव्यमहेलया ।
जीवितं मरणाच्छ्रेयो जीवन् धर्ममवाप्नुयात् ।। } म० भा० शा० पर्व आ० प० १४१/६५

धार्मिक प्राणी जिस किसी भी साधन (चोरी आदि) से जीवित रह सके उसे विना अवहेलना के करे; क्योंकि भूखे मर जाने की अपेक्षा जीवित रहना श्रेष्ठ है। इसका कारण यह कि जीवित रह कर धर्म का आचरण करे ।

उक्त वचन दुर्धर्ष तपस्वी महर्षि विश्वामित्र का है, जो भिक्षान्न की उपलब्धि न होने पर चण्डाल के यहाँ रात को कुत्ते के मांस की चोरी करने गये थे। यही आपद्धर्म कहा जाता है। आपत्तिकाल में प्राणरक्षा के लिए ब्राह्मण को अपने से श्रेष्ठ, समान तथा हीन मनुष्य के घर से चोरी कर लेनी चाहिए-ऐसा शास्त्रों से सिद्ध है—

आपत्सु विहितं स्तैन्यं विशिष्टसमहीनतः ।
विप्रेण प्राणरक्षार्थं कर्तव्यमिति निश्चयः ।। } मा० भा० शा० प० आ० प० १४१/३६

इस प्रकार जब शास्त्र स्वयम् आपत्तिकाल में चौर्य कर्म का कर्तव्यत्वेन उद्घोष कर रहे हैं। तब यदि भिक्षान्न के अभाव में महर्षि वम्र ने भी विश्वामित्र की भाँति शत्रु के घर से चोरी कर ली हो तो क्या आश्चर्य ? उन्होंने अपने जीवन को सुरक्षित रखने के लिए शास्त्रोक्त आपद्धर्म का पालन ही किया है। इससे उनके ऋषित्व पर कोई आँच नहीं आ सकती । तात्पर्य यह कि जिस प्रकार कठिन तप के अनन्तर ऋषित्व प्राप्त करने के पश्चात् महर्षि विश्वामित्र में आपत्तिकालिक चौर्य एवं ऋषित्व का सामञ्जस्य उपपन्न हो जाता है, ठीक इसी प्रकार ऋषिवर वम्र के जीवन में भी आपत्तिकालिक चौर्य एवम् ऋषित्व का सामञ्जस्य उपपन्न हो जायेगा।

छान्दोग्योपनिषद् में चाक्रायण ऋषि की आख्यायिका आयी है। महर्षि चाक्रायण सुमर्यादित भिक्षान्न न मिलने पर प्राणों की सुरक्षा हेतु महावत से उसके खाने से बचे हुए उच्छिष्टान्न उड़द माँग लिये। और जब उसके खाने से प्राणों की सुरक्षा हो गयी तब उसके द्वारा प्रदत्त जल को उच्छिष्ट कहकर अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि यदि मैं इन उड़दों को न खाता तो प्राण सुरक्षा असम्भव थी। अब उड़दों से शक्ति सञ्चय हो जाने से जल अन्यत्र जाकर भी पी सकता हूँ । यदि

त्वदुच्छिष्ट जल का सेवन करूंगा तो स्वेच्छाचारिता होने से प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। अतः जलपान न किये। पुनः दूसरे दिन उसी उड़द को खाये जो महावत का जूंठा था और स्वयं भी खाकर जिसे जूंठा कर दिये थे। दूसरी बात यह कि वह पर्युषितान्न (बासी अन्न) भी हो गया था। बासी भोजन वह भी अपना ही नहीं अपितु दूसरे का भी जूंठा, अत्यन्त अभक्ष्य है। फिर भी ऋषि उसे दूसरे दिन खाये और एक राजा के यज्ञ में जाकर ऋत्विक्कर्म सम्हाले। अब यहाँ भी कहा जा सकता है कि 'कठिन तप के अनन्तर ऋषित्व प्राप्त होने के पश्चात् अत्यन्त निषिद्ध अभक्ष्य-भक्षण भी करता रहे और ऋषि भी बना रहे ये दोनों स्थितियाँ एक साथ कैसे सम्भव हैं ? अर्थात् सम्भव नहीं। पर यह बात उक्त आख्यायिका से कट जाती है। तात्पर्य यह कि आपत्तिकाल में प्राण सुरक्षा हेतु निषिद्ध कर्म का आचरण ऋषित्व का विघातक नहीं है अर्थात् प्राणों की सुरक्षा के लिए आपत्तिकाल में अभक्ष्यभक्षण, चोरी आदि करने (क्योंकि ये सब आपत्तिकाल के शास्त्रानुमोदित कर्म हैं) पर भी व्यक्ति ऋषि बना रह सकता है—यह तथ्य विश्वामित्र एवं चाक्रायण ऋषि की घटना से सिद्ध है। अतएव ऋषिवम्र प्राण सुरक्षा हेतु भिक्षादि के न मिलने से यदि चोरी करते रहे तथा चोरी के माध्यम से लोगों को रुलाते रहे (जहाँ दुर्भिक्ष पड़ा हो, भोजन न मिल रहा हो वहाँ यदि संचित भोज्य पदार्थों की चोरी हो जाय तो प्राणी अवश्य रोयेगा ही) और ऋषि भी बने रहे तो कोई विरोध नहीं। आपत्तिकाल में ये दोनों स्थितियाँ सम्भव हैं।

प्राण सुरक्षा के लिए सब कुछ खाया जा सकता है। पर मद्य-पानादि तो सर्वथा ही वर्जित है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सुभक्ष्य वस्तु विद्यमान रहने पर उससे प्र;ण की सुरक्षा न करके अभक्ष्य वस्तु का सेवन करें, चोरी करके दूसरों को वस्तु से प्राणों की सुरक्षा करें और अपनी वस्तु सुरक्षित रखें। अपितु पास में कुछ भी न हो ऐसी स्थिति में ही प्राण की सुरक्षा हेतु सब कुछ खाद्य बतलाया गया है। भगवान् व्यास ने 'सर्वान्नानुमित्यधिकरण में कहा है–सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् उ० मी०, ३/४/२८। इस सूत्र पर भगवान् भाष्यकार कहते हैं—'प्राणात्यये एव परस्यामापदि विद्वासमविद्वासं प्रति सरावर्ज्यं सर्वमन्नमदनीयत्वेनानुमतं नानापदि। कुतः तद्दर्शनात्। श्रुतावापत्कालेप्राणात्यये चाक्रायणर्षेरभक्ष्यभक्षणत्वदर्शनात्'–आ० भा०। बहुत बड़े आपत्ति काल में ही विद्वान् या अविद्वान् इन दोनों के प्रति मद्य के अतिरिक्त सब कुछ

भक्षणीयत्वेन अनुमत है पर अनापत्काल में नहीं; क्योंकि आपत्तिकाल में महर्षि चाक्रायण का अभक्ष्यभक्षण श्रुति में देखा गया हैं । 'अपि च स्मर्यते'– उ० मी० ३/४/३० सूत्र पर भाष्य लिखते हुए सभी आचार्यों ने एक स्मृतिवचन को उद्धृत किया–

प्राणसंशयमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।। } उ० मी० ३/४/३० से उद्धृत

प्राण संशय में पड़ जाय तो इधर उधर से जो भी मिल जाय उसी को खाकर प्राणों की रक्षा कर ले, ऐसा प्राणी पाप से लिप्त नहीं होता है । जैसे–जल से कमल ।

इस प्रकार महर्षि विश्वामित्र एवं चाक्रायण जैसे ऋषि का आपत्तिकालिक चौर्य एवम् अभक्ष्यभक्षण इस विषय में प्रमाण है कि उक्त कार्य आपत्तिकाल में प्राण रक्षा हेतु शास्त्रानुमत हैं । उनसे ऋषित्व का विघात नहीं होता । इसीलिए महर्षि वम्र भी विश्वामित्रादि की भाँति भिक्षादि न मिलने से यदि चोरी किये और वस्तु की चोरी हो जावे से लोग रोये तो यह आपद्धर्म होने से विश्वामित्रादि के ऋषित्व की भाँति उनके भी ऋषित्व का विघातक नहीं होगा । अर्थात् आपत्तिकाल में महर्षि विश्वामित्र चोरी करते रहे और ऋषि चाक्रायण अभक्ष्यभक्षण करते रहे फिर भी ऋषि बने रहे इसी प्रकार आपत्तिकाल में भिक्षादि न मिलने से ऋषि वम्र भी चोरी करते हुए ऋषि बने रहें तो इसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है । फलतः ;अयं वम्रः' इस अंश को पूर्वोक्त असंगति दिखाकर प्रक्षिप्त मानना द्विवेदी जी की अनभिज्ञता नहीं तो और क्या है । चूंकि वेदों का उपबृंहण इतिहास पुराण के विना असम्भव है–

'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'—महाभा०आ० १/२६७

इधर महाभारत जैसे इतिहास तथा उत्तरमीमांसा द्वारा भिक्षाद्यनुपलब्धि दशा में प्राणसंरक्षणार्थ चौर्य एवम् अभक्ष्यभक्षण शास्त्रानुमोदित हैं । अतः इन सब तथ्यों को हृदयङ्गम करके ही वेदों के मान्यतम भाष्यकार आचार्य सायण ने "अयं वम्रः अन्नं शत्रुसम्बन्धि अभीत्य अभिप्राप्य मुषायन् मुष्णन् अरोदयत् रोदयति"–ऐसा भाष्य लिखा है । किन्तु आचार्य के इस हृदयगत भाव को न समझने के कारण पण्डित जी अलग ही राग अलापने लगे कि "यहाँ के सायण भाष्य में 'अयं वम्रः' यह पाठ न जाने कैसे और कब घुस आया; पण्डितों के लिए यह एक अन्वेषणीय विषय है" जिसकी पूर्वोक्त प्रमाणों से धज्जी उड़ा दी गयी । यहाँ न तो

'अयं वम्रः' पाठ घुसा है ओर न ही रोदयति के बाद स्म छूटा है। घुसने ओर छूटने कीं कल्पना किये विना ही सायण भाग्य का यथार्थ संयोजन किया गया । अब वम्र ओंर वाल्मीकि को अभिन्न समझकर 'अयं वम्रः-रोदयति' भाष्यांश को महर्षि वाल्मीकि की दस्युता का मुख्य बीज मानकर 'अयं वम्रः' पाठ को प्रक्षिप्त सिद्ध करके उसके (दस्युता सम्बन्धी मुख्य बीज के) निराकरण की जो चेष्टा पण्डित जी किये थे, उस पर पानी फिर गया ।

"इत्ययोध्यांनगरीरस्थ श्रीमणिरामछावनी पीठाधीश्वर श्रीनृत्यगोपालदासजी
महाराजेभ्यो लब्धदीक्षेण आचार्य सियारामदास नैयायिकेन
कृते भ्रान्तिगिरिभङ्गे' 'वृत्तविमर्शभङ्गः।"



तात्पर्यविमर्शभङ्ग

अध्यात्मरामायण, भविष्यमहापुराणादि आर्षग्रन्थों में कहा गया हैं कि महर्षि वाल्मीकि को शुचित्व और ऋषित्वप्राप्ति के साथ-साथ ही भगवत्साक्षात्कार प्रभु श्रीराम के विपरीताक्षर वाले 'मरा' इस नाम के अविराम जप से हुआ था। इसी प्रसङ्ग में पं०जी कटाक्ष करते हुए कहतेहैं-

"राम त्वन्नाम-महिमा वर्ण्यते केन वा कथम्। { अ० रा०
यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमबाप्तवान्॥ २/६/६४

इस श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'यत्प्रभावादहं राम' में आया हुआ 'यत्' शब्द पूर्वार्द्ध में आये हुए 'त्वन्नाम' का ही उपस्थापक है। 'त्वन्नाम' पद से 'राम' यही आनुपूर्वी ली जा सकती है, 'मरा' यह आनुपूर्वी नहीं। क्योंकि राम का नाम राम है मरा नहीं। ऐसी, स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि राम इस आनुपूर्वी की महिमा को प्रस्तुत कर मरा इस आनुपूर्वी के जप का स्वांग महर्षि या ग्रन्थकार ने क्यों रच लिया।"

—महर्षि वाल्मीकि पृ० २४४

भ्रान्तिगिरिभङ्ग-

पण्डितजी ! स्वांग महर्षि या ग्रन्थकार नहीं रचे हैं। उसे तो स्वांग रचने में कुशल आपने मान लिया है। स्वांग रचने वाला सबको स्वांग रचने वाला ही समझता है। पण्डितप्रवर ! उस श्लोक के उत्तरार्द्ध में आया हुआ "यत्प्रभावादहं राम" का 'यत्' शब्द पूर्वार्द्ध में आये हुए 'त्वन्नाम' (भगवन्नाम) का ही उपस्थापक है; क्योंकि 'यत्' शब्द प्रक्रम्यमाण का परामर्शक होता है। किन्तु 'त्वन्नाम' पद से 'राम' यही आनुपूर्वी ली जा सकती है-कथन भगवन्नामानभिज्ञों का है। कारण यह कि भगवान् के अवतारविडम्बन, गुणविडम्बन और कर्मविडम्वन भेद से तीन प्रकार के नाम होते हैं—

यस्यावतारगुणकर्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति।
ते नैकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये॥

—भा०पु० ३/६/१५

यहाँ तीनों प्रकार के नामों में पापनिवृत्तिपूर्वकमोक्षकारणता कही गयी है। कृष्ण, वामन और नृसिह प्रभृति नाम अवतारविडम्बन नाम हैं। करुणासिन्धु, भक्तवत्सल आदि नाम गुणविडम्बन नाम हैं। दशास्यान्तक, खरारि, कंसान्तक और जामदग्न्यजित् प्रभृति नाम कर्मविडम्बन नाम हैं।

इधर श्रीराम की भगवत्ता महर्षि वाल्मीकि—

त्वमेव सर्व-लोकानां निवासस्थानमुत्तमम् ।
तवापि सर्वभूतानि निवाससदनानि हि ।।
पश्यन्ति ये सर्वगुहाशयस्थं त्वां चिद्घनं सत्यमनन्तमेकम् ।
अलेपकं सर्वगतं वरेण्यं तेषां हृदब्जे सह सीतया वस ।। } अ० रा० २/६/५२-६२

इत्यादि वचनों से—बतला चुके हैं। अतः यत्पदोपस्थाप्य 'त्वन्नाम' से भगवान् श्रीराम के तीनों प्रकार के नाम उपस्थित होंगे, केवल राम नाम ही नहीं। हाँ, जिन्हें त्रिविध नामों का ज्ञान नहीं है, केवल रामनाम का ही ज्ञान है। उन्हें 'त्वन्नाम' पद से केवल राम नाम की ही उपस्थिति होगी। पुनः "यत्प्रभावादहं राम" के 'यत्' शब्द से नामप्रकारविज्ञ के अनुसार त्रिविधनाम तथा नामप्रकारानभिज्ञ के अनुसार मात्र राम नाम गृहीत होगा। चूंकि 'त्वन्नाम' पद से मात्र रामनाम का ग्रहण नामभेदानभिज्ञता के कारण है। अतः यह पक्ष त्याज्य है। अग्रिम वचन—

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षररूपकम् ।
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा ।। } अ० रा० २/६/८०

—से निश्चित होता है कि महर्षि वाल्मीकि ने सप्तर्षियों के आदेश से 'मरा' इस भगवन्नाम का ही जप किया था। जिससे चिरकाल के पश्चात् उनके ऊपर दीमकों ने मिट्टी का ढेर लगा दिया था। उससे निकलने के कारण ही ऋषियों ने उसे उनका द्वितीय जन्म मानकर उन्हें वाल्मीकि ऐसे नाम से विभूषित किया। उपसंहार में—

'अहं ते रामनाम्नश्च प्रभावादीदृशोऽभवम् ।
अद्य साक्षात् प्रपश्यामि ससीतं लक्ष्मणेन च ।।
रामं राजीवपत्राक्षं त्वां मुक्तो नात्र संशयः ।। } अ०रा०२/६/८७,८८

इत्यादि वचनों से पूर्वोक्त मरा नाम के जप से अपना सौभाग्य प्रकट करते हुए महर्षि कहते हैं कि 'मैं तुम्हारे नाम ('मरा' नाम) के प्रभाव से ऐसा हो गया कि आज सीता और लक्ष्मण के साथ तुम्हारा साक्षात्-दर्शन कर रहा हूँ। मैं निस्सन्देह मुक्त हो गया।' इस प्रकार उपसंहार में 'मरा' इस भगवन्नाम के प्रभाव से भगवत्साक्षात्कार और मुक्ति उपवर्णित है। जो सभी क्लिष्टतर तपः आदि साधनों से निर्मल अन्तःकरण होकर ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् होती है। भगवत्साक्षात्कार अनेक जन्मों के पश्चात् क्लिष्ट साधनों के अनुष्ठान से ज्ञानी को होता है—बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते—गीता, ऐसा भगवत्साक्षात्कार महर्षि

वालमीकि को 'मरा' इस नाम के जप से इसी जन्म में हो गया था। इस प्रकार भगवान् राम के 'मरा' इस नाम का अनुपम प्रभाव उपसंहार में वर्णित हुआ। मध्य में इसी के जप का आदेश सप्तर्षियों से किया गया था। अतः "उपक्रमोपसंहारयोरेकवाक्यत्वम्" न्याय से उपसंहार के आधार से उपक्रमवाक्यस्थ "त्वन्नाम" पद से आपाततः जायमान त्रिविध नाम विषयकबुद्धि या केवल रामनामविषयकबुद्धि निवृत्ति हो जाती है, और त्वन्नाम पद का पर्यवसान 'मरा' इस नाम में निश्चित हो जाता है। यही 'मरा' नाम 'यत्प्रभावादहं राम' के यत्पदसे संग्राह्य है, त्रिविधनाम या मात्र राम नाम नहीं। इस रहस्यको न समझनेके कारण पौर्वापर्य्यकी विवेचना से कोशों दूर पं० जी महर्षि वालमीकि और ग्रन्थकार को स्वांग रचने वाला विदूषक समझ बैठे और "निज भ्रम नहिं समुझें अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरें जड़ प्रानी ॥" वाली स्थिति में पहुँच गये।

पं० जी ने जो यह कहा था कि राम का नाम राम है 'मरा' नहीं। इनका यह कथन व्याकरणसंस्कार की दुर्बलता का अवबोधक है। 'मरा' को भगवान् श्रीराम का अभिधायक नाम पूर्व में सिद्ध किया जा चुका है। भगवान् श्रीराम में योगिजनरमणाश्रयत्व या रमयितृत्व गुण का ख्यापक यह नामहै। इधर सप्तर्षियों तथा महर्षिवालमीकिने इसे श्रीरामका नाम कहा ही है। अतः इसे श्रीराम का नाम न समझना महान् भूल है। नागेशभट्ट जैसे विद्वानों ने अपनी व्याख्या में 'मरा' शब्द को भगवान् का नाम कहा है। अतः इस प्रमाणसिद्ध वस्तु को कोई न समझ सके तो इससे इसकी असत्ता नहीं सिद्ध हो सकती। क्या उलूक को सूर्य के प्रकाश में घट, पट आदि नहीं दिखायी देते हैं तो उनकी सत्ता का अपलाप कोई विज्ञ कर सकता है! उत्तर मिलेगा—'नहीं'। यही स्थिति प्रकृतस्थल में है।

भगवान् के तीनों प्रकार के नामों में मोक्षजनकता पूर्व में सिद्ध हो जाने से गुणविडम्बन 'मरा' इस भगवन्नाम में भी मोक्षजनकता सिद्ध है और महर्षि वालमीकि ने इससे भगवत्साक्षात्कार तथा मुक्ति लाभ भी बतलाया है। भविष्य महापुराण में इसे राम का नाम कहकर इसमें पतितोद्धारकारणता भी दिखलायी जा चुकी है। अतः इसमें मोक्षजनकता का अपलाप करना पं० जी की दुरभिसन्धि ही है।

पण्डित जी ने पृष्ठ २४५ पर लिखा है कि यहाँ राम नाम की ही महिमा वर्णनीय थी किन्तु अभिधाशक्ति से उसका वर्णन अशक्य था।

अतः उसी के लिए "इत्युक्त्वा राम ते नाम— मरेति जप सर्वदा" में विपरीत लक्षणा का समाश्रयण किया गया ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

उपक्रमोपसंहार की एकवाक्यता से यह सिद्ध किया जा चुका है कि यहाँ भगवान् श्रीराम के 'मरा' इस नाम की महिमा का वर्णन ही अभिप्रेत है। हाँ, जब विपरीत अक्षर वाले भगवन्नाम का यह प्रभाव है कि भगवद्दर्शन और मुक्ति अनायास मिल जाती है, तब अविपरीत अक्षर वाले 'राम, कृष्ण' इत्यादि नामों के विषय में क्या कहना—यह सुतरां लब्ध हो जायेगा। अतः विपरीत लक्षणा माननेकी कोई आवश्यकता नहीं।

दूसरी बात यह कि 'सत्यं वद, धर्मं चर' के समान 'मरेति जप' वाक्य विधिवाक्य है। सोमेन यजेत इत्यादि कुछ वाक्योंमें अवश्य मत्वर्थ-लक्षणा (सोमवता यागेनेष्टं भावयेत्) स्वीकृत होती है। "जातपुत्रः कृष्ण-केशोऽग्नीनादधीत" वाक्य में भी जातपुत्रत्व और कृष्णकेशत्व इन दोनों के विधानसे विध्यावृत्तिकृत वाक्यभेद दोष प्रसक्त होता है। अतः इन दोनों पदों की अवस्था विशेष में लक्षणा स्वीकृत है।

विपरीतलक्षणा तो विधिवाक्यों में कहीं भी आदृत नहीं है। पं० जी सम्भव है कि व्याकरण के नियमों से परिचित हों, किन्तु पूर्व मीमांसा की गन्ध न होने से विधिवाक्य 'मरेति जप' में भी 'विपरीतलक्षणा' की कल्पना कर बैठे। जिस पर विद्वत्समाज हंस रहा है। अतः विधिवाक्य घटित "इत्युक्त्वा...मरेति जप सर्वदा" में विपरीत लक्षणा की प्रसक्ति कथमपि न होने से इसमें श्रीराम के 'मरा' इस नाम का जप ही विहित हुआहै। इसलिए यत्पदोपस्थाप्य त्वन्नाम का 'मरा' इस नाममें ही पर्यवसान है, राम नाम में नहीं।

व्याध के पूर्व जन्म का कथन

तात्पर्य विमर्श पृ० २८६ पर पण्डितजी ने स्कन्दपुराण के वैष्णव खण्ड की व्याध और महर्षि शख के संवाद के परिप्रेक्ष्य में कही गयी व्याध के पूर्वजन्म की कथा के ख्यापक श्लोकों का मनमाना अर्थ करके उसके आधार पर व्याधजन्म की असम्भाव्यता सिद्ध करने का असफल प्रयास किया है। संक्षेप में व्याध के पूर्वजन्म का वृतान्त यह है—

एक व्याध पूर्व जन्म में शाकल नामक नगर में वेदपारगामी श्रीवत्सगोत्रोत्पन्न स्तम्ब नाम का ब्राह्मण था। वह किसी वेश्या में आसक्त

हो गया। वेश्या के सङ्ग (आसक्ति) के प्रभाव से वह अपने नित्यकर्म सन्ध्यावन्दनादि और शौचाचार से रहित होकर शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मों से विमुख हो गया। वह बड़ा दुष्ट हो गया। उस ब्राह्मणाधम के कान्तिमती नाम की भार्या थी, जो वेश्या के साथ ही उस ब्राह्मण की सेवा करती थी। इस प्रकार पापाचार में आसक्त उस अधम के साथ उस पतिव्रता के दुर्दिन बीतने लगे।

एक दिन उस पतित ब्राह्मण ने मूली के साथ उड़द खा लिया। इतना ही नहीं, शूद्रों के भक्ष्य तिलमिश्रित चावल से बनी वस्तुओं का भोजन करलेने से उसे वमन (उलटी) आदि हुए, और इसी अपथ्य-सेवन से उसे भयानक भगन्दर रोग हो गया। वेश्या तो धन लेकर चम्पत हो गयी, मात्र पत्नी ही मन, वचन और कर्म से उसकी सेवा में लगी रही। वैशाख मास में देवल नामक कोई महात्मा उसके घर आये। पत्नी ने उन्हें वैद्य बतलाकर उनके आतिथ्य सत्कार की आज्ञा पति से माँगी। आतिथ्योपरान्त उनके चरणप्रक्षालित जल को अपने तथा पति के शिर पर डाली। प्रातः महर्षि उसके सत्कार को स्वीकार करके चले गये। वह स्तम्ब नामक ब्राह्मण भी कुछ काल के पश्चात् सन्निपात से आक्रान्त होकर मर गया। उसकी पत्नी ने अपने आभूषणों को बेंचकर उसका दाह करके साथ में सती हो गयी। वह प्रज्वलित अग्नि में पति का आलिंगन करके अपने शरीर को नष्ट करने के पश्चात् विष्णुलोक चली गयी; क्योंकि उसने वैशाखमास में महात्मा देवल का आतिथ्यादि किया था और उनके चरणस्पृष्ट जल को अपने शिर पर छिड़का था। इस कथा को सुनाते हुए महर्षि शंख उस व्याध से कहते हैं कि—वेश्या में आसक्ति के कारण तुम हिंसा में आसक्त तथा सर्वदा दूसरों को उद्विग्न करने वाले थे। इसलिए सम्पूर्ण पापों से छूटने पर भी हिंसादि के संस्कारों की प्रचुरता से तुम इस जन्म में व्याध हुए हो।

तुमने पूर्व जन्म में महात्मा देवल को जल पिलाने के लिए पत्नी को अनुज्ञा दी थी इसीलिए आज तुम्हें धर्म की जिज्ञासा हुई है। महर्षि का चरणपूत जल जो तुम्हारे शिर पर पड़ा था। उसी के पुण्य से तुम्हें मेरी सङ्गति प्राप्त हुई है। मैंने तुम्हारे पूर्व जन्म के सभी पापों और पुण्यों को अपने दिव्यचक्षु से देख लिया है।

यही व्याध अगले जन्म में महर्षि वाल्मीकि हुए और उलटा नाम जप कर सिद्ध हो गये तथा रामायण की रचना किये। इसकी उपपत्ति आगे जायेगी।

* व्याधजन्म की अनुपपत्ति में हेतुप्रदर्शन *

व्याधजन्म की अनुपपत्ति में द्विवेदीजी निम्नलिखित हेतु प्रदर्शित करते हैं—

१– द्विवेदीजी का कथन है कि वेश्या किसी दरिद्र के यहाँ नहीं रह सकती। वेश्या से स्तम्ब का सम्बन्ध ही इनकी सम्पत्तिशालिता का द्योतक है। पतिव्रता पत्नी के रहते वेश्या में आसक्ति इनकी कामुकता की परिचायिका है, रौद्रवृत्तिता की नहीं। मरते समय ये वेश्या के ध्यान में निमग्न रहे, अन्य किसी क्रूरकर्म में नहीं। ऐसी स्थिति में मरकर इन्हें व्याध जैसी क्रूर योनि मिलने का कोई स्पष्ट कारण वहाँ नहीं मिलता। "यं यं वा स्मरन् भावं" के अनुसार गणिका चिन्ता व्याधयोनि की प्राप्ति का कारण नहीं बन सकती।

२– त्वमन्तकाले गणिकाविचिन्तया देहं त्यक्त्वा मुक्तसमस्तकिल्बिषः।
जन्मव्याध्यं प्राप्यसे घोररूपं हिंसासक्तः सर्वदोद्वेगकारी॥

श्लोक में रेखाँकित पद स्तम्ब की क्रूरवृत्तिता के सुस्पष्ट परिचायक हैं। जिसके फलस्वरूप उनको व्याधयोनि की प्राप्ति अनुपपन्न नहीं कही जा सकती। तो यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि यदि उन ब्राह्मण स्तम्ब की क्रूरवृत्तिता होती, वे हिंसाविहारी होते तो उनकी गणिकासङ्गति के समान हिंसादिक्रियाओं का भी कुछ वर्णन अवश्य हुआ होता, वैसा न होना उसकी सत्ता को अवश्य सन्दिग्ध करता है। अतः पूर्वजन्मकालिक सजातीय प्रेरक संस्कार के अभाव के कारण व्याधजन्म अनुपपन्न है।

३– पतिं या नाभिचरति मनोवाग्देहसंयता। सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते॥ तथा 'अनेन नारीवृत्तेन मनोवाग्देहसंयता॥ इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च॥ (मनुस्मृति ५/१६५–१६६) इत्यादि वचनों में पतिव्रता को पति के साथ स्वर्गलोक की प्राप्ति कही गयी है। स्तम्ब से गणिकासक्तिरूप कर्म अवश्य हो गया था, किन्तु पत्नी के पातिव्रत्य के प्रभाव से उनका उद्धार अवश्य हो गया होगा। शंख और आङ्गिरस आदि स्मृतियों में चितारोहण करने वाली नारी को पति का नरक से उद्धारकर स्वर्ग में उसके साथ निवास करने वाली बतलाया गया है। अतः उक्त स्मृतियों के द्वारा यही सिद्ध हुआ कि कान्तिमती के अन्वारोहण से स्तम्ब के सभी पाप अवश्य समाप्त हो गये थे, और पत्नी के साथ उसका भी एक कल्प के लिए

स्वर्गवास अवश्य हुआ था। —महर्षि वाल्मीकि पृष्ठ २८६ से २८९ तक

प्रथम हेतु का निराकरण

यह सत्य है कि स्तम्ब सम्पत्तिशाली और वेदपारगामी ब्राह्मण थे। पतिव्रता पत्नी के रहते वेश्या में उनकी आसक्ति उनकी कामुकता का परिचय देती ही है। किन्तु रौद्रवृत्तिता का परिचय नहीं देती है— कथन भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि उस आसक्ति के कारण रौद्रवृत्तिता का सुस्पष्ट परिचय मिलता है। देखें—

स्तम्बो नाम महातेजास्तथा श्रीवत्सगोत्रजः।
तवेष्टा गणिका काचिदासीत्तत्सङ्गदोषतः ॥—स्क०पु०वै०ख०
त्यक्त्वा नित्यक्रिया नित्यं शूद्रवद् गृहमागतः। वै० मा०
शून्याचारस्य दुष्टस्य परित्यक्तक्रियस्य च ॥ १८/३८,
ब्राह्मणी च तदा चासीद् भार्या कान्तिमती तव ॥ ३९/४०

यहाँ 'तत्सङ्गदोषतः' पञ्चम्यन्त एक समस्तपद है। तस्यां=वैश्यायां सङ्गः=आसक्तिः स एव दोषस्तस्मात्" यही इसका विग्रह है जिससे लभ्य अर्थ है-वेश्या में आसक्ति रूप दोष से। 'सङ्ग' शब्द का आसक्तिरूप अर्थ "ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते" गीता २/६२ इत्यादि वचनों में प्रसिद्ध है ही। यहाँ भी स्तम्ब स्वयं अपने लिए "परिपालय मां देवि वेश्यासक्तं सुनिष्ठुरम्" वेश्यासक्त कहते हैं। इधर 'तत्सङ्गदोषतः में पञ्चमी हेतु अर्थ में है, जो वेश्यासक्तिरूप दोष को "त्यक्त्वा नित्यक्रिया" इत्यादि वचनोंसे कहे गये नित्यक्रिया सन्ध्यावन्दनादि का त्याग, शूद्रवदाचरण, शिष्टाचार का अभाव, प्राणियों की हिंसा, उनको उद्विग्न करना तथा शास्त्रविहित सभी क्रियाओं के त्याग में कारण बतलाती है। यहाँ दुष्टस्य भी एक पद है जो तव का विशेषण है। निष्कर्ष यह कि स्तम्ब वेश्या में आसक्ति रूप दोष के कारण नित्यक्रियाओं को छोड़कर शूद्रवद् आचरण करते थे। वे अपने वर्णाश्रम सम्बन्धी आचारों से शून्य और अग्निहोत्रादि कर्मों का त्याग कर चुके थे। वे प्राणियों को पीड़ा पहुँचाने और उनकी हिंसा करनेसे अत्यन्त दुष्ट हो गये थे। 'तत्सङ्गदोषतः' पद से इन्हीं दोषों का कारण वेश्यासक्ति को बतलाया गया है।

वेश्या सात्विक आहार तो पसन्द नहीं करती। उसे मांस और मद्य स्वभावतः रुचिकर है। अतः उसकी प्रसन्नता के लिए प्राणियों की हिंसा स्तम्ब को करना ही पड़ता रहा होगा। प्राणियों को उद्विग्न भी करता रहा होगा; क्योंकि वह क्रोधी अपनी पतिव्रता पत्नी का भी अपमान

करता था—

"अहं क्रोधेन दग्धोऽस्मि तवापमानजेन वै ।"–स्क० पु०वै० ख० १८/५१

अपमान से व्यक्ति उद्विग्न ही होता है, प्रसन्न नहीं । अतः उसमें उद्वेगकारिता भी सिद्ध होती है । इसीलिए स्तम्ब को दुष्ट कहा गया और दुष्टस्य पद का ही अर्थ व्यास जी ने स्तम्ब को "हिंसासक्तः सर्वदोद्वेगकारी" कहकर बतलाया है । आज भी ब्राह्मणादि को प्राणियों की हिंसा और उन्हें उद्विग्न करते देखकर लोग कहते हैं कि यह बड़ा दुष्ट है । यह दुष्टता भी स्तम्ब में वेश्यासक्ति दोष से आयी थी । इसका विवेचन पूर्व में किया जा चुका है । वेश्यासक्ति से स्तम्ब की कामुकता का अनुमान होता है, और शास्त्रप्रमाण—"तत्सङ्गदोषतः, त्यक्त्वा नित्य क्रिया नित्यं....दुष्टस्य परित्यक्तक्रियस्य च" द्वारा स्तम्ब की वेश्यासक्ति से उसकी आचारशून्यता और दुष्टता अर्थात् रौद्रवृत्तिता का शाब्दज्ञान होता है । इन रहस्यों को न समझने के कारण भ्रान्तिकूपमण्डूक पं० जी ने लिख मारा कि "वेश्यासक्ति से उसके रौद्रवृत्तिता का परिचय नहीं मिलता" ।

भागवतमहापुराण के माहात्म्य में वेश्यासक्त धुन्धकारी और षष्ठस्कन्ध में शूद्रासक्त अजामिल का वृत्तान्त द्रष्टव्य है । अजामिलोपाख्यान में

कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद् दासीपतिरजामिलः । } भा० पु०
नाम्ना नष्टसदाचारः दास्याः ससर्ग दूषितः ।। } ६/१/२१

श्लोक में आये 'नष्टसदाचारः' पद से अजामिल की स्वरूपतः दुष्टता कही गयी—ऐसी व्याख्या बालप्रबोधिनीकार करते हैं । ठीक इसी प्रकार प्रकृतस्थल में "त्यक्त्वा नित्यक्रिया" इत्यादि पदों से स्तम्ब की स्वरूपतः दुष्टता बतलायी गयी है । अजामिल की वृत्तितः (जीविकातः) दुष्टता का कथन करते हुए बालप्रबोधिनीकार लिखते हैं— स्वरूपतो दुष्टत्वमुक्त्वा वृत्तितो दुष्टत्वमाह–बन्दीति । इसीप्रकार यहाँ भी शून्याचार आदि स्वरूपतः दुष्टता का कथन करके वृत्तितः दुष्टता का ही ख्यापक 'दुष्टस्य' पद है । यद्यपि 'दुष्टस्य' पद के बल से ही दोनों प्रकार की दुष्टता का लाभ सुकरतया हो सकता है । तथापि स्वरूपतः दुष्टता 'शून्याचारस्य' आदि पदों से चूंकि लब्ध हो चुकी है । इसलिए गोबलीवर्दन्यायेन 'दुष्टस्य' पद वृत्तितः दुष्टता का ही समर्पक होगा । दुष्टस्य का विवरण 'हिंसासक्तः सर्वदोद्वेगकारी' व्यासजी ने किया ही है। फलतः स्तम्ब की रौद्रवृत्तिता का ज्ञान विचारकों को अनायास हो जाता है ।

मरते समय स्तम्ब वेश्या के ध्यान में निमग्न रहे– इत्यादि कथन भी भ्रान्तिमूलक है। क्या "यं यं वा स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।" लिखने वाले भगवान् बादरायण गणिकाचिन्तन में व्याधयोनि की कारणता लिख सकते हैं? कभी नहीं। उस श्लोक का अर्थ ही पण्डितपुङ्गव नहीं समझ सके, अतः प्रथम हेतु में उक्त प्रलाप करने लगे। श्लोक और उसका अर्थ देखें—

त्वमन्तकाले गणिकाविचिन्तया देहं त्यक्त्वा मुक्तसमस्तकिल्बिषः
जन्मव्याध्यं प्राप्स्यसे घोररूपं हिंसासक्तः सर्वदोद्वेगकारी ॥

अन्वय–गणिकाविचिन्तया हिंसासक्तःसर्वदाउद्वेगकारीमुक्तसमस्तकिल्बिषः (अपि) त्वम्अन्तकाले देहं त्यक्त्वा घोररूपं जन्मव्याध्यं प्राप्स्यसे ॥

व्याख्या—गणिकाविचिन्तयेत्यत्र हेतौ तृतीया, सा च गणिकासक्तिद्वारा हिंसासक्त्यादि जनयति, अकर्मणि हिंसादौ आसक्तौ सत्यां तत्र प्रवृत्तिर्दुर्निवारा। अतएव गीतायां भगवान् "मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि" (गीता २/४७) इत्यनेन दुष्कर्मणि आसक्तिं मा कुरु इत्युपदिशति। पूर्वं "तत्सङ्गदोषतः" इत्यत्र हेतुपञ्चम्या गणिकासक्तिरूपदोषे आचारशून्यतां 'दुष्ट'पदलभ्य प्राणिहिंसादीनि प्रति च हेतुत्वं प्रदर्शितम्, अतस्तद्बलादेव गणिकाविचिन्ताहिंसयोर्मध्ये गणिकासक्तिः व्यापार इव स्वीक्रियते। गणिकासक्तिं प्रति गणिकाचिन्तनस्य हेतुत्वं "ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते" (गीता २/६२) इति प्रमाणात् सिद्धमस्ति। 'सर्वदा' पदं मध्यमणिन्यायेन पूर्वोत्तरान्वयि। अतः गणिकाचिन्तनेन गणिकासक्तौ समुत्पन्नायां स्तम्बस्य सर्वदा प्राणिहिंसायां प्रवृत्तिस्ततः सर्वेषामुद्वेगः। अतएव तत्कर्तुः स्तम्बस्य आत्मनि हिंसासंस्कारप्राचुर्यं पातकपुञ्जसञ्चयश्च। यद्यपि प्रायश्चित्ताद्यकरणादस्य पातकपुञ्जविलयो न सम्भवति। तथापि पातिव्रत्यप्रभावात् पातकपुञ्जप्रध्वंस सिद्ध एव, अत आह–मुक्तसमस्तकिल्बिषः। हिंसासक्तः सर्वदोद्वेगकारी च त्वमित्यस्य हेतुगर्भविशेषणे तथा च हिंसासक्तत्वात् सर्वदा उद्वेगकारित्वात् हिंसासंस्कारप्राचुर्यात् त्वं घोरं–भयङ्करं व्याध्यं–व्याधसम्बन्धि जन्मप्राप्स्यसे' इति निर्गलितार्थः। तेषां ये यानि कर्माणि प्राक् सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमाना पुनः पुनः (वि० पु० १/५/६०) इति वचनात्। प्राक्सृष्ट्यां पूर्वजन्मनि। तेषां सृज्यमानानां मध्ये ये यानि यानि कर्माणि यागहिंसादीनि प्रतिपेदिरे=अनुष्ठितवन्तः, ते तान्येव=तज्जातीयान्येव कर्माणि पुनः पुनः प्रतिपद्यन्ते=प्राप्नुवन्ति, प्राचीनकर्मजन्यसंस्कारवशादितिभावः।

मुक्तसमस्तकिल्बिषः इति स्वरूपनिर्देशो, न तु हेतुगर्भविशेषणं, व्याधयोनिं प्रति तस्याप्रयोजकत्वात् । 'गणिकां विचिन्तयन् स्तम्बः शरीरं तत्याजे' त्याकारकमर्थं ये भणन्ति, तेषां मते गणिकाविचिन्तयेत्यत्र तृतीयाविभक्ति-रनुपपन्ना स्यात् । यदि तेषामेवार्थो विवक्षितः स्यात्तर्हि भगवान् बादरायणः "त्वमन्तकाले गणिकां विचिन्तयन् देहं त्यक्त्वा मुक्तसमस्तकिल्बिषः" इत्याकारकं श्लोकं लिखेत् । यतस्तादृशार्थकमेवं श्लोकं न लिखितवान्, अतः तादृशेऽर्थे भगवतो बादरायणस्य तात्पर्यं नास्तीति ।

महर्षि शंख व्याध से कहते हैं कि पूर्व शरीर में वेश्याचिन्तन से तुम्हारी उसमें आसक्ति हो गयी थी । जिससे तुम प्राणियों की हिंसा में आसक्त हो गये और सबको उद्विग्न करते रहते थे । पत्नी के पातिव्रत्य के प्रभाव से यद्यपि तुम्हारे सभी पाप छूट गये थे । तथापि हिंसादि संस्कारों की प्रचुरता के कारण मृत्युकाल में शरीर को त्यागकर घोर व्याधजन्म को प्राप्त हुए हो । गणिकाविचिन्तया पद में हेत्वर्थ में तृतीया विभक्ति है । पूर्व में "तत्सङ्गदोषतः" पद में हेतुपञ्चमी द्वारा आचार-शून्यता तथा हिंसादि के प्रति वेश्यासक्तिमें कारणता बतलायी जा चुकी है । अतः गणिकाचिन्तन गणिकासक्ति के द्वारा हिंसादिमें कारण बनेगा । 'सर्वदा' पद मध्यमणिन्याय से हिंसासक्तः और उद्वेगकारी में अन्वित होगा । अतः सर्वदा हिंसा और उद्वेग करने के कारण स्तम्ब ने हिंसादि के प्रचुर संस्कार तथा पातकपुञ्ज का सञ्चय किया,—अर्थ प्रस्फुटित हुआ । श्लोकस्थ त्वं पद विशेष्य है । हिंसासक्तः, उद्वेगकारी ये दोनों पद उसके हेतुगर्भ विशेषण हैं । जिससे यह अर्थ निकला—सर्वदा प्राणियों की हिंसा में आसक्त तथा उनको उद्विग्न करने के कारण हिंसादि-संस्कार की प्रचुरता से तुम घोर व्याध जन्म को प्राप्त हुए ।

पाठकगण देख सकते हैं कि उस श्लोक से व्याधयोनि प्राप्ति का कारण हिंसासक्त स्तम्ब के हिंसासंस्कारों को ही व्यासजी ने बतलाया है।

पं० जी लिख मारे कि 'स्तम्ब मरते समय गणिका के ध्यान में निमग्न रहे'—ऐसा अर्थ जिसे सुबादि विभक्तियों का भी ज्ञान न हो, वह करे तो कोई आश्चर्य नहीं । किन्तु जो अपने को महान् वैयाकरण मानता हो और श्लोकार्थ–का विचार करके उक्त अर्थ लिखे, तो उसका पाण्डित्य सन्दिग्ध अवश्य हो जाता है ।

यदि यही अर्थ विवक्षित होता कि "तुम मरते समय गणिका के ध्यानमें निमग्न रहे" तो भगवान् व्यास 'त्वमन्तकाले गणिकां विचिन्तयन्

देहं त्यक्त्वा मुक्तसमस्तकिल्बिषः ।' इस प्रकार शतृप्रत्ययान्त 'विचिन्तयन्' पद का प्रयोग करते, जैसा कि 'यं यं वा स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्' आदि स्थलों में किये हैं। शतृप्रत्ययान्त 'विचिन्तयन्' का प्रयोग भगवान् बादरायण ने नहीं किया है। अतः उक्त अर्थ उन्हें अभीष्ट नहीं है। वहाँ 'विचिन्तया' इस तृतीया पद का प्रयोग मेरे द्वारा किये गये अर्थ का ही उपस्थापक है। मेरे अर्थ में तृतीयाविभक्ति की सार्थकता–पूर्वोक्त व्याधजन्म की हिंसादिसंस्कारों में कारणता–और "तत्संगदोषतः" इस पञ्चम्यन्त पद घटित उपक्रमवाक्य के साथ एकवाक्यता–होने से कोई अनुपपत्ति नहीं, अपितु आनुकूल्य ही है। हिंसादि क्रूर संस्कार के कारण व्याधजन्म की उपपत्ति हेतु ही 'हिंसासक्तः, उद्वेगकारी' ये दोनों पद 'त्वं' पद के हेतुगर्भविशेषणरूप में रखे गये हैं। भगवान् व्यास का यही तात्पर्य है।

गणिकाचिन्तन से व्याधयोनि की प्राप्ति में उठायी गयी अनुपपत्ति श्लोकार्थ की भ्रान्ति के कारण ही है। इस प्रकार प्रथम हेतु ध्वस्त हुआ।

द्वितीय हेतु का निराकरण

द्वितीय हेतु प्रस्तुत करते हुए पं० जी आँख में धूल झोंकने का प्रयास कर रहे हैं। इन्होंने तर्क उपस्थित किया कि "यदि स्तम्ब की क्रूर-वृत्तिता होती, वे हिंसाविहारी होते तो उनकी हिंसादि क्रियाओं का भी उपवर्णन कुछ न कुछ अवश्य होता, वैसा न होना उसकी सत्ता को अवश्य सन्दिग्ध करता है। अतः पूर्वजन्म कालिक सजातीय प्रेरक संस्कार के अभाव के कारण व्याधजन्म अनुपपन्न है"।

इस तर्क को प्रस्तुत करते समय लगता है कि पं० जी भंग छानकर बैठे हुए थे। क्या स्तम्ब को 'हिंसासक्तः' और 'उद्वेगकारी' इन दोनों विशेषणों से व्यासजी ने अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास यज्ञ करने वाला बतलाया है ? उत्तर मिलेगा, 'नहीं'। जब इन दोनों पदों से स्तम्ब की हिंसावृत्ति और परपीडाप्रदातृत्व झलक ही रहा है, तो व्यर्थ में हिंसादि क्रियाओं की चर्चा अलग से करने की क्या आवश्यकता है ? गणिका-संगति के उपवर्णन के समान जीविका के विषय में 'दुष्टस्य' पद से हिंसादि वृत्तियों का ज्ञान होता ही है यह प्रथमहेतुनिराकरण में बतलाया जा चुका है। हाँ, इस अर्थ को समझने के लिए द्विवेदी जी जैसे लोगों को सद्भावपूर्वक भागवत महापुराण के अजामिलोपाख्यान की बालप्रबोधिनी आदि टीकाओं का अवलोकन करना चाहिए।

फिर श्लोकार्थ प्रस्फुटित होने लगेगा। अन्यथा असम्भव है। 'दुष्टस्य' पदसे हिंसादि वृत्तियों का लाभ होने से इनका निर्बलतर्क नहीं ठहर सकता। स्तम्बजीवन में सम्पादित हिंसादिप्रेरक सजातीयसंस्कार विद्यमान होने के कारण उनका व्याधजन्म सूपपन्न है। प्रथम हेतु में बताया गया है कि स्तम्ब के जीवन में हिंसादि संस्कारों का प्राचुर्य था। अतः द्वितीय हेतु अपना स्वरूप लाभ ही नहीं प्राप्त कर सकता, साध्यसिद्धि तो बहुत दूर है।

तृतीय हेतु का निराकरण

स्मार्त साक्ष्य के आधार पर पण्डितजी का यह कथन नितान्त भ्रम मूलक है कि "पत्नी के पातिव्रत्य के प्रभाव से स्तम्ब का अपनी पत्नी के साथ एक कल्प पर्यन्त स्वर्गवास हुआ था जिससे उनका व्याधजन्म उपपन्न नही हो सकता"।

श्रुतिमूलकस्मृतियों का प्रामाण्य वेदाविरुद्ध अंश में सभी आस्तिकों को मान्य है। उनके विधिवाक्यों का अर्थ तो उसी रूप में ग्राह्य है, जिस रूप में वे उसे प्रस्तुत करते हैं। किन्तु अर्थवाद वाक्य चाहे वे श्रुति के हों या स्मृति के, उनका तात्पर्य कर्म के प्राशस्त्यबोधन में ही है। कहीं-कहीं विधिवाक्य में अनुष्ठेय कर्म का फल निर्दिष्ट न होने पर अर्थवादवाक्य भी फल का समर्पक मान लिया जाता है यही द्वादशलक्षणी मीमांसा का सिद्धान्त है।

पण्डितजी द्वारा तृतीय हेतु में प्रमाण रूप से कथित स्मार्तवाक्यों का तात्पर्य यदि स्वर्गवास के काल की गणना में माना जाय तो वे परस्पर विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक हो जायेंगे; क्योंकि कुछ स्मृतिवाक्य चितारोहण करने वाली नारी के स्वर्ग—वास का समय साढ़े तीन करोड़ वर्ष बतलाते हैं और कुछ वाक्य १४ मन्वन्तर अर्थात् १ कल्पपर्यन्त—

तिस्रकोट्योऽर्धकोटी च यानि लोमानि मानुषे।
तावत् कालं वसेत् स्वर्गे या भर्तारमनुगच्छति॥
व्यालग्राही यथा सर्पं बिलादुद्धरते बलात्।
तद्वदुद्धृत्य सा नारी सह तेनैव मोदते॥
तत्र सा भर्तृपरमा स्तूयमानाऽप्सरोगणैः।
क्रीडते पतिना सार्द्धं यावदिन्द्राश्चतुर्दश॥

मनुष्य के शरीर में साढ़े तीन करोड़ रोम होते हैं। उतने ही वर्ष तक वह स्त्री स्वर्ग में वास करती है जो पति के साथ चितारोहण करती है। जिस प्रकार सपेरा विल में घुसे हुए सर्प को पकड़कर खींच

लेता है। उसी प्रकार सती स्त्री अपने पति का उद्धार कर उसके साथ स्वर्ग में सुख भोगती है। पतिपरायणा वह स्त्री १४ इन्द्रों के काल तक अर्थात् एक कल्प पर्यन्त पति के साथ ही देवाङ्गनाओं से प्रशंसित होकर स्वर्ग में वास करती है।

पूर्वोक्त वाक्यों में प्रथम वाक्य चितारोहण करने वाली स्त्री का साढ़े तीन करोड़ वर्ष स्वर्ग में निवास बतलाता है तथा तृतीयवाक्य एक कल्प पर्यन्त। एक कल्पमें ४२९४०८०००० (चार अरब उन्तीस करोड़ चालीस लाख असी हजार) मानव-वर्ष होते हैं। इन दोनों कालों में महान् अन्तर है। यहाँ स्मृति का प्रथम वचन स्वर्गवास के काल का निर्धारक माना जाय या तृतीय वचन ? दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। अतः इन्हें स्वर्गवास के कालनिर्धारण में प्रमाण नहीं माना जा सकता। ऋषि-वचनों में अप्रामाण्य की शङ्का भी नहीं की जा सकती। अतः इनका तात्पर्य चितारोहण कर्म के प्राशस्त्य में मानना चाहिए। यदि इसकी इतनी प्रशंसा न की जाय तो कौन नारी चितारोहण जैसे दुष्कर कर्म में प्रवृत्त होगी। चितारोहण कर्म की प्रशंसा में ही उन वचनों का तात्पर्य होने से मनु प्रभृति स्मृतिकारों ने स्वर्गवासकाल के निर्धारण में अपनी लेखनी नहीं तोड़ी, अपितु "सा भर्तृलोकमाप्नोति सद्भिः साध्वीति चोच्यते। इहाग्र्यां कीर्तिमाप्नोति पतिलोकं परत्र च"॥ —मनुस्मृति ५/१६५-१६६ ही कहा। मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने पतिलोक का व्याख्यान किया—"पत्या सहार्जितं स्वर्गादिलोकं प्राप्नोति" (पतिके साथ यज्ञादि कर्मोंको सम्पन्न करने से उनसे सम्पादित स्वर्गादिलोकों को प्राप्त करती है)। तात्पर्य यह कि पति के साथ-साथ किये गये कर्मों का फल भी पति के साथ ही भोगने को मिलता है। यही 'पतिलोकमवाप्नोति' का रहस्य है।

★ स्मार्तसाक्ष्यों से अविरोध ★

स्मार्त साक्ष्यों के आधार पर द्विवेदी जी द्वारा कथित स्तम्ब के एक कल्प पर्यन्त स्वर्गवास का कथन निरस्त हो चुका। स्तम्ब की पत्नी पतिव्रता थी। उसके पातिव्रत्य के प्रभाव से ये गणिका-सम्भोग और हिंसादि कर्मजन्य पापों से मुक्त भी हो चुके थे; क्योंकि पतिव्रता पत्नी चितारोहण करने के पश्चात् अपने ब्रह्म हत्यारे, मित्रहन्ता, और कृतघ्न पति को भी पापों से पवित्र कर देती है—

ब्रह्मघ्नो वाथ मित्रघ्नः कृतघ्नो वा भवेत् पतिः।
पुनात्यविधवा नारी तमादाय मृता तु या ॥

स्तम्ब की पत्नी ने भी इनके साथ चितारोहण किया ही था। यदि चितारोहण के पश्चात् इनकी पत्नी का स्वर्गवास हुआ होता तो अवश्य ही यज्ञादि कर्मों के फल स्वर्ग का उपभोग वह पतिव्रता स्तम्ब के साथ करती। किन्तु ऐसा नहीं हुआ; क्योंकि वह सती वैशाख मास में महात्मादेवल का विधिवत् आतिथ्यसत्कार एवंजलदान आदि सुकर्म सम्पन्न कर चुकी थी। जिसका विशद वर्णन व्याधोपाख्यान में है। पातिव्रत्य का बल था ही। एक और एक ग्यारह होते हैं—इस न्याय के अनुसार पातिव्रत्य और वैशाखमास के पूर्वोक्त पूजनादि कार्यों के विलक्षण संयोग से वह चितारोहण के पश्चात् स्वर्ग न जाकर भगवल्लोक चली गयी—

"विमुच्य देहं सहसा जगाम पतिं समालिङ्ग्य मुरारिलोकम्।"

(पति का आलिंगन करके चिता में अपना शरीर छोड़कर वह कान्तिमती वैकुण्ठ को चली गयी)। पातिव्रत्य का फल स्वर्गलोक है, विष्णुलोक नहीं। वह तो वैशाखमास में विशेष पूजनादि के अनुपम माहात्म्य के कारण उसे मिला। उसके पातिव्रत्य के प्रभावसे स्तम्ब दुष्कर्मों के फल नरकवास से तो बच गये। किन्तु हिंसासक्त और उद्वेगकारी होने के कारण हिंसादि के प्रचुर संस्कार इनके व्याधजन्म के कारण बने।

हिंसादि के संस्कार अपने सजातीय कर्मों में ही प्रवृत्त करते हैं। उसके लिए उपयुक्त शरीर चाहिए, वह था-व्याध का, जो इन्हें मिला। अतः स्मार्तसाक्ष्यों से कोई विरोध नहीं। स्मार्तप्रमाणसिद्ध पातिव्रत्य के अनुपम प्रभाव से स्तम्ब का पापविनिर्मोक हो ही चुका था। पर पत्नी स्वर्ग नहीं गयी। अतः उसके साथ स्तम्ब के स्वर्गवास की कल्पना वह भी एक कल्प की—अत्यन्त निर्मूल है। स्मार्तसाक्ष्यों से विरोध तो तब होता जब पत्नी कान्तिमती स्वर्गवास करती और स्तम्ब महाशय नरकवास करते।

साक्ष्य की पोलपट्टी

पण्डितजी ने जिन श्लोकों के आधार पर स्तम्ब का एक कल्पपर्यन्त स्वर्गवास सिद्ध करना चाहा। वे श्लोक ही शंख और आङ्गिरस जैसी स्मृतियों में उपलब्ध नहीं होते। अतः इन साक्ष्यों को प्रमाण रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सकता; क्योंकि इनकी सत्ता ही सिद्ध नहीं होती। इसलिए मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूकभट्ट ने इन्हें अपनी टीका में स्थान

नहीं दिया। अतएव इन श्लोकों के आधार पर स्तम्ब के एक कल्पपर्यन्त स्वर्गवास की कल्पना निराधार होने से अप्रामाणिक है।

व्याध के पूर्वजन्म के समान ही वहीं उनके उत्तर जन्म की कथा भी उपवर्णित हुई है जिसमें उन्हें वल्मीक ऋषि के यहां जन्म लेना कहा गया है। तृतीय जन्म में उनके ऋषित्व प्राप्ति का वर्णन करते हुए वैशाख-मास के माहात्म्य का वहीं फल भी बतलाया गया है। अतः व्याधजन्म को औपचारिक नहीं माना जा सकता। इसकी चर्चा आगे करेंगे।

अन्वारोहणपरक अर्थ भ्रान्तिमूलक

अन्वारोहण की फलश्रुति में श्रौतसाक्ष्य उपस्थित करने के लिए ऋचा के अर्थ को कैसे तोडा मरोड़ा गया है, देखें—

स्त्रियः सतीस्ताँ उमे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः। } ऋग्वेद
कविर्यं पुत्रःस इमाचिकेत यस्ता विजानात् सपितुष्पिता सत्।। } १/१६४/१६

अस्यार्थः—परमेश्वरः कथयति मे मम (सृष्टौ) याः स्त्रियः सतीः सत्यः पत्या सह चितामारूढाःभवन्तीतिशेषः। तान् ताः (अत्र व्यत्ययेन पुंस्त्वं) पुंसः पुरुषरूपाः पत्या सहैकात्मतां प्राप्ताः परमात्मभावं वा गता आहुः कथयन्ति तत्त्वज्ञाः।

अर्थात्–भगवान् कहते हैं–मेरी सृष्टि में जो स्त्रियाँ पति की उत्क्रान्ति हो जाने पर उनके साथ सती हो जाती हैं। वे पति के साथ एकात्म भाव को प्राप्त कर दिव्यलोक चली जाती हैं ऐसा तत्त्वज्ञ लोग कहते हैं।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

वेदभाष्कार आचार्य सायण ने ऐसा बेढंगा अर्थ नहीं किया। पं॰ जी जो अर्थ उस ऋचा का कर रहे हैं। उसके लिए जो शब्द अपेक्षित हैं, वे उस ऋचा में नहीं हैं। पाठक देख सकते हैं कि पं॰ जी ने कोष्ठक में सृष्टौ शब्द घुसेड़ा है, जिसका अर्थ है 'सृष्टि में' यह शब्द ऋचा में नहीं है। यदि पं॰ जी इसे न घुसेड़ते तो बड़ी आपत्ति में फंस जाते। उस समय ऋचा का अर्थ इनके अनुसार होता—भगवान कहते हैं–मेरी जो स्त्रियाँ हैं वे पति अर्थात् मेरे मरने पर मेरे साथ सती हो जाती हैं, वे मेरे साथ एकात्मभाव को प्राप्त कर दिव्यलोक चली जाती हैं। इस अर्थ से बचने के लिए ही पण्डित जी ने सृष्टौ शब्द घुसेड़ा है।

'पत्या सह चितामारुढाःभवन्तीति शेषः' शब्द भी उस अर्थ को दिखलाने के लिए अलग से रखे गये हैं जो कि ऋचा में नहीं है। इन

रेखांकित सभी शब्दों को, जो कि ऋचा में नही हैं पृथक् कर देनें पर पं० जी वाला अर्थ ही नहीं निकल सकता । अतः अन्वारोहण की फल-श्रुति में इसे साक्ष्यरूप में प्रस्तुत करना मात्र छल है । पुनः पुरुषरूपा। का अर्थ "पत्या सहैकात्मतां प्राप्ता:" भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि चितारूढ पत्नी के लिए वर्णित है कि वह शरीर त्याग कर पति के साथ स्वर्गवास करती है, फिर उसका पति के साथ एकात्मभाव (अभेद) कैसे हो सकता है? एकात्मभाव में पतित्व और पत्नीत्व सुरक्षित ही नहीं रह सकता; क्योंकि ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं ।

'परमात्मभावं वा गता:' का अर्थ है—परमात्मत्त्व या परमात्मधर्म को प्राप्त हो जाती हैं । इससे उपनिषदों में प्रोक्त अपहतपाप्मत्व, अपि-पासत्व और सत्यसङ्कल्पत्वादि धर्म ही पत्नी को प्राप्त हुए माने जायेगें। गीता में भगवान् ने भी 'मम साधर्म्यमागता:' 'मद्भावमागता:' इत्यादि बचनों से इसी को कहा है । यदि पं० जी के अनुसार अन्वारोहण का फल उन धर्मों की प्राप्ति अर्थात् मोक्षावस्था ही है । तब स्मृतियों के उन वचनों का क्या होगा जो चितारोहण का फल सती नारी को पति के साथ स्वर्ग सुख का उपभोग वतलाते हैं । जिन वाक्यों को प्रस्तुत करके पं० जी ने स्तम्ब का उसकी पत्नी के साथ एक कल्प का स्वर्गवास बतलाया था । इस ऋचा का अर्थ करते समय कम से कम उन वाक्यों का ध्यान तो पं० जी को रखना ही चाहिए था । महाशय उसे भी भूल गये । अतः पुंसः का अर्थ पतियों के साथ एकात्मभाव या परमात्मभाव जो कुछ श्रीमान् जी ने किया है । वह मन्वादि स्मृतियों से सर्वथा विरुद्ध होने के कारण अप्रामाणिक है । अतः उस श्रुति का अर्थ अन्वारोहण-परक नही है। इसलिए उसे साक्ष्यरूप में प्रस्तुत करना केवल छल मात्र है।

ऋचा का वास्तविक अर्थ

श्रुतियों के प्रामाणिक भाष्यकार आचार्य सायण ने उक्त ऋचा का भाष्य लिखा है—मे = मदीया या दीधितयः किरणाः ता एव स्त्रियःयोषितः। दीधितीनां स्त्रीत्वकथनं कथमिति चेद् यथा स्त्रियो गर्भं धारयन्ति तद्वदिमा दीधितयोऽपि उदकरूपंगर्भं धारयन्ति, अतः स्त्रीत्वमेषाम् । एवं सतीः = सत्यः = भूताः तान् उ = तानूरश्मीनेव पुंसः = पुरुषान् आहुः = कथयन्ति । कथं स्त्रीभूतान् रश्मीन् पुरुषान् आहुरिति चेत्, इत्थं यथा पुरुषाः वीर्यं सेक्तारो भवन्ति तथैव रश्मयोऽपि प्रभूतवृष्ट्युदकसेक्तारः । अतः प्रभूत

वृष्ट्युदकसेक्तृत्वात् तान् पुरुषान् आहुः। अमुमर्थमत्यन्तं निगूढम् अक्षण्वान् ज्ञानदृष्ट्युपेतः कश्चिन् महान् पश्यति = जानाति । अन्धः अतथारूपः स्थूलदृष्टिः न विचेतत् न जानाति । किञ्च यः कविः क्रान्तदर्शी पुत्रः स्त्रीपुरुषरूपाणां रश्मीनां पुत्रस्थानीयः पुरुंजगतां त्राता वृष्ट्युदकलक्षणोऽस्ति स ई स एव पुत्रः ।

यद्वा ईम् एनमर्थं स्त्रीणां सतीनां पश्चात् पुरुषभावं आचिकेत सर्वतो जानाति ता तानि विजानात् स्त्रीपुरुषपुत्ररूपाणि जानीयात् स पितुः वृष्टिजगत्पालकरश्मिसमूहस्य पिता आदित्यः भवति । अथवा यस्तानि-जानाति स एवं भवति स्वयं पितुः पुत्रः सन्नपि स्वपुत्रापेक्षया पिता भवति पुत्रपौत्रादिसहितः चिरकालं जीवी भवति इत्यधिदैवतम् ।

अथाध्यात्मम्—या इदानीं स्त्रियः सती स्त्रीत्वं प्राप्ताः आहुर्लौकिकाः तान् ऊ तानेव मे मह्यं पुंसः पुरुषान् आहुः प्रतिपादयन्ति तत्त्वज्ञाः । कथं स्त्रीभूतस्य पुरुषत्वमुच्यत इति चेदित्थम्—स्थूलादिशरीरविलक्षणस्य आत्मनस्तद्देहसम्बन्धकाले स्त्रीपुरुषादिव्यपदेशो भवति । श्रूयतेहि 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत त्वं कुमारी' त्यादि । मुक्त्यवस्थायां देहसम्बन्धासत्वे तु आत्मा न स्त्री न पुमान् न वा नपुंसकः । तथा च स्मृति "नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः । यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स चोद्यते" इति । द्वितीयपादः पूर्वोक्तार्थकः । पुत्रः पुत्रवदल्पवयस्कोऽपि यः कविः क्रान्तदर्शी ज्ञानी स्याद् ईम् इममर्थं स विचकेत जानाति । एवमुक्तलक्षणस्य आत्मनः ता तानि स्त्रीत्वपुंस्त्वादीनि अवास्तविकानि विजानात् जानीयात् स पितुः ज्ञानरहितस्य स्वजनकस्यापि पिता सत्पितृवत् पूज्यो भवति शुकदेवादिवत् ।

भगवान् भास्कर की रश्मियाँ स्त्री होकर भी पुरुष हैं। जैसे स्त्रियाँ गर्भ धारण करती है, वैसे ही रश्मियाँ भी जलरूपगर्भ धारण करती हैं। अतः ये स्त्रियाँ हैं और पुरुष जैसे वीर्यसेचन करते हैं वैसे ही ये भी वृष्टि जल का सेचन करती हैं । अतः पुरुष भी हैं । इस अत्यन्त गूढ अर्थ को ज्ञानदृष्टियुक्त कोई महान् ही जानता है । अन्धे (ज्ञानदृष्टिरहित) नहीं जानते । जो पुत्र है अर्थात् स्त्रीपुरुष रूप रश्मियों का जो वृष्टिजल है, वही पुत्र है। अथवा 'स्त्री होकर भी रश्मियाँ पुरुष हैं'—इस प्रकार क्रान्तदर्शी पुत्र ही पूर्णरूपेण जानता है; क्योंकि माता पिता की वास्तविक स्थिति पुत्र ही जान सकता है, कोई अन्य नहीं । इस प्रकार स्त्री पुरुष और पुत्र रूप को जानने वाले वृष्टि द्वारा जगत्पालक रश्मि–समूह रूप

पिता का पिता अर्थात् आदित्य हो जाता है। अथवा ऐसा जानने वाला अपने पिता का पुत्र होकर भी अपने पुत्रों की अपेक्षा पिता अर्थात् पुत्र पौत्रादि सहित चिरकाल तक जीता है।

अध्यात्मपक्ष में—तत्वज्ञानी मुझे कहते हैं कि ये इस समय स्त्रीत्व को प्राप्त हैं अर्थात् स्त्री हैं। वे मुझे पुरुष भी कहते हैं। जो स्त्री है वही पुरुष कैसे है? इसका उत्तर यह है कि आत्मा स्थूल और सूक्ष्म आदि शरीर से विलक्षण है। इससे स्त्री या पुरुष शरीर का सम्बन्ध होने पर इसे स्त्री या पुरुष कहा जाता है। ये स्त्रीत्व या पुरुषत्व शरीर के ही धर्म हैं। आत्मा के लिए स्त्री और पुरुष कहे जाने में शास्त्र प्रमाण है—'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत त्वं कुमारी'। तुम स्त्री हो, तुम पुरुष हो, तुम्हीं कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो। ये स्त्रीत्वादि आत्मा के धर्म नहीं हैं—"नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः" यह आत्मा न तो स्त्री है और न यह पुरुष ही है, यह नपुंसक भी नहीं है। यह जिस स्त्री या पुरुष अथवा नपुंसक आदि शरीर को धारण करता है उसी से इसका कथन किया जाता है। मन्त्र के द्वितीय पाद "पश्यदक्षण्वान्नविचेतदन्धः" का पूर्वोक्त अर्थ इस पक्ष में भी मान्य है। जो पुत्र की भाँति अल्पवयस्क होकर भी ज्ञानी है। वही इसे जानता है। पूर्वोक्त स्त्रीत्व पुंस्त्वादि धर्म आत्मा के नहीं हैं—ऐसा जो जानता है वह अपने पिता का भी पूज्य होता है। ये दोनों अर्थ सायणभाष्य के हैं। इनमें अलग से शब्दों को घुसेड़ कर मनमानी अर्थ नहीं किया गया है। जो शब्द मन्त्र में हैं, उन्हीं का उपपत्तिपूर्वक विशदीकरण यहाँ है।

भ्रान्ति–

जैसे कर्म और फल का कार्यकारणभाव व्यवस्थित करने के उद्देश्य से श्रीमद्भागवत के पुरञ्जनोपाख्यान की परिकल्पना की गयी है और उस परिकल्पित उपाख्यान को 'पुरातन इतिहास' की संज्ञा भी दे दी गयी है। ठीक इसी भाँति महर्षि वाल्मीकि के व्याधजन्म की कथा को भी समझना चाहिए। वह कोई वास्तविक घटना नहीं है।

महर्षि वाल्मीकि पृष्ठ २९७

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

महाशय जी पुरञ्जनोपाख्यान को परिकल्पित समझते हैं जबकि वह इतिहास है। उसे कोई काल्पनिक न समझ बैठे इसीलिए देवर्षि नारद

ने उसे इतिहास कहा है–इतिहासं पुरातनम् । आसीत् पुरञ्जनो नाम राजा.. भा० पु० ४/२५/१० । इसीलिए महापण्डित श्रीजीवगोस्वामी ने क्रमसन्दर्भ में-'इतिहासं पुरातनमिति'मुनेर्न मिथ्यावचनम्। पूर्ववृत्तमिदमध्यात्मसंवाद्यपिप्रायः स्यात्' से–पुरञ्जनोपाख्यान को पुरातन इतिहास कहा है । महामुनि श्रीनारदजी का यह वाक्य मिथ्या नहीं है अर्थात् उन्होंने काल्पनिक वस्तु को इतिहास नहीं कहा है, अपितु पूर्व घटित घटनाओं की सत्यता के कारण ही पुरञ्जनोपाख्यान को इतिहास कहा है। यह इतिहास होकर भी प्रायः अध्यात्मविषय का व्यापक है । प्रायः इसलिए कि सभी वर्णन अध्यात्मपक्ष में सटीक नहीं बैठ पाते हैं, अतएव टीकाकारों ने अध्यात्मपक्ष में उन वर्णनों को–'अन्यत्कथा सौन्दर्यार्थम्' सि०प्र०, 'शेषं तु कथालङ्कारार्थम्'–बा०प्र० ही कहा ।

दूसरी बात यह कि पुरञ्जन अपनी स्त्री का चिन्तन करते हुए मरा और दूसरे जन्म में विदर्भनरेश के यहाँ कन्या के रूप में जन्मा, जिसका विवाह पाण्ड्य नरेश मलयध्वज से हुआ। मलयध्वज द्वारा उसके गर्भसे एक कन्या तथा सात पुत्र हुए। इस कन्या का विवाह महर्षि अगस्त्य से हुआ जिसके दृढच्युत नामक पुत्र हुआ जिसका एक नाम इध्मवाह भी था।

अगस्त्यः प्राग् दुहितरमुपयेमे धृतव्रताम् ।
यस्यां दृढच्युतो जातः इध्मवाहात्मजो मुनिः ।। } भा० पु० ४/२८/३२

इन अगस्त्यपुत्र इध्मवाह को पुत्रहीन महर्षि क्रतु ने पुत्रत्वेन ग्रहण किया है—

क्रतुः खल्वनपत्योऽभूद्राजन्वैवस्वतेऽन्तरे ।
इध्मवाहं स पुत्रत्वे जग्राह ऋषिसत्तमः ।
अगस्त्यपुत्रं धर्मज्ञम्— —।। } मत्स्य पु० २०३/८६

क्या पुराणों के विभागकर्ता भगवान् बादरायण द्वारा मत्स्यमहापुराण में अगस्त्य पुत्र इध्मवाह का महर्षि क्रतु द्वारा पुत्रत्वेन ग्रहण का उल्लेख पुरञ्जनोपाख्यान के काल्पनिकताकथन की धज्जी नहीं उड़ा रहा है ? क्या 'मलयध्वज के वंशजों द्वारा मन्वन्तर के पश्चात् भी पृथिवी भोगी जायेगी'–भा० पु० ४/२८/३१ कथन पुरञ्जनोपाख्यान की काल्पनिकता पर कुठाराघात नहीं है ? फिर भी पण्डित जी इसे काल्पनिक समझ बैठे। लगता है इन्हें पुरञ्जनोपाख्यान तथा पुराणों के अवलोकन का सौभाग्य ही नहीं मिला। जिन हेतुओं को दिखाकर व्याधजन्म में अनुपपत्ति सिद्धकर महर्षि के व्याधजन्म की असम्भाव्यता पण्डितजी सिद्ध

करना चाहे हैं, उसकी धज्जी उड़ा दिये जाने से इनका कथन मात्र प्रलाप ही बनकर रह गया है ।

❀ व्याध ही जन्मान्तर में वाल्मीकि ❀

स्कन्दपुराण के वैष्णवखण्ड में पूर्वोक्त व्याध के पूर्वजन्म स्तम्बशरीर की चर्चा करने के पश्चात् महर्षि शंख उसे राम नाम जपने का उपदेश दिये और अग्रिम जन्म वल्मीक ऋषि के कुल में बतलाये—

तस्माद्रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम् ।
धर्मानेतान् कुरु व्याध यावदामरणान्तकम् ।।
ततस्ते भविता जन्म वल्मीकस्य ऋषेः कुले ।
वाल्मीकिरिति नाम्ना च भूमौ ख्यातिं गमिष्यसि।।–२१/४८-५७

यही व्याध भगवन्नाम के अनुपम प्रभाव से ऋषि के घर में जन्म लेता है और दीर्घकालिक तपश्चर्या के पश्चात् वाल्मीकि नाम से प्रसिद्ध होकर रामायण का निर्माण करता है । वहुत सम्भव है कि व्याधजन्म के हिंसादि संस्कारोंके कारण ये पुनः लूटमार करने लगे हों और सप्तर्षियों द्वारा बतलाये गये 'मरा' (उलटा नाम) जप में प्रवृत्त होकर चिरकालिक तपश्चर्या किये हों । हिंसादि कुसंस्कारों को नष्ट करने के लिए भगवन्नाम के प्रचुर संस्कार अपेक्षित हैं । जैसे–जैसे भगवन्नाम का सुसंस्कार बढ़ेगा वैसे–वैसे कुसंस्कार नष्ट होंगे । व्याधजन्म में भगवन्नाम के इतने अधिक संस्कार नहीं हुए, जिनसे कुसंस्कारों का पूर्ण नाश हो जाय । अतः ये उस लूटमार आदि कार्य में लगने पर भी सप्तर्षिप्रदत्त मरा जपोपदेश से तपश्चर्या में प्रवृत्त होकर पराशान्ति प्राप्त किये ।

अध्यात्मरामायण की वाल्मीकिविषयककथा से स्कन्दपुराण की इस कथाकी एकवाक्यता हो सकती है । दोनों कथायें परस्पर एक दूसरे की पूरक लगती हैं । व्याधोपाख्यान में दीर्घकालिक तपश्चर्या से इनके ऊपर वल्मीक (बांबी, मिट्टी का ढेर) हो जाने पर उससे निकलने के कारण इन्हें वाल्मीकि कहा गया । अध्यात्मरामायण में इन्होंने स्वयं अपने को 'मरा' इस भगवन्नाम जप से सम्बलित दीर्घकालिक तपस्या के उपरान्त वल्मीक से निकलने के कारण वाल्मीकि नाम की प्राप्ति बतलायी है । यहाँ इनके माता पिता के नाम का उल्लेख नहीं है । स्कन्दपुराण में तपश्चर्या के कारणों का उल्लेख नहीं है । दोनों कथाओं की एकवाक्यता होने से तपश्चर्या के कारणों का परिज्ञान होने के साथ ही इनके पिता आदि

का बोध भी अनायस हो जाता है। अध्यात्मरामायण के कथानक में किरातों के सङ्ग और लूटमार का वर्णन–स्कन्दपुराण के व्याधजन्म की कथा के आधार पर उनके उस जन्म के संस्कारों की अनुवृत्ति से–उपपन्न हो जाता है।

महर्षि वाल्मीकि का द्वितीय जन्म दिव्यता से ओतप्रोत

महर्षि वाल्मीकि जब सप्तर्षियों से उपदिष्ट भगवन्नाम 'मरा' का अविराम जप करने लगे तो उन्हें वाह्यजगत् विस्मृत हो गया और निश्चल समाधि लग गयी। करोड़ों वर्ष बीतने के पश्चात् सप्तर्षि आये और बोले 'निकलो'। वे उनकी वाणी सुनकर वल्मीक से ही निकले जैसे कुहरे से सूर्य निकलता है। ऋषियों ने कहा कि तुम वाल्मीकि हो; क्योंकि दीर्घकाल के पश्चात् वल्मीक से निकले हो। यह तुम्हारा द्वितीय जन्म है—

ममाप्याहुर्मुनिगणा वाल्मीकिस्त्वं मुनीश्वर। } अ०रा० अयो०
वल्मीकात्सम्भवो यस्माद् द्वितीयं जन्म तेऽभवत् ॥ } का० ६/८५

महर्षि का वाल्मीकि नाम पड़ने में वल्मीक द्वारा उत्पत्ति ही कारण है। वल्मीकस्यापत्यं वाल्मीकिः 'अत इञ्' सूत्र से इञ् प्रत्यय होकर वाल्मीकि शब्द निष्पन्न होता है। जैसे माँ के उदर में शिशु के हस्त पादादि अवयवों की उत्पत्ति तथा विकसन होता है। उदर से बाहर आने पर उसका जन्म माना जाता है, तत्पश्चात् नामकरण संस्कार होता है। वैसे ही वल्मीक के अन्दर करोड़ों वर्ष पर्यन्त भगवन्नाम (मरा) जप में निरत महर्षि की कठोर तपश्चर्या से उनके शरीरारम्भक परमाणु पर्यन्त अवयवों में विलक्षण परिवर्तन हुआ। तपश्चर्या के पूर्व में स्थित रक्त आदि दीर्घकाल तक भोजनादि न करने से सूख ही चुके थे। निखिलज्ञान की अधिष्ठात्री कुण्डलिनी महाशक्ति षट्चक्रों का भेदन कर ब्रह्मरन्ध्र सहस्रारचक्र में स्थित हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में निश्चलसमाधिरत योगी को काल के प्रचण्ड वेग का पता न चलना स्वाभाविक ही है, फिर भगवन्नाम निरत महर्षि वाल्मीकि के विषय में क्या कहना?

उनके पूर्व शरीरकी अस्थियों के कारणभूत परमाणुओं में महत् परिवर्तन हुआ तथा अनन्तकाल से सञ्चित कुसंस्कारतमःपटल को तपश्चर्यारूपी प्रचण्ड सूर्यने ग्रस लिया था। चिरकालिक तपश्चर्यासे पापक्षयके साथ ही वासनाओं का विध्वंस हुआ और श्रीरामाख्य परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार की योग्यता आयी। ये सब कार्य तपोरत महर्षि की वल्मीक में ही हुए।

सप्तर्षियों की वाणी से उनकी हृत्तन्त्री झन्कृत हो उठी, समाधि टूटी। जब वे वल्मीक से बाहर निकले तो ऋषियों ने सोचा–जैसे जन्म लेने पर शिशु के पूर्वजन्म से विलक्षण शरीर और सुलक्षण–संस्कार–सम्पत्ति देखी जाती है, वैसे ही इनमें भी है।

पूर्व का शरीर तो परमाणु पर्यन्त परिवर्तित होकर मन्त्रद्रष्टा ऋषि के अनुकूल पवित्र अवयवों एवं परमपावन संस्कारों से सम्पन्न है। अनन्त वर्षों के बाद ये वल्मीक से निकले भी हैं। यह इनकी उत्पत्ति ही है; क्योंकि पुराना अब कुछ भी नहीं है। अतः यह इनका द्वितीय जन्म है। जन्म होने पर नामकरण संस्कार भी होता है। अतः इनका ऐसा नाम रखना चाहिए, जिससे इनकी दीर्घकालिक तपश्चर्या के साथही साथ उत्पत्तिस्थान का भी ज्ञान हो। इसलिए उन्होंने महर्षि का नामकरण किया–'वाल्मीकि'।

महातेजा लोकस्रष्टा ब्रह्माजी भी तपश्चर्योपरान्त वल्मीक से इनका विलक्षण प्रादुर्भाव मानकर ही 'वाल्मीकि' नाम की पुष्टि करते हैं—

अथाब्रवीन्महातेजा ब्रह्मा लोकपितामहः।
वल्मीकसम्भवो यस्मात्तस्माद्वाल्मीकिरित्यसौ॥ } वा० रा० बा० का० १/१ शिरोमणि टीका

अध्यात्मरामायणके 'ममाप्याहुर्मुनिगणाः' (अयोध्याका० ६/८५-८६) श्लोक में 'अपि' शब्द से इन्हीं ब्रह्माजी की ओर संकेत है। दोनों श्लोकों के अनुसार महातेजा ब्रह्माजी और ज्वलनार्कसमप्रभ सप्तर्षि वल्मीक से महर्षि का जन्म बतलाने के लिए 'वल्मीकप्रभवोयस्मात्' और 'वल्मीकसम्भवो यस्मात्' जैसी पदावलियों का प्रयोग करते हैं। 'प्रभव' और 'सम्भव' शब्द उत्पत्ति अर्थ के समर्पक हैं ही। इधर महर्षि की उत्पत्ति भी साधारण जीववत् नहीं हुईहै; क्योंकि दिव्यजन्मा पुरुषोत्तम भगवान् श्रीराम और भूमिजा जानकीजी के पावन चरित्रों को चित्रित करने वाले रामायण जैसे लोकोत्तर महाकाव्य के प्रणयन हेतु दिव्यजन्मा पुरुष की आवश्यकता थी। अतः तपोरत महर्षिवाल्मीकि का भूमि (वल्मीक, मिट्टी के ढेर) से दिव्यजन्म हुआ। अतएव इन्होंने भूमिजा श्रीसीताजीके चरितका ही रामायण में प्राधान्येन प्रतिपादन किया— 'कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्'। इसीलिए भूषणटीकाकार श्रीगोविन्दराजजी लिखते हैं—

"इदं च रामचरितप्रतिपादनमप्राधान्येन प्राधान्येन तु सीतायाश्चरितमेव-प्रतिपाद्यत इत्याह–कृत्स्नं सीतायाश्चरितमिति"।

–वा०रा०वा०का० ४/७ की भूषणटीका

दिव्यजन्मा महर्षि का नामकरण भी दिव्यलोकवासी, दिव्यदर्शन

पुरुष ही कर सकतेहैं। अतएव सप्तर्षि आकर इनका नामकरणसंस्कार किये। उन सप्तर्षियोंको–साक्षात्प्रकाशन्तो ज्वलनार्कसमप्रभाः। मुनयोदिव्यदर्शनाः ते ययुर्दिव्यगतिम् ।।–अ०रा०, अयो०का०, ६/६८,८१,८६। (अग्नि और सूर्य के समान प्रकाशित होने वाले, वे दिव्यदर्शनमुनि, दिव्यलोक चले गये)—कहा गया है। यह सब करोड़ों वर्ष पर्यन्त अविराम भगवन्नाम के जप से हुआ। दिव्यजन्मा महर्षि वाल्मीकि के गुरुदेव देवर्षि नारद जी भी दिव्यजन्मा ही हैं, जिन्होंने इन्हें संक्षेप में श्रीरामचरित सुनाया। दिव्यजन्मा ब्रह्माजी ने इन्हें श्रीराम के गुप्त और प्रकट चरित–जैसाकि देवर्षि नारद ने बतलाया था—लिखने की अनुज्ञा दी। भगवान् के जन्म और कर्म दिव्य हैं—'जन्मकर्म च मे दिव्यम्'। इसीलिए उसके लेखन हेतु दिव्यजन्मा महर्षि वाल्मीकि दिव्यजन्मा देवर्षि नारद और श्रीब्रह्मा जी की प्रेरणा तथा आशीष् से प्रवृत्त हुए।

वाल्मीकिजी के द्वितीय जन्म को श्रीब्रह्माजी और सप्तर्षियों ने अपनी अमोघवाणीसे प्रमाणित कर ही दिया था। अब इस जन्म में महर्षि द्वारा न तो कभी असत्य भाषण हुआ और न ही कभी मन, वचन तथा शरीर से कोई पाप ही। इसी का संकेत महर्षिप्रवर ने किया है–'न स्मराम्यनृतं वाक्यम्। मनसा कर्मणावाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्'।। उ०का०९६/१९–२१

अतः महर्षि के दिव्य जन्म के करोड़ों वर्षों सुदूर पूर्व की लूटमार की घटनाओं का सम्बन्ध उनके द्वितीयजन्म (दिव्यजन्म) से नहीं जोड़ा जा सकता। इस जन्म में महर्षि पूर्ण शुद्ध और सच्चरित्र ही रहे। अतएव श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण से अध्यात्मरामायणादि की उलटानामजपपरक कथाओं का कोई विरोध नहीं।

नञर्थविषयक भ्रान्ति

पण्डित बैजनाथ द्विवेदीजी को नञर्थ में बहुत बड़ी भ्रान्ति है। इनके पुस्तक की प्रामाणिकता स्वीकार करने वाले भी इसमें भ्रान्त हैं। इनकी यह भ्रान्ति इन्हीं के शब्दोंमें प्रस्तुत है। इन्होंने'तात्पर्यान्तर का निराकरण' शीर्षक में लिखा है—कुछ पण्डित लोग "भूतपूर्वं न किल्विषम्" का यह तात्पर्य लगाते हैं कि— 'पूर्वं यद् भूतं किल्विषं तत् सम्प्रति न, तपसा विनष्टत्वात्। अर्थात् मेरे जो पूर्वकालिक पाप थे, वे अब नहीं रहे, तपस्या से उनका विनाश हो गया। यहाँ का नञ् (नकार) किल्विषके ध्वंसाभाव

का बोधक है, प्रागभाव का नहीं। फलतः पूर्वोक्त प्रमाणों से उनका जो दस्युत्व सिद्ध हो रहा था उसका इस रामायणोक्ति से कोई विरोध नहीं, अपितु सम्वाद ही हुआ, ऐसा उनका मत है। यद्यपि इस अर्थका निराकरण 'किवदन्ती विमर्श' प्रकरण के पृ० २४-२५ में कुछ किया जा चुका है फिर भी यतः यह उक्ति कतिपय पण्डितों की है अतः इस पर पुनः कुछ गम्भीरता से विचार करना आवश्यक है"। इन अंशों को प्रस्तुत करने के बाद पं० जी दो श्लोक प्रस्तुत किये—

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता।
नोपश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली॥
मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम्।—वा०रा०उ०का०
तस्य फलमुपश्नीयामपापा मैथिली यदि॥ ९६/२०-२१

यहाँ पं० जी का कथन है कि प्रथम श्लोक में अनेक वर्ष की तपश्चर्या का फल मुझे न मिले यदि जानकीजी दोषयुक्त हों, ऐसा महर्षि कह रहे हैं, तपस्या से पुण्य होता है जिसका फल सुख है। यहाँ महर्षि ने अवश्य प्राप्तव्य सुख की अप्राप्ति का शपथ लिया। द्वितीय श्लोक में पं० जी कहते हैं कि कुछ पण्डितों के मत में इसका अर्थ है—'मेरे पूर्वकालिक पाप तपस्या से नष्ट हो गये हैं। मुझे उनका फलोपभोग प्राप्त हो, यदि जानकी निष्पाप हों'। इन कतिपय पण्डितों के अर्थ का निराकरण करते हुए पं० जी कहते हैं कि 'पाप का विनाश दुःखाभाव का साधन तो हो सकता है किन्तु सुख का साधन कैसे हो जायेगा; क्योंकि वह पापध्वंस स्वयं में कोई विहित कर्म नहीं है। अतः मैथिली की निर्दोषावस्था में अपने उस पापध्वंस के फल (सुख) की प्राप्ति का शपथ कैसे लिया'। आगे चलकर "अनृतं नोक्तपूर्वं मे नच वक्ष्ये कदाचन" इत्यादि वचनों को प्रस्तुत करके पं० जी कहते हैं कि इन सभी स्थलों पर तत्तत्क्रियाओं का निषेध अर्थात् प्रागभाव ही विवक्षित है, विनाश अर्थात् प्रध्वंसाभाव नहीं। इन पंक्तियों को इसलिए उपस्थित किया गया कि पाठकगण समझ सकें कि पं० जी नञ् का अर्थ प्रध्वंसाभाव तथा प्रागभाव समझते हैं।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

यह मैं पूर्व में ही कह चुका हूँ कि 'भूतपूर्वं न किल्बिषम्' में नञ् का अर्थ प्रध्वंसाभाव पण्डितों को मान्य नहीं है। यह द्विवेदी जी की स्वयं की कल्पना है। फिर भी हो सकता है कि कुछ लोग ऐसा मान रहे हों जैसा कि पण्डित जी लिख रहे हैं। जो लोग नञ् का अर्थ

प्रध्वंसाभाव मानते हैं, वे भी भ्रान्त हैं, और द्विवेदी जी भी भ्रान्त हैं; क्योंकि इन्होंने नञ् का अर्थ प्रागभाव माना है।

नञ् का अर्थ प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं

नञ् का अर्थ न तो प्रध्वंसाभाव है और न ही प्रागभाव; क्योंकि 'इह भूतले घटो नास्ति'—इस भूतल में घट नहीं है और 'पटः घटो न' (घटप्रतियोगिकपटानुयोगिकभेद) इत्यादि स्थलों में प्रथम वाक्य में नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव तथा दूसरे वाक्य में नञ् का अर्थ अन्योन्याभाव है। भूतल आदि में एक भी घट के न रहने पर ही 'इह भूतले घटो नास्ति' प्रतीति प्रामाणिकों को होती है। ऐसी स्थिति में घटत्व धर्म से आक्रान्त सभी घटों का अभाव उस प्रतीति का विषय होता है। अन्योन्याभाव की प्रतीति अपने से भिन्न वस्तु में होती है। 'पटो न' यह तादात्म्यसम्वन्धावच्छिन्नपटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेद पट से भिन्न समस्त वस्तुओं में मिलता है; क्योंकि प्रतियोगितावच्छेदक के साथ भेद का विरोध है—"भेदप्रतियोगितावच्छेदकयोः परस्परं विरोधात्"।

अब प्रकृत में आइए। घटादि का प्रागभाव तो "अत्र कपाले घटो भविष्यति"—यहाँ कपाल में घट होगा—इत्यादि वाक्यों से ही अभिव्यङ्ग्य है। तात्पर्य यह कि 'नञ्' से प्रागभाव की प्रतीति कहीं नहीं होती।

घटजनकसामग्री की समवधानदशा में—'इह कपाले घटो नास्ति' प्रतीति का विषय घटप्रागभाव को मान लें, वही नञ् का अर्थ हो जायेगा—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उक्त प्रतीति के विषय घटाभाव से भूतभविष्यद्वर्तमान सभी घटों के अभाव का बोध होता है। उसके प्रतियोगी उक्त सभी घट हैं। अतः वह समवायसम्बन्धावच्छिन घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकात्यन्ताभाव ही है, अन्य घटप्रागभावादि नहीं। कारण यह कि प्रागभावकी प्रतियोगिता घटत्वादि सामान्यधर्मसे अवच्छिन्न नहीं होती; क्योंकि वहाँ घटत्व से समाक्रान्त भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी घटों का प्रागभाव नहीं है। भूतघट (भूतकालिक घट, जो पूर्व में नष्ट हो चुका है) या अन्य कपालों में उत्पत्स्यमान घटों में उस अभाव की प्रतियोगिता नहीं मानी जा सकती; क्योंकि उनकी उत्पत्ति प्रस्तुत कपाल में आगे नहीं होनी है। घटप्रागभाव घटोत्पत्ति के पूर्व में रहता है; क्योंकि वह भी घट का कारण है। इसलिए घट की उत्पत्ति होने के पश्चात् कारणकलाप के रहने पर भी दूसरा घट उत्पन्न नहीं होता,

प्रागभाव रूप एक कारण नष्ट जो हो गया है। तात्पर्य यह कि घट-प्रागभाव के प्रतियोगी सभी घट नहीं हो सकते।

यदि 'इह कपाले घटो नास्ति' प्रतीतिविषयीभूतघटाभावको घटप्रागभाव की शङ्का वाले यत्किञ्चित्प्रतियोगिक मानें, तो कपाल में घट की उत्पत्ति के बाद भी 'इह कपाले घटो नास्ति' प्रतीति होनी चाहिए; (क्योंकि वर्तमान घट के नष्ट होने के पश्चात् सामग्रीका समवधान होने पर घटान्तर की उत्पत्ति होनी है, अतः उसका प्रागभाव अभी है ही, कारण यह कि वह अनादि है–'अनादिः सान्तः प्रागभावः'। किन्तु वैसी प्रतीति नहीं होती। अतः उस प्रतीति–'इह कपाले घटो नास्ति' का विषय घटप्रागभाव नहीं माना जा सकता।

उस प्रतीति को घटप्रध्वंसाभाव की अवगाहिका भी नहीं कह सकते; क्योंकि जिस कपाल में घट नष्ट हो चुका है, वहीं सामग्री की समवधान-दशा में भी "इह कपाले घटो नास्ति" प्रतीति होती है; जिसमें नञर्थ अभाव घटत्वावच्छिन्न घट मात्र को प्रतियोगित्वेन विषय करता है। घटत्वावच्छिन्न में उत्पत्स्यमान घट भी है और उसका ध्वंस अभी हुआ नहीं है। अतः उक्त प्रतीति का विषय नञर्थ अभाव ध्वंसरूप नहीं है। वह तो ऐसा अभाव है, जो सभी घटों में रहने वाली प्रतियोगिता का निरूपक है। उस प्रतीतिमें घटत्वाक्रान्त सभी घटोंके अभाव का अवगाहन होता है। संसर्गाभाव और प्रागभावकी प्रतियोगिता सामान्यधर्मसे अवच्छिन्न नहीं होती; क्योंकि कपालविशेष में सभी घटों का न तो सामग्रीसमवधान कालमें प्रागभाव ही सम्भव है और न ही ध्वंससामग्री के समवहित होने पर नाश ही। अतः उस प्रतीति का विषय घटात्यन्ताभाव ही है। इसीलिए दीधितिकार रघुनाथ शिरोमणि ने कहा–

कार्यानुत्पाददशायां चाभावधीः सामयिकात्यन्ताभावमवगाहते। न च प्रतियोगिसमवायिनि समयावच्छेदेनात्यन्ताभाववृत्तौ मानाभावः। भाविनि नष्टे वा घटे 'इह कपाले घटो नास्ति' प्रत्ययप्रसङ्गात्। नह्ययं घटप्रतियोगिकाभावमात्रमवगाहते। यत्किञ्चिद्घटवत्यपि तादृशप्रत्ययप्रसङ्गात्। परन्तु घटत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकम्। न च ध्वंसाप्रगभावौ तथा। सम्भवतो वा तत्र कपाले ततः पूर्वं बहूनां नष्टत्वादुत्पत्स्यमानत्वाच्च।

–जागदीशी सामान्यलक्षणा, पृ० २१४,२१५,२१७

दीधितिकार ने प्रागभावकी सत्ता नहीं स्वीकार की। यदि घटात्यन्ताभाव और घटान्योन्याभावकी भाँति उसका भी प्रत्यक्ष होता तो वे

उसका अपलाप कैसे कर सकते थे। श्रीजगदीशभट्टाचार्य प्रभृति विद्वानों ने प्रागभाव माना है, किन्तु उनमें कोई भी विद्वान् प्रागभाव या ध्वंस की प्रतियोगिता सामान्यधर्मावच्छिन्न नहीं मानते। नञर्थ भी ये दोनों नहीं हैं। घटप्रागभाव तो 'इह कपाले घटो भविष्यति' इत्यादि वाक्योंसे अभिव्यङ्ग्य है और घटप्रध्वंसाभाव "इह कपाले घटो ध्वस्तः" इत्यादि प्रतीतियों का विषय होता है। कुछ लोग घटप्रागभाव का अभिव्यञ्जक चरमकारणरूप-सामग्री को मानते हैं और कुछ लोग कार्योपधायकत्वेन चरमकारणवत्ता लौकिक प्रत्यक्ष को। इस विषय में अनेक मत 'सामान्यलक्षणा' में आये हैं। किन्तु प्रागभाव को तो नञ् का अर्थ कोई विद्वान् मानता ही नहीं।

वैयाकरणभूषणसार की टीका का साक्ष्य

नञ् का अर्थ प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं होता—यह कहा जा चुका है। भूषण की 'प्रभा' टीका भी इस कथन में प्रमाण है–"भविष्यतो घटस्य स्वाधिकरणे=कपालादौ योऽभावः 'अत्र घटो भविष्यति' इत्यादि वाक्याभिव्यङ्ग्यः, सः प्रागभाव इत्युच्यते। भूतस्य घटस्य यो नाशः सः 'घटो नष्टः' इत्यादिवाक्यबोध्यः प्रध्वंसाभाव इत्युच्यते। एतौ च न 'नञ्' पदबोध्यौ"।–भूषणसार की प्रभा टीका, नञर्थनिर्णय, पृ० ३६१।

भविष्यद् घट का अपने अधिकरण कपालादि में जो अभाव–'अत्र घटो भविष्यति' इत्यादि वाक्यों से अभिव्यङ्ग्य है, वह प्रागभाव कहा जाता है। भूतघट का जो नाश "घटो नष्टः" इत्यादि वाक्यों से बोध्य है, वह प्रध्वंसाभाव कहा जाता है। ये दोनों अभाव नञ् पद बोध्य नहीं हैं।

निष्कर्ष––

इस परिशीलन से यह निश्चित हो गया कि जब 'नञ्' का अर्थ प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव है ही नहीं। तब जिन विद्वानों ने "भूतपूर्वं न किल्बिषम्" श्लोक में उसका अर्थ प्रध्वंसाभाव किया था, वे भी भ्रान्त हैं और प्रागभाव अर्थ करने वाले द्विवेदी जी भी भ्रान्त हैं। अतः इन लोगों द्वारा किया गया अर्थ समीचीन नहीं है।

श्लोकस्थ नञ् अन्योयाभाव या विरोध का समर्पक

'मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम्' श्लोक में प्रविष्ट नञ् का अर्थ अन्योन्याभाव भी किया जा सकता है; क्योंकि मनसा आदि पदों में तृतीया विभक्ति हेत्वर्थ में है। अतः दण्डेन घटः (दण्डहेतुकः घट इत्यर्थः) जैसे यहाँ भी तृतीयान्त मनसा प्रभृति पदार्थों का अन्वय भूतपूर्व

पदार्थ में करना पड़ेगा । ऐसी स्थिति में चूंकि महर्षि शपथ ले रहे हैं अत: 'मयि' पद का अध्याहार करके 'मयि किल्बिषं न अर्थात् किल्विषभिन्नं यन्मनोहेतुकं भूतपूर्वं-पूर्वंकृतं वस्तु, यच्च कर्महेतुकं भूतपूर्वं वस्तु, यच्च वाणीहेतुकं भूतपूर्वं वस्तु, तस्य फलम् उपश्नीयाम्-यदि मैथिली अपापा-पापरहिता' । किल्विष से भिन्न अर्थात् पुण्य, जो मन के द्वारा पूर्व में किये गये हैं, इसी प्रकार कर्म और वाणी से पूर्व में किये गये जो पुण्य हैं। उनका फल मैं भोगूं यदि जानकीजी निष्पाप हों । 'नञ्' के छह अर्थ माने गये हैं—

"तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता । अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्था: षट्प्रकीर्तिता:"। अब्राह्मण:, = ब्राह्मणसदृश:, अपाप: = पापाभाव:, अनश्व:-अश्वभिन्न:, अनुदरा-अल्पोदरा,अपशव:-अप्रशस्ता पशव:,अधर्म:-धर्मविरुद्ध:" —ये नञर्थ के उदाहरणहैं। इतना अवश्य है कि वैयाकरण लोग लाघवाद् नञ् द्योत्य अभावको मानते हैं । उनके यहां 'आरोपितब्राह्मणत्वविशिष्ट' इत्यादिरूपसे अब्राह्मण आदि पदार्थों का शाब्दबोध होकर 'ब्राह्मणसदृश—' इत्यादि बोध मानस होता है । कुछ भी हो, सादृश्यादि—विषयकबोध नञ् श्रवण के कुछ काल पश्चात् वैयाकरण भी मानते ही हैं ।

इन तथ्यों के प्रदर्शन का यही तात्पर्य है कि जब नञ् 'विरोध' अर्थ का भी द्योतक है । तब 'भूतपूर्वं न किल्विषम्' में नञ् को 'विरोध' अर्थ का द्योतक मानकर किल्विष विरोधी अर्थात् पुण्य अर्थ किया जा सकता है । सभी जानते है कि दिन की विरोधिनी रात्रि है और पाप का विरोधी पुण्य है । अत: "मन वचन और कर्म से किल्बिष विरोधी-पूर्व में किये गये—जो पुण्य हैं; उनका फल मैं भोगूं, यदि जानकी जी निष्पाप हों"—उक्त अर्थ में महर्षि के लूटमार आदि पापकर्मों से इस वचनका कोई विरोध नहीं है। टीकाकार भी "भूतपूर्वं" इस समस्त पद का 'पूर्वं=प्राक्काले भूतं-कृतम्' अर्थ करते हैं । उनके मतके अनुसार 'मयि' पद का अध्याहार न करके 'मया' पद का अध्याहार करलेना चाहिए । फिर अर्थ होगा—

मया पूर्वं=प्राक्काले मनसा कर्मणा वाचा यत् न किल्विषं=किल्विष-विरुद्धमर्थात् पुण्यं भूतं=कृतं, तस्य फलम् अहम् उपाश्नीयाम् यदि मैथिली अपापा=पापरहिता । पहले मेरे द्वारा मन कर्म और वचन से जो भी पुण्य किया गया है, उसका फल मैं भोगूं यदि सीता निष्पाप हों । ध्यान देने की बात है कि महर्षि वाल्मीकि ने जनकनन्दिनी की पवित्रता प्रकट

करने के लिए अपनी हजारों वर्ष की तपस्या दांव पर लगा दी—

बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता ।
नोपश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि मैथिली ।।

'मैंने हजारों वर्षों तक घोर तपस्या की है। यदि जानकी दोषयुक्त हों तो मुझे उसका फल न मिले'। यहाँ महर्षि ने अनेक सहस्र वर्ष की तपश्चर्या का संकेत किया है। इधर अध्यात्मरामायण में एकसहस्र युग के उत्तरार्द्ध अर्थात् हजारों वर्ष की तपश्चर्याका उल्लेख है। इसी तपश्चर्या के पश्चात् इनकी वाल्मीकि संज्ञा पड़ी और ये मुनीश्वर कहलाये। वल्मीक से निकलने पर इनका द्वितीय जन्म माना गया। इसके बाद ये प्रतिदिन नित्यनैमित्तिक कर्म, वेदाध्ययन और ब्रह्मगायत्री का जप आदि करते ही रहते थे। उसी के फल की ओर दूसरी प्रतिज्ञा का संकेत है—

मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम् ।
तस्य फलमुपाश्नीयामपापा मैथिली यदि ।।

इस प्रकार अपने जीवनकाल में करोड़ों वर्ष की अनवरत तपस्या से अर्जित पुण्यराशि तथा खण्डशः सम्पादित प्रचुर पुण्यनिचय-इन दोनों को मैथिली की शुद्धता प्रमाणित करने के लिए महर्षि ने दांव पर लगा दिया। इस परिशीलन से निश्चित हो गया कि अध्यात्मरामायण और स्कन्दपुराणादि में वर्णित महर्षि के लूटमार आदि कर्मोंसे श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के "भूतपूर्वं न किल्बिषम्" आदि वचन विरुद्ध नहीं हैं।

श्लोकस्थ नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव भी सम्भव

'भूतपूर्वं न किल्बिषम्' श्लोकस्थ नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव भी हो सकता है। इसका पूर्व में विशद विवेचन हो चुका है। इस पक्ष में 'न किल्बिषम्' का अर्थ 'पुण्य' नहीं होगा; क्योंकि यहाँ नञ् "विरोध" अर्थ का समर्पक नहीं, अपितु अत्यन्ताभाव का ही समर्पक माना गया है। इस पक्ष में मयि पद का अध्याहार करके "(मयि) मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं किल्बिषं न (अस्ति) तस्य फलम् (अहम्) उपाश्नीयाम्, यदि मैथिली अपापा"। "मन कर्म और वचन से किये गये भूतपूर्व पाप मुझमें नहीं है। उन पापों के अभाव का फल मैं प्राप्त करूँ यदि जानकीजी निष्पाप हों"।

ध्यातव्य है कि यहाँ तपश्चर्या से जिन पापों का विनाश हो चुका है, उन्हींका अत्यन्ताभाव बतलाया जा रहा है। किसी वस्तुके अत्यन्ताभाव

का उसके प्रतियोगी के साथ विरोध है। जैसे घट का अत्यन्ताभाव वहाँ नहीं रह सकता, जहाँ उसका प्रतियोगी घट रहता है। तात्पर्य यह कि यत्सम्बन्धावच्छिन्न यद्धर्मावच्छिन्नप्रतियोगिताक–अत्यन्ताभाव का तत्सम्बन्धावच्छिन्न तद्धर्मावच्छिन्न प्रतियोगितवान्' के साथ विरोध है। संयोग सम्बधेन घट का अभाव भूतल में तभी रहेगा, जब संयोगसम्बन्धेन घट वहाँ न रहे। उक्त अभाव समवायसम्बन्धेन घट के अधिकरण कपाल में विना रोक-टोक के रहेगा।

जब यह सुनिश्चित है कि अत्यन्ताभावका विरोध उसके प्रतियोगी से है। तब देखना चाहिए कि प्रतियोगी किन किन परिस्थितियों में नहीं मिलता। प्रथम तो यह कि घट को हटाकर अन्यत्र रख दिया जाय। द्वितीय यह कि जहाँ प्रतियोगी (घट) नष्ट हो गया हो। तृतीय वह स्थल, जहाँ प्रतियोगी उत्पन्न ही न हुआ हो। इन सभी स्थलों में घटात्यन्ताभाव मिल जायेगा। अर्थात् घटप्रागभाव और घटध्वंस इन दोनों अभावों के अधिकरण में घटात्यन्ताभाव समुपलब्ध होता है; क्योंकि प्रतियोगी घट की सत्ता वहाँ नहीं है। इसीलिए घटप्रागभाव और घटध्वंसाभावके अधिकरण कपाल में घट के अत्यन्ताभाव को अवगाहन करने वाली 'इह कपाले घटो नास्ति' इत्याकारक प्रतीति प्रामाणिकों को होती है। इसी प्रकार महर्षि के पापों का ध्वंस हो जाने पर उस ध्वंस के साथ पापात्यन्ताभाव को रहने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। श्लोकार्द्ध में सभी पद सुबन्त हैं। भूतपूर्व पदार्थ 'किल्बिष' पदार्थ का विशेषण है। इस प्रकार मन, वाणी तथा शरीर से सम्पादित सभी भूतपूर्व पापों का अत्यन्ताभाव महर्षिप्रवर ने अपने में बतलाया।

"असमस्त नञ्" का अन्वय गुण में भी होता है। नञ् सूत्र के भाष्य में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं–"प्रसज्ज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान्निवृत्तिं करोति"।—महाभाष्य २/अ०/२/पा० १/अ०।

–'यह नञ् क्रिया और गुण का विधान करके तत्पश्चात् उसकी निवृत्ति करता है'। गुणका उदाहरण महाभाष्यकारने दिया है–"भवति चैवंजातीयकानामप्येकस्य प्रतिषेधेन बहूनां सम्प्रत्ययः। तद्यथा–न न एकं प्रियम्, न न एकं सुखमिति"। यहाँ प्रथम 'न' षष्ठ्यन्त पद है–नोऽस्माकं प्रियम् एकं न (मेरा प्रिय एक नहीं है अर्थात् अनेक है)। इस भाष्य की व्याख्या में महापण्डित कैयटजी लिखते हैं—अत्रैकत्वप्रतिषेधादेवसंख्यान्तरयुक्तवस्तुप्रतीतिः।

यहाँ 'अस्तिक्रिया का अध्याहार करके एककर्तृकसत्ता का निषेध किया गया है'–ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि "प्रसज्यायं क्रियागुणौ ततः पश्चान्निवृत्तिं करोति" भाष्य से विरोध होगा। तात्पर्य यह कि गुणपद का ग्रहण वहाँ व्यर्थ हो जायेगा; क्योंकि सर्वत्र अस्ति क्रिया का अध्याहार करके उक्त सत्ता का निषेध किया जा सकता है और 'एकस्य प्रतिषेधेन बहूनां सम्प्रत्ययः' इत्यादि भाष्य से तो साक्षात् विरोध है; क्योंकि यहाँ भाष्यकार ने कण्ठतः एकत्व का प्रतिषेध कहा है। इसलिए प्रसज्यप्रतिषेधार्थक नञ् का गुण में भी अन्वय सिद्ध होने से "प्रसज्यप्रतिषेधो हि क्रियया सह यत्र नञ्" कारिका में प्रविष्ट क्रिया पद को गुण का भी उपलक्षक समझना चाहिए।

प्रकृत स्थलमें श्लोकघटक किल्बिषपदार्थ पाप–आत्मा या अन्तःकरण का–गुणविशेष है। इसे ही पुराणादि में बाहुल्येन अधर्म शब्द से कहा गया है। इसी का अत्यन्ताभाव महर्षि 'वाल्मीकि' ने अपने में बतलाया है। 'भूतपूर्व' पद का प्रयोजन 'किंवदन्तीविमर्शभङ्ग' प्रकरण में दिया ही जा चुका है।

शंका–

महर्षि वाल्मीकि ने प्रथम श्लोक "बहुवर्ष सहस्राणि..." में मैथिली की दोषावस्था में हजारों वर्ष की तपश्चर्या से समुत्पन्न पुण्य का फल न प्राप्त करने की शपथ ली। 'तपसा किल्बिषं हन्ति' उक्ति के अनुसार यदि तपश्चर्या का फल पापध्वंस मानकर उन पापों के अत्यन्ताभाव का फल न प्राप्त करने की शपथ द्वितीय "मनसा कर्मणा......" श्लोक में स्वीकार करें तो सबसे बड़ी अनुपपत्ति यह होगी कि जब उस तपस्यासे उत्पन्न पुण्य के फलानवाप्ति की शपथ ली गयी तो उसका विनियोग पुण्योत्पादन में हो ही चुका। अब पापध्वंस के लिए उसका विनियोग कैसे होगा? (प्रायश्चित्त रूप में) तपस्या का विनियोग चाहे पापध्वंस में कर लें या पुण्योत्पादन में ही, जो तपस्या पापध्वंस करने में नष्ट हो गयी, वह पुण्योत्पादन कैसे करेगी अथवा जो पुण्योत्पादन में चली गयी, वह पापध्वंस कैसे करेगी? तात्पर्य यह कि उसी तपस्या को कई रूपों में नहीं भुनाया जा सकता। अतः 'नञ्' का अर्थ अत्यन्ताभाव नहीं किया जा सकता। उसका अर्थ पूर्वोक्तरीत्या भेद या विरोध ही मानना चाहिए।

समाधान–

अध्यात्मरामायण के अयोध्या काण्ड में वर्णित है कि महर्षि ने

सहस्र युग की चरम अवधि तक भगवन्नाम का जप करते हुए अविराम तपश्चर्या की। सहस्रयुग चार अरब बत्तीस करोड़ मानव वर्षों का होता है। महर्षि को दस्यु जीवन में उपार्जित पापों से मुक्ति कुछ क्षणों, दिनों या वर्षों की तपश्चर्या से मिल गयी होगी; क्योंकि भगवन्नाम में पापनिबर्हंण की इतनी सामर्थ्य है कि पापी उतने पाप कर ही नहीं सकता—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः । } स्क०पु०तृ०ख०प०उ०
तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥ } मा० मा० १५/५३

यदि महर्षि के पापों का नाश नहीं हुआ होता तो उनकी इतने दीर्घकालपर्यन्त समाधि नहीं लग सकती थी, क्योंकि पाप-लय, विक्षेप और कषाय के द्वारा समाधि के-प्रतिबन्धक हैं। अब चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष की तपश्चर्या में यदि कुछ तपश्चर्या पापध्वंस में लग भी गयी हो तो भी हजारों ही नहीं, करोड़ों वर्षकी तपश्चर्या पुण्योत्पादन के लिए बची हुई है। जिससे प्राप्य फल के अप्राप्ति की शपथ महर्षि ने प्रथम वचन में ली। अतः कोई अनुपपत्ति नहीं।

शंका—

"मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्विषम्। तस्य फलमुपाश्नीयाम पापा मैथिली यदि" श्लोक में नञ् का अर्थ अत्यन्ताभाव करके महर्षि में मानस, वाचिक और कायिक इन तीनों प्रकारके भूतपूर्व पापोंका अत्यन्ताभाव बतलाया गया। पापात्यन्ताभाव का क्या फल है? जिसे महर्षि मैथिली की निर्दोषावस्था में ही प्राप्त करने की शपथ ले रहे हैं? क्या अभाव का भी कोई फल हो सकता है जिसे भोगा जा सके?

समाधान—

पापों का अत्यन्ताभाव तत्त्वज्ञान या भगवत्साक्षात्कार के लिए अत्यावश्यक है। जब तक पाप बैठे हैं तब तक तत्त्वज्ञान या भगवत्साक्षात्कार कथमपि नहीं हो सकता। इसीलिए वेदव्यास भगवान् कृष्णद्वैपायन ने कहा है—

ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः । } म०भा०शा०प०
यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनाः ॥ } २०४ / ८ ।

पापों का नाश होने पर मानव को भगवत्साक्षात्कार होता है। जैसे स्वच्छ दर्पण में अपना मुख दिखता है, वैसे ही जब पाप नष्ट होकर अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तब उसमें परमात्मसाक्षात्कार होता है।

सुख दो प्रकार के हैं। पहला सातिशय, दूसरा निरतिशय। इनमें रूप रसादि विषयों के साथ चक्षुः आदि इन्द्रियों के सम्बन्ध से जो सुख होता है, वह सातिशय कहलाता है। इस सुखमें तारतम्य बना रहता है। अर्थात् किसी को कम और किसीको उससे अधिक विषयसुख मिलता है। निरतिशय सुख भगवान् ही हैं–"आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"। भगवान् आनन्द स्वरूप हैं। और वे पूर्ण हैं–"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"॥ इसमें प्रमाण है। अतः उनका साक्षात्कार निरतियशय सुख का साक्षात्कार है। जो सभी प्राणियों का प्राप्तव्य है। सुख के दो प्रकारों का निर्देश वेदान्तपरिभाषाकार ने किया है–"सुखं तु द्विविधं सातिशयं निरतिशयं च। तत्र सातिशयं सुखं विषयानुषङ्गजनितान्तःकरणवृत्तितारतम्यकृतानन्दलेशाविर्भावविशेषः। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेः। निरतिशयं सुखं ब्रह्मैव।'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतिः"। –वेदान्तपरिभाषा, प्रयोजनपरिच्छेद।

सांसारिक प्राणी विषयसुख को ही जीवन का लक्ष्य समझकर उसकी प्राप्तिके लिए प्रयत्नशील रहते हैं। किन्तु महर्षिगण जिनका तपश्चर्यादि से अन्तःकरण शुद्ध हो गया है और गुरुजनों की सेवा से परमात्मा का श्रवण कर चुके हैं। उनको अपने जीवन का चरमलक्ष्य परमानन्द की प्राप्ति ही है और वह भगवत्साक्षात्कार स्वरूप है।

महर्षि वाल्मीकि के पाप प्रबल तपश्चर्या से ध्वस्त हो चुके थे। पापों का नाश होने पर उनका अत्यन्ताभाव मिलता ही है। चाहे पूर्व के पाप नष्ट हो गये हों, या कभी उत्पन्न ही न हुए हों, कोई भी स्थिति हो, किन्तु भगवत्साक्षात्कार के लिए पापों का अभाव अनिवार्य है। पापों का अत्यन्ताभाव होने के कारण उसका फल परम सुख भगवान् का साक्षात्कार जिसे मुक्ति भी कहते हैं, महर्षि वाल्मीकि को मिलना था। उसी निरतिशय सुख को महर्षि ने मैथिली की शुद्धता प्रमाणित करनेके लिए दांव पर लगा दिया। पापध्वंस का फल परमात्मदर्शन बतलाया गया है, पापों के अत्यन्ताभाव का फल नहीं–ऐसा नहीं कह सकते; क्योंकि ऐसा मानने पर जिन लोगों से पाप होकर नष्ट हो गये उन्हीं को भगवद् दर्शन होगा। जिनसे कोई पाप हुआ ही नहीं उन्हें भगवद्दर्शन नहीं हो सकता। जबकि ऐसा नही है; क्योंकि व्यास, वशिष्ठ और नारदादि ऐसे महापुरुष हैं जिन्होंने कभी पाप किया ही नहीं। अतः उनके अन्तःकरण में पापध्वंस की स्थिति ही असम्भव है। फिर भी उन्हें भगवद्दर्शन हुआ

है । अतः "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः" का तात्पर्य पापोंके अत्यन्ताभाव होने पर ही ज्ञान (भगवत्साक्षात्कार) के होने में है। पापों के ध्वंसकाल में पापों का अत्यन्ताभाव मिल ही जाता है । अतः कोई अनुपपत्ति नहीं । इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि पापात्यन्ताभाव का कोई फल नहीं है ।

महर्षि ने प्रथम वचन 'बहुवर्षसहस्राणि --' में तपस्या से प्राप्य अन्य फलों के अप्राप्ति की शपथ ली । किन्तु द्वितीय वचन-"मनसा कर्मणा वाचा..." में पापात्यन्ताभाव से लभ्य परमसुख भगवान् का साक्षात्कार अर्थात् मुक्ति के अप्राप्ति की शपथ ली है, जो कि विषय की गरिमा के कारण पूर्व शपथ से श्रेष्ठ है ।

इस प्रकार "भूतपूर्वं न किल्बिषम्" इत्यादि वाल्मीकि-रामायण के वचनों से अध्यात्मरामायण या स्कन्दपुराण में आयी वाल्मीकि की लूट मार की घटनाओं का वर्णन अविरुद्ध होने से अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता, वे सब वर्णन पूर्णरूपेण प्रामाणिक ही हैं; क्योंकि उनका किसी वचन से कोई विरोध नहीं ।

भ्रान्ति का क्षेत्र विस्तृत

द्विवेदी जी को नञर्थ के विषय में केवल "भूतपूर्वं न किल्बिषम्" में ही भ्रान्ति नही है, अपितु अन्य ग्रन्थों के श्लोकों में भी है; क्योंकि वे महाशय स्वयं लिख रहे हैं-"संस्कृतसाहित्य में जहाँ कहीं नकार के साथ भूतपूर्व, दृष्टपूर्व आदि शब्दों के प्रयोग हुए हैं, जैसे-"अनृतं नोक्तपूर्वं मे न च वक्ष्ये कदाचन' । 'न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन'। 'वृथा हि न प्रसादो मे भूतपूर्वः शुचिस्मिते' । 'वितथं नोक्तपूर्वं मे स्वेरेष्वपि कुतोऽन्यथा' न तथा दृष्टपूर्वोऽन्यः कश्चिदुग्रतपा इति ।।

इन सभी स्थलों पर पूर्वकालिक तत्तत्क्रियाओं का निषेध अर्थात् प्रागभाव ही विवक्षित है, विनाश अथवा प्रध्वंसाभाव नहीं" ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग-

पूर्व में अभी सिद्ध किया जा चुका है कि नञ् का अर्थ प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव होता ही नहीं । फिर इन श्लोकों में या संस्कृतसाहित्य के किसी भी श्लोक में आये नञ् का अर्थ प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव करना अनभिज्ञता नहीं तो और क्या है? जहाँ कहीं भी नञ् का अन्वय

क्रिया आदि के साथ होता है वहाँ अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव, विरोध आदि घोषित होता है, प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं। अत्यन्ताभाव का उदाहरण महाभाष्य प्रस्तुत करके 'न न एकं प्रियम्' दिया जा चुका है। अन्योन्याभाव के उदाहरण 'घटो न, पटो न' इत्यादि सुस्पष्ट ही हैं। विरोध का उदाहरण न सुरः असुरः है तथा मीमांसाशास्त्र में "नेक्षेतोद्यन्त-मादित्यं नास्तं यन्तं कदाचन। नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यनभसो गतम्"। श्लोक निष्ठ नञ् का अर्थ विरोध किया गया है। मीमांसान्यायप्रकाशकार अनन्तदेव इस श्लोक पर लिखते हैं—

अतश्च 'नेक्षेतेत्यत्र नञो धातुयोगात् नञीक्षतिभ्यामीक्षणविरोधी कश्चनार्थः प्रतिपाद्यते'। —मीमांसा न्यायप्रकाश, पृ० २५४। यद्यपि ईक्षणविरोधी अनेक पदार्थ हैं। तथापि विधानयोग्य अनीक्षणसंकल्प पदार्थ लक्षणया उपस्थित हो जायेगा और अन्य छूट जायेंगे। इसीलिए अनन्तदेव पुनः लिखते हैं—"सत्यपिपदार्थान्तरस्येक्षणविरोधित्वे सर्वक्रियाऽविनाभूतत्वेन सङ्कल्पस्यैव लक्षणात् स एव नेक्षेतेत्यत्र कर्तव्यतयाविधीयते-अनीक्षण सङ्कल्पेन भावयेदिति" ।—मीमांसान्यायप्रकाश पृ० २५५।

"तदन्यतद्विरुद्धतदभावेषु नञ्"—मीमांसा न्याय प्रकाश, से प्राचीन विद्वानों ने भेद, विरोध और अत्यन्ताभाव इन अर्थों में नञ् का स्मरण किया है, प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव में नहीं।

पण्डित जी ने जिन श्लोकों को प्रस्तुत किया है, उनका अर्थ है-पूर्वोक्त कथन मिथ्या नहीं है और भविष्य में भी मिथ्या नहीं बोलूंगा। मैंने पहले कभी ऐसा रूप नहीं देखा। ध्यातव्य है कि यहाँ 'दृष्टं पूर्वं' पाठ है, न कि दृष्टपूर्वम्। हे शुचिस्मिते! मेरा भूतपूर्व अनुग्रह व्यर्थ नहीं है अर्थात् मेरा अनुग्रह पहले कभी भी व्यर्थ नहीं हुआ। स्वच्छन्दगामियों में भी मेरे पूर्व में कहे गये वचन मिथ्या नहीं हैं, फिर अन्यों के बीच की क्या बात है। पूर्व में दृष्ट अन्य उग्र तपस्वी वैसा नहीं है। यहाँ प्रथम वाक्यनिष्ठ नञर्थ भेदमें अन्वय अनृतपदार्थका तथा द्वितीय वाक्य स्थ नञर्थ अत्यन्ताभाव का अन्वय दर्शन क्रिया में हुआ है। तृतीय, चतुर्थ वाक्य में नञर्थ भेद का अन्वय क्रमशः वृथा पदार्थ तथा वितथ पदार्थ में हुआ है। इसी प्रकार पञ्चमवाक्य में भी नञर्थ भेद का अन्वय 'तथा' पदार्थ में हुआ है। इन सब श्लोकों में कहीं भी क्रियाओं का प्रागभाव विवक्षित नहीं है और न प्रागभाव नञ् का अर्थ ही है। इस रीतिसे 'नेदृशं दृष्टपूर्वं में श्रुतं वा घोरदर्शनम्' में भी नञर्थ भेदका अन्वय ईदृशपदार्थ में होकर

पूर्व में दृष्ट वस्तु इससे भिन्न है अर्थात् पूर्व में ऐसा न देखा गया है और न सुना ही हूँ"–यही अर्थ होगा।

वैयाकरणभूषणसारकारिकार्थविषयकभ्रान्ति

वैयाकरणों में 'वैयाकरणभूषणसार' का बड़ा महत्व है। इसमें व्याकरण के सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़े अच्छे ढंग से किया गया है। इसकी कारिकायें अपने में गम्भीर रहस्य छिपाये हुए हैं। इसीलिए स्वयं ग्रन्थकार ने इन कारिकाओं के अर्थ का व्याख्यान विशदरूप से किया है। इसकी कारिका के अर्थ में पं० बैजनाथ द्विवेदी भ्रान्त हैं, जो कि अपने को बहुत बड़ा वैयाकरण मानते हैं। इनकी भ्रान्ति इन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत है–

"सम्बोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः कारकं प्रथमं वतिः।
धातुसम्बन्धाधिकारनिष्पन्नमसमस्तनञ् ॥ } भूषण १/१६

भट्टोजिदीक्षित की इस कारिकानुसार असमस्त नञ् का अन्वय धातूपस्थाप्य क्रिया में ही होना समुचित है, क्रियाविष्ट कारक में नहीं। इसीलिए घट की विद्यमानता में भी 'घटो न जायते' प्रयोग होता है। क्योंकि अब उसकी उत्पत्त्याख्यक्रिया समाप्त हो चुकी है। अतः रामायण के इस स्थल पर भी "भूतपूर्वं न किल्बिषम्" का पूर्वकालिक किल्बिष-कर्तृकभवनक्रिया का ही निषेध अर्थात् प्रागभाव अर्थ करना ही समुचित है, प्रध्वंसाभाव नहीं"। –महर्षि वाल्मीकि पृष्ठ

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

"सम्बोधनान्तं कृत्वोऽर्थाः... भूषण। १/१६। भट्टोजिदीक्षित की कारिका के अनुसार असमस्त नञ् का अन्वय धातूपस्थाप्य क्रिया में ही होना समुचित है" द्विवेदीजी का यह कथन भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि यह वैयाकरणभूषणसार, दर्पण, और महाभाष्यादि से सर्वथा विरुद्ध है। इसका कारण यह कि "न ब्राह्मणमानय" इत्यादि वाक्यों में असमस्त नञ् के अर्थ का अन्वय ब्राह्मण आदि पदार्थों में हुआ है। इसीलिए भूषणसार के प्रसिद्ध टीकाकार लिखते हैं–

न ब्राह्मणमानय इत्यादौ नञर्थारोपस्य ब्राह्मणदावन्वयेन व्यभिचारापत्तेरितिभावः।—वै०भू०सार की दर्पणटीका।

तात्पर्य यह कि असमस्त नञ् का अभिप्राय यदि 'जो नञ् समस्त नहीं है' उसी से माना जाय तो 'न ब्राह्मणमानय' इत्यादि वाक्यों में नञर्थ

आरोप का ब्राह्मण में अन्वय अनुभूत होने से "असमस्त नञ् (नञर्थ) का क्रिया में ही अन्वय होना समुचित है" कथन व्यभिचरित हो जायेगा।

महाभाष्यकार ने भी 'न न एकं प्रियम्' नञ् सूत्र के महाभाष्य में नञर्थ का अन्वय एकत्व संख्या में ही माना है। इसका दिग्दर्शन पूर्व में कराया जा चुका है। यही नहीं, 'घटो न पटः' इत्यादि वाक्यों में पटत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताक भेदवान् घटः-ऐसा शाब्दबोध प्रामाणिकों को होता है। इसीलिए गदाधर भट्टाचार्य लिखते हैं–भेदान्वयबोधश्च प्रातिपदिकार्थधात्वर्थयोः प्रत्ययार्थेन क्वचिन्निपातार्थेन च सममेव जायते न त्वन्येन।–व्युत्पत्तिवाद, प्रथमा कारक, पृ० ६७,६८। (प्रातिपदिकार्थ और धात्वर्थ का भेदान्वय प्रत्ययार्थ और कहीं कहीं निपातार्थ के साथ ही होता है, अन्य के साथ नहीं) यहां निपात (नञादि) का अन्वय प्रातिपदिकार्थ के साथ कहा गया है और वैसा अनुभूत भी है। उक्त प्रयोगों का अपलाप कोई विज्ञ नहीं कर सकता है। अतः इन सब विद्वानों के प्रामाणिक ग्रन्थ व्युत्पत्तिवाद आदि से भी द्विवेदी जी कथन विरुद्ध होने से अप्रामाणिक और भ्रान्तिमूलक है। अतएव भूषणकार ने असमस्तनञ् को पारिभाषिक मानकर व्याख्यान किया है–

असमस्तनञ् = समासायोग्यः प्रसज्यप्रतिषेधीयो नञित्यर्थः।–भू.सा.पृ. ११६

असमस्तनञ् का तात्पर्य अत्यन्ताभावार्थक नञ् से है।

"न ब्राह्मणमानय, 'घटो न पटः' इत्यादि वाक्यों में नञ् भेदार्थक है अतः कोई अनुपपत्ति नहीं। इतने पर भी "न न एकं प्रियम्" इस महाभाष्य से यह कथन विरुद्ध हो रहा है। अतएव "असमस्त नञः क्रियायामेवान्वयात्"–भूषण, नञर्थ निर्णयके ऊपर प्रभाकार ने पृ० ३५९ में 'क्रियाग्रहणं गुणस्याप्युपलक्षणम्' कहा है और गुण का उदाहरण 'न न एकं प्रियम्' भाष्य वाक्य को दिया। अतः उसका यही तात्पर्यहै कि प्रसज्यप्रतिषेधीय नञर्थ का क्रिया एवं गुण में अन्वय होता है। "क्रिया में ही होता है" यह अर्थ नहीं है। अन्यथा महाभाष्य से विरोध होगा।

द्विवेदी जी द्वारा प्रस्तुत 'घटो न जायते' में भी क्रिया का निषेध अर्थात् अत्यन्ताभाव ही प्रतीत होता है; क्योंकि 'घटो न जायते इत्यादौ क्रियाया एव निषेधप्रतीतेः' वाक्य का 'निषेधप्रतीतेः' प्रतीक लेकर दर्पणकार लिखते हैं–निषेधप्रतीतेरिति। अत्यन्ताभावप्रतीतेरित्यर्थः। यहां निषेध का अर्थ अत्यन्ताभाव स्वयं महावैयाकरण हरिवल्लभ शास्त्री दर्पणटीकाकार ने भी किया है। फिर भी द्विवेदीजी निषेध का अर्थ प्रागभाव समझकर

लिखते हैं कि "सभी स्थलों में तत्तत्क्रियाओं का निषेध अर्थात् प्रागभाव ही विवक्षित है"। जबकि निषेध का अर्थ प्रागभाव कभी होता ही नहीं। अतः 'भूतपूर्वं न किल्बिषम्' में नञर्थ प्रागभाव या प्रध्वंसाभाव नहीं है। "किल्बिषकर्तृ कपूर्वकालिकभवनक्रिया का निषेध अर्थात् प्रागभाव" अर्थ भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि नञ् का अर्थ प्रागभाव होता ही नहीं। ये सब पूर्व में दिखाया जा चुका है। "न न एकं प्रियम्" इस महाभाष्य के प्रयोग की भाँति 'भूतपूर्वं न किल्बिषम्' में भी नञर्थ अत्यन्ताभाव का अन्वय किल्बिष पदार्थ में होगा जो कि आत्मा या अन्तःकरण का गुणविशेष है। अतः मेरे द्वारा किये गये पूर्वोक्त अर्थ में कोई अनुपपत्ति नहीं।

टीकाकारों के वाल्मीकिविषयक विचार

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण के प्रसिद्ध टीकाकार श्रीनागेशभट्ट अपनी टीकाके उपक्रम में ऋषिप्रवर वाल्मीकि को शुद्ध ही घोषित किये हैं। उनके द्वारा की गयी कठिन तपश्चर्या का उद्देश्य भट्टजी ने श्रीरामतत्व का परिज्ञान एवं उसके उपवर्णनोपयिक अपूर्व कवित्व शक्ति की प्राप्ति ही माना है न कि चौर्यहत्यादि कुकृत्यों का प्रायश्चित्त देखें—

"अथादिकविर्वाल्मीकिः सर्वोत्तमवस्तुवर्णनाय कृतसङ्कल्पो दिव्यतत्काव्यकृतिशक्तिलाभाय तादृशवस्तुज्ञानाय च कृतकष्टसमाधिसाधितपरमपुण्यचयः— — ..."

इसी प्रकार महापण्डित श्रीगोविन्दराजजी भी महर्षि वाल्मीकि को 'मरा' नामजापक न लिखकर राममन्त्र का ही जापक लिखते हैं— "सततराममन्त्रानुसन्धानसन्धुक्षितहृदयवाल्मीकिमुखेन — —" इत्यादि।

पण्डित वैजनाथ द्विवेदीजी इन टीकाकारों की दुहाई अपने द्वारा कथित वाल्मीकि की परिशुद्धता में दिये हैं। इन्हें मात्र यही ज्ञात है कि वाल्मीकि को 'मरा' जपोदेश देने की चर्चा केवल अध्यात्मरामायण में आयी है इसलिए इन्होंने "मरा" शब्द को हिन्दी की खड़ी बोली का शब्द मानकर 'अध्यात्मरामायण' को अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास किया। जबकि अध्यात्मरामायण को ब्रह्माण्डपुराण का खिलभाग माना गया है। ये वाल्मीकि को दिये गये "मरा" जपोपदेश को हिन्दीकाल की कल्पना मानते हैं। देखें—

"अध्यात्मरामायण के अयोध्याकाण्ड के छठे सर्ग के ६५वें श्लोक

से चित्रकूटस्थ महर्षि वाल्मीकि के सम्बन्ध में जो कथा उपवर्णित है। उसमें उनके उद्धार हेतु सप्तर्षियों द्वारा 'मरा' इस आनुपूर्वी के जप का उपदेश उन्हें दिया गया है। 'मरा' शब्द का प्रयोग आजकल हिन्दी की खड़ी बोली में ही शुद्धरूप में मिलता है। घोड़ा मरा, बैल मरा, आदमी मरा आदि। हिन्दी का शब्द होने के कारण यह घटना या कल्पना हिन्दीकाल की ही मानी जा सकती है। हिन्दी भाषा या साहित्य का विकासकाल १५वीं १६वीं शती से पीछे नहीं जा सकता। अतः इस घटना का उपवर्णन करने वाला 'अध्यात्मरामायण' श्रीगोविन्द राज के काल १५वीं शती के पश्चात् ही बना है। इसके विपरीत यह ग्रन्थ यदि ब्रह्माण्ड पुराण का खिलभाग होता तो भूषणटीकाकार श्री गोविन्दराज को इसका परिज्ञान अवश्य हुआ होता और उस परिस्थिति में वे महर्षि वाल्मीकि को राममन्त्रानुसन्धाता न लिखते।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

हिन्दी साहित्य—विकास विद् जी ! आपने 'अध्यात्मरामायण' में आये हुए 'मरा' शब्द को हिन्दी की शुद्ध खड़ी बोली का शब्द माना है, किन्तु हिन्दी भाषा या साहित्य के विकासकाल के निर्धारण में आप चूक गये; क्योंकि व्यापक अर्थ में हिन्दी आठ बोलियों (ब्रज, खड़ी बोली, बुन्देली, हरियाणी, कन्नौजी, अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी) और तीन उपभाषाओं (राजस्थानी, पहाड़ी, बिहारी) के सम्पूर्ण साहित्य का प्रतिनिधित्व करती है। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से हिन्दी के अन्तर्गत उपर्युक्त आठ बोलियों को ही परिगणित किया जाता है। सीमित अर्थ में हिन्दी से खड़ी बोली के परिनिष्ठित एवं साहित्यिक रूप अर्थ का ही ग्रहण किया जाता है। जो हिन्दी प्रदेश के विद्यालयों में शिक्षा का माध्यम है। चूंकि 'मरा' शब्द खड़ी बोली का शब्द है, इसलिए खड़ी बोली ही इनके हिन्दी भाषा या साहित्य शब्द से विवक्षित मानी जायेगी, अन्य ब्रज, बुन्देली आदि नहीं। खड़ी बोलीस्वरूप हिन्दी भाषा या साहित्य का विकास १५वीं या १६वीं शताब्दी में नहीं हुआ। इसके परिज्ञान के लिए द्विवेदी जी को हिन्दी भाषा का इतिहास पढ़ना पड़ेगा।

खड़ी बोली गद्य का विकास प्रारम्भ में मुंशी सदासुखलाल (सन् १७४६–१८२४ ई०), मुंशी ईशाअल्ला खां (सन् १८१८) और सदल मिश्र (सन् १७६८–१८४८) तथा पण्डित बच्चूलाल इन चार लेखकों

द्वारा हुआ। हाँ, रामप्रसादनिरञ्जनी के 'भाषायोगवशिष्ठ' सन् १७४१ की भाषा कुछ अधिक परिष्कृत है। खड़ी बोली गद्य की रचनाएं १७ वीं शताब्दी से ही प्राप्त होती हैं। सन् १६२३ ई० में जटमल द्वारा लिखित "गोरा-बादल" की कथा उल्लेख्य है। इसके पूर्व खड़ी बोली के गद्य की रचना है ही नहीं।

इधर 'अध्यात्मरामायण' की रामगीता पर १४वीं शती के श्रीधर स्वामी के टीका की पाण्डुलिपि संख्या नम्बर १६७२३ (सोलह हजार सात सौ तेइस), सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के 'सरस्वती-भवन' में उपलब्ध है। श्रीधर का काल सन् १२९०-१३८० A. D स्वीकृत है। अतः निश्चित है कि श्रीधरी टीका की रचना के सुदूर पूर्व अध्यात्मरामायण की रचना हो चुकी थी, जिस समय हिन्दी भाषा या साहित्य के विकास और खड़ी बोली की कोई सत्ता ही नहीं थी।

इतना ही नहीं, १५वीं शती के श्रीगोविन्दराज जी से सुदूर पूर्ववर्ती श्रीमद्रामानुजाचार्य (सन् १०१७-११३७ई० A.D) से भी पूर्व की अध्यात्मरामायण की हस्तलिखित पाण्डुलिपि 'बनारसहिन्दू यूनिवर्सिटी' की 'सेन्ट्रल लाइब्रेरी' में सुरक्षित है। ११९ पन्नों की इस पाण्डुलिपि का लेखन-काल सम्वत् १०३४ अर्थात् सन् ९७७ ई० है। वहाँ के मुद्रित केटलॉग में इसका विवरण निम्नलिखित है—

S.No	Accn.No	अध्यात्म	Author	Date	Cond.	Serips	119
12/68/72	C. 5412	रामायण	व्यास	Som 1034	G.	B.	पन्नेपूर्ण

सन् ९७७ ई० की इस पाण्डुलिपि के प्रकाश में आने से आजतक के सभी लेखकों के अर्वाचीनता साधक हेतुओं पर व्रजाघात हुआ है। सन् ९७७ ई० में हिन्दी की उस खड़ी बोली के जन्म की भी कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें 'मर गया' अर्थ में प्रयुक्त 'मरा' शब्द मिलता है। इन पाण्डुलिपियों के साक्ष्य से सिद्ध है कि अध्यात्मरामायण की रचना हिन्दी भाषा या साहित्य के विकासकाल से सुदूर पूर्व हुई थी। अतः उसमें वर्णित तथ्य को न तो हिन्दी काल का माना जा सकता है और न ही 'मरा' शब्द को खड़ी बोली का शब्द ही। "मरा" शब्द भगवान् श्रीराम का वाचक संस्कृत भाषा का शब्द है, इसकी चर्चा 'मरा शब्द के भगवन्नामत्व में पौराण साक्ष्य' शीर्षक पृष्ठ

३१, ३२, ३३ में की जा चुकी है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत ग्रन्थों में उपलब्ध एकाध शब्द को खड़ी बोली का शब्द मानकर उससे उस ग्रन्थको हिन्दीकालिक नहीं सिद्ध किया जा सकता। अन्यथा तुल्यन्यायात् महर्षिजैमिनिप्रणीत पूर्वमीमांसा के उपक्रम में धर्मलक्षण परक 'चोदना-लक्षणोऽर्थोधर्मः' सूत्रघटक'चोदना' शब्दको हिन्दीकी खड़ी बोली का शब्द समझकर द्विवेदी जी जैसे लोगों को द्वादशलक्षणीमीमांसा को हिन्दी कालिकरचना मानना पड़ेगा। तात्पर्य कि जिस प्रकार संस्कृत भाषा की पूर्वमीमांसा में आये 'चोदना' आदि शब्द खड़ीबोली के नहीं, अपितु संस्कृत के शब्द हैं। उसी प्रकार संस्कृत भाषा के 'अध्यात्मरामायण' में आया हुआ 'मरा' शब्द भी संस्कृत का शब्द है हिन्दी की खड़ी बोली का नहीं। फलतः उसके आधार पर अध्यात्मरामायण हिन्दीकालिक कृति नहीं सिद्ध किया जा सकता। द्विवेदी जी ने जो यह तर्क दिया कि "यदि यह ग्रन्थ ब्रह्माण्डपुराण का खिलभाग होता तो भूषण टीकाकार श्री गोविन्दराज को इसका परिज्ञान अवश्य हुआ होता और उस परिस्थिति में वे महर्षि वाल्मीकि को राममन्त्रानुसन्धाता न लिखते" नितान्त अस-ङ्गत है; क्योंकि भूषणकार श्रीगोविन्दराज वाल्मीकीयरामायण के बालकाण्ड के १७वें सर्ग के १७वें श्लोक की व्याख्या में लिखते हैं— "रुद्रो ब्रह्मणा नियुक्तोऽपि रक्षःपक्षपातित्वान्न कञ्चन सृष्टवान्" (ब्रह्मा का आदेश पाकर शिव राक्षसों के पक्षपाती होने के कारण किसी को उत्पन्न नहीं किये) जब कि स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में हनुमान्‌जी को शिवजी का अंश कहा गया है—

"ततस्तदालापकुतूहलो हरो निजांशभाजं कपिमुग्रतेजसम्।
उवाच द्वारान्तरदत्तदृष्टिः पुरः स्थितं प्रेक्ष्य कपीश्वरं पुनः" } स्क०पु०रे० ख०८४/१०

यहाँ रेखाङ्कित पदावलियाँ तो हनुमान् जी को शिवजी का अंश स्पष्ट ही बता रही हैं। क्या सूर्यादि के अंश सुग्रीवादि के समान हनुमान्‌जी शिवजी के अंश नहीं हुए? उत्तर मिलेगा—'हुए ही'। श्रीगोविन्दराज वा०रा० के उत्तरकाण्ड के ११०वें सर्ग के २१वें श्लोक की व्याख्यामें वानरों को तत्तदधिकारविशिष्ट देवों का अंश लिखते हैं—"वानराणान्तु आधिकारिकदेवांशत्वात् तत्तद्देवशरीरे प्रवेश एव"। क्या हनुमान् जी स्कन्दपुराण के अनुसार शिवजी के अंश नहीं 'हैं'? हैं ही। फिर रुद्र के अंशावतार हनुमान् जी के विद्यमान रहते हुए श्रीगोविन्दराज ने कैसे

लिख दिया, कि "रुद्र राक्षसों के पक्षपाती होने के कारण किसी की सृष्टि नहीं किये"। भूषणकार से सुदूर पूर्व में विरचित 'हनुमन्नाटक' में भी हनुमान् जी को रुद्र का अवतार कहा गया है—

"किष्किन्धाद्रौ रौद्ररुद्रावतारं दृष्ट्वा रामो मारुतिं वाचमूचे"।

—हनुमन्नाटकम् ५/३३

"देव ! रुद्रावतारोऽयं मारुतिः[1]"। "रावणः स्वगतम्—यद्ययं रुद्रो मारुतिस्तर्हि किमिति रुद्रभक्तस्य मे नगरीं दहति। अहह ज्ञातम्—

तुष्टः पिनाकी दशभिः शिरोभिस्तुष्टो न चैकादशको हि रुद्रः। } ह०ना०
अतो हनूमान् दहतीति कोपात् पङ्क्तेर्हि भेदो न पुनः शिवाय॥ } ६/२७

"हनुमन्नाटक" को यदि कोई व्यक्तिविशेष हनुमान् जी की रचना मानने को तैयार न हो, तो भी महाराज, भोज के सभापण्डित 'दामोदर मिश्र' की कृति तो मान ही सकता है। ऐसी स्थिति में 'स्कन्दपुराण' ही उसके 'रुद्रावतारोऽयं मारुतिः" इत्यादि लेखों का आधार सिद्ध होगा।

वस्तुस्थिति तो यह है कि 'हनुमन्नाटक' श्री हनुमान जी की ही पवित्रकृति है; क्योंकि "पुण्यं भक्त्याञ्जनेयप्रविरचितमिदं यः शृणोति" "रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धौ निहितममृतबुद्ध्या प्राङ् महानाटकं यत्" तथा "इति श्रीपवनतनयविरचित मिश्रदामोदरसङ्गृहीत हनुमन्नाटके" इत्यादि पुष्पिका से पवनपुत्र उसके रचयिता और दामोदरमिश्र सङ्कलक सिद्ध होते हैं।

हाँ, इतना अवश्य है कि मिश्र जी भी अपने कुछ श्लोक रचकर उसमें रख दिये हैं। जो ध्यानपूर्वक पढ़ने पर ही ज्ञात होते हैं।

इन प्रबल प्रमाणों के रहते भूषणकार ने कैसे लिख दिया कि "रुद्र ने किसी को सृष्टि नहीं की"। स्पष्ट है कि उन्हें इसका ज्ञान नहीं था अथवा ज्ञान होने पर भी शिव से द्वेषभाव के कारण उन्होंने वैसा लिखा और उस प्रमाण की उपेक्षा कर दी। यही स्थिति 'अध्यात्मरामायण' के विषय में भी समझ लेनी चाहिए कि इस ग्रन्थ में महर्षि वाल्मीकि द्वारा उलटा नाम 'मरा' के अविराम जप का उल्लेख होते हुए भी भूषणकार ने पूर्वोक्त दो परिस्थितियों में किसी एक के कारण अविराम 'मरा' जप के कथानक की उपेक्षा करके महर्षि को राममन्त्रानुसन्धाता लिख दिया।

१—हनुमन्नाटक ६/३.

भूषण या अन्य टीकाकार सर्वज्ञ नहीं

पण्डितजी भूषणकार श्रीगोविन्दराज तथा श्रीनागेशभट्ट को सर्वज्ञ मान बैठे हैं। तभी तो लिखते हैं कि "यदि यह ग्रन्थ ब्रह्माण्डपुराण का खिलभाग होता तो भूषण टीकाकार श्रीगोविन्दराज को इसका परिज्ञान अवश्य हुआ होता' इनकी यह धारणा मिथ्या है।

इनकी धारणा के मिथ्यात्व का आकलन इसी से किया जा सकता है कि अपने तप में विघ्न करने आयी रम्भा को महर्षि विश्वामित्र ने 'शैली' (शिखा--स्वरूपा) हो जाने का शाप देकर उसके उद्धार का साधन बतलाते हुए कहा—

"ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः । } वा०रा०बा०
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम् ॥" } का०६४/१३

मेरे क्रोध के लिए पापाचरण करने वाली रम्भे ! तपश्चर्या का धनी, महान् तेजस्वी, ब्राह्मण तेरा उद्धार करेगा। सभी टीकाकारों ने उद्धारकर्ता ब्राह्मण का नाम 'वशिष्ठ' बतलाया है। गोविन्दराज जी ने तो "ब्राह्मणः ब्रह्मपुत्रो वशिष्ठ इत्याहुः" तथा नागेश ने "वशिष्ठ इत्यर्थ इति कतकः" कहकर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली।

इन सभी टीकाकारों की सर्वज्ञता इस श्लोक की व्याख्या में रफ़ू चक्कर हो गयी। सबने अपने पूर्ववर्ती टीकाकार का अन्धानुकरण किया; क्योंकि वृहत्काय पुराणों के पन्ने उलटने में परिश्रम जो पड़ता है। कथन का तात्पर्य यही कि 'जो बात किसी ग्रन्थ में हो उसका परिज्ञान इन टीकाकारों को हो ही– यह आवश्यक नहीं है। अन्यथा ये लोग उद्धारक ब्राह्मण का नाम 'वशिष्ठ' नहीं लिखते।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

रम्भा के उद्धारक ब्राह्मण के विषय में सभी टीकाकार भ्रान्त हैं; क्योंकि उसका उद्धार वशिष्ठ द्वारा नहीं, अपितु महातेजा महर्षि अगस्त्य जो कि अपनी अञ्जलि से अगाध जलराशि महासागर को पी जाने वाले तथा विन्ध्य जैसे महापर्वत को उचित शिक्षा देने वाले हैं–के शिष्य 'श्वेत' नामक महर्षि द्वारा हुआ था।

ऋषिप्रवर श्वेत महर्षि विश्वामित्र के आश्रम पर–जहाँ रम्भा शिला बनी हुई पड़ी थी-महान् तपकर रहे थे। चिरकाल तक तप करतेहुए महर्षि

श्वेत के समीप एक समय 'अङ्गारका' नाम की राक्षसी आकर मल-मूत्र की वर्षा करने लगी तथा और भी बहुत से उपद्रव करके महर्षि को उसने पीड़ित करना आरम्भ कर दिया। उसके दुराचारों से क्रुद्ध होकर महातपस्वी 'श्वेत' ने विश्वामित्रसे शापित 'रम्भारूप' शिलापर 'वायव्यास्त्र का सन्धान करके उसके ऊपर फेंक दिया। वह भागती हुई 'कपितीर्थ' में पहुँची। उसी समय वायव्यास्त्रसयुक्त शिला उसके शिर पर जा गिरी। जिससे 'अङ्गारका' की मृत्यु हो गयी और कपितीर्थ के जल का स्पर्श होने से 'रम्भा' शिला रूप से छूट कर अपने रूप को प्राप्त कर ली-

"विश्वामित्रेण शप्ता सा कपितीर्थे निमज्जनात्।) स्क.म०पु०ब्र.ख०
शिलारूपं परित्यज्य रम्भारूपमुपेयुषी"॥) से०मा० ३९/३१

रम्भा को महर्षि विश्वामित्र से मिले शाप और उसके कारण तथा शाप से मुक्ति की विस्तृत कथा स्कन्दमहापुराण ब्रह्मखण्ड सेतु माहात्म्य ३९ वें अध्याय में है। फिर भी इसका परिज्ञान न तो श्रीगोविन्दराज को ही हुआ और न नागेशभट्ट जैसे विख्यात टीकाकार को ही। सबने अन्धानुकरण किया। यदि इसी प्रकार श्रीगोविन्दराज आदि को स्कन्दपुराणकी अन्य कथाओं का-जिसमें महर्षि वाल्मीकि की जीवनी है-ज्ञान नहीं हुआ और महर्षि वाल्मीकि के विषय में अलग-अलग अपना राग अलापने लगे तो क्या आश्चर्य ? कोई भी जीव-जिस पर कलि का नियन्त्रण है-सर्वज्ञ तो नहीं हो सकता। अतः श्रीगोविन्दराजजी 'अध्यात्मरामायण' में रामायणकार महर्षि वाल्मीकि द्वारा किये गये 'मरा' (उलटा नाम) नाम जप का प्रमाण विद्यमान होते हुए भी-पूर्वोक्त रम्भा-उद्धारक 'श्वेत' ब्राह्मण तथा हनुमान्‌जी के रुद्रांश बोधक प्रमाणों की भाँति-इससे अनभिज्ञ होने के कारण महर्षि वाल्मीकि को 'राममन्त्रानुसन्धाता' लिख दिये तो उससे 'अध्यात्मरामायण, ब्रह्माण्डपुराण का खिलभाग नहीं' यह कैसे सिद्ध हो जायेगा ? यदि श्रीगोविन्दराजजी की सभी पुराणोंके समस्त भागों में उल्लिखित सम्पूर्ण कथाओं का परिज्ञान होता तभी द्विवेदी जी का 'यदि ग्रन्थ......न लिखते' तर्क उठ सकता था, किन्तु ऐसा तो है नहीं अतः उक्त तर्क की उत्थिति ही असम्भव है।

श्रीगोविन्दराज जी ने स्कन्दपुराण के अवयव वैशाखखण्ड, आवन्त्यखण्ड और नागरखण्ड में वर्णित महर्षि वाल्मीकि की कथाके विपरीत उन्हें 'राममन्त्रानुसन्धाता' लिखा है। इसी प्रकार स्कन्द के ब्रह्मखण्ड में आयी रम्भोद्धारक 'श्वेत' ब्राह्मण की कथा के विपरीत उसका उद्धारक

वशिष्ठ लिखा है। अब पण्डितजी के तर्क के अनुसार मैं भी एक तर्क उन पर छोड़ रहा हूँ, उत्तर दें—"यदि आवन्त्यखण्ड, नागरखण्ड और ब्रह्मखण्ड स्कन्दपुराण के भाग होते तो भूषण टीकाकार श्रीगोविन्दराज को इनका परिज्ञान अवश्य हुआ होता और उस परिस्थिति में वे महर्षि वाल्मीकि को 'राममन्त्रानुसन्धाता' न लिखते तथा रम्भा के उद्धारक ब्राह्मण का नाम 'वशिष्ठ' न लिखते, किन्तु उन्होंने ऐसा लिखा है, अतः आवन्त्यखण्ड वैशाखखण्ड और नागरखण्ड तथा ब्रह्मखण्ड स्कन्दपुराण के भाग नहीं हैं"। क्या द्विवेदी जी अपने तर्क की भाँति इस तर्क के आधार पर इन सभी भागों को स्कन्दपुराण का अनवयव मानने को तैयार हैं ! सम्भवतः कभी नहीं।

* 'राममन्त्रानुसन्धाता' लेख निराधार *

जिस 'राममन्त्रानुसन्धाता' लेख के आधार पर पण्डितजी अध्यातम-रामायण को ब्रह्माण्डपुराण का खिलभाग मानने को तैयार नहीं हैं, वह लेख ही प्रमाण-रहित है; क्योंकि श्रीगोविन्दराजजी ने वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड के प्रथमसर्ग के प्रथम श्लोक की व्याख्या करने के पूर्व उसके प्रस्तावना में लिखा है कि लोकहित में तत्पर भगवान् ब्रह्मा ने श्रीराम के पावनचरित्र वाले सौ करोड़ श्लोकों के प्रबन्ध की रचना करके नारद आदि पुत्रों को उसका अध्ययन कराने के पश्चात् भूलोक में भी निरन्तर राममन्त्र के अनुसन्धान से प्रकाशित हृदय वाले महर्षि वाल्मीकि के मुख से उसका संक्षेप में प्रचार प्रसार कराने के उद्देश्य से नारद जी को भेजा—'सर्वलोकहितपरः पितामहो भगवान् ब्रह्मा रामचरित्रपवित्रितं शतकोटिप्रविस्तरं प्रबन्धं निर्माय तं नारदादीनध्याप्य भूलोकेऽपि "सततराममन्त्रानुसन्धानसन्धुक्षितहृदयवाल्मीकिमुखेन सङ्ग्रहेण प्रवर्तयितुं नारद प्रेषयाम।" इस कथन की पुष्टि में भूषणकार ने मत्स्यपुराण का प्रमाण दिया—तदुक्तं मात्स्ये—

"वाल्मीकिना च यत्प्रोक्तं रामोपाख्यानमुत्तमम्। ब्रह्मणा चोदितं तच्च शतकोटिप्रविस्तरम्॥ आहृत्य नारदेनैव वाल्मीकाय निवेदितम्" इति॥ (वाल्मीकि जी ने जिस रामोपाख्यान को कहा, उसे ही ब्रह्मा जी ने सौ करोड़ श्लोकों में विस्तार से नारद जी से कहा था और नारद जी ने उसे ही संक्षेप में वाल्मीकि जी के लिए निवेदित किया अर्थात् बतलाया।)

पाठकगण, यहाँ देख सकते हैं कि भूषणकार श्रीगोविन्दराजजी अपने अन्य कथन की पुष्टि हेतु मत्स्यमहापुराण का प्रमाण तो दे दिये, किन्तु रेखाङ्कितअंश ('वाल्मीकि सतत राममन्त्रानुसन्धाता थे') में कोई भी प्रमाण उपस्थित न कर सके । अतः अप्रमाणिक लेख 'वाल्मीकि सतत राममन्त्रानुसन्धाता थे' (सततराममन्त्रानुसन्धानसन्धुक्षितहृदय वाल्मीकि) के आधार पर न तो मराजपोपदेश की घटना को काल्पनिक ही सिद्ध किया जा सकता है और न ही अध्यात्मरामायण को ब्रह्माण्डपुराण का अनवयव हीं ।

यद्यपि सन् ९७७ ई० की पाण्डुलिपि के साक्ष्य से ही द्विवेदी जी का हेतु बाधित हो गया था, अतः अध्यात्मरामायण के श्रीगोविन्दराज से पूर्ववर्ती होनेमें किसी सन्देह की प्रसक्ति नहीं है । तथापि उसके खिल भाग न होने में जो तर्क इन्होंने उपस्थित किया, उसकी निर्बलता, स्वपक्षविघातकता तथा पण्डितजी की धारणाओं के मिथ्यात्व की सिद्धि के लिए ये विचार प्रस्तुत किये गये ।

द्वितीय हेतु-

'अध्यात्मरामायण' में अद्वैतवेदान्त का प्रकरणग्रन्थों की भाँति प्रक्रिया-वद्ध अत्यन्त व्यवस्थितरूप प्राप्त होता है। जो इसे पुराणकाल से पृथक् सिद्ध करता है ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीमान् जी ने अध्यात्मरामायण में अद्वैतवेदान्त के प्रक्रियाबद्ध अत्यन्त व्यवस्थितरूप के किसी स्थलविशेष का सङ्केत नहीं किया । हाँ, पञ्चम हेतु में अरण्यकाण्ड के "त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्ति-रुच्यते" ३/२० श्लोक को इन्होंने उद्धृत किया है । इससे ज्ञात होता है कि इस सर्ग को श्रीमान् जो ने अवश्य पढ़ा होगा । अतः इसी सर्ग में "अद्वैतवेदान्त का प्रक्रियाबद्ध अत्यन्त व्यवस्थितरूप कितना है"- इसका विचार किया जा रहा है ।

पाठकवृन्द ! इनके द्वारा उद्धृत श्लोक के पश्चात् छठें श्लोक में इन्द्रियों को उत्पत्ति राजस अहङ्कार से तथा उनके देवताओं और मन को समुत्पत्ति सात्विक अहङ्कार से बतलायी गयी है—

"राजसानीन्द्रियाण्येव सात्विका देवता मनः ।" —अर०का० ३/२६

श्रीमद्भागवतमहापुराण एवं विष्णुपुराण आदि में भी सर्वत्र इन्द्रिय

और उनके देवताओं तथा मन के उत्पत्ति की इसी प्रक्रिया का उल्लेख है।

अद्वैती, विशिष्टाद्वैती तथा सांख्यमत के भी विद्वान इस प्रक्रिया को नहीं मानते हैं। अद्वैतवेदान्त का प्रारम्भिक ग्रन्थ 'वेदान्तपरिभाषा' भी जिसे अवगत है, वह भी जानता है कि इन्द्रियादि की उत्पत्ति राजसादि अहङ्कार से अद्वैती महानुभाव नहीं मानते हैं। वे तो अपञ्चीकृत पञ्चभूतों के सत्वांश से ही क्रमशः श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना और घ्राण की और इनके अधिष्ठातृदेवताओं की तथा उन्हीं भूतों के रजः अंश से यथाक्रम वाक्, पाणि, पाद, पायु, और उपस्थ तथा इनके अधिष्ठातृ देवताओं की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। मन आदि की उत्पत्ति भी इन्हीं भूतों के सम्मिलित सत्वांश से उन्हें स्वीकृत है।

इतना ही नहीं, अरण्यकाण्ड में वहीं इन्द्रियादि की उत्पत्ति बतलाने के कुछ बाद में सत्सङ्ग से भगवत्कथा के श्रवण में रति और रति से श्रीराम में प्रेमलक्षणा भक्ति की उत्पत्ति कहकर उसीसे भगवत्साक्षात्कार बतलाया गया और इसे ही चतुरजनों से सेवित मुक्तिमार्ग कहा गया—

"सत्सङ्गमो भवेद्यर्हि त्वत्कथाश्रवणे रतिः।
समुदेति ततो भक्तिस्त्वयि राम सनातने॥
त्वद्भक्तावुपपन्नायां विज्ञानं विपुलं स्फुटम्।
उदेति मुक्तिमार्गोऽयमाद्यश्चतुरसेवितः॥
तस्माद्राघव सद्भक्तिस्त्वयि मे प्रेमलक्षणा।
सदा भूयाद् ....॥"

अरण्यकाण्ड
३/३९-४०-४१

यहाँ प्रेमलक्षणा भक्ति से जिस विज्ञान की उत्पत्ति कही गयी है, वह भगवत्तत्त्व का अनुभव अर्थात् भगवत्साक्षात्काररूप ही है; क्योंकि श्रीराम ने स्वयं श्रीमुख से शवरी को इस रहस्य का उपदेश दिया है—

"भक्तिः सञ्जायते प्रेमलक्षणा शुभलक्षणे॥
भक्तौ सञ्जातमात्रायां मत्तत्त्वानुभवस्तदा।
ममानुभवसिद्धस्य मुक्तिस्तत्रैव जन्मनि॥"

अध्यात्मरामायण
अरण्यकाण्ड
१०/२८-२९

(हे शुभलक्षणे शबरि! इन नव साधनों से प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न हो जाती है, भक्ति उत्पन्न होने पर उस काल में मेरे स्वरूप का अनुभव हो जाता है और जिसे मेरा अनुभव (साक्षात्कारात्मक) हो गया, उसकी उसी जन्म में मुक्ति हो जाती है।) इस वचन में भगवान् ने प्रेमलक्षणा भक्ति से अपने स्वरूप का साक्षात्कार बतलाया है, अतः पूर्वोक्त श्लोक में 'विज्ञान' पद से भगवत्साक्षात्कार ही अभीष्ट है, कुछ अन्य नहीं—

यह निश्चित होता है। अन्य काण्डों की क्या बात? मात्र अरण्यकाण्ड के ही प्रथम, द्वितीय, अष्टम और दशम सर्ग में भगवत्साक्षात्कार से मुक्ति कही गयी है और वह प्रेमलक्षणा भक्ति से बतलाया जा चुका है।

इधर अद्वैतवेदान्त में कहीं भी भक्ति को परमात्मसाक्षात्कार का कारण नहीं माना गया, प्रत्युत तत्त्वमस्यादिवाक्यजन्य ही परमात्म-साक्षात्कार स्वीकृत है[1]। उक्त साक्षात्कार भी ब्रह्मात्मैक्यगोचर है, जो पूर्वोक्त भगवत्साक्षात्कार से भिन्न है।

ऐसी परिस्थिति में यदि कोई द्विवेदी या त्रिवेदी अध्यात्मरामायण में अद्वैतवेदान्त का प्रक्रियाबद्ध अत्यन्त व्यवस्थितरूप समझता हो तो यही कहना पड़ेगा कि उस व्यक्ति का अद्वैतवेदान्त में चञ्चु-प्रवेश भी नहीं है।

'अध्यात्मरामायण' में पुराणों के अनुसार अनेक स्थलों में जटायु प्रभृति जीवों का दिव्यशरीर धारण करके भगवद्धाम जाने और भगवान् की प्रेमलक्षणा भक्ति से भगवत्साक्षात्कार तथा राजसादि अहङ्कार से इन्द्रिय आदि की उत्पत्ति एवं भगवान् के अनुपम नाममाहात्म्य प्रभृति के वर्णन मात्र अद्वैतवेदान्त के प्रक्रियाबद्ध अत्यन्त व्यवस्थितरूप के कथन की धज्जी ही नहीं उड़ा देते हैं, अपितु पौराणिक शैली के ये वर्णन अध्यात्मरामायण को पुराणकाल की कृति भी सिद्ध करते हैं।

अध्यात्मरामायण में अद्वैतवेदान्त का प्रक्रियाबद्ध व्यवस्थितरूप उस स्थिति में स्वीकार किया जाता, जब उसमें इन्द्रियादि की समुत्पत्ति ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण सृष्टि की प्रक्रिया का वर्णन अद्वैतवेदान्त के अनुसार होता, पर ऐसा नहीं है। अतः द्विवेदीजी का द्वितीय हेतु पक्ष में न रहने के कारण स्वरूपासिद्ध है। इसके साथ ही वहाँ पौराणिकशैली में जीवों के भगवद्धाम जाने एवं इन्द्रियों को उत्पत्ति प्रभृति का वर्णन-जो अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त से सर्वथा विरुद्ध है—उसे पुराणकाल की कृति सिद्ध करता है; क्योंकि वैसा वर्णन कोई भी अद्वैती, विशिष्टाद्वैती या सांख्य प्रभृति मतों के विद्वान् नहीं कर सकते हैं। अतः द्विवेदीजी का द्वितीय हेतु सत्प्रतिपक्षित भी है। इसलिए इससे अध्यात्मरामायण को पुराणकाल से पृथक नहीं सिद्ध किया जा सकता।

---

१ वेदान्तवाक्यजनिता मतिवृत्तिरेवम्, उत्पत्तिः सकलमेव भवार्णवाम्बु।
पीत्वा स्वयं च खलु शाम्यति दग्धलोहपीतं यथाम्बु चितिमेव तु शोषयित्वा।
—संक्षेपशारीरक ४/२८

तृतीय हेतु-

शङ्कराचार्य जी ने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में कहीं भी अध्यात्मरामायण का उद्धरण नहीं दिया। अत: आचार्य शङ्कर के समय तक उक्त रामायण का प्रणयन या प्रसिद्धि नहीं रही।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग-

श्रीमान् जी का तृतीय हेतु व्यभिचरित है; क्योंकि आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में कहीं भी श्रीमद्भागवतमहापुराण का उद्धरण नहीं दिया, किन्तु श्रीमद्भागवत महापुराण का प्रणयन और प्रसिद्धि उनके पूर्वाचार्यों के पूर्व में दिखती है। आचार्य शङ्कर के दादागुरु गौडपादाचार्य ने "पञ्चीकरण व्याख्या" में "जगृहे पौरुषं रूपम" (भा० पु० १/३/१) तथा उत्तरगीता की टीका में 'श्रेयश्रुतिभक्तिमुदस्य ते विभो' (भा० पु० १०/१४/४) श्लोक को भागवत के नाम से उद्धृत किया है।[१]

तात्पर्य यह कि "आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र, भवद्गीता और विष्णु-सहस्रनाम के भाष्य में कहीं भी अध्यातमरामायण का उद्धरण नहीं दिया। अत: आचार्य शङ्कर के समय (८वीं शती) तक उक्त रामायण का प्रणयन या प्रसिद्धि नहीं रही" ऐसा तो तभी कहा जा सकता है जब ऐसी व्याप्ति होती कि "आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम के भाष्य में कहीं भी (उद्धरण देने योग्य) जिस ग्रन्थ का उद्धरण नहीं दिया; उसका प्रणयन या प्रसिद्धि आचार्य शङ्कर के समय तक नहीं हुई थी।" किन्तु ऐसी व्याप्ति नहीं; क्योंकि आचार्य शङ्कर ने ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और विष्णुसहस्रनाम[२] के भाष्य में कहीं

---

१ संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ११९, षष्ठ संस्करण,
लेखक—बलदेव उपाध्याय—सन्१९६०, प्र०—शारदा मन्दिर, बनारस।

२ आचार्य शङ्कर ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता के भाष्य में श्रीमद्भागवत महापुराण का उद्धरण नहीं दिये, तो भी सहस्रनाम के भाष्य में उसका उद्धरण अवश्य देना चाहिए था; क्योंकि इस भाष्य में उन्होंने विष्णु, स्कन्द, लिङ्ग, पद्म, गरुड, वृहन्नारदीय और बिष्णुधर्मोत्तर आदि महा-पुराणों एवम् उपपुराणों के श्लोकों को उद्धृत किया है। इधर श्रीमद्-भागवतमहापुराण में भगवन्नाम का माहात्म्य भी कम नहीं हैं। फिर

भी उद्धरण देने योग्य श्रीमद्भागवत्महापुराण का उद्धरण नहीं दिया, जबकि इसमें अद्वैतमत के पोषक बहुत से श्लोक मिलते हैं और इसका प्रणयन या प्रसिद्धि भी आचार्य शङ्कर के बहुत पहले हो चुकी थी। तभी तो उनके दादागुरु गौडपादाचार्य ने उसका उद्धरण दिया और माठर ने सांख्यकारिका की माठरवृत्ति–जिसका चीनी अनुवाद ५७७ई० से ५६६ई० के बीच में कभी हुआ था–में भागवतमहापुराण के १/३/३५ तथा १/८/५२ इन दो श्लोकों को प्रमाणरूप में उद्धृत किया।[3] अतः उस व्याप्त्याभास के बल पर यह नहीं कहा जा सकता कि—'अध्यात्म-रामायण का प्रणयन या प्रसिद्धि आचार्य शङ्कर के समय तक नहीं हुई थी। इस प्रकार पण्डित जी का तृतीय हेतु भी ध्वस्त हुआ।

आचार्य शङ्कर के ग्रन्थों पर अध्यात्मरामायण का प्रभाव

आचार्य के ग्रन्थों में अध्यात्मरामायण की झलक सुस्पष्ट मिलने से निश्चित होता है कि उनसे सुदूर पूर्व अध्यात्मरामायण की प्रसिद्धि हो चुकी थी। आचार्य के ग्रन्थों में अध्यात्मरामायण की झलक देखें—

अध्यात्मरामायण	उपदेशसाहस्री
१. शरीरबुद्धीन्द्रिदु.खसन्तति र्न ते न च त्वं तव निर्विकारतः। अज्ञानहेतोश्च तथैव सन्तते रसत्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत्॥ —सुन्दरकाण्ड ४/१७	१. शरीरबुद्धीन्द्रियदुःखसन्तति र्न मे न चाहं मम निर्विकारतः। असत्वहेतोश्च तथैव सन्तते रसत्वमस्याः स्वपतो हि दृश्यवत्॥ —१०/५
२. इदन्तु सत्यं तव नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न च तेऽद्वयत्वतः। यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा भवान् देहगतोऽपि सूक्ष्मकः॥ सुन्दरकाण्ड ४/१८	२. इदन्तु सत्यं मम नास्ति विक्रिया विकारहेतुर्न च मेऽद्वयत्वतः। यथा नभः सर्वगतं न लिप्यते तथा ह्यहं देहगतोऽपि सूक्ष्मतः॥ —१०/६-७

उसका उद्धरण न देने में जिस कारण की कल्पना पण्डित जी करेंगे, वही कारण अध्यात्मरामायण का उद्धरण न देने में भी इन्हें समझ लेना चाहिए।

३ संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ११८, लेखक-बलदेव उपाध्याय

३. चिन्मात्रज्योतिषा सर्वा सर्वदेहेषु बुद्धयः । त्वया यस्मात् प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो भवान् ॥ —अयोध्या काण्ड १/२७	३. चिन्मात्र-ज्योतिषा सर्वा सर्वदेहेषु बुद्धयः । मया यस्मात् प्रकाश्यन्ते सर्वस्यात्मा ततो ह्यहम् ॥ -१४/७

यहाँ अध्यात्मरामायण के वचन चूंकि हनुमान जी द्वारा रावण को दिये गये आत्मतत्त्व के उपदेश सम्बन्धी हैं, अतः इनमें 'ते', 'त्वं', 'तव' इन शब्दों का प्रयोग है। इन्हें ही आचार्य शङ्कर अपने आत्मा के लिए प्रयुक्त कर रहे हैं, अतः "ते, त्वं, तव" का प्रयोग न करके "मे, अहं, मम" का प्रयोग करते हैं। द्वितीय श्लोक में 'भवान्' की जगह 'ह्यहं' यह संयुक्ताक्षर वाला पद सुनने में कटु भी लगता है, अतः 'श्रुति कटु' (दुःश्रवत्व) काव्य दोष भी है।

तृतीय श्लोक में देवर्षि नारद ने श्रीराम के स्वरूप पर प्रकाश डाला है, अतः उनके लिए "त्वया और भवान्" शब्दों का प्रयोग किया गया। इसी को हटाकर आचार्य शङ्कर ने अपने लिए 'मया और ह्यहं' का प्रयोग किया। यहाँ भी 'ह्यहं' पद में श्रुतिकटु (दुःश्रवत्व) काव्य दोष है।

शङ्का—

ऐसा भी सम्भव है कि उपदेशसाहस्री के प्रचार-प्रसार के पश्चात् 'अध्यात्मरामायण' के लेखक ने उसके श्लोकों को ले लिया हो। प्राचीन काल में आजकल जैसे प्रचार साधनों की सुविधा भी नहीं थीं और उपदेश-साहस्री प्रस्थानत्रय के भाष्य से भिन्न होने के कारण कम से कम १०० या १५० वर्ष में प्रसिद्ध हो चुकी होगी जिसे देखकर उसके श्लोक अध्यात्मरामायणकार ने ले लिया हो, अतः यह ग्रन्थ आचार्य शङ्कर (सन् ७८८-८२० ई०) के लगभग १५० वर्ष पश्चात् प्रणीत हुआ होगा।

समाधान--

जहाँ तक सम्भावना की बात है वह तो दोनों पक्षों में हो सकती हैं; क्योंकि 'अध्यात्मरामायण' के १०० या १५० वर्ष में प्रचार प्रसार के पश्चात् आचार्य शङ्कर ने उसके श्लोकों को तोड़ मरोड़कर उपदेश साहस्री में रखा हैं, जिसमें दुःश्रवत्व दोष भी आ गया है'- यह सम्भावना भी शङ्कालु के अनुसार हो सकती है, किन्तु दोनों पक्षों में सम्भावना के बल पर एक निर्णय नहीं हो सकता; अपितु सन्देह ही बना रहेगा

कि दोनों ग्रन्थों में कौन प्राक्प्रणीत है और कौन पश्चात्।

इस सन्देह का निवारण यों समझना चाहिए—"महाकवि कम्बन नें सन् ८८० ई० के आस पास अपने रामायण की रचना की। उस समय की प्रथा के अनुसार ग्रन्थ की स्वीकृति हेतु उसे पढ़कर विद्वन्मण्डली में सुनाना आवश्यक होता था। उन्होंने अपना ग्रन्थ 'श्रीरङ्गम' के मन्दिर में सन् ८८५ ई० में फाल्गुन पूर्णिमा के दिन विद्वन्मण्डली में पढ़कर सुनाया। उसे सुनकर पण्डितों ने उन्हें ग्रन्थ की स्वीकृति के साथ साथ "कविचक्रवर्ती" की उपाधि से भी विभूषित किया।*

महाकवि कम्बन ने 'कम्बरामायण' की रचना शङ्कराचार्य जो की मृत्यु के लगभग ५०-५५ वर्ष पश्चात् की थी। इस रामायण पर अध्यात्मरामायण का प्रभाव तमिल विद्वान् एन्०वी० राजगोपालन आदि मानते हैं। कम्बन तो स्वयं ही बालकाण्ड के मङ्गलाचरण पद्य दश में उद्घोष करते हैं—

"देवपाण्डैयिन् इक्कदै शंय्कुवर, मुवर् आन् अवर तम् मुलुम् पुनदिय।
ना विनार् उरैयिन् पविनान् तमिलप् पाबिनाल् इदु उरैत्तिय पण्यु अरो"।।

अर्थ—देववाणी (संस्कृत) में जिन तीन महापुरुषों ने रामायण की रचना की है, उनमें आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की रचना के अनुसार मैं तमिल पद्यों में इस रामायण की रचना करता हूँ।'

यहाँ कम्बन ने तीन रामायणों का सङ्केत किया है। वे हैं—श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, महारामायण (योगवाशिष्ठ) और वेदव्यास-प्रणीत अध्यात्मरामायण। पूर्वोक्त पद्य दश पर डॉ० रामेश्वर दयालु अग्रवाल महोदय की टिप्पनी है—

"कम्बन का प्रधान उपजीव्य वाल्मीकिरामायण है। यद्यपि वे दो अन्य रामायणों से प्रभावित हैं, जिनमें एक तो निश्चय ही अध्यात्म रामायण है। इसमें वाल्मीकिरामायण का तो स्पष्टोल्लेख है ही, दूसरी रचना अध्यात्मरामायण है; क्योंकि इसका कम्बरामायण के कई स्थलों पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है।"

'कम्बरामायण' पर 'अध्यात्मरामायण' की छाप पड़ने से निश्चित है कि कम्बन के काल में अध्यात्मरामायण की पूर्ण प्रसिद्धि थी। उस काल में जबकि मुद्रण कला का पूर्ण अभाव था, किसी ग्रन्थ की प्रसिद्धि

—कम्बरामायण और रामचरितमानस पृष्ठ १२७

* तमिलसाहित्य और संस्कृति, पृष्ठ १०१ लेखक- अवधनन्दन

होने में २०० से २५० वर्ष तक लग सकते हैं। इधर कम्बन आचार्य शङ्कर की मृत्यु के लगभग ५० या ५५ वर्ष पश्चात् अपने रामायण की रचना करते हैं और अध्यात्मरामायण का सङ्केत भी। अतः यह पूर्ण रूपेण निश्चित है कि 'अध्यात्मरामायण' आचार्य शङ्कर के पूर्वमें विद्यमान था। इसलिए उन्होंने ही अध्यात्मरामायण के श्लोकों को किञ्चित् परिवर्तन करके लिखा है।

यदि आचार्य शङ्कर के पश्चात् अध्यात्मरामायण लिखा गया होता तो उस काल में मुद्रणकला के अभाव के कारण उसकी प्रसिद्धि १०० या २०० अथवा २५० वर्ष पश्चात् होती। ऐसी स्थिति में कम्ब-रामायणकार उसका न तो संकेत ही करते और न ही उसके कुछ अंशों का अनुकरण ही। अतः अध्यात्मरामायण शङ्कराचार्य जी के पूर्व प्रसिद्ध हो चुका था। अतएव उन्होंने ही उससे कुछ श्लोक हेर-फेर करके अपने ग्रन्थ में रखा है, न कि अध्यात्मरामायणकार ने।

कम्बरामायण पर अध्यात्मरामायण का प्रभाव

कुछ स्थलों पर कम्बन ने वाल्मीकीयरामायण का नहीं, अपितु अध्यात्मरामायण का ही अनुसरण किया है—

अध्यात्मरामायण के बालकाण्ड में महर्षि गौतम देवराज, इन्द्र को शाप देते हैं— "योनिलम्पट ! दुष्टात्मन् ! सहस्रभगवान्भव" ५/२६ (योनिलम्पट) ! दुष्टात्मन् ! इन्द्र ! तू हजार भग वाला हो जा) इधर कम्बरामायण में भी गौतम ने इन्द्र को यही शाप दिया है—इन्द्र ! तुम्हारे शरीर में नारियों के हजारों चिह्न (भग) रूप अवयव उत्पन्न हो जांय'। —कम्बरामायण बालकाण्ड अहल्यापटल।

अध्यात्मरामायण में वहीं अहल्या को पत्थर बनकर आश्रम में रहने को कहा गया है— "दुष्टे ! त्वं ! तिष्ठ दुर्वृत्ते ! शिलायामाश्रमे मम" —५/२७। अहल्या का उद्धार भी श्रीराम की चरणरज से हुआ— "अहोकृतार्थाऽस्मि जगन्निवास ते पादाब्जसङ्लग्नरजः कणादहम् ५/४३।

इधर कम्बरामायण में भी— 'वारनारी के सदृश आचरण करने वाली तू पत्थर हो जाय तथा उस पर काकुत्स्थ को चरणधूलि जा लगी और वह प्रस्तररूप छोड़कर अपना पूर्वरूप धारण कर उठ खड़ी हुई'। —बालकाण्ड, अहल्या पटल

यह वर्णन 'आध्यात्मरामायन' जैसा ही है। कम्बनका उक्त चित्रण वाल्मी-कीयरामायण के अनुसार न होकर अध्यात्मरामायण के अनुसार है।

कम्बन ने अरण्यकाण्ड के सीताहरणपटल में अध्यात्मरामायण का इस ढंग से अनुसरण किया है, जिसे देखकर "एक हाथ की लौकी नौ हाथ की बिया" वाली कहावत चरितार्थ होती है। देखें—

"ततो विदीर्य धरिणीं नखैरुद्धृत्य बाहुभिः ।
तोलयित्वा रथे क्षिप्त्वा ययौ क्षिप्रं विहायसा ।।" } अध्यात्मरा० अर० का० ७/५१-५२

(तब रावणने वहाँ की धरती अपने नखों से विदीर्ण करके दोनों हाथों से उठाकर रथ में रखा और शीघ्र ही आकाशमार्ग से चला गया।) यहाँ कम्वन लिखते हैं— "अपनी स्तम्भ जैसी वलवान् भुजाओं से उस आश्रम को ही नीचे से एक योजन पर्यन्त खोदकर उठा लिया और अपने रथ पर रख लिया तत्पश्चात् उसने आकाशमार्ग से जाने का विचार किया।"—अ० ८/७४—यह चर्चा वाल्मीकीयरामायण में नहीं है। इसे कम्वन ने अध्यात्मरामायण से लेकर अतिशयोक्ति कर दी है।

अध्यात्मरामायण में बालि अपनी मृत्युके समय श्रीराम को सामने उपस्थित देखकर कहता है कि-'मरणोन्मुख पुरुष भी जिसके नाम का उच्चारण करके परमपद (मोक्ष) प्राप्त कर लेते हैं, आज मुझ मुमूर्षु के समक्ष साक्षात् वही खड़ा है—

"यन्नाम विवशो गृह्णन् म्रियमाणः परं पदम् ।
याति साक्षात् स एवाद्य मुमूर्षोर्मे पुरः स्थितः ।।" } कि० का० २/६७

इसी का चित्रण कम्वन भी करते हैं, किन्तु कुछ विस्तारपूर्वक— "शिव प्रार्थना करने पर सब लोगों को श्रेष्ठ पद (मोक्ष) देते हैं। वह आपके नाम के प्रभाव से ही ऐसा करते हैं। ऐसे प्रभावशाली नाम के वाच्य अर्थात् नामी, आपको साक्षात् मृत्यु के समय देख लेने पर अब मेरे लिए दुष्प्राप्य क्या रह गया ?"-ये सब वर्णन कम्वन द्वारा सङ्केतित वाल्मीकीयरामायण या महारामायण में नहीं है, अपितु अध्यात्मरामायण में ही हैं, जिसे कम्बन विशदरूप से लिखे हैं।

इसी प्रकार कम्ब रामायण में किष्किन्धाकाण्ड के 'हनुमान् पटल' अध्याय २ में हनुमान्‌जी की उक्तियाँ अध्यात्मरामायण की हनुमदुक्तियों से प्रभावित हैं। कम्ब रामायण में श्रीराम के लिए प्रयुक्त स्तुतियों पर अध्यात्मरामायण का प्रभाव 'वाल्मीकीयरामायण' की अपेक्षा अधिक दृष्टिगोचर होता है, जिसमें भगवत्ता की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। अतः कम्बन वे जिन तीन संस्कृत रामायण के रचयिताओं का सङ्केत किया है।

उनमें वेदव्यासप्रणीत अध्यात्मरामायण का कम्ब रामायण पर पड़ा प्रभाव अध्यात्मरामायण के सुदूर प्राक्कालिकता की सिद्धि करता है।

इस परिशीलन से निश्चित हो गया कि अध्यात्मरामायण की सत्ता आचार्य शङ्कर से पूर्व थी। उन्होंने अध्यात्मरामायण के कुछ श्लोक किञ्चित् परिवर्तन के साथ अपने ग्रन्थ में रखा है।

महाकवि कम्बन का काल

कम्बन के काल का निर्धारण करने में सर्वप्रथम जिस व्यक्ति को भ्रान्ति हुई, वह है कामिल बुल्के। यद्यपि अनेक शोधप्रबन्धकारों के द्वारा निर्धारित किया जा चुका है कि 'कम्बन ने सन् ८८५ ई० में कविचक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त की थी'। तथापि कामिलबुल्के के चेले अपनी-अपनी डफली बजा रहे हैं। अतः कम्बन के काल – निश्चायक हेतुओं (प्रमाणों) को जान लेना चाहिए।

महाकवि कम्बन एक वैष्णव कवि थे। उन्होंने नम्मालवार (शठकोपजी) की प्रशंसा में "शठकोपरन्तादि" को रचना की है। नम्मालवार के काल में भ्रान्ति होने के कारण कुछ लोग कम्बन के काल में भी भ्रान्त हैं। अतः नम्मालवार के काल का निर्धारण किया जा रहा है–

नम्मालवार का जन्म गुरुपरम्पराग्रन्थों के अनुसार कलियुग के ४३ वें वर्ष अर्थात् आज से लगभग ५हजार वर्ष पूर्व हुआ था, किन्तु इतिहासविदों ने इसे विश्वसनीय नहीं माना है। आधुनिक विद्वानों में डॉ० कृष्णस्वामी आय्यंगार नम्मालवार का जीवनकाल छठीं शताब्दी मानते हैं[1]। इधर श्री टी० ए० गोपीनाथराव ने 'अनामलाई' शिलालेख के आधार पर इनका काल नवी शती माना है[2]। अन्य विद्वान् श्रीबी० आर० आर० दीक्षितर 'वेलवीकुडी' दानपत्र के आधार पर नम्मालवार का समय ७वीं शती मानते हैं[3]।

यहाँ अनामलाई शिलालेख के आधार पर नम्मालवार का काल नवीं शती मानकर कुछ लोगों ने नम्मालवार के प्रशंसक कम्बन को ११वीं या १२वीं शती में मानने की भूल की है; क्योंकि जब 'अनामलाई'

1. Early History of Vaishnavism in South India. 12
2. History of Sri Vaishnavas P.P. 18, 22।
3. Studies in Tamil Litorature and History. P. P. 104–105

शिलालेख से पूर्व के दानपत्र आदि मिल रहे हैं, तब उनका काल नवीं शती कैसे माना जा सकता है ? दूसरा कारण यह कि 'नम्मालवार' गुरुपरम्पराग्रन्थ के अनुसार कलियुग के ४३ वर्ष बीतने पर तथा आण्डाल (श्रीगोदाजो) का कलियुग के ८७वें वर्ष में जन्म माना जाता है। इससे इतना तो निश्चित ही है कि आण्डाल नम्मालवार के बाद जन्मीं।

आण्डाल का जन्म सन् ७१६ ई०में माना गया है। इन्होंने अपनी रचना 'तिरुप्पावे' पद १३ में ज्योतिष् से सम्बधित एक विवरण दिया है। वह है— "उषाकाल में गुरु का अस्त तथा शुक्र का उदय एक ही समय होना" यहीं 'तिरुप्पावे' का रचना काल बताया गया है।

यह घटना ज्योतिषियों के अनुसार १८ दिसम्बर सन् ७३१ ई० उषाकाल में घटित हुई थी। इधर गुरुपरम्पराग्रन्थों में आण्डाल की आयु १६ वर्ष ही मानी गयी है। अत. उस तिथि से १६ वर्ष घटाने पर आण्डालका जन्म सन्७१६ई०में हुआ माना जाता है✽। इसलिए आण्डाल के वाद नम्मालवार का जन्म नहीं माना जा सकता; क्योंकि वे इनसे ४४ वर्ष पूर्व जन्में थे। निष्कर्ष यह कि आण्डाल के जन्म सन् ७१६ ई० से ४४ वर्ष पूर्व अर्थात् सन् ६७२ ई० में नम्मालवार का जन्म सिद्ध होता है।

इस विवेचन से सुस्पष्ट है कि श्री वी०आर०आर०दीक्षितर का 'वेलवीकुडी' दानपत्र के साक्ष्य पर आधारित कथन ही तर्क सङ्गत है। इसलिए नम्मालवार का काल नवीं शती मानना केवल भ्रान्ति ही है; क्योंकि पूर्वोक्त साक्ष्यों से सिद्ध है कि वे ७वीं शती में विद्यमान थे। दूसरी बात यह कि द्वितीय शती से नवीं शती तक विद्वानों ने तमिल साहित्य में आलवारों का काल माना है, जिनमें नम्मालवार ५वें आलवार थे। अन्तिम आलबार तिरुमङ्गै थे, जिनका समय सन् ८०० ई० से सन् ८७०ई० के बीच निश्चित है। इनकी रचनाओं में 'पल्लव-नन्दीबर्मन' द्वितीय (ई० सन् ७३१ से ७९६ तक जीवित) के द्वारा निर्मित 'परमेश्वरविण्णगर' नामक मन्दिर का उल्लेख मिलता है और शिलालेखों से भी इनका जीवनकाल नवीं शती ही निश्चित होता है★। प्रो० एस० वैय्यापुरी पिल्ले अनेक साक्ष्यों से इस निश्चय पर पहुँचे हैं

✽ आलवार कलनिलै:- एम. राघव आय्यंगार, पृष्ठ ८३
★ Epigraphia Indica, VOI. IV. P. 334

कि 'तिरुमङ्गै' सन् ८०० से सन् ८७० ई० के बीच जीवित थे ❀ नम्मालवारके बाद तीन आलवारों के जीवनकाल के पश्चात् 'तिरुमङ्गै' उत्पन्न हुए थे। इसलिए भी नम्मालवार तिरुमङ्गै से कम से कम १२८ वर्ष पूर्व सिद्ध होते हैं।

इन साक्ष्यों से यह निश्चित हो गया कि नम्मालवार ७वीं शती में ही उत्पन्न हुये। उन्हें नवीं शती का मानकर जो लोग उनके प्रशंसक कम्बन को ११वीं या १२वीं शती का मानते हैं। उनका कथन इन साक्ष्यों से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा अप्रामाणिक है। अतः अन्य शोधप्रबन्ध-लेखकों द्वारा निश्चित किया गया कम्बन का काल नवीं शती ही प्रामाणिक है।

भर्तृहरि और अध्यात्म रामायण

अष्टम शताब्दी के आचार्य शङ्कर ही नहीं. अपितु छठीं शती के भर्तृहरि द्वारा प्रणीत 'वैराग्यशतक' में भी अध्यात्मरामायण के श्लोकों की दिव्य आभा झिलमिलाती हुई दृष्टिगोचर होती है

अध्यात्मरामायण	वैराग्यशतक
१- भोगामेघबितानस्थ विद्युल्लेखेव चञ्चलाः। आयुरप्यग्निसन्तप्त लोहस्थजलविन्दुवत् ॥ अयो० का० ४/२० (भोग मेघरूपी वितान में चमकती हुई बिजली की भाँति चञ्चल हैं। आयु अग्नि सन्तप्त लोहे पर पड़ी हुई जल की बूंदों के समान क्षणिक है)	१- भोगामेघवितानमध्यविलसत् सौदामिनी चञ्चलाः। आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटली लीनाम्बुवद् भङ्गुरम्। लोलायौवनलालसातनुभृता- मित्याकलय्यद्रुतम् योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे, बुद्धिं विदध्वं बुधाः ॥★ -३/३५

❀ History of Tamil Language and Litarature.
—Prof S. Vaiyapuri Pillai. P. 128

★ सांसारिक भोग मेघ में चमकती हुई बिजली के समान चञ्चल हैं। आयु बायु द्वारा तितर बितर किये गये पानी बरसाने वाले मेघों की भांति क्षणभङ्गुर है। यौवन के उमङ्ग की तरङ्गें भी अस्थायी हैं। इसलिये बुद्धिमानों! आप सब धैर्यपूर्वक की गयी समाधि द्वारा सुलभ योग में मन लगायें।

२- आयुष्यं क्षीयते यस्मा
दादित्यस्य गतागतैः ।
दृष्ट्वान्येषां जरामृत्यू
कथञ्चिन्नैव बुध्यते ।।
—अयोध्या काण्ड ४/२६

(सूर्य के उदय और अस्त होने से आयु क्षीण हो रही है। वार्धक्य और मरणको देखकर भी चेत नहीं होता है)।

३- प्रतिक्षणं क्षरत्येत
दायुरामघटाम्बुवत् ।
सपत्ना इव रोगौघाः
शरीरं प्रहरन्त्यहो ।।

४- जरा व्याघ्री पुरतः
तर्जयन्त्यवतिष्ठते ।
मृत्युः सहैव यात्येष
समयं सम्प्रतीक्षते ।। ★
—अयोध्या काण्ड ४/२८-२९

५- स एव दिवसः सैव
रात्रिरित्येवं मूढधीः ।
भोगाननुपतत्येव—
कालवेगं न पश्यति ।।
—अ०रा०, अयो०का० ४/२७

२- आदित्यस्य गतागतैरहरहः
संक्षीयते जीवितं,
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः
कालो न विज्ञायते ।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं
त्रासश्च नोत्पद्यते,
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरा-
मुन्मत्तभूतं जगत् ।। ❋

३- व्याघ्रीवतिष्ठति जरा
परितर्जयन्ती,
रोगाश्च शत्रव इव
प्रहरन्ति देहम् ।।
आयुः परिश्रवति भिन्न
घटादिवाम्भो,
लोकस्तथाप्यहितमा
चरतीति चित्रम् ।। ★
—३३८

रात्रिः सैवः पुनः स एव दिवसो
मत्वाऽबुधा जन्तवो,
धावन्त्युद्यमिनस्तथैव निभृत
प्रारब्धवत्तत्क्रियाः
व्यापारैः पुनरुक्तभूतविषयैरेवं
विधेनाऽमुना ।

❋ प्रतिदिन सूर्य के उदय और अस्त होने से आयु क्षीण होती जा रही है। अनेक गुरुतर कार्यभार, व्यापार से समय का पता ही नहीं चलता है जन्म, मरण, बुढ़ापा, और विपत्तियों को देखकर भी भय नहीं उत्पन्न होता; क्योंकि मोहमयी प्रमादरूपिणी मदिरा को पीकर सारा जगत् उन्मत्त हो गया है।

★ कच्चे घड़े में भरे जल के समान आयु प्रतिक्षण क्षीण हो रही है। रोगसमूह शत्रुओं की भाँति शरीर पर प्रहार कर रहे हैं। वृद्धावस्था सिंहिनी के सदृश भयभीत करती हुई सामने खड़ी है और मृत्यु भी उसके साथ चलती हुई अन्तिम समय की प्रतीक्षा कर रही है।

(नित्य दिन रात उसी भाँति होते रहते हैं, किन्तु मूढ़ पुरुष भोगों के पीछे ही दौड़ता रहता है और काल का वेग नहीं देखता।)

संसारेण कदर्थिता कथमहो
मोहान्न लज्जामहे ॥
—वैराग्यशतक ३/४४

यहाँ पाठकगण देख सकते हैं कि अध्यात्मरामायण के क्रमसंख्या एक और दो के श्लोकों के अर्थों का भर्तृहरि ने विस्तृत और आलङ्कारिक वर्णन श्लोक संख्या एक और दो में किया है। अध्यात्मरामायण के तृतीय श्लोक को प्रथम पंक्ति तथा द्वितीय पंक्ति को भर्तृहरि ने क्रमशः अपने तृतीय श्लोकके तृतीय एवम् द्वितीयपाद में किञ्चित् परिवर्तन के साथ रखा है तथा प्रथमपाद में अध्यात्म के चतुर्थ श्लोक की प्रथम पंक्ति का साम्य देखने योग्य है। भर्तृहरि का चतुर्थ श्लोक तो अध्यात्म के पञ्चम श्लोक की विस्तृत व्याख्या जैसा प्रतीत हो रहा है। पञ्चम श्लोक– 'वैराग्यशतक' के चतुर्थ श्लोक के साथ—अत्यन्त साम्य संजोये हुए है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि जिन बातों को अध्यात्मरामायण में संक्षेप और सरल ढंगसे कहा गया है उन्हीं का 'वैराग्यशतक' में विस्तृत और आलङ्कारिक वर्णन है, जिससे सहृदय चमत्कृत हो उठता है। इस साक्ष्य से सिद्ध हुआ कि अध्यात्मरामायण छठीं शती से भी पूर्व में प्रसिद्ध हो चुका था।

चतुर्थ हेतु–

आचार्य रामानुज और पराशरभट्ट ने भी अपने ग्रन्थों में अध्यात्मरामायण का उद्धरण नहीं दिया। अतः १२वीं शती तक इसकी रचना नहीं हुई थी और यह पुराणकालिक भी नहीं है।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग–

द्विवेदी जी का चतुर्थ हेतु बाधित है; क्योंकि श्रीरामानुजाचार्य (सन् १०१७–११३७ ई०) से भी पूर्व की अध्यात्मरामायण की पाण्डुलिपि काशी–हिन्दू–विश्वविद्यालय के 'सेन्ट्रल–लाइब्रेरी' में विद्यमान है। इसका लेखनकाल सम्वत् १०३४ अर्थात् सन् ९७७ ई० है। ११९ पन्नों की यह पाण्डुलिपि बंगला लिपि में है। वहाँ के कैटलाग में इसका सीरियल नम्बर १२/६८७२, एक्सन नम्बर सी० ५४१२, ऑथर(लेखक) व्यास सम्वत् १०३४, कन्डीसन गुड और पत्र संख्या ११९ लिखा हुआ है।

मुद्रित कैटलाग में ही पृष्ठ ८६४ के आस पास ही 'शारदालिपि' में लिखो प्राचीन पाण्डुलिपियों की भी चर्चा है। अतः श्रीरामानुजाचार्य से पूर्व सन् ९७७ई० तक अध्यात्मरामायण की सत्ता का अपलाप कोई भी सज्जन नहीं कर सकता।

नवीं शती के उत्तरार्द्ध में विद्यमान महाकवि कम्वन से लेकर छठीं शती के भर्तृहरि के वैराग्यशतक पर अध्यात्मरामायण की दिव्यआभा द्विवेदी जी के चतुर्थ हेतु का उपहास करती हुई इठला रही है।

यदि द्विवेदी जी कहें कि-'मुझे आचार्य रामानुज के पूर्वाचार्यो के ग्रन्थों में ही अध्यात्मरामायण की दिव्यआभा के झिलमिलाहट से पूर्ण सन्तोष होगा', तो उसे भी जरा चश्मा लगाकर गौर से देखें—

श्रीरामानुजाचार्य की परम्परा के सुप्रसिद्ध आचार्य नम्मालवार ७वीं शतीं[1] की रचनाओं पर अध्यात्मरामायण की आभा चमचमा रहीहैं-

अध्यात्मरामायण	तिरुवायमोली
१-त्वमेव मायया विश्वं सृजस्यवसि हंसि च।	१-पौंकुमुबुलकम पडैत्तलित्तलिक्कुम पोरुन्त मूवरुन एम्मरुवन।
—बा०का०	—तिरुवायमोली, ८-४-२
(अपनी माया से तुम्हीं जगत् का सर्जन, पालन और संहार करते हो)	(ब्रह्म ही जगत् का सर्जन, पालन और संहार करते हैं।)
२-जगतामादिभूतस्त्वं जगत्त्वं जगदाश्रयः।	२-उलकिल तिरियुम कवुमक तियाय उलकमाय उलकुक्कै ओरुयिरुमानाय
—वा० का० ५/५२	—तिरु० ६/९/७
अर्थ-हे भगवन्! तुम्हीं इस जगत् के आधार हो, तुम्हीं जगत् हो और तुम्हीं जगत् के आदि करण हो।)	अर्थ-हे भगवन्! तुम्हीं इस जगत्के आधार हो, तुम्हीं जगत् हो, जगत् के प्राण भी तुम्हीं हो।

इतना ही नहीं, अपितु तमिल आलवारों में नम्मालवार से भी पूर्ववर्ती 'पोयगै' प्रथम आलवार (द्वितीय[2]शती) की रचनाएं भी अध्यात्म रामायण से प्रभावित हैं—

त्वां भजेत्तन्ममो गृहम्।	उत्तमनेन्ट्रम उलन्कन्टाय उल्लुवारुल्लतु उलन्कन्टाय
—अध्यामरा०, अयो०का०६/५९	—मुदलतिरुवन्तादि, ९९

१- स्टडीज इन तमिल लिटरेचर एन्ड हिस्ट्री, पी० पी० १०४-१०५

२- अर्ली हिस्ट्री आफ वैशनविजम इन साउथ इन्डिया, पी०पी० ७२-७३

अर्थ-जो तुम्हारा भजन करता है, उसका मन तुम्हारा घर है—अर्थात् तुम उसके मन में वास करते हो।

अर्थ-भगवान् अन्तर्यामीहैं,जो उसका भजन करता है। वह उसके मन में वास करता है।

इसी प्रकार अन्तिम अलावार 'तिरुमङ्ग' तक अध्यात्मरामायण से प्रभावित रहे—

त्वामेव भजतां नित्यं
हृदयं तेऽधिमन्दिरम्।
—अध्या०रा०अयो०का० ६/५४

अर्थ-जो तुम्हारा भजन करता है उसके हृदय तुम्हारा मन्दिर है—अर्थात् तुम उसके हृदय में वास करते हो।

तिरुमङ्ग (सन् ८००से ८७० तक) का कथन

चिन्तै तन्निल मुन्ति निन्ट्रोर
—पेरिय तिरुमोली, ४-६-६

अर्थ-जो भगवान् का भजन करताहै उसके हृदय में भगवान् वास करता है।

इस प्रकार श्रीरामानुजाचार्य के पूर्वाचार्य नम्मालवार आदि की रचनाओं पर अध्यात्मरामायण के अनुपम प्रभाव तथा सन् ६७७ ई० को पाण्डुलिपि के साक्ष्यसे अर्वाचीनतासाधक चतुर्थ हेतु वाधित हो गया।

पञ्चम हेतु

विवरणप्रस्थान में अविद्या का आश्रय और विषय दोनों ही ब्रह्म कहा गया है। अध्यात्मरामायण के अरण्यकाण्ड ३/२० में माया (अविद्या) को स्पष्टरूप से त्वदाश्रया एवं त्वद्विषया अर्थात् ब्रह्माश्रया और ब्रह्मविषया कहा गया है। जो विवरण का मुख्य सिद्धान्त है। जो १४ वीं शताब्दी में श्रीविद्यारण्य स्वामी द्वारा 'विवरणप्रमेय' में सुव्यवस्थित रूप प्राप्तकर चुका था। अतः अध्यात्मरामायण १४ वीं शताब्दी के पश्चात् अपना कलेवर प्राप्त कर सका है। अन्यथा यदि पुराणकालिक होता तो नवीं शतीके भामती प्रस्थान द्वारा उसके विपरीत 'जीवाश्रया ब्रह्मविषया' सिद्धान्त के प्रतिपादन का कोई औचित्य नहीं रहता। अपि च यदि ब्रह्माश्रया ब्रह्मविषया का सिद्धान्त पुराणावयव अध्यात्मरामायण में पूर्वतः प्रसिद्ध रहा होता तो उसके विपरीत भामती प्रस्थान में आये हुए जीवाश्रया ब्रह्मविषया के सिद्धान्त का खण्डनकर अपने ब्रह्माश्रया ब्रह्मविषया के सिद्धान्त के प्रतिपादन में पुष्टि लाने के लिए

०-अर्ली हिस्ट्री आफ वैशनविज़्म इन साउथ इण्डिया, पी०पी० ७२-७३

विवरणकार अध्यात्मरामायण के उक्त वाक्य 'त्वदाश्रया त्वद्विषया' को अवश्य उद्धृत करते। उनके द्वारा वैसा न किया जाना उक्त कालतक उसकी असत्ता ही द्योतित करता है।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

संस्कृत के विद्वान् बाल की खाल निकालने में अवश्य कुशल होते हैं, किन्तु ग्रन्थों का कालनिर्धारण इनके वश की बात नहीं; क्योंकि ये लोग 'कूपमण्डूक' बने घर में बैठे रहते हैं, पाण्डुलिपियों की खोज नहीं करते। प्रथम हेतु के निराकरण में सम्वत् १०३४ अर्थात् सन् ९७७ई० की अध्यात्मरामायण की पाण्डुलिपि का साक्ष्य प्रस्तुत किया गया। अध्यात्मरामायण के उत्तरकाण्ड की 'रामगीता' पर श्रीधरस्वामी (सन् १२९०-१३८० ई० तक) के टीका की पाण्डुलिपि सरस्वती भवन में विद्यमान है।

यदि अध्यात्मरामायण १४वीं शती के बाद लिखा गया होता तो १४वीं शती के श्रीधर स्वामी उस पर टीका कैसे लिख देते ? उक्त पाण्डुलिपि श्रीधरी टीका के साक्ष्य से पण्डित जी का चतुर्थ हेतु भी बाधित है। अतः वह अर्वाचीनता का साधक नहीं हो सकता।

दूसरी बात, यदि ऐसी कोई व्याप्ति होती कि—'जो सिद्धान्त जिस ग्रन्थ में आ जाय, वह ग्रन्थ उस सिद्धान्त के मानने वालों या उस सिद्धान्त के जन्मदातारूप में प्रसिद्ध व्यक्तियों के पश्चात् बना है'। तो कुछ क्षण के लिए माना जा सकता था कि विवरणकार का सिद्धान्त (माया ब्रह्माश्रया और ब्रह्मविषया है) अध्यात्मरामायण में आ जाने से यह ग्रन्थ विवरणकार के सिद्धान्त की उपपत्ति के बाद बना है, (यहाँ कुछ 'क्षण के लिए' इसलिए कहा गया कि जब सन् ९७७ ई० की अध्यात्मरामायण की पाण्डुलिपि अभी सुरक्षित है, तो निश्चित है कि अध्यात्मरामायण में परवर्ती विवरणकार के सिद्धान्त को घुसेड़ा गया है। अन्यथा वह अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ में कैसे आ सकता है ? अथवा वह विवरणकार के पूर्व में भी किसी रूप में प्रचलित था, जिससे आ गया। अतः उसके बलपर अध्यात्मरामायण को १२वीं या १४वीं शती के बाद की रचना नहीं सिद्ध किया जा सकता।) किन्तु ऐसी व्याप्ति ही नहीं स्वीकार की जा सकती; क्योंकि भगवान् बादरायण (वेदव्यास कृष्णद्वैपायन) के ब्रह्मसूत्र— प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधप्राप्तिरविच्छेदात्" (२/२/२२) में आचार्य वसुबन्धु (सन् ४२०-५०० ई०)

के सिद्धान्त पूर्वपक्ष के रूपमें आये हैं, जिनका 'अभिधर्मकोष' में निर्देश है। ये आचार्य वसुबन्धु ब्रह्मसूत्र प्रणयन – सुदूर पश्चात् कालिक हैं।

इधर ब्रह्मसूत्रों की रचना भगवान् बादरायण ने महाभारत की रचना के पूर्व ही कर ली थी; क्योंकि 'भगवद्गीता' के "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः" (१३/४) श्लोक में ब्रह्मसूत्र का उल्लेख है। अतः जब परवर्ती वसुबन्धु के सिद्धान्त बादरायणसूत्रों में आने पर भी उन सूत्रों को वसुबन्धुके पश्चात् की रचना नहीं माना गया, तब परवर्ती विवरणकार के सिद्धान्त अध्यात्मरामायण में आने पर उस रामायण को विवरणकार के पश्चात् की रचना क्यों माना जाय ?

'ब्रह्माश्रया ब्रह्मविषया' सिद्धान्त विवरणकार का नहीं

पण्डित जी इस विषय में भ्रान्त हैं कि–'अविद्या ब्रह्माश्रया और ब्रह्मविषया -- सिद्धान्त विवरणकार का है'। यह सिद्धान्त विवरणकार (१२वीं शती) का नहीं, अपितु सुरेश्वराचार्य (८वींशती) का है, जिनसे उन्होंने लिया है। विवरणकार ही नहीं बल्कि संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्म मुनि भी सुरेश्वराचार्य के सिद्धान्त को लिए हैं— चैतन्यवस्तुविषयाश्रय एव मोह-- संक्षेपशारीरक ३/१३ (वह अज्ञान चैतन्य वस्तु को ही विषय और आश्रय बनाता है।) जो नवीं शतीके हैं।

इस विषय में शाङ्कर वेदान्त के अनेक ग्रन्थों के व्याख्याकार, पण्डितराज, श्रीस्वामी योगीन्द्रानन्द जी महाराज लिखते हैं—"सुरेश्वराचार्य ने अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म को ही माना है। संक्षेपशारीरक और विवरण ने इसी मत को अपनाया है"।—संक्षेपशारीरकम्, पृष्ठ१३

जीवाश्रया ब्रह्मविषया सिद्धान्त भामतीकार का नहीं

"अविद्या का आश्रय जीव और विषय ब्रह्म है"— सिद्धान्त भामतीकार, श्रीवाचस्पति मिश्र का है– यह द्विवेदी जी की भ्रान्ति मात्र है; क्योंकि भामतीकार के पूर्ववर्ती मीमांसकप्रवर, श्रीमण्डन मिश्र अविद्या का आश्रय जीव तथा विषय ब्रह्म मानते हैं। वाचस्पति ने यही दृष्टिकोण अपनाया है, जिसे बहुश्रुत लोग भामतीकार का सिद्धान्त समझ बैठे हैं। इस सिद्धान्त को वाचस्पति से पूर्व ही मण्डन मिश्र स्वीकार

कर चुके थे। मण्डन का काल ८वीं शती है। कुछ लोग मण्डन और सुरेश्वराचार्य को अभिन्न भी मानते हैं।

वस्तु स्थिति तो यह है कि ये सभी सिद्धान्त वीज रूप में प्राचीन काल से ही प्रचलित थे। जिसकी उपपत्ति जिस विद्वान् द्वारा विशद रूप से की गयी, वह उसी का सिद्धान्त माना जाने लगा। आचार्य वसुबन्धु के सिद्धान्त भी प्राचीनकाल में प्रचलित थे। अतएव व्यासजी ने ब्रह्म सूत्रों में उसका खण्डन किया। इसी प्रकार शून्यवाद आदि मतों का भी निराकरण वहाँ हुआ है।

ब्रह्मसूत्र में भेदवाद का खण्डन देखकर यदि कोई नरपुङ्गव कहे कि व्यासजी ने आर्यसमाज का खण्डन किया है, तो वह भ्रान्त नहीं तो और क्या कहा जायेगा। तात्पर्य यह कि प्रायः सभी सिद्धान्त प्राचीन काल में किसी न किसी रूप में विद्यमान थे, उन्हीं का प्रतिपादन तत्तदाचार्यों ने किया है। अतः उनके आधार पर किसी का कालनिर्धारण दुःशक है, जब तक कि उनकी आनुपूर्वी या नामोल्लेख न हो।

अध्यात्मरामायण में विवरणकार का मत नहीं

यद्यपि यह स्पष्ट हो चुका है कि 'अविद्या का आश्रय और विषय ब्रह्म है' सिद्धान्त विवरणकार का नहीं है, अपितु उन्होंने सुरेश्वराचार्य के वार्तिक ग्रन्थ से लिया है, तथापि पण्डितजी उसे विवरणकार का मान बैठे हैं। इनको यह भ्रान्ति वार्तिकादि ग्रन्थ की अनवगति के कारण हुई है। अतः जिस श्लोक को ये विवरणकार–सिद्धान्तानुसारी समझ रहे हैं, उसी को सामने रखकर प्रदर्शित किया जायेगा कि इसमें पण्डितजी के अभिमत वस्तु की गन्ध भी नहीं है–

"सृष्टेः प्रागेकएवासीः निर्विकल्पोऽनुपाधिकः।
त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते"॥

–अध्या० रा० अर०का० ३/२०

इस श्लोक में माया को श्रीरामाश्रया और श्रीरामविषया तो कहा गया है; किन्तु इसमें विवरणमत की गन्ध भी नहीं है; जैसा कि पण्डितजी मान रहे हैं। कारण यह कि अविद्या जिन लोगों के मत से ब्रह्माश्रित है और ब्रह्म को विषय करती है। वही लोग यह भी मानते हैं कि अज्ञान (अविद्या) का विषय वही होता है, जिसे वह आवृत करे; क्योंकि अन्धकार जिस कमरे के आश्रित होता है, उसी को अपना विषय भी

बनाता, अर्थात् ढकता है। इसलिए अविद्या ब्रह्म को ढकती भी है।

इधर अध्यात्मरामायण की परिस्थिति इससे भिन्न है; क्योंकि वालकाण्ड के आरम्भ अर्थात् उपक्रम वाक्य में ही भगवान् शिवने निर्णय दे रखा है कि अविद्या परमात्मा श्रीराम में किसी भी प्रकार नहीं रह सकती—

"यथाऽप्रकाशो न तु विद्यते रवौ,ज्योतिः स्वभावे परमेश्वरे तथा।
विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽविद्या कथं स्यात् परतः परात्मनि ।।" } १/२०

अर्थ—जैसे ज्योतिःस्वरूप सूर्य में अन्धकार नहीं रहता, वैसे ही विशुद्धविज्ञानघन परात्पर ब्रह्म रघुकुलशिरोमणि श्रीराम में अविद्या नहीं रह सकती। हाँ, मूर्ख लोग श्रीराम में अपने अज्ञान (अविद्या) का आरोप अवश्य कर लेते हैं, जिसका परिणाम उन्हें भुगतना पड़ता है—

'स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धे, स्वारोपयन्तीह निरस्तमाये।
संसारमेवानुसरन्ति ते वै, पुत्रादिसक्ताः पुरुकर्मयुक्ताः ।।" } १/१९

अर्थ—माया (अविद्या) से सर्वथा शून्य, शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा श्रीराम में अज्ञानी जीव अपने अज्ञान का आरोप कर लेते हैं (जहाँ जो वस्तु नहीं रहती वहीं उसका आरोप होता है; जैसे—रस्सी में सर्पत्व का आरोप होता है, रस्सी में सर्पत्व नहीं है, फिर भी अज्ञानी जीव उसमें अपने अज्ञान का आरोप कर लेते हैं।) ऐसे लोग यज्ञादि कर्म करने पर भी पुत्र, कलत्र आदि में आसक्त होकर संसार में आवागमन करते रहते हैं, तात्पर्य यह है कि उनका संसार बन्धन यज्ञादि करने पर भी छूटता नहीं, प्रत्युत दृढ़ होता जाता है।

इस प्रकार आठ श्लोकों से भगवान् शिव ने निर्णय दिया कि 'श्रीराम में अविद्या नहीं रहती है'। उन्हें अविद्या का आश्रय मूर्ख ही मानते हैं।

ध्यातव्य है कि यहाँ श्रीराम में अविद्या (माया) का निषेध करने के साथ-साथ, उन्हें अविद्या का आश्रय मानने वालों की मूर्ख आदि कहकर निन्दा भी की गयी। अतः "त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्ति-रुच्यते" श्लोक में माया का आश्रय और विषय जो परमात्मा श्रीराम को कहा गया है, उसका तात्पर्य पूर्ववाक्यों को ध्यान में रखते हुए ही निर्णीत करना चाहिए।

पूर्वोक्त शिववचनों के अनुरोध से श्लोकार्थ होगा—'सृष्टि के पूर्व केवल आप ही थे। उस समय नामरूपात्मक नाना भेद वाले जगद्रूप

विकल्प (प्रपञ्च) से आप रहित थे; क्योंकि उस समय आप 'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय' इत्यादि सङ्कल्परूप उपाधियों से शून्य थे। माया आपकी शक्ति कही जाती है। वह स्वतन्त्र नहीं है, अर्थात् आपके अधीन रहने वाली है इसलिए उसे आपके आश्रित कहा गया है। वह जीवों के लिए आपके स्वरूप को प्रकाशित होने नहीं देती, अर्थात् ढके रहती है, अतः उसे आपको विषय करने वाली कहा गया है।"

गीता ७/२५ में भगवान् ने योगमाया द्वारा अपने स्वरूप का आवरण कहा है—"नाऽहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः"। यह योगमाया जनकनन्दिनी श्रीसीताजी ही हैं—"योगमायाऽपि सीतेति जाता जनकनन्दिनी" (अध्यात्मरामायण अयोध्याकाण्ड ६/४४)। ये भगवान् श्रीराम के अधीन रहने वाली तथा सम्पूर्ण लोकों को मोहित करने वाली हैं—"त्वदधीना महामाया सर्वलोकैकमोहिनी" (अध्या॰अयो॰का॰३/३१)। ये जानकी जी ही भगवान् श्रीराम की माया तथा सृष्टि पालन और संहार करने वाली कही गयी हैं—"एषा सीता हरेर्माया सृष्टिस्थित्यन्तकारिणी" (अयो॰ का॰ ५/३३)। अध्यात्मरामायण में इन्होंने अपने श्री मुख से ही स्वयं को मूलप्रकृति और सृष्टि आदि कार्यकर्त्री वतलाया है-

"मां विद्धि मूलप्रकृतिं सृष्टिस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥" } बा॰का॰

तुम मुझे सृष्टि, स्थिति और संहार करने वाली मुलप्रकृति समझो मैं श्रीराम के सान्निध्यमात्र से इस चराचर विश्व को आलस्य रहित होकर रचती हूँ।

अतः जिस प्रकार पति के अधीन रहने वाली पत्नी को भारतीय परम्परा के अनुसार पति के आश्रित माना जाता है। सर्वतोभावेन पति ही उसका एकमात्र आश्रय है, वह विनीत दासी की भाँति पति की आज्ञा का पालन करती रहती है; उसी प्रकार महामाया जानकी जी भी श्रीराम की आज्ञापालिका तथा उनके आश्रित कही गयी हैं। अथवा जैसे—सम्पूर्ण परिवार गृहस्वामी के आश्रित रहता है, उसके अनुकूल चलता है। वैसे ही माया भगवती सीता भी श्रीरामके आश्रित तथा उनकी इच्छा के अनुकूल चलने वाली हैं, तात्पर्य यह कि यहाँ माया (सीताजी) और भगवान् श्रीराम में घट तथा भूतल की भाँति 'अधाराधेयभाव' सम्बन्ध नहीं है।

अध्यात्मरामायण में अन्यत्र भी श्रीराम को माया का आश्रय एवम्

विषय कहा गया है— "त्वदाधारा त्वद्विषया माया कार्यं सृजत्यहो" (वा०का० ७/३२)। महापण्डित नागेशभट्ट इस श्लोक की व्याख्या पूर्वोक्त शिववचनों (अविद्या भगवान् श्रीराम में नहीं रहती है) को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार करते हैं— त्वदाधारेति।

"त्वदाधारेति। अन्यान् प्रतित्वामावृणोतीति त्वद्विषया। अस्वतन्त्रतया त्वदधीनत्वात् त्वदाधारा च सेति भावः"। } अध्या०रा०की सेतुटीकापृ.२६

अन्य जीवों के प्रति आपके स्वरूप को आवृत करती है, अतः इसे (माया को) त्वद्विषया (तुमको विषय करने वाली) कहा गया। स्वतन्त्र न रहने से तुम्हारे अधीन होने के कारण त्वदाधारा (तुम्हारे आश्रित इसे) कहा गया है।

पाठकगण, यहाँ सुस्पष्ट देख सकते हैं कि "त्वदाश्रया त्वद्विषया मायाते शक्तिरुच्यते" और "त्वदाधारा त्वद्विषया माया कार्यंसृजत्यहो" इन दोनों श्लोकों में माया का निर्देश समान रूप से किया गया है। इसीलिए महावैयाकरण नागेशजी ने प्रथम पंक्ति की व्याख्या नहीं की। अतः सेतुटीकाकार के साक्ष्य से भी यहां विवरणकाराभिमत अविद्या का आश्रय ब्रह्म नहीं कहा गया है। वे तो अविद्या को आधेय और ब्रह्म को आधार मानते हैं। जबकि श्रीराम में अविद्या की सत्ता का निषेध किया जा चुका है। अतः उक्त श्लोक का अर्थ पूर्व में मेरे द्वारा जैसा किया गया, वैसा ही है। इसमें पं०जो से अभिमत विवरणकार के मत की गन्ध भी नहीं है। द्विवेदीजी को जो विवरणकार के मत की भ्रान्ति उस श्लोक में हुई है। उसका मूलकारण वालकाण्ड के प्रारम्भ में विद्यमान 'उमामहेश्वरसम्वाद' का अनवलोकन ही है। यदि ये भ्रान्तिस्थल के पश्चात् आये श्लोकों का अवलोकन कर लेते तो इन्हें राजस अहङ्कारसे इन्द्रियों की उत्पत्ति और भगवद्दर्शन से मुक्ति लाभ का परिज्ञान अवश्य हो जाता— जो कि विवरण ही नहीं, अपितु अद्वैति प्रोक्त सभी ग्रन्थों के विपरीत है—तो इन्हें उक्त भ्रान्ति नहीं होती। यदि वहाँ इनसे मान्य विवरणकार का सिद्धान्त निर्दिष्ट होता, तो विवरणमत का लेखक उससे आगे अद्वैतवेदान्त से विरुद्ध इन्द्रियादि की उत्पत्ति—प्रक्रिया को नहीं दिखाता, किन्तु दिखलाया है अतः उक्त श्लोक में विवरणकार का मत नहीं है।

उक्त परिशीलन से यह निश्चित हो गया कि यहाँ तथाकथित विवरणकार का सिद्धान्त नहीं है। अतएव वाचस्पति मिश्र के जीवाश्रया

ब्रह्मविषया अविद्या सिद्धान्तका निराकरण करके ब्रह्माश्रया ब्रह्मविषया सिद्धान्त की स्थापना करने में पुष्टि लाने के लिए "त्वदाश्रया त्वद्विषया"- श्लोक विवरणकार द्वारा उद्धृत नहीं किया गया। इसीलिए भामतीकार वाचस्पति मिश्र को भी मण्डनमिश्रके "जीवाश्रया ब्रह्मविषया अविद्या" सिद्धान्त के प्रतिपादन में कोई सङ्कोच नहीं हुआ।

निष्कर्ष यह कि उक्त श्लोक में तथाकथित विवरणकार का सिद्धान्त नहीं है। अतः अध्यात्मरामायण को १४ वीं शती के पश्चात् को रचना नहीं सिद्ध कर सकते; क्योंकि उक्त हेतु स्वरूपासिद्ध जो है। अतएव "यदि यह पुराण कालिक होता तो नवीं शती के भामतो प्रस्थान द्वारा इसके विपरीत 'जोवाश्रया ब्रह्मविषया' सिद्धान्त के प्रतिपादनका कोई औचित्य नहीं रहता"- कथन अध्यात्मरामायण के उक्त श्लोक से विरुद्ध होने के कारण भ्रममूलक है। यदि किसी का विशेष आग्रह ही हो कि 'त्वदाश्रया त्वद्विषया माया ते शक्तिरुच्यते" श्लोक से विवरणकार के सिद्धान्त का ही अभिधान है, तो मैं उस कथयिता को राय देता हूँ कि सुरेश्वराचार्य के वार्तिक ग्रन्थ को पढ़कर जान ले कि वह वार्तिककार का है, जो बीजरूप में उनसे भी पूर्व प्रचलित था। अतः उसके आधार पर द्विवेदीजी उक्त रामायण को १४वीं शती के पश्चात् की रचना नहीं सिद्ध कर सकते। तुष्यतु दुर्जनन्यायेन उसे विवरणकारका सिद्धान्त मान भी लें, तो भी सन् ९७७ ई० की अध्यात्मरामायण की पाण्डुलिपि द्विवेदी जी के हेतु कथन' को 'प्रलापमात्र' ही सिद्ध करेगी।

ऐसी स्थिति में तथाकथित विवरणकार के सिद्धान्त का बोधक उक्त श्लोक ही प्रक्षिप्त (अर्थात् १४वीं शती के पश्चात् मिलाया गया) मानना पड़ेगा; क्योंकि पश्चाद्भावी विवरणकार का सिद्धान्त पूर्वभावी अध्यात्मरामायण में नहीं आ सकता। इस परिस्थिति में यह हेतु स्वरूपासिद्ध ही होगा। अतः उक्त रामायण को रचना १४वीं शती के पश्चात् की सिद्ध नहीं हो सकती।

मध्वाचार्य के उद्धरण का साक्ष्य

अध्यात्मरामायण की टीका 'व्यङ्ग्यप्रकाशिका' के प्रणेता रींवा-नरेश, श्री विश्वनाथ सिंह जू देव अध्यात्मरामायण माहात्म्य के ६१वें श्लोक को व्याख्या में लिखते हैं—तत्प्रतिपक्षिभिः श्रीमन्मध्वाचार्यैः ब्रह्मसूत्रभाष्ये "दर्शनेनात्मयोगेन मुक्तिर्नान्येन केनचित्" इति चाध्यात्मरामायणस्थ पद्य ःवोकृतम्।

श्रीमध्वाचार्यजीने पूर्णप्रज्ञभाष्य तथा अन्यत्र भी अध्यात्मरामायण के श्लोकों को उद्‌धृत किया हैं। देखें—

योगिनः प्रति स्मर्येते स्मार्तेचेति । (४/२/१६/२२)

गत्यनुस्मरणाद् ब्रह्म चन्द्रं वा गच्छति ध्रुवम् ।
अननुस्मरतः काले स्मरणं प्राप्य वै गतिः ॥ इत्याध्यात्मे
हृदिस्थेनैव हरिणा तस्यैवानुग्रहेण तु ।
उत्क्रान्तिर्ब्रह्मरन्ध्रेण तमेवोपासतो भवेत् ॥ } –ब्रह्मसूत्र भाष्य ४/२/६/१७

यहाँ 'इत्यध्यात्मे' में अध्यात्मे का अर्थ 'अध्यात्मरामायणे' है। मध्वाचार्य जी की शैली हो ऐसी है कि वे नाम का एक देश हो प्रयुक्त करते हैं। वे "इति स्कन्द पुराणे" "इति ब्रह्मवैवर्तपुराणे" न लिखकर "इति स्कान्दे" "इतिब्रह्मवैवर्ते" लिखते हैं।

श्रीमध्वाचार्य का जन्म काल डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, ✶ महामहोपाध्याय डॉ० उमेश मिश्र तथा पण्डित बलदेव उपाध्याय ✻ प्रभृति विद्वान् सन् ११९९ ई० वर्ष मानते हैं। अतः उक्त बाह्य साक्ष्य के आधार पर भी अध्यात्मरामायण १२वीं शती के पूर्व की रचना सिद्ध होता है। इसी से द्विवेदी जी द्वारा प्रदत्त, प्रथम, चतुर्थ पञ्चम और षष्ठ हेतु बाधित हो जाते हैं। यद्यपि मध्वाचार्य द्वारा उद्‌धृत श्लोक गीता प्रेस गोरखपुर और गङ्गाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई नगर में मुद्रित अध्यात्मरामायण में नहीं है। तथापि दक्षिण प्रदेश की हस्तलिखित पाण्डुलिपियों में इनकी सत्ता इलाहाबाद के श्री प्रभात शास्त्री आदि विद्वानों ने स्वीकार की है।

दूसरी बात यह कि प्राचीन विद्वानों द्वारा उद्‌धृत सभी श्लोक इस समय उपलब्ध नहीं होते हैं। उदाहरण के लिए 'ब्रह्मवैवर्त पुराण' को लिया जा सकता है। स्मृतिचन्द्रिका, चतुर्वर्गचिन्तामणि, कालनिर्णय, स्मृतितत्त्व और वर्षक्रियाकौमुदी प्रभृति ग्रन्थों में ब्रह्मवैवर्तनाम से उद्‌धृत १५०० पंक्तियों में केवल तीन पंक्तियाँ ही वर्तमान ब्रह्मवैवर्त पुराण के श्रीकृष्ण जन्मखण्ड के ८वें तथा २६ वें अध्याय में जन्माष्टमी व्रत और एकादशीव्रत के प्रसङ्ग में दृष्टिगोचर होती हैं शेष श्लोक नहीं मिलते। इसी प्रकार मध्वाचार्य जी द्वारा उद्‌धृत श्लोक भी आज कल अध्यात्मरामायण में न मिलें तो कोई आश्चर्य नहीं। हाँ, इतना

✶ भारतीय दर्शन का इतिहास, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ५२

✻ भारतीय दर्शन, पृष्ठ ४२६

निश्चित है कि वर्तमान काल में अध्यात्मरामायण का जो संस्करण उपलब्ध है, उसमें काफी मिलावट हुई है। इसीलिए पूर्व के कुछ श्लोक निष्कासित कर दिये गये हैं। जिसमें मध्वाचार्य द्वारा उद्धृत श्लोक हो सकता है।

जैसे वाल्मीकीयरामायण के पश्चिमोत्तरीय, गौडीय और दक्षिण प्रदेशीय ये तीन संस्करण हैं, वैसे ही अध्यात्मरामायण के भी हैं। इनमें दक्षिण प्रदेश की हस्तलिखित प्रतियों के आधारपर अध्यात्मरामायण का कोई संस्करण आज तक प्रकाशित नहीं हुआ। गौडीय संस्करण का प्रकाशन 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज' नामक ग्रन्थमाला में श्रीनरेन्द्रनाथ 'सिद्धान्तरत्न' के सम्पादकत्व में 'नरोत्तमप्रणीत टीका, गोपालचक्रवर्ती प्रणीत टीका तथा सेतुटीका के सारांश के साथ हुआ।

इसके प्रकाशन में बङ्गप्रदेश में प्राप्त चार हस्तलिखित प्रतियों का सहयोग रहा। इस संस्करण में सर्ग के स्थान पर अध्याय का प्रयोग तथा प्रथमकाण्ड का नाम आदिकाण्ड और षष्ठकाण्ड का नाम लङ्काकाण्ड मिलता है। इसमें अध्यात्मरामायण का माहात्म्य प्रथम अध्याय का अंश है। जबकि बम्बई तथा गीताप्रेस गोरखपुर के संस्करणों में इससे भिन्न स्थिति है। इनमें अध्याय के स्थान पर सर्ग तथा प्रथम काण्ड का नाम बालकाण्ड और षष्ठकाण्ड का नाम युद्धकाण्ड मिलता है और अध्यात्मरामायण का माहात्म्य प्रथम अध्याय का अंश नहीं, प्रत्युत बम्बई संस्करण ब्रह्माण्डपुराण के उत्तरखण्ड का ६१वां अध्याय है और गीता प्रेस के संस्करण में मात्र ब्रह्माण्ड पुराण के उत्तरखण्ड का भागविशेष। वस्तु स्थिति तो यह है कि यह संस्करण भी बम्बई संस्करण का ही प्रतिलिपि मात्र है। गीता प्रेस, बम्बई और प्रयाग इन तीनों के संस्करण पश्चिमोत्तरीयपाठ परम्परा के अनुसार है। कलकत्ता संस्करण के साथ प्रयाग संस्करण और बम्बई संस्करण की तुलना करने पर प्रत्येक सर्ग की श्लोक संख्या, श्लोकों के पाठ तथा काण्डों के नाम में महान् अन्तर मिलता है। कलकत्ता संस्करण बनाम गौडीय संस्करण के आदि काण्ड के तृतीय अध्याय के आरम्भ में निम्नलिखित श्लोक हैं—

सूर्यवंशेऽभवत् राजा दिलीप इति विश्रुतः।
तस्य पुत्रो रघुर्नाम महाबल पराक्रमः॥
यश्चक्र हयमेधानां शतमिन्द्रसमः प्रभुः।
तस्य पुत्रोऽभवन्नाम्ना अज इत्यभिविश्रुतः॥

तस्य पुत्रो दशरथ: श्रीमान् सत्य पराक्रम: ।
अयोध्याधिपतिर्वीर: सर्वलोकेषु विश्रुत: ।।

दारागंज प्रयाग के संस्करण में इसी अध्याय के आरम्भ में निम्नलिखित श्लोक हैं —

अथ राजा दशरथ: श्रीमान् सत्य पराक्रम: ।
अयोध्याधिपतिर्वीर: सर्वलोकेषु विश्रुत: ।।
सोऽनपत्यत्वदु:खेन पीडितो गुरुमेकदा ।
वशिष्ठं स्वकुलाचार्यमाहूयेदमभाषत ।।
स्वामिन्पुत्रा: कथं मे स्यु: सर्वलक्षणलक्षिता: ।
पुत्रहीनस्य मे राज्यं सर्वं दु:खाय कल्पते ।।

गीताप्रेस संस्करण बनाम बम्बई संस्करण में वहीं निम्नलिखित श्लोक हैं —

अथ राजा दशरथ: श्रीमान् सत्यपरायण: ।
अयोध्याधिपतिर्वीर: सर्वलोकेषु विश्रुत: ।।
सोऽनपत्यत्वदु:खेन पीडितो गुरुमेकदा । वशिष्ठं स्वकुलाचार्यमाहूय ।।

यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है कि गौडीय पाठानुसारी कलकत्ता संस्करण के दो श्लोक प्रयाग और बम्बई के संस्करणों में नहीं हैं । ये दोनों संस्करण पश्चिमोत्तरीय पाठानुसारी है । (प्रयाग और बम्बई के संस्करणों में रेखाँकित पंक्तियों से पाठ भेद भी परिलक्षित हो रहा है।) इतना ही नहीं, कलकत्ता संस्करण के बालकाण्ड के तृतीय अध्याय में सम्पादक ने टिप्पनी में लगभग ६० श्लोकों को लिखा है ये श्लोक इटली में मुद्रित अध्यात्मरामायण में मिलते हैं ।

कलकत्ता संस्करण के अन्य काण्डों में भी यही स्थिति है । अयोध्याकाण्ड के तृतीय अध्याय के १६ वें श्लोक पर टिप्पनी में सम्पादक ने अन्य पाण्डुलिपियों से उपलब्ध श्लोक रखे हैं ।

प्रियां प्रियहिते युक्तां भार्यां नित्यमनुव्रताम् ।
स तां विज्ञाय सन्तप्तां कैकेयीं पार्थिवोऽब्रवीत् ।।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनाथ न: शपे ।
तुष्टा तेनात्मवाक्येन दृष्ट्वातिप्रियमात्मन: ।।
व्याजहार महाघोरं कैकेयी भूषणप्रिया ।
यथा धर्मेण शपसे वरं मह्यं ददासि च ।।
तच्छृण्वन्तु समागम्य देवा: शक्रपुरोगमा: ।

चन्द्रादित्या ग्रहाश्चैव नभो रात्र्यहनो दिशः ।।
वरं मह्यं ददात्वेतत् तन्मे शृणुत देवताः ।
इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिपद्य च ।।
ततो वाच उवाचेदं वरदं काममोहितम् ।

बम्बई और प्रयाग के संस्करण में ये श्लोक नहीं मिलते हैं। इस विवेचन और विश्लेषण से निश्चित होता है कि अध्यात्मरामायण के तीन पाठ हैं। गीताप्रेस, बम्बई और प्रयाग के संस्करण पश्चिमोत्तरीय पाठ के अनुसार हैं। श्रीमध्वाचार्य जी ने जिन श्लोकों को उद्धृत किया है, वे सभी अध्यात्मरामायण के दक्षिणात्यपाठ के अनुसार हैं। निष्कर्ष यह कि अध्यात्मरामायण १२वीं शती से सुदूर पूर्वकाल में विद्यमान था। इसकी प्रामाणिकता विद्वज्जगत् में प्रसिद्ध हो चुकी थी। अतएव श्रीमध्वाचार्य जी ने 'पूर्णप्रज्ञ' भाष्य में इसके श्लोकों को उद्धृत किया। इससे द्विवेदी जी के पञ्चम और षष्ठ हेतु बाधित होने से अर्वाचीनता के साधक नहीं हो सकते।

षष्ठ हेतु—

पंडितजी ने षष्ठ हेतु में अपने विश्रुत पाण्डित्य का खुलकर प्रदर्शन किया है। इनका षष्ठ हेतु देखें—

वाल्मीकीयरामायण में भी अयोध्याकाण्ड के ६५वें सर्ग में १६वें से १८वें श्लोकों द्वारा चित्रकूट के महर्षि वाल्मीकि की एक संक्षिप्त चर्चा आयी है। इन श्लोकों की व्याख्या में गोविन्दराज लिखते हैं कि 'उस समय वाल्मीकि का चित्रकूट में वास था, और बाद में भरतागमन के पश्चात् तमसा के तट पर उनका वास हो गया था'। तात्पर्य यह कि इनके मत में चित्रकूट के वाल्मीकि ही रामायणकार प्राचेतस वाल्मीकि हैं। इन्होंने वाल्मीकि को 'राममन्त्रानुसन्धान सन्धुक्षित हृदय' राममन्त्रका अनुसन्धान करने वाला लिखा है। तात्पर्य यह कि गोविन्दराज के समय अर्थात् १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक महर्षि वाल्मीकि को चोर डाकू बनाने वाली तथा उसके प्रायश्चित्त रूप में 'मरा' इस आनुपूर्वी का जप कराने वाली घटना का उपवर्णन करने वाले इस अध्यात्मरामायण ग्रन्थ की प्रणीति या प्रसिद्धि नहीं हुई रही (पण्डितजी के इस 'तात्पर्य यह' आदि कथन पर आधारित सम्पूर्ण प्रलाप का निराकरण पूर्वमें किया जा चुका है)। इधर इन्हीं श्लोकों की व्याख्या में श्री नागेशभट्ट

(१८वीं शती का पूर्वार्द्ध) कह रहे हैं—
"चित्रकूटे स्थित एत्र वाल्मीकिः रामराज्यकाले तमसातीरं गत इति न विरोध इति प्राञ्चः । प्राचेतसादयं वाल्मीकिरन्य एवेति तत्त्वम् ।।"

श्रीनागेशभट्ट की इस उक्ति से प्रतीत होता है कि इनके समय तक अध्यात्मरामायण अवश्य प्रकाश में रहा होगा । इसीलिए चित्रकूटस्थ वाल्मीकि से रामायणकार वाल्मीकि का ऐक्य नहीं स्वीकार करते । क्योंकि वे भी अपनी टीका के उपक्रम में रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को परिशुद्ध ही घोषित कर चुके हैं । महर्षि कृत तपश्चर्या का उद्देश्य इन्होंने श्रीराम तत्त्व का परिज्ञान एवं उसके उपवर्णनौपयिक अपूर्व कवित्वशक्ति की प्राप्ति ही माना है । न कि चौर्य हत्या आदि कुकृत्यों का प्रायश्चित्त । जबकि अध्यात्मरामायण में उनके द्वारा किये गये चौर्यादि कुकृत्यों के प्रायश्चित्तरूप में उनकी तपश्चर्या एवं 'मरा' इस आनुपूर्वी के सतत अनुसंधान का स्पष्ट वर्णन है ।

पता तो यह भी चला हैं कि श्रीनागेशभट्ट ने अध्यात्मरामायण की भी टीका की है । यद्यपि अभी तक लेखक को उसका दर्शन नहीं हुआ है । निष्कर्ष यह कि श्रीगोविन्दराज (१५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध) तथा श्रीनागेशभट्ट (१८वीं शती के पूर्वार्द्ध) के मध्य ही किसी समय अध्यात्मरामायण का प्रणयन हुआ होगा । बहुत कुछ सम्भव है कि १६वीं शती के आरम्भ में ही उसका प्रणयन हुआ होगा । क्योंकि उसी की छाया में उस समय और भी रामायणग्रन्थों का निर्माण लोकभाषा में हुआ है ।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

यद्यपि 'बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी' की सेन्ट्रल लाइब्रेरी में सुरक्षित सम्वत् १०३४ (सन् ९७७) की अध्यात्मरामायण की पाण्डुलिपि, १४वीं शती के सुप्रसिद्ध विद्वान् यतिप्रवर श्रीधर स्वामी को उत्तरकाण्ड के पांचवे अध्याय या सर्ग की रामगीता पर श्रीधरी टीका की 'सरस्वती भवन' में विद्यमान पाण्डुलिपि तथा पूर्वोक्त अन्य साक्ष्यों से पण्डितजीका यह षष्ठ हेतु भी धूलि धूसरित (बाधित) हो रहा है । तथापि अन्य साक्ष्य भी प्रस्तुत किये जा रहे हैं जिससे सिद्धान्तपक्ष में दृढ़ता आने के साथ ही कुछ नये रहस्य भी खुलकर सामने आयें ।

गोविन्दराज से पूर्व अर्थात् १५वीं शती के पूर्वार्द्ध में उत्पन्न कृत्तिवास की बंगला रामायण पर अध्यात्मरामायण का प्रचुर प्रभाव है ।

पण्डित कृत्तिवास का जन्म सन् १४३३ ई० ११ फरवरी रविवार माघ सङ्क्रान्ति को हुआ था। इसे बङ्गीय विद्वानों के सहयोग से पण्डित प्रवर अध्यापक योगेशचन्द्र ने सिद्ध किया है। इसका आधार कृत्तिवासरचित 'आत्म परिचय' नामक प्रवन्ध है, जिसमें कृत्तिवास ने लिखा है—

आदित्यवार श्री पञ्चमी पूर्ण माघमास।
ताखि मध्ये जन्म लइलाम कृत्तिवास॥ *

पण्डित कृतिवास ने अपने रामायण की रचना सन् १४६७ से १४७२ ई० तक पांच वर्ष में की थी।

अध्यात्मरामायण में जिस 'मरा' (उलटा नाम) जप का संक्षेप अर्थात् मात्र एक श्लोक में उल्लेख है, उसी का कृत्तिवास ने अपनी रामायण के 'आदिकाण्ड' में 'राम नाम रत्नाकरेर पापक्षय' शीर्षक में रत्नाकर (कालान्तर में 'वाल्मीकि' नाम से प्रसिद्ध) के लिए अविराम मरा शव्द जपने के लिए ब्रह्माजी द्वारा कहा गया—ऐसा वर्णन किया है।

रत्नाकर के लिए क्यों और किस उद्देश्य हेतु 'मरा' शव्द का अविराम जप कहा गया? इसकी विवेचना वहाँ उपपत्तिपूर्वक की गयी है—ब्रह्माजी उसके कान के पास आकर बोले कि एक बार मुख से रामनाम बोलो, किन्तु वह प्रतिदिन पाप के सञ्चय से जिह्वा के जड़ हो जाने के कारण मुख से राम नाम नहीं बोल सका। उसने कहा कि 'मेरे मुख से वह कथा (राम नाम) स्फुरित नहीं हो रही है; सुनकर चतुर चतुरानन भी चिन्तित हो गये— 'इस पापी के मुख से राम नाम कैसे निकलेगा'। उन्होंने विचार किया कि यह पापी है। अतः यदि पहले म और बाद में रा कहे तो राम नाम इसके मुख से निकल सकता है। ऐसा उपाय सोचकर ब्रह्माजी ने पूछा कि मनुष्य के मर जाने पर लोग उसे क्या कहते हैं? रत्नाकर ने कहा मृतक मनुष्य को सभी लोग मड़ा कहते हैं। मड़ा नहीं, मूर्ख! तू 'मरा मरा' निरन्तर जप। तभी तेरे मुख से राम नाम निकलेगा।

समीप में ही बृक्ष के ऊपर सूखे काष्ठ को देखकर विरञ्चि ने कहा—इसे क्या कहते हैं? उसने सोचकर बड़े यत्न से कहा—इसे मरा काष्ठ कहते हैं। इस प्रकार मरा मरा बोलने से उसके मुख से राम नाम आने लगा। देखें कृत्तिवासरामायण—

---

* कृत्तिवास रामायण, पद्यानुवाद सहित,
प्र०—भुवनवाणी ट्रस्ट लखनऊ सन् १९८९ ई०।

निकटे आसे ब्रह्मा कहे तारे काने । एक वार राम नाम वोल रे बदने ।।
पापे जड़जिह्वा राम वलिते न पारे । कहिले आमार मुखे ओ कथा न स्फुरे ।।
सुनिया ब्रह्मार बड़चिन्ता हैल मने । उच्चारिवे राम नाम ए मुखे केमने ।।
मकार कहिले अग्रे रा कहिले शेषे । तवे वा पापीर मुखे राम राम आसे ।।
ब्रह्मा वलिलेन तारे उपाय चिंतिया। मनुष्य मरिले बापू डाक कि बलिया ।।
शुनिया ब्रह्मार कथा वले रत्नाकर। मृत मनुष्य 'मड़ा' वले सब नर ।।
मड़ा नय मरा बलि जप अविराम । तव मुखे वहिरिबे तबे राम नाम ।।
शुष्क काष्ठ देखिलेन वृक्षेर उपरे । अंगुलि ठरिया ब्रह्मा देखान ताहरे ।।
वहुक्षणे रत्नाकर करि अनुमान । वलिल अनेक कष्टे मरा काष्ठ खान ।।
मरा मरा बलि ते आइल रामनाम ।

—कृत्तिवास रामायण, आदिकाण्ड, पृष्ठ ३४

पण्डित कृत्तिवास ने रत्नाकर के मरा शब्द (नाम) जपने का उपदेश इस प्रकार उपपन्न किया । जबकि अध्यात्मरामायण में केवल एकाग्रमन से निरन्तर 'मरा' ऐसा नाम जपने को कहा गया है, वह भी सप्तर्षियों द्वारा, विरिञ्चि द्वारा नहीं । मरा जप के उपदेश की वहाँ इस प्रकार उपपत्ति भी नहीं की गयी है ।

इतना ही नहीं, अपितु 'कृत्तिवासरामायण' में रत्नाकर मुनिवेषधारी ब्रह्माजी के द्वारा घर भेजे जाने पर माता पिता और पत्नी आदि से स्वसम्पादित पापों के बांटने के विषय में पृथक्-पृथक् पूछता है, और सभी से उत्तर भी भिन्न-भिन्न रूप से पाता है । जबकि अध्यात्मरामायण में मात्र यही वर्णित है कि वाल्मीकि के कुटुम्बियों ने उनके पूछने पर केवल यही कहा कि— हम लोग तो फल भोगने वाले हैं, पाप मात्र तुम्हीं को लगेगा— "पापं तवैव तत्सर्वं वयन्तु फलभागिनः" ।।

–अयो० का० ६/७४

इस प्रकार सुस्पष्ट देखा जा सकता है कि अध्यात्मरामायण की 'वाल्मीकि-कथा' का 'कृत्तिवासरामायण' में सोपपत्ति विस्तार किया गया है । यद्यपि कृत्तिवास ने अपने रामायण की रचना 'वाल्मीकीयरामायण' के आधार पर ही की है, तथापि कुछ प्रसङ्ग उन्होंने 'अध्यात्मरामायण' से ही लिया है, जो कि वाल्मीकीय रामायण में नहीं है; जैसे–

अध्यात्मरामायण	कृत्तिवासरामायण
"योनिलम्पट ! दुष्टात्मन् ! सहस्रभगवान् भव" । —बा० का० ५/२६	'जाति नष्ट कैलितुइ ओरे पुरंदर । योनिमय होके तोर सर्वकलेवर'।।

(हे योनिलम्पट ! दुष्टात्मन् तू सहस्रो योनि वाला हो जा)

"दृष्ट्वाऽहल्यां वेपमानां-
प्राञ्जलिं गौतमोऽब्रवीत् ॥
दुष्टे त्वं तिष्ठ दुर्वृत्ते शिलायामा-
श्रमे मम" ॥ —वा०का० ५/२७

कांपती हुई, हाथ जोड़ी, अहल्या को देखकर महर्षि गौतम ने कहा—दुष्टे ! तू मेरे आश्रम में पत्थर बन कर रह।

रामः शिलां पदा स्पृष्ट्वा
तां चापश्यत्तपोधनाम् ।
—अध्या० रा० बा०का० ५/३६

श्रीराम ने शिला का चरण से स्पर्श करने के बाद (शाप से मुक्त होने पर) उस तपस्विनी को देखा।

(अरे पुरन्दर तेरा सम्पूर्ण शरीर योनिमय हो जाय)

"अहल्या के शापिलेन क्रोधे मुनिवर
काननेत तोर तन हउक प्रस्तर"॥

अहल्या को क्रोधपूर्वक मुनिवर ने शाप दिया कि इस तपोवन में तेरा शरीर पत्थर हो जाय अर्थात् तू पत्थर बनकर यहाँ रह।

तदुपरि करिलेन चरण अर्पण।
ताहाते हइल तोर शापविमोचन ॥
—कृ०रा०, आदिकाण्ड

श्रीराम ने उसके (पत्थरके) ऊपर चरण से स्पर्श किया, जिससे वह शाप मुक्त हो गयी।

यहाँ अध्यात्मरामायण की भाँति इन्द्र को सहस्रभग होने का शाप, अहल्या की पाषाणरूपता तथा श्रीरामपादस्पर्श से उसकी मुक्ति का सविस्तार वर्णन है।

अहल्योद्धार के पश्चात् गङ्गा पार करने के समय 'अध्यात्मरामायण' के समान 'कृत्तिवासरामायण' में भी 'नाविकप्रसङ्ग' आता है—

इत्युक्त्वा प्रययौ गङ्गामुत्तर्तुं
सह राघवः ।
तस्मिन् काले नाविकेन निषिद्धो
रघुनन्दनः ॥
क्षालयामि तव पादपङ्कजं,
नाथ दारुदृषदोः किमन्तरम् ।
मानुषीकरणचूर्णमस्ति ते,
पादयोरिति कथा प्रथीयसी ॥
पादाम्बुजं ते विमलं हि कृत्वा,
पश्चात्परं तीरमहं नयामि ।

तीन जन चलिलेन गङ्गार कूलेते।
पाषाण हइत मुक्त कैवर्त ता शुने ॥
नौकारवानि लइयासे पलाइन वने।
-कृत्तिवासरा०आदिकाण्ड,पृ०११६

कातर कैवर्त कहे करिया विनय।
नौकारवानि जीर्ण मम शतछिद्रमय॥
ए कथा शुनिया आमि सभय अन्तर।
चरण धूलि ते मुक्त हइल पत्थर ॥
नौका मुक्त हय यदि लागिपदधूलि।
कि दिया पूषिव आमिमम पोष्यगूलि।

नो चेत्तरी सद्युवती मलेन,
स्याच्चेद् विभो! विद्धि कुटुम्बहानिः।
—अध्या० रा० बा० का० ६/२-३-४

यदि बल श्रीरामेर चरण धोयाइ।
न तुवा लागिले धूलातरणी हाराइ॥
—कृतिरा० आदि काण्ड

ऐसा कहकर श्रीराम और लक्ष्मण के साथ महर्षि विश्वामित्र गंगा के समीप गये। उस समय नाविक ने रघुनाथ जो को नौका पर चढ़ने से रोक दिया। हे प्रभो! यह कथा प्रसिद्ध हो चुकी है कि आपके चरणों में मानुषीकरण (मनुष्य बनाने वाला) चूर्ण है (जो पत्थर को भी नारी बना देता है)। आप ही बताएं—पत्थर और काष्ठ में कितना अन्तर है, अर्थात् पत्थर से काष्ठ कोमल है। आपके चरणों का उससे स्पर्श होने पर वह भी नारी बन जायेगा। अतः आपके चरणकमलों को धोकर ही बाद में पार उतारूँगा। यदि मैं ऐसा नहीं करूँगा तो प्रभो! आपके चरणस्पर्श से मेरी नौका सुन्दर युवती बन जायेगी, फिर तो मेरे कुटुम्ब की बहुत बड़ी हानि होगी।

अध्यात्मरामायण के इन्हीं भावों का कृत्तिवासरामायण में पल्लवन है। इसी भाँति लक्ष्मणजी के लिए 'सञ्जीवनी बूटी' लाने के अवसर पर मार्ग में हनुमान्जी द्वारा 'कालनेमि वध' आदि वर्णन वाल्मीकीय रामायण में न होने पर भी कृत्तिवास ने उसे इस रामायण से लेकर अपने रामायण में बड़े रोचक ढंग से गुम्फित किया है।

अतः निश्चित है कि अध्यात्मरामायण पण्डित कृत्तिवास के पूर्व में था, जो श्रीगोविन्दराज से पूर्व में उत्पन्न हुए थे। कृत्तिवासरामायण में रत्नाकर बनाम वाल्मीकि की चोरी आदि की घटनाओं के वर्णन से यह भी निश्चित हो रहा है कि स्कन्दपुराण में वाल्मीकि के विषय में लिखित कथानक उस समय भी थे, जिनकी उपेक्षा वाल्मीकीयरामायण के सभी टीकाकारों ने आँख मूंदकर की है।

हिन्दी भाषा या साहित्य के विकास काल को १५ वीं शती से मानने वाले सम्भ्रान्त द्विवेदी जी को अब स्पष्ट जान लेना चाहिए कि 'कृत्तिवासरामायण' में 'मरा' (नाम) के जप का सोपपत्तिपूर्वक विवेचन अध्यात्मरामायण की पूर्वकालिक सत्ता सिद्ध करता है, (अध्यात्मरामायण की स्थिति उन वर्णनों से सूत्र जैसी और कृत्तिवासरामायण की भाष्य जैसी प्रतीत होती है) जिस समय हिन्दी भाषा या साहित्य का विकास कथमपि नहीं हुआ था। इस बाह्य साक्ष्य से भी पण्डित जी का षष्ठ हेतु बाधित होने से साध्यसिद्धि में अक्षम है।

* अज्ञानमूलक अनुमान *

पण्डित जी ने षष्ठ हेतु में लिखा है—'श्रीनागेशभट्ट की इस उक्ति से प्रतीत होता है कि इनके समय तक अध्यात्मरामायण अवश्य प्रकाश में आ गया रहा होगा" ।

श्रीमान् जी का उक्त अनुमान (अटकलबाजी) अज्ञानमूलक है; क्योंकि यदि इन्हें श्रीनागेशभट्ट की अयोध्याकाण्ड तक की तिलकटीका का परिज्ञान होता तो ये ऐसा अनुमान न करके दृढ़तापूर्वक कहते कि "श्रीनागेश जी के समय के पूर्व ही 'अध्यात्मरामायण' प्रसिद्ध हो चुका था"। ऐसा इसलिए कहते क्यों कि श्रीनागेशभट्ट ने वाल्मीकीयरामायण की तिलक टीका में अध्यात्मरामायण का नाम लिया है—

"स च शापोऽध्यात्मरामायणे स्पष्टः" । —अयो० काण्ड ३७/६

श्रीनागेशभट्ट के कथन की समीक्षा

पण्डितजी ने श्रीनागेशभट्ट की तिलकटीका को उद्धृत करके षष्ठ हेतु में लिखा है कि श्रीनागेशभट्ट जी चित्रकूटस्थ वाल्मीकि से रामायणकार प्राचेतस वाल्मीकि का ऐक्य नहीं स्वीकार करते । वे कहते हैं—

"प्राचेतसादयं वाल्मीकिरन्य एवेति तत्त्वम्" —वा०रा०अ०

(वास्तविकता तो यह है कि यह वाल्मीकि (चित्रकूटवासी) प्राचेतस वाल्मीकि (तमसातीरवासी) से भिन्न हैं) ।

श्रीनागेशजी का उक्त कथन प्रतिज्ञामात्र है; क्योंकि इन्होंने प्राचेतस वाल्मीकि से चित्रकूटवासी वाल्मीकि की भिन्नता सिद्ध करने में कोई हेतु नहीं दिया । इधर दार्शनिकगणों में निर्हेतुक कथन-जो कि अनार्ष है—का कोई महत्व नहीं; क्योंकि 'न हि प्रतिज्ञामात्रेण साध्यसिद्धिः" दुन्दुभिघोष है । क्या केवल "पर्वतो वह्निमान्" मात्र प्रतिज्ञावाक्य से साध्य वह्नि की सिद्धि हो सकती है? कथमपि नहीं । उसके लिए धूम को हेतुत्वेन उपस्थित किया जाता है । उसका पूर्णरूप ऐसा है—"पर्वतो वह्निमान्, धूमात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसं तथा चायं तस्मात्तथा"। अतः श्रीनागेशभट्ट के उक्त कथन से साध्यसिद्धि न होने से चित्रकूटवासी वाल्मीकि को प्राचेतस वाल्मीकि से भिन्न नहीं माना जा सकता । अतः प्राचीन टीकाकार श्रीगोविन्दराज का कथन ही ठीक है कि दोनों वाल्मीकि एक हैं—

"तदानीं चित्रकूटे वाल्मीकेर्वास: भरतागमनानन्तरमृषिनिर्गमनकथनात्तत: प्रभृति तमसातीर इतिज्ञेयम्" —वा०रा०अयो०का० ५६/१६

अर्थ–भगवान् श्रीराम के चित्रकूट आने के समय महर्षि वाल्मीकि का चित्रकूट में वास था। भरत जी के आगमन के पश्चात् श्रीराम के समीपवर्ती आश्रमों से ऋषियों के बाहर चले जाने का कथन होने से उसके पश्चात् महर्षि वाल्मीकि का तमसातट पर वास हो गया था। अत: तमसातट पर रामायणप्रणयन करने वाले और चित्रकूट में निवास करने वाले दोनों महर्षि एक ही हैं। इसकी उपपत्ति आगे की जायेगी। दूसरी बात यह कि श्रीनागेश भट्ट भिन्न भिन्न स्थलों में महर्षि भरद्वाज के दो आश्रम मान लिये हैं–एक प्रयाग में और दूसरा चित्रकूट के अत्यन्त समीप यमुना के दक्षिण तट पर। इसकी चर्चा वाल्मीकीयरामायण के अयो०का०११३/५ की तिलक टीका में है।

श्रीनागेश भट्ट ने प्रयाग निवासी भरद्वाज से चित्रकूट समीपस्थ आश्रमवासी भरद्वाज को भिन्न नहीं माना, किन्तु तमसातीरवासी वाल्मीकि से चित्रकूटवासी वाल्मीकि को भिन्न मान रहे हैं। ऐसा क्यों? क्या महर्षि भरद्वाज की भाँति उनके गुरु महर्षि वाल्मीकि के दो आश्रम नहीं हो सकते? अवश्य हो सकते हैं। भरद्वाज की अपेक्षा महर्षि वाल्मीकि के शिष्य भी बहुत थे, जिनमें भरद्वाज भी शामिल थे। इतना ही नहीं, रामायण लेखनकाल में वे महर्षि की सेवा में भी थे। अत: उनके दो आश्रम होने में अनुपपत्ति न होने से चित्रकूट और तमसातट के निवासी महर्षि वाल्मीकि एक ही हैं। एक ही व्यक्ति कालभेद से दो आश्रमों में रह सकता है।

दोनों महर्षियों के अभिन्न होने में एक कारण यह भी है कि यदि तपश्चर्या से पूर्व चोरी आदि करने वाले वाल्मीकि, रामायणकार वाल्मीकि से भिन्न होते तो "उनसे रामायणकार का कहीं अभेद न हो जाय। या हिंसक वाल्मीकि को ही लोग रामायण का रचयिता न समझ लें"– इन सब शङ्काओं को निर्मूल करने के लिये रामायणकार वाल्मीकि लुटेरे बाल्मीकि से अपना पृथक् परिचय अवश्य देते, किन्तु दिये नहीं। अत: तमसातीरवासी वाल्मीकि से चित्रकूटवासी वाल्मीकि अभिन्न हैं।

यदि दोनों भिन्न होते तो कम से कम अष्टादश पुराणों के सङ्कलक भगवान्बादरायण उनकी जीवनी लिखते समय इतना कह ही सकते थे कि

हिंसक वाल्मीकि ने रामायण नहीं लिखा है, पर उन्होंने ऐसा न लिखकर स्कन्दमहापुराण में यही लिखा कि चोरी आदि करने वाले वाल्मीकि ने ही रामायण की रचना की थी। इसलिए भी दोनों स्थलों के निवासी वाल्मीकि अभिन्न हैं। अतः तिलक टीकाकार श्रीनागेशभट्ट का कथन समीचीन नहीं है।

श्रीगोविन्दराजजी के कथन का औचित्य

श्रीराम से मिलकर जब भरतजी अयोध्या लौट आये, तब श्रीराम ने देखा कि जो तपस्वीजन उनसे अत्यन्त प्रसन्न रहते थे। वे ही परस्पर उनकी ओर सङ्केत करते हुए उत्सुकतापूर्वक कुछ बातें कर रहे हैं और उद्विग्न दिखायी पड़ते हैं। स्वयं अपने को उन सबकी उद्विग्नता के कारण की आशंका करके भगवान् राम ने ऋषिसमूह के स्वामी अर्थात् आश्रम के स्वामी कुलपति से पूछा- भगवन्! क्या सीता, लक्ष्मण या मेरे द्वारा कोई प्रमाद हो गया है? जो तपस्वी गण उद्विग्न दिख रहे हैं? कुलपति—नहीं श्रीराम, उद्विग्नता राक्षसों के कारण हुई है। वे हमारे तपस्वियों को परेशान कर रहे हैं। अतः ये सब इस आश्रम को छोड़कर अन्य स्थान पर जाने के लिए परस्पर सङ्केत करके यह कह रहे हैं कि 'जब से तुम इस आश्रम में आये हो, तभी से राक्षसों का उपद्रव बढ़ गया है। अभी तो राक्षस हमारे ऊपर अशुचि वस्तुओं की वर्षा, स्रुग्र आदि यज्ञ की सामग्रियों को बिखेरना, यज्ञकुण्ड की अग्नि में पानी छोड़ देना और घड़ों को फोड़ देना जैसा कार्य कर रहे हैं। ये शरीर को नष्ट करना अर्थात् मार डालना आरम्भ करें इसके पूर्व ही हम यहाँ से चले जाना चाहते हैं। यद्यपि तुम समर्थ हो, तथापि नारी के साथ यहाँ रहना खतरे से खाली नहीं है। श्रीराम ने कुलपति को बहुत रोका, पर वे ऋषियों के साथ आश्रम को छोड़कर चले ही गये—

'स जगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह"—वा०रा०अयो०का०११६/२४

चूंकि सभी ऋषि कुलपति की अध्यक्षता में वहाँ से प्रयाण कर चुके थे अतः उस आश्रम में एक भी ऋषि नहीं बचा था। इसीलिए कहा गया कि प्रभु श्रीराम ऋषियों से शून्य होने पर भी उस आश्रम को नहीं छोड़े- आश्रममृषिविरहितं प्रभुः क्षणमपि न जहौ स राघवः"।

—अयो० का० ११६/२६

यहाँ ध्यातव्य यह है कि जैसे किसी कमरे में एक भी घड़ा रखा

हो तो उसे घटविरहित नहीं कहा जा सकता। यह कथन तो तभी होगा जब उसमें एक भी घड़ा न हो अर्थात् घटसामान्याभाव हो। वैसे ही यदि उस आश्रम में एक भी ऋषि बचा होता तो उसे ऋषिविरहित (ऋषिशून्य) नहीं कहा जाता। इसीलिए श्लोक की दूसरी पंक्ति का अर्थ किया गया कि "वे ऋषिगण श्रीराम में प्रेम होने के कारण उनके अनुगत थे" तात्पर्य यह कि ऋषियों के अन्यत्र चले जाने पर भी उनमें प्रेम होने के कारण श्रीराम ने उनके आश्रम को नहीं छोड़ा।

"राघवं सततमनुगतास्तापसाश्चार्षचरिते धृतगुणाः" इस दूसरी पंक्ति के अर्थ में तिलकटीकाकार श्रीनागेशभट्ट स्खलित हो गये; क्योंकि इन्होंने 'केचित्तापसा निरन्तरं राघवमनुगता इह अनुगता एव नाश्रमान्तरं जग्मुः' लिखा है, जो कि प्रथम पंक्ति से विरुद्ध है। क्या ऋषियों के आश्रम में विद्यमान रहते हुए उसे "आश्रममृषिविरहितम्" महर्षि वाल्मीकि जैसे आप्त पुरुष लिख सकते हैं? कभी नहीं। यदि तिलककार प्रथम पंक्ति की व्याख्या करने के बाद उक्त व्याख्या लिखते तो इनकी भूल या धूलिप्रक्षेप शीघ्र ही पकड़ा जा सकता था किन्तु इस धूलिप्रक्षेप की सुरक्षा के लिए ये महाशय प्रथम पंक्ति का अर्थ ही गोल कर गये।

'आश्रममृषिविरहितम्' शब्दावली को ध्यान में रखकर ही सभी टीकाकारों विशेषतः श्रीगोविन्दराजजी ने अर्थ किया है—"राघवः ऋषिविरहितमप्याश्रमं क्षण न विजहौ, मुनिशून्यतया त्याज्यमप्याश्रम मुनि विषय प्रेम्णा क्षणं न त्यक्तवानित्यर्थः। आर्षचरित धृतगुणाः रामस्यार्षचरित्रेण सञ्चितगुणाः हि यस्मात् कारणात् तापसाः राममनुगतास्तस्मात् तत्प्रेम्णा क्षणं न जहाविति"।

इस प्रकार निश्चित हो गया कि सभी ऋषि उस आश्रम से चले गये थे। वह आश्रम बहुत बड़ा था और उसमें अनेक तपस्वी कुलपति के निर्देश में जप तप आदि करते थे। उसी में श्रीराम निवास कर रहे थे। आश्रम के एक होने के कारण ही सर्वत्र उसके लिए—"त्वं यदाप्रभृति ह्यस्मिन्नाश्रमे तात वर्तसे"—अयो०का० ११६/१३, सजगामाश्रमं त्यक्त्वा कुलैः कुलपतिः सह, आश्रममृषिविरहितम्— ११६-२४-२६ एक वचनान्त पद का प्रयोग हुआ है। यहाँ १३वें श्लोक का अर्थ है—"हे तात श्रीराम! जब से तुम इस आश्रम में विराजे हो"। यह वचन श्रीराम के प्रति कुलपति का है।

ये कुलपति महर्षि कौन हैं? इसके परिज्ञान के लिए हमें निर्णय

करना होगा कि श्रीराम किस महर्षि के आश्रम में निवास कर रहे हैं ? जिससे ऋषियों के साथ उन कुलपति (आज की भाषा में महान्त) के चले जाने पर भी प्रेमाधिक्य के कारण उसे श्रीराम ने नहीं त्यागा। वह आश्रम महर्षिप्रवर वाल्मीकि का था; क्योंकि श्री राम चित्रकूट पहुंचने पर वहाँ बहुत से मुनि महात्माओं को निवास करते देखकर निर्णय लिये थे कि यह आश्रम वास के योग्य हैं; इसलिए हम यहाँ निवास करेंगे—"अयं वासो भवेत्तात वयमत्र वसेमहि"—वा० रा०अयो०का० ५६/१५। ऐसा विचारकर सीता और लक्ष्मण के साथ श्रीराम आश्रम पर जाकर महर्षि वाल्मीकि की चरण वन्दना किये। अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्" अयो०का० ५६/१६।

चूँकि वहाँ बहुत से मुनि महात्मा निवास कर रहे थे, इसलिये अन्य ऋषियों के प्रति श्रीराम द्वारा किये गये प्रणाम का उल्लेख न होने पर भी केवल वाल्मीकि को किये गये प्रणाम का उल्लेख होने से निश्चित हो रहा है कि उस आश्रम के कुलपति यही महर्षि हैं। अतएव रामायणशिरोमणिटीकाकार ने भी "कृताञ्जलिरुवाचेदमृषिं कुलपतिं ततः" श्लोक में 'कुलपतिम्' की व्याख्या "संघाधीशम् ऋषिं वाल्मीकिम्"—अयोध्याकाण्ड ११६/४ लिखा है।

आज भी किसी आश्रम की भूमि में निवास करने के लिए शिष्ट जन उसके अधिपति अर्थात् मठाधीश की अनुमति लेते ही हैं। ध्यान देने की बात यह है कि चित्रकूट के आश्रम में श्रीराम जब निवास करना चाहे तब अन्य लोगों से न मिलकर महर्षि वाल्मीकि से ही मिले। इधर तपस्वियों की उद्विग्नता देखने के पश्चात् वे आश्रम में अन्य लोगों के पास न जाकर सीधे कुलपति के पास ही गये। इससे सुनिश्चित है कि आश्रम के कुलपति महर्षि वाल्मीकि ही हैं।

इस विवेचन का तात्पर्य यही है कि भरतजी के अयोध्या लौट जाने के पश्चात् चित्रकूट से महर्षि वाल्मीकि अन्यत्र चले गये थे और वह अन्य स्थल तमसा-तट ही था। जहाँ वे रामायण की रचना किये अतएव श्रीगोविन्दराज जी का कथन ही उपयुक्त है। इसलिये चित्रकूटवासी और तमसातटवासी दोनों वाल्मीकि एक ही हैं। उनमें भिन्नता नहीं है। अतः "प्राचेतसादयं वाल्मीकिरन्य एवेति तत्त्वम्" श्रीनागेशभट्ट का कथन चारु नहीं हैं।

द्विवेदी जी षष्ठ हेतु में लिखते हैं कि "श्रीनागेशभट्ट अपनी टीका

के उपक्रम में महर्षि वाल्मीकि को परिशुद्ध ही घोषित किये हैं, महर्षि कृत तपश्चर्या का उद्देश्य इन्होंने श्रीरामतत्त्व का परिज्ञान एवम् उसके वर्णनौपयिक अपूर्वकवित्वशक्ति की प्राप्ति ही माना है, न कि चौर्य हत्यादि कुकृत्यों का प्रायश्चित्त। जबकि अध्यात्मरामायण में उनके द्वारा किये गये चौर्यादि कुकृत्यों के प्रायश्चित्तरूप में उनकी तपश्चर्या एवं मरा इस आनुपूर्वी के सतत अनुसन्धान का स्पष्ट उपवर्णन है। अतः उस चित्रकूटस्थ वाल्मीकि से रामायणकार महर्षि वाल्मीकि का कहीं ऐक्य न हो जाय, इसके लिए पण्डित नागेशभट्ट पूर्ण सावधान हैं'।

नागेश द्वारा घोषित परिशुद्धता की पोलपट्टी

श्रीमान् जी ! चाहे नागेशभट्ट पूर्ण सावधान हों या आप। अब "सी०वी०आई०" जाँच हो रही है, सावधानी काम नहीं करेगी।

श्रीनागेशभट्ट जी ने रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को परिशुद्ध घोषित तो किया, किन्तु उसमें कोई प्रमाण क्यों नहीं दिया ? जो घोषणा निराधार (प्रमाणरहित) हो, उसका क्या महत्त्व ? इतना ही नहीं, जब उनके पूर्व में अध्यात्मरामायण विद्यमान था, जिसे वे अपनी सेतु टीका में ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत भगवान् बादरायण की कृति मान चुके हैं, और उसमें वर्णित महर्षि वाल्मीकि की कथा में चौर्य हत्यादि की घटनाएं लिखी हुई हैं तब इन महर्षि वाल्मीकि से रामायणकार वाल्मीकि को पृथक् मानने के लिए अपने कथन (रामायणकार महर्षि को तपश्चर्या का उद्देश्य श्रीराम तत्त्व का परिज्ञान एवम् उसके वर्णनौपयिक अपूर्वकवित्व शक्ति की प्राप्ति) में कोई प्रमाण अवश्य उपस्थित करना चाहिए था, किन्तु किये नहीं। अतः उनके प्रमाणविधुर कथन का विचार-परिधि में कोई मूल्य नहीं है। भले ही, वह महा पण्डित श्रीनागेशभट्ट द्वारा बड़े श्रम से ही क्यों न लिखा गया हो। यद्यपि उस कथन (तपश्चर्या से कवित्वशक्ति की प्राप्ति के कथन) में प्रमाण है, तथापि उसे न तो श्रीनागेशभट्ट ही उपस्थित कर सकते हैं और न द्विवेदीजी आप ही; क्योंकि उससे रामायणकार महर्षि वाल्मीकि की घोषित परिशुद्धता कट जाने का भय जो है।

* कवित्वशक्ति की प्राप्ति में प्रमाण *

स्कन्दमहापुराण के आवन्त्यखण्ड के अवन्तीक्षेत्रमाहात्म्य, २४ वें

अध्याय में रामायणप्रेणता महर्षि वाल्मीकि की संक्षिप्त जीवनी आयी है-

भृगुवंशी 'सुमति' के 'कौशिकी' नामक भार्या थी, जिससे 'अग्नि-शर्मा' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पिता द्वारा पढ़ाये जाने पर भी पढ़े हुए वेद का अभ्यास नहीं करता था। कालान्तर में अकाल पड़ने पर सुमति सपरिवार दक्षिण देश चले गये। वहीं पर अग्निशर्मा का लुटेरों से साथ हो गया। इसने लोगों को लूटना और उनकी हत्या करना आरम्भ कर दिया। जिस जङ्गल में ये महाशय लूटमार करते थे, वहीं एक बार सप्तर्षियों से भेंट हो गयी। उनके भी कमण्डलु और वस्त्र आदि छीनने ये गये। सप्तर्षियों के मध्य में अत्रिनामक महर्षि ने इनसे कहा कि हम लोग तपस्वी हैं और तीर्थयात्रा कर रहें हैं। तुम मुझे क्यों पीड़ित कर रहे हो? इससे तुम्हें महान् पाप लगेगा।

अग्निशर्मा—मैं अपने माता, पिता, पुत्र और पत्नी के लिए ये सब पापकर्म कर रहा हूँ।

अत्रि—जाकर उन लोगों से पूछो, कि वे तुम्हारे पाप के भागीदार हैं या नहीं।

अग्निशर्मा महर्षि की बात मानकर अपने परिवार वालों से पूछने गया, तो उन्होंने कहा हम तुम्हारे पाप के हिस्सेदार नहीं हैं। यह पाप तुम्हें ही लगेगा—"पापमेतत्तवैव हि" स्क० म० पु० आ० से० मा० २४/२०

अग्निशर्मा उनके अभिप्राय को जानकर लौट आया और अपने अस्त्र शस्त्र फेंक कर महर्षियों की शरण ग्रहण की। महर्षियों में अत्रि ने उसे एकाग्रमन से भगवान् श्रीराम के 'मरा' (उल्टानाम) नामात्मक मन्त्र का उपदेश देकर जपने को कहा—

"तथेत्युक्त्वाऽथ तान्प्राह चाग्निं ध्यानं समाचर।
अनेन ध्यानयोगेन मरामन्त्रजपेन च ॥
अनेकदुस्तरात्युग्रपापकृज्जनघातुकः।
संस्थितो वृक्षमूले त्वं परां सिद्धिं गमिष्यसि" ॥

(स्क० म० आ० क्षे० मा० २४/२६-२७)

महर्षि अत्रि ने उन ऋषियों को 'वैसा ही हो' कहकर अग्निशर्मा को बतलाया कि यह (भगवान् श्रीराम का) ध्यान करो। इस ध्यान योग और उनके वाचक 'मरा' इत्याकारक मन्त्र के जप से वृक्ष के नीचे विद्यमान, अनेक दुस्तर-उग्र पाप कर्मी, लोगों के हत्यारे, होकर भी तुम परा-सिद्धि को प्राप्त करोगे। अग्निशर्मा भगवद्ध्यान पूर्वक 'मरा' मन्त्र का जप तेरह वर्ष किये।

उनके ऊपर दीमकों ने मिट्टी का ढेर लगा दिया। वे महर्षि पुनः जब लौटे तब मिट्टी के ढेर से अग्निशर्मा को निकालकर बोले-हे पुत्र! तुम एकाग्र होकर इस मिट्टी के ढेर अर्थात् 'वल्मीक' में स्थित रहे। अब उससे निकले हो। इसलिए तुम 'वाल्मीकि' नाम से प्रसिद्ध होगे।

उन महर्षियों के चले जाने के पश्चात् महर्षि वाल्मीकि 'कुशस्थली' जाकर भगवान् शिव की आराधना किये और उनसे आराधना के फलस्वरूप कवित्वशक्ति प्राप्त करके मनोरम 'रामायण' काव्य की रचना किये—

"गतेषु मुनिमुख्येषु वाल्मीकिस्तपतां वरः।
कुशस्थल्यामथागत्य समाराध्य महेश्वरम्॥ } स्क० म०,
तस्मात् कवित्वमासाद्य चक्रे काव्यं मनोरमम्। } आ०क्षे०मा०
रामायणं च यत्प्राहुः कथां सुप्रथमस्थिताम्॥ } २४/३५-३६

यही है महर्षि की आराधनारूप तपश्चर्या से कवित्वशक्ति की प्राप्ति में प्रमाण, किन्तु इस प्रमाण को न तो नागेशभट्ट उपस्थित किये, न ही पण्डित जी; क्योंकि घोषित परिशुद्धता के रफूचक्कर हो जाने का भय जो हृदय में बैठा है।

यद्यपि श्रीनागेशभट्ट जी ने तिलकटीका के उपक्रम में "तत्काव्यकृतिशक्तिलाभाय तादृशवस्तुज्ञानाय च कृतकष्टसमाधिसाधितपरमपुण्यचयः" इस पदावली से काव्यनिर्माणजनक शक्ति (कवित्वशक्ति) की प्राप्ति के लिए क्लिष्टसमाधि से उत्पन्न उत्कृष्ट पुण्यराशि का ही सङ्केत किया है-इसमें प्रमाण प्रस्तुत किया जा चुका है। महर्षि में महेश्वराराधनरूप तपश्चर्या का फल कवित्वशक्ति का समुद्भव ही है, चौर्यादि कुकृत्यजन्य पापों का क्षालन नहीं। वह तो अत्रि के उपदेश से १३ वर्ष की तपश्चर्या से ही हुआ था; क्योंकि त्रयोदशवर्ष की तपश्चर्या के बाद वल्मीक से निकलने पर महर्षि ने सप्तर्षियों से स्वय कहा था कि आप सब की कृपा से पापपङ्क में निमग्न मुझ दीन का उद्धार हो गया—"दीनोऽहमुद्धृतः सर्वैर्मग्नोऽहं पापकर्दमे"।

—स्क०म०आ०क्षे०मा०२४/३३

ऋषियों की कृपारूप में ही महर्षि को भगवद्ध्यान और मरा मन्त्र का उपदेश मिला था, यह स्पष्ट हो चुका है और इसी से उनका पाप क्षालित हुआ है। महेश्वराराधनरूप तपश्चर्या से तो केवल कवित्वशक्ति के प्राप्ति की ही पुष्टि होती है, चौर्यादिकुकृत्यजन्य पापों के

प्रक्षालन की नहीं। इसीलिए नागेश जी ने महेश्वराराधनात्मक तपश्चर्या का सङ्केत 'कृतकष्टसमाधिसाधितपरमपुण्यचयः' से करके उसका फल कवित्वशक्ति की प्राप्ति ही माना, चौर्यादिजन्यपापों का क्षालन नहीं। अतः उनका कथन स्कन्दपुराण की पूर्वोक्त कथा से विरुद्ध नहीं कहा जा सकता। तथापि "मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम्।" वा०रा०उ०का० ९६/२० की तिलकटीका—'मन आदिना मम किल्बिषं न भूतपूर्वम्। मया किञ्चिदपि न कृतम्", जैसा कथन स्कन्दपुराण के उक्त वर्णन से विरुद्ध होने के कारण सर्वथा त्याज्य है।

अब आपको वास्तविकता का पता चल गया होगा कि रामायणकार महर्षि वाल्मीकि के विषय में भूषण और तिलक इन दोनों टीकाओं के रचयिताओं ने कितनी अधिक लीपापोती की है। अतः इन लोगों के अप्रामाणिक कथन से द्विवेदीजी की बात कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकती।

आप श्रीद्विवेदीजी षष्ठ हेतु में ही लिखते हैं कि—"पता तो यह भी चला है कि श्रीनागेशभट्ट ने 'अध्यात्मरामायण' की भी टीका की है। यद्यपि अभी तक लेखक को उसका दर्शन नहीं हुआ है"।

श्रीमान्जी! उसका नाम 'सेतु' है। सेतुबन्ध रामेश्वर भगवान् शिव की काशीपुरी जाइए, वहीं मनोकामना पूर्ण होगी। यदि आपको सेतु टीका का दर्शन हो गया होता जो रामायणाम्बुधि के लिए सेतुस्वरूपा है तो आपको अध्यात्मरामायणरचनाभ्रमाम्बुधि में निमज्जन नहीं करना पड़ता।

श्री प्रभात शास्त्री के विचार—

प्रयाग के श्री प्रभातशास्त्री जी ने व्यङ्ग्यप्रकाशिका टीका सहित 'अध्यात्मरामायण' का प्रथम प्रकाशन किया है। वे इसके उपोद्घात में लिखते हैं कि 'अध्यात्मरामायण' के लेखक कोई दाक्षिणात्य-विद्वान् हैं। इसमें शास्त्री जी चार हेतु दिये हैं—

१– १६वीं शती में मलयालम भाषा के कवि 'एषुतुच्छन्' महोदय ने तेलगूलिपि में अध्यात्मरामायण की प्रतिलिपि तैयार करके उसी भाषा में पद्यों से उसका अनुवाद किया। उसका केरलीय जनसमाज में आज भी आदर है।

२– इस रामायण में अनेक स्थलों में तद्धितप्रत्ययान्त पौत्रिकं, तानवं पौरोहित्यं, यमसादनम्, नैषादिवचनम्' आदि शब्द प्राप्त होते हैं। इधर

दाक्षिणात्यों के विषय में यह आभणक प्रसिद्ध है—तद्धितप्रियाः दाक्षिणात्याः। इससे भी इसका लेखक दाक्षिणात्य सिद्ध होता है।

३- इस ग्रन्थ में संसार से मोक्ष देने वाली भगवद्भक्ति ही प्रधान साधनरूप से कही गयी है। विभिन्न प्रसङ्गों में नवधाभक्ति के स्वरूप का वर्णन मिलता है। भागवतमाहात्म्य के अनुसार भक्ति का उत्पत्ति स्थान द्रविड प्रदेश है।

४- रामायण के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने दक्षिणामूर्ति शिव की वन्दना की है। दक्षिण भारत में ही प्राचीनकाल की भाँति आज भी दक्षिणामूर्ति शिव की उपासना पद्धति विशेषरूप से प्रचलित है, उत्तर भारत में इस उपासना की परम्परा नहीं है। दाक्षिणात्य लोग अपने पुत्रों का नाम तक दक्षिणामूर्ति रख देते हैं। अतः इस रामायण का लेखक दाक्षिणात्य है।

प्रथम हेतु का निराकरण—

श्रीप्रभात जी का प्रथम हेतु अध्यात्मरामायणकार को दाक्षिणात्य नहीं सिद्ध कर सकता; क्योंकि 'एषुतुच्छन्' अध्यात्मरामायण की प्रतिलिपि तैयार करने के पश्चात् जो उसका मलयालम भाषा में पद्यानुवाद किये हैं, उसका कारण यह है कि वे उस रामायण को 'उमामहेश्वरसम्वादरूप' मानते हुए उसे महेश्वरकृत मानते हैं। तात्पर्य यह कि 'एषुतुच्छन्' की दृष्टि में इस रामायण के वक्ता शिवजी ही हैं। इसीलिए उन्होंने इसका पद्यानुवाद किया है, कुछ दाक्षिणात्य विद्वान् की कृति मानकर नहीं। अतः 'एषुतुच्छन्' के पद्यानुवाद के आधार से अध्यात्मरामायण का प्रणेता दाक्षिणात्य कभी भी नहीं हो सकता। यदि इसका प्रणेता कोई दाक्षिणात्य होता तो वे इसे महेश्वरकृत नहीं मानते।

दूसरी बात यह है कि बनारसहिन्दू यूनिवर्सिटी की सम्वत् १०३४ की अध्यात्मरामायण की हस्तलिखित पाण्डुलिपि के समुपलब्धि से निश्चित है कि 'एषुतुच्छन्' से सुदूर पूर्व इसका प्रचार बङ्गाल आदि प्रान्तों में था। यह इधर से भी दक्षिण भारत जा सकती है। अतः इसका लेखक दाक्षिणात्य नहीं है।

द्वितीय हेतु का निराकरण—

द्वितीय हेतु में जो प्रयोग प्रदर्शित किये गये हैं वे तद्धित प्रत्यय

द्वारा कुछ न कुछ अर्थ उपस्थित करते हैं, निरर्थक नहीं हैं। जैसे:— पौत्रिकं–पुत्रसम्बन्धी, तानवं–तनुता (कृशता), पौरोहित्यं–पुरोहित का कर्म ये सब अर्थ तद्धितप्रत्यय के बल से निकले हैं। 'यमसादनम्' में सादन शब्द सदन(घर)का पर्यायवाची है–सदनं सादनम्–द्विरूपकोश:। इन दोनों शब्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार सभी प्रान्त के लोग संस्कृत काव्य में कर सकते हैं। 'नैषादिवचनम्' में नैषादि का अर्थ गुह सभी टीकाकारों को मान्य है। प्राचीन पाण्डुलिपियों में 'नैषादवचनम्' भी पाठ है जिसका अर्थ है 'निषाद का वचन' निषादस्येदं नैषादं तच्च वचनमिति नैषादवचनम्' यहाँ भी तद्धित प्रत्यय अण् उक्त अर्थविशेष का बोधक है।

दाक्षिणात्य तद्धितप्रिय इसलिए कहे जाते हैं कि वे प्रयोजन के विना भी तद्धितान्त शब्दों का प्रयोग करते हैं। इसीलिए भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—"प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। 'यथा लोके वेदे च' इति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति प्रयुञ्जते"॥

—महाभाष्य, १/१/१ पस्पशाह्निक

जैसे यहाँ लोक और वेद शब्द के स्थान पर निरर्थकतद्धितप्रत्ययान्त लौकिक तथा वैदिक शब्दों का प्रयोग है, वैसे पौत्रिकं तानवं, पौरोहित्यं आदि में नहीं है—ततः सुमित्रा सम्प्राप्ता जगृहनुः पौत्रिकं चरुम्।१ तदा माया शनैर्याति तानवं प्रतिपद्यते।२ पौरोहित्यमहं जाने विगर्ह्यं दूष्यजीवनम्।३ अतः द्वितीय हेतु दाक्षिणात्य लेखक का साधक नहीं हो सकता; क्योंकि वह स्वरूपासिद्ध है। सार्थक तद्धितप्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग तो सभी लोग करते हैं जो 'तद्धितप्रक्रिया' के विज्ञ हैं।

तृतीय हेतु का निराकरण—

संसार से छुड़ाने वाली नवधाभक्ति का विशदविवेचन श्रीमद्भागवत महापुराण में उपलब्ध है। भक्ति की मेघघटा को इस पुराण में घुमड़ती देखकर क्या कोई विज्ञ इसे दाक्षिणात्य विद्वान् की कृति मान सकता है? क्या इसके प्रणेता भगवान् कृष्णद्वैपायन नहीं हैं! इतना ही नहीं, भक्ति का साङ्ग विवेचन श्रीमद्रामचरितमानस में हुआ है

१अध्या०रा०बा०का०३/११ २बा०का०७/३९ ३अयो०का०२/२८

और उससे मुक्ति भी वहाँ वर्णित है, फिर भी उसके लेखक दाक्षिणात्य न होकर औत्तरात्य श्रीमद्गोस्वामी तुलसीदासजी ही हैं।

वैष्णवाचार्यों में सर्वप्रसिद्ध जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी उत्तर भारत, प्रयाग में प्रकट हुए। उन्होंने भक्ति से मुक्ति का वर्णन 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में किया है। वहीं 'मुक्तिसाधन' प्रकरण में भक्ति के नव भेदों पर विचार करते हुए उसके साधनों पर भी आचार्य-चरण ने प्रकाश डाला है।

क्या प्रभात शास्त्री के कथनानुसार—'भागवतमाहात्म्य में वर्णित भक्ति का उत्पत्तिस्थान द्रविड प्रदेश होने से–इन सभी ग्रन्थों के प्रणेताओं को दाक्षिणात्य सिद्ध किया जा सकता है? कभी नहीं। तात्पर्य यह कि उत्तर भारत के लेखक भी भक्ति की महत्ता का विशद वर्णन करते हैं। अतः 'अध्यात्मरामायण' का लेखक दाक्षिणात्य नहीं माना जा सकता; क्योंकि यह हेतु व्यभिचरित है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि शास्त्रीय प्रमाणों से जब भगवद्भक्ति मोक्षकारणत्वेन विनिर्णीत है, तब उससे मुक्ति का साधन कहीं का कोई भी विद्वान् लिख सकता है। उसके लिए दक्षिण या उत्तरभारत का होना अनिवार्य नहीं है।

दूसरी बात यह कि भागवत में नवधाभक्ति का विवेचन होने के साथ उससे मुक्ति भी वर्णित है। भगवद्गीता में 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया''कहा ही गया है। इन ग्रन्थों की रचना वेदव्यास कृष्णद्वैपायन ने द्वापर बीतते बीतते कर ली थी। इसका प्रचार प्रसार ही सिद्ध करता है कि ये मनीषियों के प्राणधन थे। अतः इनसे प्रभावित कहीं का कोई भी विद्वान् 'अध्यात्मरामायण' का प्रणेता हो सकता है अतः तृतीय हेतु से उसे दाक्षिणात्य नहीं सिद्ध किया जा सकता।

चतुर्थ हेतु का निराकरण—

विद्वान् लेखक का चतुर्थ हेतु भी समीचीन नहीं है; क्योंकि 'अध्यात्मरामायण' के प्रारम्भ में दक्षिणामूर्ति शिव की वन्दना का श्लोक श्रीनागेशभट्टप्रणीत 'सेतु' टीका और विश्वनाथसिंह विरचित 'व्यङ्ग्यप्रकाशिका' टीका में व्याख्यात होने पर भी इसी रामायण के टीकाकार गोपालचक्रवर्ती और महापण्डित श्रीनरोत्तम की संस्कृत टीकायुक्त रामायण में वह श्लोक न होकर—

जयति रघुवंशतिलकः कौशल्यानन्दवर्धनो रामः ।
दशवदननिधनकारी दाशरथिः पुण्डरीकाक्षः ।।

यही श्लोक है और इन दोनों टीकाकारों ने इसी की व्याख्या भी की है।

वस्तुस्थिति तो यह है कि श्रीनागेशभट्ट से सुदूर पूर्व १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में विद्यमान गौराङ्गदेव (चैतन्य महाप्रभु) की आज्ञा से शक १४५१ (सन् १५२६ ई०) में काशीनाथ ब्राह्मण के हाथ की लिखी 'अध्यात्मरामायण' की पाण्डुलिपि सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के 'सरस्वती-भवन' पुस्तकालय में सुरक्षित है। इसमें "नमो रामचन्द्राय। सूत उवाच । कदाचिन्नारदो योगी परानुग्रहवाञ्छया" से ही अध्यात्मरामायण का आरम्भ है। दूसरी पाण्डुलिपि पुस्तकक्रमसंख्या १५५५० अक्षर बंगला में 'ॐ नमः कृष्णाय । सूत उवाच । कदाचिन्नारदो…… से रामायण प्रारम्भ है। काशीहिन्दू विश्वविद्यालय की सेन्ट्रललाइब्रेरी में सुरक्षित क्रम संख्या ५५४८ की पाण्डुलिपि में भी यही पाठ है। कुछ पाण्डुलिपियों में श्रीकृष्ण की भी वन्दना न करके श्रीगणेशाय नमः पुराण पुरुषोत्तमाय नमः । सूत उवाच । कदाचिन्नारदो'– से पाठ का आरम्भ है ।

इन सभी पाण्डुलिपियों में न तो दक्षिणामूर्ति शिव की वन्दना का श्लोक है और न ही 'जयतिरघुवंशतिलकः………श्लोक । हाँ, सभी पाण्डुलिपियों में'सूतउवाच'से पहले ही भिन्नता दिखती है। 'सूतउवाच' से पाठ सबमें विद्यमान है। अतः यह सुनिश्चित है कि 'सूतउवाच' से पूर्व श्रीगणेशाय नमः आदि, ॐ नमः श्रीकृष्णाय, अप्रमेयगुणातीतनिर्मलज्ञानमूर्तय…दक्षिणामूर्तये नमः, जयति रघुवंशतिलकः… पुण्डरीकाक्षः प्रभृति जो भी अंश भिन्न–भिन्न पाण्डुलिपियों में दृष्टिगोचर होते हैं। वे इस रामायण के अवयव नहीं हैं, अपितु उन उन पाण्डुलिपियों के लेखकों द्वारा लिखे गये उनके अपने देवों के मङ्गलाचरण हैं ।

अध्यात्मरामायण के माहात्म्य का आरम्भ 'सूतउवाच' से ही है। अतएव 'सूतउवाच' अंश सभी पाण्डुलिपियों में मिलता है । अप्रमेयत्रयातीत से दक्षिणामूर्ति शिव को नमस्कार उस पाण्डुलिपि के लेखक ने किया है, न कि रामायण के लेखक ने । अतः उसके आधार पर इस रामायण का लेखक दाक्षिणात्य नहीं माना जा सकता । जब आधारभूत वह श्लोक ही सभी पाण्डुलिपियों में नहीं है, तब वह लेखक का निर्णायक कैसे हो सकता है ?

यदि इस तथ्य को स्वीकार न करके रामायण में सूत उवाच के पूर्व के मङ्गलाचरण के आधार पर लेखक का निश्चय किया जाय तो कृष्ण और श्रीराम तथा गणेश के मङ्गलाचरण के आधार पर क्रमशः कृष्णोपासक मथुरावासी, श्रीरामोपासक अयोध्यावासी आदि अनेक व्यक्ति इसके रचयिता के रूप में उपस्थित होने लगेंगे जो कि नितान्त असङ्गत है।

इस विवेचन से निश्चित हुआ कि दक्षिणामूर्ति शिव की वन्दना का मङ्गलाचरण सभी पुस्तकों में न होने से चतुर्थ हेतु स्वरूपासिद्ध है। रामायण का अवयव न होने से इसके बल पर लेखक का निर्णय नहीं लिया जा सकता।

* श्रीनागेशभट्ट और अध्यात्मरामायण *

महावैयाकरण श्रीनागेशभट्ट जी अध्यात्मरामायण को १५वीं या १६वीं शती की रचना नहीं मानते। वे उसे अष्टादशपुराणकर्ता वेदव्यास भगवान् कृष्णद्वैपायन की पवित्र कृति मानते हैं। जैसा कि सेतु टीका के प्रारम्भ में लिखते हैं—

"श्रीमता वाल्मीकिना लोकोद्धाराय कृते रामचरित्रवर्णनरूपे रामायणाख्ये काव्ये भगवतो लीलावतारस्य रावणादीनां दृढमनुष्यत्वबुद्धये नटवदात्मस्वरूपगोपनेन व्यवहरतः स्वरूपं वाल्मीकिना तत्र तत्र गुप्तमेव निरूपितम्। तदेतत् परमदयालुर्भगवान् वेदव्यासो लोकानां स्फुटं बोधयितुं नारदब्रह्मसंवादरूपेण ब्रह्माण्डपुराणेऽध्यात्मरामायणसंहितां चक्रे"।

—"श्रीमान् वाल्मीकि के द्वारा लोकोद्धार हेतु निर्मित रामचरित्रवर्णनरूप रामायण नामक काव्य में—रावण आदि की दृढ़मनुष्यत्व (ये श्रीराम मनुष्य हैं इत्याकारक) बुद्धि उत्पन्न करने के लिये नट की भाँति अपने स्वरूप को छिपाये हुए (श्रीजनकनन्दिनी हेतु विलाप आदि) व्यवहार करने वाले लीलावतार भगवान् श्रीराम के स्वरूप को महर्षि ने—उन उन स्थलों पर गुप्तरूप से निरूपित किया है। अतः परम दयालु साक्षात् भगवान् वेदव्यास सभी लोगों को सुस्पष्ट बोध कराने के लिए नारद और ब्रह्माजी के सम्वादरूप 'अध्यात्मरामायण' का ब्रह्माण्डपुराण में निर्माण किये"।

यहाँ सुस्पष्ट देखा जा सकता है कि श्रीनागेशभट्ट जी ने 'अध्यात्मरामायण' को वेदव्यासकृत और 'ब्रह्माण्डपुराण' का अवयव माना

है । यदि यह आधुनिक रचना होती तो ये इसे वेदव्यासकृत क्यों लिखते ? पाणिनीय व्याकरण से निष्पन्न न होने वाले 'अध्यात्मरामायण' के प्रयोगों को भट्ट जी बड़ी श्रद्धा से आर्ष कहते हुए आगे बढ़ते हैं । इसके सभी टीकाकार चाहे वे नागेश के पूर्ववर्ती हों या परवर्ती इसे वेदव्यास की ही कृति मानते हैं । अतः इसे श्रीनागेशभट्ट से पूर्व और श्रीगोविन्दराज के पश्चात् १६वीं शती की कृति मानना द्विवेदी जी का महान् भ्रम है ।

इस प्रकार श्रीनागेशभट्ट की सेतुटीका के साक्ष्यसूर्य से द्विवेदीजी की 'अध्यात्मरामायण' की रचनाविषयक मान्यता तमःपटली ध्वस्त हो जाती है । अर्वाचीनतासाधक छह हेतुओं का निराकरण और प्राचीनता साधक प्रमाणों के उद्‌भावन से पण्डित जी का उक्त रामायणकी (१६वीं शतीमें) रचना का कल्पना-महल ढह गया ।

निष्कर्षः—

सन् १४६४-१४७२ ई० के मध्यप्रणीत 'कृत्तिवासरामायण' पर 'अध्यात्मरामायण' का पूर्णप्रभाव, सन् १६६०-१६८० में विद्यमान 'श्रीधर स्वामी' की उत्तरकाण्ड के पञ्चम अध्याय (रामगीता) पर संस्कृत व्याख्या की पाण्डुलिपि, १३वीं शती के श्रीमन्मध्वाचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्य में इस रामायण के श्लोकों का उद्धरण, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय को सेन्ट्रल लाइब्रेरी में सुरक्षित सम्वत् १०३४ (सन् ६७७ ई०) की बङ्गाक्षरों में लिखित इसकी पाण्डुलिपि, सन् ८००-८९० ई० में जीवित तिरुमङ्गै आलवार की रचनाओं तथा सन्८८०ई० में प्रणीत 'कम्बरामायण' पर 'अध्यात्मरामायण' की सुस्पष्ट झलक, ८वीं शती के आचार्य शङ्कर के ग्रन्थ में अध्यात्मरामायण का सहयोग, ७वींशती के नम्मालवार की रचनाओं में इसकी अमिट छाया, छठीं शती के विद्वान् भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' में इस रामायण के समानार्थक, समानवर्ण वाले शब्दकदम्बों का प्रकाश, द्वितीय शती के पोयगै आलवार की रचनाओं पर इस रामायण की दिव्य आभा झिलमिलाकर यही सिद्ध करती है कि आज से हजारों वर्ष पूर्व इसकी रचना हो चुकी थी । भगवान् वेदव्यास द्वारा 'पुराणसमुदायमाहात्म्य' में ढाई दिन में इस रामायण के पाठ का विधान कहा गया है❀ । अतः

❀देखें-अध्यात्मरामायण की व्यङ्ग्यप्रकाशिका टीका, पृष्ठ६, पब्लिसर श्रीप्रभातशास्त्री, इलाहाबाद सन् १९८४

सम्मतिसमीक्षा

'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक पर लिखी गयीं चाटुकारिता पूर्ण सम्मतियाँ अपने-अपने लेखकों के वैदुष्य एवं शास्त्रनिष्ठा का यथार्थ परिचय देती हैं। एक महाशय मुक्त कंठ से उक्त पुस्तक की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं कि 'इस ग्रन्थ के अनुशीलन से नाना भ्रान्तियां दूर हो जायेंगी', ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है—

"अस्य ग्रन्थस्यानुशीलनेन नाना भ्रान्तयः निराकृताः स्युरिति द्रढीयान् मामकीनो विश्वासः।"

अब जरा यह भी देख लीजिए कि इस ग्रन्थ में किन-किन भ्रान्तियों का निराकरण है। सम्मति दाताजी इसका दिग्दर्शन कराते हुए लिखते हैं कि—

महर्षि वाल्मीकि ब्राह्मण थे, लुटेरे नहीं। उन्होंने रामनाम का जप किया था, 'मरा' इस उलटे नाम का नहीं ...." आदि विविध विषयों का प्रतिपादन मान्य विद्वान् ने इस ग्रन्थ में किया है—

महर्षि वाल्मीकिः ब्राह्मण आसीन्नतु लुण्ठकः। स रामनाम जजाप नतु मरेति.... .... आदि विविधा विषया प्रत्यपादिषत मान्येन विदुषा॥

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि, पृष्ठ २

मनीषीगण यह भलीभाँति समझते हैं कि रामायणकार महर्षि वाल्मीकि का जीवन चरित भविष्यमहापुराण, स्कन्दमहापुराण, अध्यात्म रामायण आदि आर्षग्रन्थों में सुस्पष्ट मिलता है, जिनमें उन्हें लुटेरा और उलटा (मरा) नाम का जापक बतलाया गया है। पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज ने भी भगवान् व्यास के वचनों के आधारपर उन्हें उलटा (मरा)नाम जपने वाला कहा है। यह तथ्य रामचरितमानस एवं कवितावली के ज्ञाताओंसे तिरोहित नहीं है। 'महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक में इन्हीं तथ्यों के खण्डन का प्रयास किया गया है। इसी को सम्मतिदाता महाशय भ्रान्ति बतला रहे हैं। इनकी दृष्टि में भगवान् व्यास तथा गोस्वामी जी भ्रान्त पुरुष हैं तभी तो इन्होंने उनके वचनोंसे विदित तथ्यों को भ्रान्तिपूर्ण बतलाकर उसके निराकरण की प्रशंसा की है।

अब पाठकों को यह जिज्ञासा हो रही होगी कि यह कौन व्यक्ति है, जो अष्टादशपुराणप्रणेता भगवान् वेदव्यास कृष्णद्वैपायन एवं कविकुल कमलदिवाकर गोस्वामी तुलसीदासजी जैसे आप्त पुरुषों के द्वारा लिखित तथ्यों को भ्रान्तिपूर्ण कहने का दुस्साहस कर रहा है। उत्तर मिलेगा— ये महाशय

हैं, रसिककुलभूषण लक्ष्मणकिलाधीश पं० श्री सीतारामशरणजी महाराज यदि कोई विपक्षी ऐसी बातें कहे या लिखे, तो उससे उतनी हानि नहीं होगी; क्योंकि विपक्षी होने से उसकी बातें अनादरणीय हैं। किन्तु अपने पक्ष का एक भी व्यक्ति–जिसे शास्त्रमर्मज्ञ एवम् आस्तिक समझा जाता हो–ऐसी बातें अपनी लेखनी से लिखें तो निश्चित ही आस्तिक समाज में महती हानि हो सकती है, यदि उसकी बातें काटी न जा सकें। अथवा उसके शास्त्रमर्मज्ञता की पोलपट्टी का खुलासा न किया जाय।

रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को दीर्घकालिक जप के पूर्व लूटपाट-कर्त्ता तथा 'मरा' इस 'मन्त्र' (उलटा नाम) का जापक बतलाने वाले परम आप्तभगवद्वादरायणप्रणीत श्रीभविष्यमहापुराण प्रतिसर्गपर्व ४/१० एवं स्कन्द महापुराण आदि आर्षग्रन्थ हैं। इससे अनाप्तोक्त उक्त बातें स्वतः कट जाती हैं। हाँ, "रामायणकार महर्षि वाल्मीकि ने रामनाम का जप किया था, मरा इस उलटे नाम का नहीं" ऐसी सम्मति लिखकर पूज्यपाद गोस्वामी जी एवं उनके अनुयायियों पर तीखा प्रहार करने वाले 'पं०श्रीसीतारामशरण जी कितने महान् विद्वान् हैं' इसका परिज्ञान उनकी लिखी सम्मति ही करा रही है। देखिये, ये महाशय अपनी सम्मति में पूर्वमीमांसा के एक सुप्रसिद्ध सूत्रका उल्लेख करके उसकी कैसी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्या कर रहे हैं—

"विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यादसति ह्यनुमानम्" इति जैमिनिसूत्रस्यापि भायमेवाशयः। श्रुत्या सहविरोधे स्मृतिवाक्यमुपेक्षणीयम्। असति–यदि काचन मूला श्रुतिर्नोपलभ्यते तदा स्मृतिवाक्येनानुमानं कर्तव्यम् इयं स्मृतिः श्रुति-मूला स्मृतित्वात् मन्वादिस्मृतिवत्।"

—रामायणकार महर्षि वाल्मीकि, पृष्ठ २

यहाँ श्रीमान् जी जैमिनिसूत्र की व्याख्या करने लगे जिसमें विरोधेत्व-नपेक्ष्यम्' की व्याख्या किये–श्रुति के साथ विरोध होने पर स्मृतिवाक्य उपेक्षणीय है। पुनः असति की व्याख्या करते हैं–यदि काचनेत्यादि। यदि कोई मूलश्रुति उपलब्ध न हो तो स्मृतिवाक्य से उसका अनुमान कर लेना चाहिए। अनुमान का आकार लिखा गया–इयं स्मृतिः श्रुतिमूलेत्यादि।

सुधीजन देख सकते हैं कि किलाधीश जी की असति अंश की व्याख्या गड़बड़ा गयी; क्योंकि पूर्वमीमांसा के विरोधाधिकरण १/३/३ में 'औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत" इस प्रत्यक्षश्रुति के विरुद्ध "औदुम्बरी सर्ववेष्टयितव्या" इस स्मृति के प्रामाण्याप्रामाण्य की शङ्का करके 'स्मृत्यधिकरणन्याय' से "उक्त स्मृति प्रमाण है" ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित किया गया। इस पक्ष में

स्पर्शन और सर्ववेष्टन में 'व्रीहि यव' की भाँति विकल्प प्राप्त है। ऐसी स्थिति में सूत्र आया—विरोधेत्विति।

इस सूत्र की व्याख्या सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीवासुदेवदीक्षित अपनी "अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति" में इस प्रकार करते हैं—

तुरष्टकादि स्मृतिवैषम्ये। प्रत्यक्षश्रुतिविरोधे सति अनपेक्षं—मूल प्रमाणानपेक्षं श्रुतिवाक्यमेव प्रमाणं स्यात् न तु स्मृतिवाक्यम्, तस्य मूलश्रुत्य-पेक्षत्वात् तथाविधश्रुतौ च प्रमाणाभावात्। ननु स्मृत्या श्रुतिरनुमीयताम्; तत्राह—असति ह्यनुमानमिति। असति हि प्रत्यक्षविरोधे अनुमानम्। अस्ति चात्र प्रत्यक्षश्रुतिविरोधः। तथा च वह्नावौष्ण्यप्रत्यक्षेणेव शैत्यानुमानस्य स्पर्शनश्रुतिप्रत्यक्षेण सर्ववेष्टनश्रुत्यनुमानस्य बाधिततया सर्ववेष्टनश्रुतेर्गगनकुसु-मायमानत्वात् स्पर्शनसर्ववेष्टनयोरभित्तिचित्रायितो विकल्पः। ग्रहणादिविषये तु तच्छास्त्रयोः प्रत्यक्षत्वाद्विकल्पो युक्तः।

—अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति, पृष्ठ ६०

अर्थ—सूत्रस्थ तु शब्द अष्टकादि स्मृतियों की व्यावृत्ति के लिये है। प्रत्यक्षश्रुति (औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत) से विरोध होने पर मूलप्रमाणानपेक्ष श्रुतिवाक्य ही प्रमाण है, स्मृति वाक्य नहीं; क्योंकि उसका प्रामाण्य मूलश्रुति सापेक्ष है और वैसी श्रुति में कोई प्रमाण नहीं है। "औदम्बरी सर्वाविष्टयि-तव्या" आदि स्मृतियों से उनकी मूलभूता श्रुति का अनुमान कर लेना चाहिए, ऐसी शङ्का नहीं कर सकते; क्योंकि प्रत्यक्ष से विरोध न होने पर ही अनुमान होता है।

यहां तो "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वा उदगायेत" इस प्रत्यक्षश्रुति का विरोध ही है। अतः अग्नि के औष्ण्यप्रत्यक्ष से जैसे उसके शैत्यानुमान का बाध हो जाता है वैसे ही स्पर्शनश्रुति के प्रत्यक्ष से सर्ववेष्टनश्रुति का अनुमान बाधित हो जायेगा। ऐसी स्थिति में जबकि सर्ववेष्टनश्रुति गगनारविन्द (अलीक) हो जाती है, तब स्पर्शन और सर्ववेष्टन का विकल्प भी बिना भित्ति के चित्र की भाँति हो जायेगा अर्थात् असत् हो जायेगा। षोडशिग्रहण और अग्रहण का विकल्प उचित है; क्योंकि उनके बोधक शास्त्र 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति" प्रत्यक्ष हैं।

श्री किलाधीश जी ने असति—यदि काचन इत्यादि से "यदि कोई मूलश्रुति न उपलब्ध हो तो स्मृति वाक्य से उसका अनुमान कर लेना चाहिये" जो व्याख्या की है, वह गलत है; क्योंकि प्रत्यक्ष श्रुति "औदम्बरीं स्पृष्ट्वा उद्गायेत" से विरुद्ध "औदुम्बरी सर्वाविष्टयितव्या" स्मृति के प्रामाण्य का

निराकरण "विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्" इतने सूत्रांश से किया गया। अब 'ननु स्मृत्या श्रुतिरनुमीयताम्' से जो शङ्का की गयी थी कि सर्ववेष्टन स्मृति से मूलश्रुति का अनुमान कर लें, (शङ्कालु का तात्पर्य यह है कि जब श्रुति का अनुमान हो जायेगा, तब अनुमित सर्ववेष्टनश्रुति और प्रप्यक्ष स्पर्शनश्रुति का विरोध होने पर भी चूँकि दोनों श्रुति हैं, अतः किसी का बाध तो होगा नहीं, प्रत्युत उनसे बोध्य परस्पर विरुद्ध सर्ववेष्टन और स्पर्शन में विकल्प हो जायेगा जैसा कि षोडशिग्रहण और अग्रहण में होता है। ऐसी स्थिति में पूर्वपक्ष सुस्थिर रहेगा) उसी के निवारणार्थ 'असति ह्यनुमानम्' सूत्रांश है, जिसका अर्थ है—'प्रत्यक्ष से विरोध न होने पर ही अनुमान होता है।✽ प्रकृत स्थल में स्पर्शनश्रुति, जो कि प्रत्यक्ष है उससे सर्ववेष्टनस्मृति विरुद्ध है, अतः प्रत्यक्ष से विरोध होने के कारण इस स्मृति से मूलश्रुति का अनुमान नहीं हो सकता। अब, जबकि सर्ववेष्टनपरक अनुमितश्रुति ही अनुपलब्ध है, तब विकल्पवराक की प्रसक्ति कैसे होगी ? अर्थात् कथमपि नहीं हो सकती।

ध्यातव्य है कि पं०श्रीसीताराम शरण जी की व्याख्या में 'ननु स्मृत्या श्रुतिरनुमीयताम्' से पूर्वपक्षी ने जो शङ्का की थी, उसका वारण नहीं हो सकता, उलटे उसे बल ही मिलेगा; क्योंकि सर्ववेष्टनस्मृति की कोई मूलश्रुति तो उपलब्ध है ही नहीं, अतः उस स्मृति से सर्ववेष्टनश्रुति का अनुमान हो जायेगा; क्योंकि 'असति ह्यनुमानम्' सूत्रांश की व्याख्या इन्होंने "यदि काचन मूलाश्रुतिर्नोपलभ्यते तदा स्मृतिवाक्येनानुमानं कर्तव्यम्" ही लिखी है। ऐसी स्थिति में अनुमितश्रुति एवं प्रत्यक्षश्रुति बोध्य सर्ववेष्टन तथा स्पर्शन में विकल्प पूर्वपक्षवत् सुस्थिर ही रहेगा, फिर 'विरोधाधिकरण' का प्रयोजन ही क्या रह जायेगा ? वह तो पूर्वपक्ष की निवृति हेतु ही है। अतः 'विरोधे तु..........' इस सिद्धान्त सूत्र को ही–वृत्ति, वार्तिक एवं शाबर भाष्य के मर्म को न समझकर गलत व्याख्या करके—निष्प्रयोजन बनाने वाले श्री किलाधीश जी 'पूर्वमीमांसा के कितने महान् पण्डित हैं', यह बात पाठकों को 'स्थालीपुलाक-न्याय' से समझ लेनी चाहिए।

इतना ही नहीं, इन्होंने जो "इयं स्मृतिः श्रुतिमूला स्मृतित्वात् मन्वादि स्मृतिवत्" अनुमान वाक्य प्रस्तुत किया है, केवल इसी से इनकी न्यायशास्त्र विषयकविद्वत्ता एवम् उत्तरमीमांसाविषयक अगाध पाण्डित्य का परिचय भी

✽ असति हि प्रत्यक्षविरोधे अनुमानम्

—अध्वरमीमांसा कुतूहलवृत्ति

स्थालीपुलाकन्यायेन विद्वानों को मिल जाता है। श्रीस्वामी किलाधीश जी ने अपने अनुमान वाक्य में श्रुतिमूलकत्व की सिद्धि के लिए जो स्मृतित्व हेतु प्रस्तुत किया है, वह व्यभिचारी है; क्योंकि वह श्रुतिविरुद्ध सांख्यस्मृति एवं योगस्मृति में भी है, पर वहाँ श्रुतिमूलकत्व नहीं है। अतः श्रुतिमूलकत्वरूप-साध्याभाववदुक्तस्मृतिनिरुपितवृत्तित्व ही स्मृतित्व हेतु में होने से वह व्यभिचरित है। श्रुतिमूलकत्व की सिद्धि में स्मृतित्व हेतु प्रस्तुत करके किला-धीश जी ने अपनी हेतूपस्थापन-कला का यथार्थ परिचय दिया है।

यदि ये महाशय उत्तरमीमांसा (ब्रह्मसूत्र) के स्मृत्यधिकरण का थोड़ा भी ज्ञान रखते तो श्रुतिमूलकत्व की सिद्धि के लिए स्मृतित्व हेतु को अनुमान वाक्य में न रखते; क्योंकि स्मृत्यधिकरण में जगद्‌गुरु श्रीस्वामीरामानन्दाचार्य प्रभृति सभी भाष्यकारों ने "स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्न अन्यस्मृत्यन-वकाशदोषप्रसङ्गात्" सूत्र के अपने-अपने भाष्यों में सांख्यस्मृति एवं योगस्मृति में श्रुतिमूलकत्वाभाव का प्रदर्शन करते हुए प्रधानकारणवाद का निरास किया है। अतः श्रीमान जी को यदि स्मृत्यधिकरण का ज्ञान होता, तो श्रुति-विरुद्ध सांख्यस्मृति एवं योगस्मृति को श्रुत्यमूलक समझने के कारण उसमें भी विद्यमान 'स्मृतित्व' को हेतु न बनाते।

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

श्रीकिलाधीशजी को अपने भ्रान्तिमूलक सूत्रार्थ से मुक्ति पाने के लिए आवश्यक है कि वें 'असति— यदि काचन मूलाश्रुतिर्नोपलभ्यते" पदाव-लियों से असति को छोड़कर शेष पदों को हटा दें, तथा सूत्रघटक सप्त-म्यन्त विरोधे पदको असति के साथ जोड़कर 'असति विरोधे स्मृति वाक्येनानुमानं कर्तव्यम्" ऐसा वाक्य बना लें तो पूर्वोक्त दोषों से बच सकते हैं। यदि इन्हें अपनी पदावलियों में ही विशेष आग्रह हो तो उसमें 'विरुद्धा' इस पद का समावेश कर दें। ऐसी स्थिति में उन दोषों से तो बच जायेंगे, पर 'मूला' इस पद का निष्प्रयोजन भार वहन करना पड़ेगा।

यदि श्रीमान् जी अपने स्मृतित्व हेतु में विद्यमान व्यभिचार दोष को दूर करना चाहें, तो उन्हें मेरी राय है कि वे हेतु दल में "वेदार्थाविरोधित्वे सति" इस सप्तम्यन्त दल का विशेषणविधया प्रवेश करा दें। इससे 'वेदार्था-विरोधित्वविशिष्ट स्मृतित्वरूप हेतु सांख्य आदि स्मृतियों में नहीं जायेगा।

इस प्रदर्शन का यही प्रयोजन है कि जिन्हें पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमाँसा (वेदान्त) एवं न्याय आदि शास्त्रों में अनेक भ्रान्तियाँ हैं, वे ही लक्ष्मण किला-

धीश पं० श्रीसीताराम शरणजी प्रभृति 'रामायणकार महर्षि वाल्मीकि' पुस्तक पर सम्मतियाँ लिखकर उसकी प्रशंसा किये हैं। जो स्वयं भ्रान्त हैं, वे ही अपनी लेखनी से पूज्यपाद गोस्वामी जी से अनुमोदित रामायणकार महर्षि बाल्मीकि के उलटा नाम (मरा) जप प्रभृति तथ्यों को भ्रान्तिकोटि में डालकर उन्हें अव्यक्त रुप से भ्रान्त सिद्ध करना चाहे हैं। ऐसी ही परिस्थिति में बहुधा लोग कहा करते है—

"निजभ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी ॥

—रा०म०बा०का०११७/१

जो सम्मतिदाता, सुधी, सज्जन विवश होकर सम्मतियाँ लिखकर पश्चात्ताप करते हों, या उस पुस्तक के पक्ष में न हों उनसे मेरी विनीत प्रार्थना है कि वे मेरे द्वारा प्रयुक्त शब्दों का लक्ष्य अपने को न समझें।



रामजी पालनेमें

एक बार जननीं अन्हवाए।
करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए॥

किंवदन्तीविमर्शभङ्ग

कविकुलकमलदिवाकर पूज्यपाद गोस्वामी तुलसीदासजी ने मानस में "जान आदिकवि नाम प्रतापू । भयउ शुद्ध करि उलटा जापू" (रा० च० मा० बा० का० १६।५। जहाँ वाल्मीकि भये ब्याधते मनिन्दु साधु "मरामरा जपे सिख सुनि रिषि सात की' (कवितावली उ० का० १३८ से १४०) राम विहाइ मरा जपते विगरी सुधरी कविकोकिलहू की (कवित्ता ०७/८८) आदि स्थलों में रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को उलटा नाम जपने वाला कहा है। इसका आधार अध्यात्मरामायण के अयो०काण्ड के छठें सर्ग के ६५ वें श्लोक से ८७वें श्लोक तक की महर्षि वाल्मीकि की स्वमुखोपवर्णित कथा है।

गोस्वामीजी की दृष्टि में चित्रकूटवासी महर्षि वाल्मीकि तमसातीरवासी महर्षि वाल्मीकि से अभिन्न हैं, तभी तो तमसातीरवासी रामायण रचनाकार आदिकवि को वे उलटा (मरा) नामक जापक बतलाते हैं। यही आदिकवि तपश्चर्या के पूर्व जङ्गल में चोरी इत्यादि करते थे। इसकी सूचना अध्यात्म-रामायण एवं भविष्यमहापुराण आदि आर्षग्रन्थों से मिलती है। गोस्वामीजी ने भी कवितावली आदि ग्रन्थों में इसका सुस्पष्ट वर्णन किया है।

अयोध्या के पं०वैजनाथ द्विवेदी इसे प्रायः ५०० वर्ष से बहने वाली उलटी और दूषित धारा कहते हैं, इसके खण्डन के लिए उन्होंने भरपूर असफल प्रयास किया। अपने प्रयास के विषय में वे कहते हैं—

प्रतिपादनमिदं प्रायः पञ्चशताब्दीमनवरतं प्रवहमानाया एकस्या विपरीतदुर्धाराया अवरोधकः प्रयासः। तदनेन प्रयासेन तद्धारामनुप्रवहतां भूयसां कथकविचारकलेखकादीनां मनांसि दूयेरन्नित्यत्र न किमपि चित्रम्।"

अर्थ—"यह प्रतिपादन प्रायः ५०० वर्ष से अनवरत प्रवाहित होने वाली एक विपरीत दुर्धारा का अवरोधक प्रयास है, इस प्रयास से उस धारा में बहने वाले बहुत से कथक, विचारक और लेखकों के मन खिन्न होंगे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है।"

पण्डितजी का यह कथन उन लोगों के प्रति है जो गोस्वामीजी के कथन में विश्वास करते हैं जिन्हें अध्यात्मरामायण आदि की कथा में विश्वास है।

पं०जी के इस पुस्तक को देखकर मैंने "अखिल–भारतीय रामानन्दसंघ अयोध्या" की ओर से पं०जी और उनके अनुयायियों को शास्त्रार्थ की चुनौती दी, किन्तु वे नहीं आये।

आइए, पण्डितजी की खण्डन-युक्तियों पर विचार करें।

पण्डित द्विवेदीजी "रामायणकार महर्षि वाल्मीकि" के पृष्ठ ४ पर अध्यात्मरामायण की कथा प्रस्तुत करते हैं, जिसका सार है—महर्षि वाल्मीकि जंगल में चोरी इत्यादि करते रहते थे एक दिन सप्तर्षियों को लूटने दौड़े तो उन्हें इस पाप कर्म का फल माता पिता आदि भोगेंगे कि नहीं, पूछने के लिए सप्तर्षियों ने परिवार के निकट भेजा, वे वहाँ से हताश होकर लौटे, तो ऋषियों ने उन्हें उलटा नाम जपने को कहा। पण्डितजी ने लिखा है—"हे राम ऐसा सोचकर उन्होंने आपके नाम के अक्षरों को उलटकर मरा इस शब्द को एकाग्र मन से अपने लौटने को अवधि तक जप करने के लिए मुझसे कहा—

इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्।
एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा।
आगच्छामः पुनर्यावत् तावदुक्तं सदा जप ॥"

इसके जप से उनके ऊपर वल्मीक (बाँबी) इकट्ठा हो गई, करोड़ों वर्ष बीतें, सप्तर्षि लौटे, वल्मीक से उन्हें बाहर निकाले, वल्मीक से उत्पन्न होने के कारण उनका द्वितीय जन्म मानकर 'वाल्मीकि' नाम ऋषियों ने रखा और मुनीश्वर की उपाधि दी। पण्डितजी इस कथा के उपरान्त लिखते हैं कि— "यहाँ रामायण रचना को चर्चा नहीं है।"

भ्रान्तिगिरिभङ्ग—

पण्डितजी ने 'इत्युक्त्वा राम ते नाम····सदा जप' श्लोक का जो अर्थ किया है उससे उनके पाण्डित्य की अच्छी झलक मिलती है। इन्होंने "नाम के अक्षरों को उलट कर मरा इस शब्द को"···· ····इत्यादि अर्थ कर डाला। जबकि उसका अर्थ है—"हे राम ऐसा विचार कर उन्होंने विपरीत अक्षर वाले आपके मरा इस नाम को एकाग्रमन से यहीं जप करो, जब तक हम लोग न लौटें तब तक जप करते रहना" ऐसा कहा और चले गये।

उक्त श्लोक में व्यत्यस्ताक्षररूपकम् पाठ है पूर्वकम् नहीं। और वह तथा मरेति ये पद विशेषण हैं तथा 'नाम' पद विशेष्य है। व्यत्यस्तानि विपरीत पौर्वापर्य्याणि अक्षराणि यस्मिन् तादृश रूप यस्य तत् नामेत्यर्थः व्यत्यस्त अर्थात् विपरीत पौर्वापर्य्य अक्षर हों जिनमें ऐसा रूप है जिसका, उसे व्यत्यस्ताक्षररूपक कहते हैं अर्थात् अन्य पदार्थ नाम हुआ। व्यत्यस्ताक्षर रूप वाले अन्य भगवन्नामों की व्यावृत्ति हेतु नाम का दूसरा विशेषण है मरेति। अर्थात्

निश्चित ही यह रामायण आज से पाँच हजारवर्ष पूर्व पुराणकाल में रचा जा चुका था।

अध्यात्मरामायण के लेखक भगवान् वादरायण

इस रामायण के प्रणेता अष्टादशपुराण रचयिता भगवान् वादरायण ही हैं। इस विषय में इसके सभी प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों का ऐकमत्य है। सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीनागेशभट्ट का निर्णय इस विषय में 'श्रीनागेशभट्ट और अध्यात्मरामायण' शीर्षक में दिखाया जा चुका है। महापण्डित श्री नरोत्तम जी अपनी टीका के आरम्भ में इसका लेखक भगवान्, व्यास को ही वतलाते हैं—

"वेदव्यासमुनिनिबद्धब्रह्माण्डपुराणान्तर्गतमध्यात्मरामायणं नाम तदेव चरितं वेदव्यासशिष्यः सूतो नैमिषारण्ये तत्रत्यैर्मुमुक्षुभिर्मुनिभिः पृष्टस्तेभ्यः कथयामासेत्याह-सूत उवाचेति।"

—सटीक अध्यात्मरामायण, कलकत्ता संस्कृत सीरीज, कलकत्ता

वेदव्यास कृष्णद्वैपायनमहर्षिविरचित ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत अध्यात्मरामायण है उसी चरित को वेदव्यास के शिष्य सूत जी ने नैमिषारण्य में विद्यमान मुमुक्षु महर्षियों के पूछने पर उन्हें सुनाया।

इसी प्रकार पण्डितप्रवर श्रीगोपाल चक्रवर्ती-जिनकी टीका उक्त टीका के साथ ही कलकत्ता से मुद्रित हुई है-ने भी इस रामायण का लेखक व्यास जी को माना है।

इस रामायण के अन्य टीकाकार; जैसे व्यङ्ग्यप्रकाशिकाकार विश्वनाथसिंह, आयोजीभट्ट, कृष्णनाथ, बलभद्र, महीधर, यतीश और श्रीधर स्वामी प्रभृति सभी ने इसका प्रणेता भगवान् वेदव्यास को ही स्वीकार किया है। इस रामायण पर दशियों विद्वानों द्वारा लिखी दशियोंटीकाओं का पता अब तक चला है, जिनका लेखक के विषय में ऐकमत्य है।

प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् आफ्रेक्ट महोदय के "कैटलागस कैटलागारम्" में इटालियन विद्वान् डॉ०एल०पी०टे०सी०टरी महोदय ने रामचरितमानस और वाल्मीकिरामायणपुस्तक के प्राक्कथन मे अध्यात्मरामायण का लेखक वेदव्यास जी को ही प्रतिपादित किया हैं।❀

डॉ०राघवन् महोदय ने भी 'न्यू कैटलागस कैटलागारम्' ग्रन्थ में

❀ ए पोर्शन आफ दि ब्रह्माण्डपुराण—कैटलागस कैटलागारम् पृ०११

इस रामायण को ब्रह्माण्डपुराण के अन्तर्गत घोषित किया है१। उक्त रामायण का अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करने वाले श्रीबैजनाथ जी ने भी भूमिका में इसे ब्रह्माण्डपुराण का भाग ही माना है२।

पुराणानवयव अध्यात्मरामायण

अध्यात्मरामायण ब्रह्माण्डपुराण का भाग है अतएव श्रीनागेशादि टीकाकारों एवम् अन्य विद्वानों द्वारा इसके लेखक भगवान् व्यास माने गये हैं। किन्तु इन लोगों के कथन में कोई प्रबल प्रमाण नहीं है। मात्र "इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे उत्तरखण्डे रामायणमाहात्म्यकथनं नामैकषष्टितमोऽध्यायः" पुष्पिका के आधार पर अध्यात्मरामायण को ब्रह्माण्डपुराण का भाग मानकर उसका लेखक भगवान् कृष्णद्वैपायन को मान लिया गया है। जबकि वर्तमान ब्रह्माण्डपुराण के अन्तिम उपसंहार पाद-जिसे उत्तरभाग भी कहते हैं-में अन्तिम अध्याय चौथा है। उसके वाद ब्रह्माण्डपुराण पूर्ण हो जाता है। वाद में ४०अध्यायों का ललिताराख्यान जोड़ा गया है। अतएव सन्देह होता है कि अध्यात्मरामायण ब्रह्माण्डपुराण का भाग है या नहीं ?

आयें, अब अन्तःसाक्ष्य के आधार पर निर्णय करें कि अध्यात्मरामायण स्वयम अपनी रचनाका कौन सा प्रयोजन प्रस्तुत करता है। इस रामायण में वालकाण्ड के अन्तर्गत उपक्रम वाक्य में लेखक पार्वतीजो से कहलाता है कि संसार से छुटकारा दिलाने वाला प्रसिद्ध साधन भक्ति है उससे अतिरिक्त अन्य कोई साधन नहीं। फिर भी मेरे हृदय में संशय है उसका निराकरण आप अपनी विमलवाणी से करें*'। अध्यात्मरामायणकार इसके पश्चात् पार्वतीजी के द्वारा संशय प्रस्तुत कराते हैं—'कुछ लोग कहते हैं कि परतत्त्व श्रीराम भी अज्ञान से आवृत अपने स्वरूप को नहीं जानते थे इसलिए अन्य से बतलाये

१-ए पोर्शन आफ दि ब्रह्माण्डपुराण
—न्यू कैटलागस कैटलागारम्, प्रथम भाग, पृष्ठ १४८

२-दि अध्यात्मरामायण इज ए केनोनिकल बुक आफ वैष्णवाज् एण्ड इज् ए पार्ट आफ ब्रह्माण्डपुराण। एक्स्ट्रा वाल्यूम, पृष्ठ १
—प्रकाशक-पाणिनि आफिस इलाहावाद

*-अ०रा०वा०का० १/११

जाने पर ही उसे समझ सके१'। प्रभो ! यदि श्रीराम अपने परमात्मस्वरूप को जानते थे तो श्री जानकी जी के लिए इन्होंने विलाप क्यों किया और यदि नहीं जानते थे किसी से बतलाने पर ही स्वस्वरूप को समझ सके तव इनकी उपासना कोई क्यों करे; क्योंकि ये भी सभी जीवों के समान ही हुए '। इस विषय में आप क्या उत्तर समझते हैं? आप उपने उस उत्तर को जो संशय को विदीर्ण करने वाला है, मुझसे कहें २।' इस पर शिवजी पार्वती जी की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि 'श्रीरामतत्त्व को कहने के लिए इससे पूर्व किसी ने भी मुझे प्रेरित नहीं किया था ३।' तत्पश्चात् अध्यात्मरामायणकार ने भगवती उमा के प्रश्न का उत्तर भगवान् भूतभावन द्वारा दिलाया है कि श्री राम प्रकृति से परे अनादि, आनन्दस्वरूप पुरुषोत्तम और सबको संसारकी माया से छुड़ाने वाले हैं ऐसे सम्पूर्ण जगत् के कारण शुद्ध बुद्ध परमात्मा श्रीराम में जो अपने अज्ञान (श्रीराम आत्मस्वरूप को नहीं जानते थे दूसरे से बतलाने पर जान पाये-ऐसा समझना लोगों का अज्ञान ही है; क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं हैं, कोरी कल्पना है। वे अपने समान ही परमात्मा श्रीराम को भी अज्ञानी समझते हैं अतः अपनी अज्ञता) का आरोप करते हैं वे अनेक कर्मों से युक्त पुत्रादि में आसक्त होकर संसार में ही फँसे रहते हैं। जिस प्रकार स्वयं प्रकाश सूर्य में अन्धकार नहीं रह सकता वैसे ही विशुद्धविज्ञानधन परमात्मा श्रीराम में अज्ञान नहीं रह सकता। इस प्रकार अनेक वचनों से श्री राम में अज्ञान के असम्भावना की उपपत्ति करके भगवान् शिव से रामायणकार कहलाते हैं कि सच्चिदानन्दघन श्रीराम में (अविवेकियों से कहा गया आत्मस्वरूपविषयक) अज्ञान (और दूसरे के उपदेश से जायमान) ज्ञान ये दोनों नहीं हो सकते। इसी परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त रामकथा आती है।

इस प्रकार पार्वती जी का पूर्वोक्त सन्देह निवृत्त हो जाता है और वे संक्षिप्त रामकथा को विस्तार से सुनने की जिज्ञासा करती हैं जिसके फलस्वरूप शनैः शनैः विस्तृत रामकथा अध्यात्मरामायण के रूप में प्रस्तुत हो जाती है।

१—वदन्ति केचित् परमोऽपि रामः स्वाविद्यया संवृतमात्मसंज्ञम्।
जानाति नात्मानमतः परेण सम्बोधितो वेद परात्मतत्त्वम्॥
—अ.रा.बा.का.१/१३

२—वहीं १/१४ ३—वहीं १/१५

ध्यातव्य है कि अध्यात्मरामायण का मूलस्वरूप संक्षिप्त रामकथा का विवरणमात्र है और वह संक्षिप्त कथा तव आयी है जब पार्वती जी के द्वारा मोक्षसाधनत्वेन श्रीराम भक्ति की प्रसिद्धि का कथन करने के पश्चात् पूर्वोक्त "कोई कहते हैं......जीव के समान ही हुए"।–ऐसा संशय प्रस्तुत करके भगवान् शिव द्वारा उत्तर दिया गया।

अब विचारणीय यह है कि जिनका निर्देश अध्यात्मरामायणकार ने पार्वती जी के मुख से किया है वे कौन हैं जो श्रीराम को अज्ञानी कहकर उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान दूसरे के उपदेश से मानते हैं। इस विचार की परिधि में हमारे सामने दो महानुभाव प्रस्तुत होते हैं, जिनमें एक हैं– आचार्य शङ्कर और दूसरे हैं– योगवासिष्ठकार। शङ्कराचार्य कहते हैं कि ब्रह्मा जी ने दशरथ पुत्र श्रीराम को उनके विष्णुत्व का बोध कराने के लिए उनका अज्ञान अपनी वाणी से ही दूर किया था—

ब्रह्मा दाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवा पानुदत्तमः । — उपदेशसाहस्री
तस्य विष्णुत्वसम्बोधे न यत्नान्तरमूचिवान् ॥ — तत्त्वमसिप्रकरण १००

योगवासिष्ठकार तो मात्र भगवान् राम को ही नहीं, अपितु सभी भाइयों को अज्ञानी बना दिये। ये वशिष्ठ जी के मुख से कहलाते हैं–कि मैं राजा दशरथ के राम आदि सभी पुत्रों के हृदय का अज्ञान अपने ज्ञान से वैसे ही दूर करूँगा जैसे दीपक रात्रि के अन्धकार को।—

अहंहि राजपुत्राणां रामादीनां मनस्तमः। — योगवासिष्ठ,
ज्ञानेनापनयाम्याशु दीपेनेव निशातमः॥ मुमुक्षुव्यवहार प्रकरण, २/२६

बस, फिर क्या हुआ, योगवासिष्ठ जैसा बत्तीसहजार श्लोकों का पोथन्ना तैयार हो गया। इसमें अनेक स्थलों पर श्रीराम द्वारा कहा गया है कि मेरा अज्ञान निवृत हो गया—नष्टो मोहः पद प्राप्तं त्वत्प्रसादान्मुनीश्वर। स्थितोऽस्मिगतसन्देहः स्वभावे ब्रह्मरूपिणि। निरावरणविज्ञानः करिष्ये वचनं तव। —यो० वा० नि० प्रा० २१४/१४, १५। सर्वा एवोपशान्ता मे भ्रान्तयो भवभङ्गदाः। अस्मिन् क्षये जार्गमि चाक्षयः। —यो० वा० नि० प्र० २०१/११,२०

इससे यह सुस्पष्ट हो गया कि अध्यात्मरामायण के प्रणयन में मूलकारण है परमात्मा श्रीराम को अज्ञानी एवम् दूसरे के उपदेश से उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञाता बतलाने वाली उक्तियाँ। जिनका निराकरण करने के लिए 'अध्यात्मरामायण' का निर्माण किया गया। पूर्वोक्त

दोनों विद्वानों में किसकी वाणी से विदीर्ण होकर रामायण लिखा गया, ऐसा विचार प्रस्तुत होने पर यही कहना पड़ेगा कि आचार्य शङ्कर कोई ऋषि तो है नहीं, जिनकी वाणी से 'श्रीराम अज्ञानी थे ब्रह्मा द्वारा उनका अज्ञान दूर हुआ'-ऐसा भ्रम लोक में फैले। दूसरी बात यह कि श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में "आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। योऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे" ॥ वा०रा० यु०का०११७/११से श्रीराम की अज्ञानता नहीं प्रकट हो रही है जिसके कारण यह माना जाय कि ब्रह्माजी ने अपनी वाणी से उनके अज्ञान का अपाकरण किया था; क्योंकि जैसे अद्वैत मत में शमदमादि साधनचतुष्टयसम्पन्न स्वस्वरूपानभिज्ञ शिष्य को उसके स्वरूप का बोध कराने के लिए गुरु 'तत्त्वमसि' जैसे महावाक्यों का कथन करते हैं और उससे उसका स्वस्वरूपविषयक अज्ञान दूर हो जाता है किन्तु यहाँ ज्ञानी गुरु द्वारा प्रोक्त 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य अज्ञानी शिष्य की स्तुति नहीं है। वैसे ही श्रीराम को उनके स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए लोकस्रष्टा ब्रह्मा द्वारा प्रोक्त 'भवान्नारायणो देवः…… ……जैसे वाक्य भी स्तुतिरूप नहीं हो सकते। जबकि स्वयं पितामह ने स्वमुखोच्चरित वचनों को श्रीराम का दिव्य स्तव कहा है। अतएव "आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्। योऽहं यश्च यतश्चाऽहं भगवांस्तद् ब्रवीतु मे" से श्रीराम का स्वस्वरूप विषयक अज्ञान अभिव्यक्त होता है और 'भवान्नारायणो देवः ·· ···इत्यादि चतुरानन वाक्य से उसका अपनादन-ऐसा भाव समझकर ब्रह्मा दाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवापानुदत्तमः। तस्य विष्णुत्वसंबोधे न यत्नान्तरमूचिवान्' आचार्य शङ्कर का कथन सर्वथा अनुपयुक्त है इसका निर्धारण विद्वज्जन स्वयं कर सकते हैं। लोक में अन्य लोग भी मेरे स्वरूप को जानकर मुझ परमात्मा में निष्ठा रखकर आत्म कल्याण करें इस उदात्तभावना से भगवान् ने अपने सौशील्य गुण का परिचय देते हुए मैं अपने को दशरथनन्दन मानव राम समझता हूँ-ऐसा कहा, न कि कुछ स्वस्वरूप का अज्ञान होने से। अब इस वचन से उनकी महत्ता प्रकट होने लगी इधर ब्रह्मा जी उनका उत्कृष्ट परत्व व्यक्त कर ही रहे हैं। बस यह समग्र प्रकरण श्रीराम का बहुविध दिव्य गुण बतलाने के कारण "गुणकीर्तनं स्तवः" अभियुक्तोक्ति के अनुसार 'दिव्य स्तव' उपपन्न हो गया। फलतः आचार्य शङ्कर के 'ब्रह्मा दाशरथे ···· ···" वचन से विद्वज्जगत् में श्रीराम अज्ञान युक्त थे ब्रह्मा उन्हें

ज्ञानी बनाये ऐसा भ्रम नहीं फैल सकता जिसके लिए अध्यात्मरामायण की आवश्यकता प्रतीत हो। हाँ, योगवासिष्ठकार के प्रयास से श्रीराम के विषय में उक्त बातें अवश्य लोक में प्रचलित एवम् असह्य हो रही थीं जिनकी प्रतिक्रिया के रूप में अध्यात्मरामायण का प्रणयन हुआ।

'योगवासिष्ठ' महर्षि वाल्मीकि की रचना है–ऐसा उसकी पुष्पिका से ज्ञात होता है। उसमें लिखा गया है कि भगवान् राम का अज्ञान महर्षि वशिष्ठ के उपदेश से दूर हुआ। अब महर्षि वाल्मीकिलिखित वाणी को कौन काट सकता है ? "न हि वचनविरोधे न्यायः प्रवर्तते" नियम है। अतः योगवासिष्ठकार ने जैसे अपने अभीष्ट ज्ञानकर्म-समुच्चयाभिमत अद्वैतवेदान्त का प्रचार प्रसार करने के लिए श्रीराम कथा का आश्रय लिया श्रीराघव को अज्ञानी मानकर कल्पित बशिष्ठ द्वारा उनका अज्ञान दूर कराया और इसी ब्याज से अपना सम्पूर्ण सिद्धान्त कह डाला। वैसे ही उनके मत का खण्डन करने के लिए अध्यात्मरामायणकार ने अध्यात्मरामायण की रचना की और अपने रामायण को उमामहेश्वरसम्वादरूप में प्रस्तुत किया।

ध्यातव्य यह है कि स्कन्दमहापुराण* के अनुसार रामायणकार महर्षि वाल्मीकि को वाल्मीकीय रामायण रचने की कवित्वशक्ति भगवान् महेश्वर से प्राप्त हुई और नारद जी उन्हें संक्षिप्त रामकथा सुनाने से उनके गुरु भी हैं। ये सब तथ्य अध्यात्मरामायणकार से तिरोहित नहीं थे अतएव अध्यात्मरामायणकार ने अपने रामायण का वक्ता उन महेश्वर को बनाया जिनकी आराधना से वाल्मीकि को कवित्व शक्ति मिली थी और इसका माहात्म्य उन ब्रह्माजी से ४२ श्लोकों में कहवाया जिन्होंने वाल्मीकि के काव्य की प्रशंसा ७½ श्लोकों में की है। और वाल्मीकि को संक्षिप्त कथा सुनाने वाले नारदजी ने स्वयम् अध्यात्मरामायणस्थ अविस्तृत रामकथाके वक्ता भगवान् शिवसे ज्ञान प्राप्त किया है।

मजे की बात तो यह है कि जैसे योगवासिष्ठकार श्रीराम में अज्ञान की कल्पना को आधार बनाकर अपना मत सुस्थिर करना चाहे हैं वैसे ही अध्यात्मरामायणकार रामकथा के माध्यम से दशरथ-नन्दन में अज्ञान की कल्पना करने वाले को विमूढचित्त कर्मासक्त संसारी बतलाकर श्रीराम में स्वस्वरूप विषयक अज्ञान एवं परोपदेश-जन्य तद्विषयक ज्ञान की कल्पना को ध्वस्त कर दिये हैं। जिससे

* आवन्त्यक्षेत्र माहात्म्य २४/३५-३६।

योगवासिष्ठकार की श्रीरामनिष्ठ अज्ञानविषयक कल्पना अनर्गल एवम् अप्रमाणिक सिद्ध हो जाने से तदज्ञाननिवृत्त्यर्थं प्रकल्पित वसिष्ठोपदेश भी मिथ्या सिद्ध हो जाता है। इससे उसके अन्तर्गत कही गयीं योगवासिष्ठकार की सब बातें स्वतः निर्मूल-सिद्ध हो जाती हैं। ये मेरी मात्र कल्पना नहीं अपितु यथार्थ है। देखें—

"वदन्ति केचित् परमोऽपि रामः स्वाविद्यया संवृतमात्मसंज्ञम्। जानाति नात्मानमतः परेण सम्बोधितो वेदपरात्मतत्त्वम्" से अध्यात्मरामायणकार ने दिखलाया कि कोई कहते हैं कि परतत्त्व राम अज्ञान से ढके हुए आत्मस्वरूप को न जान पाये अतः वशिष्ठ से बताये जानेपर अपने परमात्मतत्त्व को जाने। यहाँ केचित् पद से योगवासिष्ठकार का ग्रहण है; क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थ में परमात्मा श्रीरामको प्रकृति से परे परिपूर्ण परानन्द, विश्व की सृष्टि स्थिति और पालन करने वाला, चिदानन्दघन अव्यय परमात्मा कहा है❀—"चिदानन्दघनो रामः परमात्मायमव्ययः"। 'परमश्चासौ आत्मा' यह परमात्मा शब्द का विग्रह है। एवञ्च 'परमात्मा' शब्द श्रीराम का विशेषण होने से योगवासिष्ठकार के अनुसार श्रीराम में परमत्व और आत्मत्व ये दोनों धर्म अभिमत हैं। इसी आशय से अध्यात्मरामायणकार योग वासिष्ठकार के मत को प्रस्तुत करने के लिए परमत्व का ख्यापक विशेषण लगाकर ही उसे स्पष्ट करते हैं—वदन्ति केचित् परमोऽपि रामः यह योगवासिष्ठकार का ही मत है इसे पुनः दृढ़ करने के लिए अब अवशिष्ट विशेषण जो श्रीराम के आत्मत्व का बोधक है उसे लगाकर अध्यात्मरामायणकार इनकी निन्दा करते हैं — स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्ध बुद्धे स्वारोपयन्तीह निरस्तमाये। संसारमेवानुसरन्ति ते वै पुत्रादिसक्ताः पुरुकर्मयुक्ताः। यहाँ का 'आत्मनि' शब्द विशेषण है और अग्रिम वचनस्थ'रघूत्तमे' विशेष्य है।

इस विवेचन से सुनिश्चित है कि 'वदन्ति केचित् परमोऽपि रामः …' से अध्यात्मरामायणकार भगवती पार्वती के मुख से जिस मत को प्रस्तुत करते हैं वह योगवासिष्ठकार का ही है। योगवासिष्ठकार ने भक्ति की बड़ी आलोचना की है— मौर्ख्याद दीनतया राम भक्त्या मोक्षोऽभिवाञ्छ्यते१। "हे राम! दीन होकर मूर्खता के कारण भक्ति

❀ योगवासिष्ठ, निर्वाण प्रकरण पूर्वार्द्ध १२८/८१ से ९३ श्लोक तक
१—यो० वा० उपशमप्रकरण ७३/३७

से मोक्ष की कामना करता है। शास्त्र प्रयत्न और विचार से दूर भागने वाले मूर्खों की सन्मार्ग में प्रवृत्ति के लिए विष्णुभक्ति की कल्पना की गयी है२। प्राणी के प्रयत्न से जन्य विचार ही आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन है३। माधव की दीर्घकालपर्यन्त उपासना हो और वे भक्त के ऊपर परम प्रसन्न भी हो जांय तो भी आत्मा के स्वरूप का विचार न करने वाले भक्त को माधव ज्ञान देने में समर्थ नहीं हैं। ये विचार योगवासिष्ठकार के हैं। इससे किसी भी भक्त का हृदय संक्षुब्ध हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसे ही विचारों का निराकरण अध्यात्मरामायण में किया गया है★। भक्तिभाव से उपासना करने वाले पर भगवान् प्रसन्न होते हैं। भक्ति ज्ञान की उत्पादिका और मोक्ष देने वाली है। भक्तिहीन प्राणी से जो कुछ किया जाय सब निष्फल है४। संसार से छूटने के लिए भक्ति ही प्रसिद्ध साधन है उससे अन्य कोई साधन नहीं५। भगवान् के भजन से प्राणी परिश्रम के विना ही संसार से पार होकर भगवद्धाम को प्राप्त कर लेता है। जहाँ योगवासिष्ठकार शास्त्र एवम् प्रयत्नादि से विमुख लोगों की सन्मार्ग में (न कि मोक्ष में) प्रवृत्ति हेतु हरिभक्ति की आवश्यकता मानते हैं। वहीं अध्यात्मरामायणकार शास्त्र एवम् प्रयत्नादि से युक्त होने पर भी भक्ति से विमुख होने पर जीव को आत्मसाक्षात्कार दुर्लभ मानते हैं६। भगवान् माधव को अज्ञानविनाशक, संसारविमोचक बतलाकर अध्यात्मरामायणकार उद्घोष करना चाहते हैं कि माधव ज्ञानप्रद हैं उनकी वन्दनादि भक्ति होनी चाहिए। भगवद्भक्ति विमुख प्राणी को तत्त्वमस्यादि जैसे महावाक्यों से सैकड़ों जन्मों में भी न तो ज्ञान हो सकता है और न मोक्ष ही। इस प्रकार योगवासिष्ठकार के द्वारा तिरस्कृत भक्ति की प्रतिष्ठा अध्यात्मरामायणकार द्वारा की गयी है।

इतना ही नहीं, योगवासिष्ठकार ने जिस ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को आधारशिला बनाकर अपना योगवासिष्ठ रूपी महल खड़ा करना चाहा था उस आधारशिला को ही ध्वस्त करने के लिए—अध्यात्मरामायणकार ने स्वयम् ६१वें अध्याय की रचना करके उसमें अध्यात्मरामायणका माहात्म्य लिखने के कुछ बाद ही—श्रीरामगीता का माहात्म्य

★अ०रा०यु०का० ८/४८। २—यो०वा० उपशम प्रकरण ४३/१०
३—वहीं २०वां श्लोक। ४—अ०रा०यु०का० ७/६६ से ६९ तक
५—अ०रा०बा०का० १ ६—अ०रा० अर० का० ३७ से४५ तक

विशेषरूप से तेरह श्लोकों में लिखा है। यद्यपि अध्यात्मरामायणकार ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के विषय में संशय उठाकर अपने रामायण का आरम्भ करके उसे पहले ही निरस्त कर सकते थे। तथापि भक्त को सिद्धान्त को अपेक्षा भक्ति एवं भगवान् अधिक प्रिय हैं इसलिए इन्होंने दशरथनन्दन परिपूर्णतम ब्रह्म श्रीराम को अज्ञानी बनाने वाली योगवासिष्ठकारकृत कल्पित कथा को ही मिथ्या सिद्ध करने के लिए भगवती उमा द्वारा श्रीरामनिष्ठ अज्ञानविषयक संशय प्रस्तुत कराकर अध्यात्मरामायण का श्रीगणेश किया और इसमें प्रामाण्य बुद्धि उत्पन्न करने के लिए इसे उमामहेश्वरसंवाद का रूप देने के साथ ही ६१वें अध्याय की रचनाकर उसमें इस रामायण का माहात्म्य लिख डाला तथा साथ ही साथ 'मूर्खता के कारण लोग भक्ति से मोक्ष चाहते हैं, मूर्खों के लिए भक्ति की कल्पना की गयी है'–जैसे अप्रामाणिक कटु कथनोंके निराकरण हेतु तत्पश्चात् 'श्रीरामहृदय'का माहात्म्य लिखा। उक्त विषय आगे और स्पष्ट हो जायेगा। इस प्रकार अध्यात्मरामायण एवम् उसके अन्तर्गत आने वाले श्रीरामहृदय तथा श्रीरामगीता का माहात्म्य रचकर दो श्लोकों के पश्चात् इस अध्याय को पूर्ण करते हुए अध्यात्मरामायणकार इसकी पुष्पिका में 'इति श्रीब्रह्माण्डपुराणे उत्तरखण्डे एकषष्टितमोऽध्यायः' लिख करके इसे ब्रह्माण्ड का अवयव बनाकर इसको पुराणसङ्कलक भगवान् कृष्णद्वैपायन की कृति सिद्धकरना चाहे हैं जिससे इसकी प्रामाणिकता और लोकग्राह्यता बढ़ जाय जिसका मूल उद्देश्य है–अध्यात्मरामायण की महत्ता बतलाते हुए अनभिलक्षित रीति से योगवासिष्ठ की रचना के प्रमुख उद्देश्यों का निराकरण। इसका स्पष्टीकरण आगे होगा।

अध्यात्मरामायण के लेखक

पूर्व में कहा जा चुका है कि अध्यात्मरामायण का लेखक ही ६१वें अध्याय का सर्जक है। माहात्म्याध्याय की कथा सूतजी के मुख से कहलवाकर सिद्ध कवि ने व्यञ्जनया अपनो परम्परा का स्वल्प परिचय प्रस्तुत किया है। इसे सुस्पष्ट करने के पहले उक्त अध्याय का सारांश जानना आवश्यक है– किसी समय योगी नारद लोकों में घूमते हुए सत्यलोक पहुँचे वहाँ मारकण्डेयादि ऋषियों से स्तूयमान जगन्नाथ ब्रह्माको प्रणाम करके उन्हें प्रसन्न किया। ब्रह्मा ने वैष्णवोत्तम

मुनि से कहा–क्या पूछना चाहते हो । उनकी बात सुनकर नारद कलियुग की दुःखद स्थितियों का वर्णन करके लोगों के उद्धार का कोई लघु उपाय जानना चाहे। इस पर अम्बुजासन ने कहा कि पहले त्रिपुरहन्ता से पार्वती ने रामतत्त्व की जिज्ञासा की थी तब गिरिशने उनके लिए उसको गूढ व्याख्या की । जिसका नाम अध्यात्मरामायण है । इसके पश्चात् ८ श्लोकों में रामायण का माहात्म्य सुनाकर अम्बुजासन कहते हैं कि इस रामायण का माहात्म्य बहुत पहले मुझसे शिव ने कहा था। इस प्रकार अध्यात्म एवम् तदन्तर्गत श्रीराम हृदय का माहात्म्य सुनाकर अम्बुजासन कहते हैं कि 'श्रीरामगीता का माहात्म्य पूर्णतया तो शङ्कर ही जानतेहैं उसका आधा पार्वती उसका भी आधा मैं'। इतना कहकर द्वादश श्लोकों में श्रीरामगीता का माहात्म्य अम्बुजासन द्वारा सुनाया गया । अन्तिम श्लोक में सूत जी कहते हैं कि अध्यात्मरामायण का यह माहात्म्य कमलासन ने मुनीश्वर नारद को सुनाया । जो इसे श्रद्धा से पढ़ता है उसे विष्णु पद की प्राप्ति होती है ।

उक्त अध्याय से जो व्यंग्यार्थ झलकता है उसका आधार मैंने अध्यात्मरामायण के अन्तर्गत श्रीरामगीता को माना है; क्योंकि माहात्म्याध्याय का लेखक अध्यात्मरामायण का माहात्म्य लिखने पर भी तदन्तर्भूत श्रीरामगीता को अति महत्त्वपूर्ण समझकर विशेषतया उसका माहात्म्य लगभग द्वादश श्लोकों में लिखता है और वहीं अम्बुजासन द्वारा कहलवाता है 'श्रीरामगीतामाहात्म्य कृत्स्नं जानाति शङ्करः । तदर्धं गिरिजा वेत्ति तदर्धं वेदम्यहं मुने'' ।। श्रीरामगीता का माहात्म्य पूर्णतया तो शङ्करही जानते हैं उसका आधापार्वती और उसका आधा मैं । ध्यातव्य है कि इस रामगीता★ में आचार्यशङ्कर की उपदेश-साहस्री❀ के बाइस, आत्मबोध के नौ, सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह के छह

★श्रीरामगीता

क्रियाशरीरोद्भवहेतुरादृता
प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं

❀ उपदेशसाहस्री

कर्माणि देहयोगार्थं देहयोगे प्रियाप्रिये।
ध्रुवे स्यातां ततो रागो द्वेषश्चैव
ततः क्रिया ।।
धर्माधर्मौ ततोऽज्ञस्य देहयोगस्तथा
पुनः ।

(इनका संक्षिप्त निरूपण इन्हीं की शब्दावलियों में है) वाक्यवृत्ति का एक और पंचीकरण जिसपर सुरेश्वराचार्य ने वार्तिक लिखा है उसवार्तिक के द्वादश श्लोक ये सभी क्रमबद्ध जैसे के तैसे, मात्र छन्दों का परिवर्तन करके लिखे गये हैं कुछ और श्लोक भी उक्त ग्रन्थों की छाया में लिखों हुए दृष्टिपथ में आते हैं। इसके अतिरिक्त इस रामायण के बालकाण्ड*, अयोध्याकाण्ड१, सुन्दरकाण्ड२, युद्धकाण्ड*, उत्तरकाण्ड* आदि के कुछ

पुनः क्रियाश्चक्रवदीर्यते भवः ।।	एवं नित्यप्रवृत्तोऽयं संसारश्चक्रवद्-भृशम् ।।
अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधोविधीयते । विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ।।	अज्ञानं तस्य मूलं स्या- दिति तद्धानमिष्यते । विद्यैवाज्ञानहानाय न कर्माप्रतिकूलतः ।।

इसके पश्चात् १०वें श्लोक से लेकर २३वें श्लोक तक के सभी श्लोक उसीक्रम में है जिसक्रम में उपदेशसाहस्री के छठें श्लोक से लेकर चौबीस संख्या तक के श्लोक हैं। तत्पश्चात् २५-२६-२७ संख्या के श्लोक सर्ववेदान्तसिद्धान्तसंग्रह के ७४८, ७४६, ७३६, ७३७, ७४६ ७४७ संख्या के श्लोकों के सारांश हैं। पुनः श्रीरामगीता के २८ २६, ३०, ३१, ३६, ४५, ४६, ४७ नम्बर के श्लोक आत्मबोध के ११, १२, १३, १४, २२, ३५, ३७, ३८, ३६ (की प्रथम-२ पंक्ति) के श्लोक हैं। ततः श्रीरामगीता के ४८, ४६, ५०, ५१, ५२, ५३, ५४, ५५ संख्या के श्लोक पंचोकरणवार्तिक के ४८वें श्लोक की प्रथम पंक्ति तथा ४६ वां श्लोक पुनः ४७ एवम् ४८ की पहली पंक्ति उसके बाद ४६, ५०, ५२, ५३, ६०, ६२ की द्वितीय पंक्ति ५४, ५७-५८ की पंक्ति के श्लोक हैं। शेष इन्हीं की छाया में लिखे गये हैं।

१-पृष्ठ ३०३ में देखें २-पृष्ठ ३०२ में देखें

उपदेशसाहस्री	अध्यात्मरामायण
१६/३७	*बा०का०१/२०
१५/५०	*बा०का०१/२२
आ०बो०श्लोक०	
४७	*यु०का० १४/२७
६	कि०का० ३/२०

आत्म.श्लोक.संख्या.	अध्या०रा०
१-१४	१-*यु०का० २/४०
२-२६	२-१अयो.का. १/२६
३-५८	३-*उ०का० २/७२
४-६०	४-*उ०का० २/७३
५-६५	५-*उ०का० २/७३

स्थलों में तो छन्द परिवर्तन किये बिना ही मात्र एकाध शब्द बदल कर आचार्यशङ्कर की उपदेशसाहस्री, वाक्यवृत्ति, आत्मबोध के श्लोकों को लिखा गया है ।

उक्त विवेचन से सुस्पष्ट हो गया कि श्रीरामगीता आचार्यशङ्कर के पूर्वोक्त ग्रन्थों के आधार पर अध्यात्मरामायणकार ने लिखी है । अतएव अम्बुजासन के मुख से कहलवाते हैं कि श्रीरामगीता का माहात्म्य पूर्णतया शङ्कर ही जानते हैं यहाँ 'शङ्कर' का व्यंग्यार्थ आचार्य शङ्कर है जो पूर्वोक्तरीत्या प्रामाणिक है ।

उक्त अध्याय में अम्बुजासन एवम् कमलासन का व्यंग्यार्थ आचार्य पद्मपाद हैं; क्योंकि इन शब्दों में अम्बुज, कमल और पद्म शब्द पर्याय हैं रही, आसन एवं पाद शब्द की बात तो 'पद्मे पादयोर्यस्य' ऐसा विग्रह करने पर पद्म की प्रतीति पैर में होगी । ज्योतिषशास्त्र में पैर के तलवे में जो पद्माकार रेखा होती है उसका विशेष महत्त्व वर्णित है । ऐसा प्राणी जब चलता है तो वह पद्म आसन की भाँति शरीर के अधोभाग में ही रहता है वैसे भी आसन एवं पैर का विशेष सम्बन्ध है, इसलिए अम्बुजासन एवं कमलासन में आसन शब्द का व्यंग्यार्थ 'पाद' लेने में कोई परेशानी नहीं है । पद्मपाद के बचपन का नाम सनन्दन था इसका 'सन' यह अवयव भी उन दोनों शब्दोंमें है । माहात्म्य सुनाने के पूर्व एवम् पश्चात् अम्बुजासन और कमलासन ये दो ही शब्द ब्रह्माजी के लिए सूत द्वारा प्रयुक्त हुए हैं । फलत: इनका व्यंग्यार्थ आचार्य पद्मपाद ही हैं । आरम्भ में अम्बुजासन को जगन्नाथ कहकर कवि पद्मपाद का निवास जगन्नाथपुरी मे बतला रहा हैं; क्योंकि जगन्नाथ भगवान् की निवास स्थली जगन्नाथपुरी प्रसिद्ध है । इधर आचार्य शङ्कर द्वारा चारों दिशाओं में स्थापित चार मठों में अन्यतम जगन्नाथपुरी के गोवर्धन मठ के अधिपति भी आचार्य पद्मपाद ही बनाये गये थे ।

लोकों में घूमने वाले नारद का व्यंग्यार्थ कोई वैष्णव तीर्थयात्री (स्वयम् अध्यात्मरामायणकर्ता) है जो अन्य तीर्थों की यात्रा करके जगन्नाथपुरी पहुँचा और वहां आचार्य पद्मपाद से मिला । उस समय आचार्य के पास मारकण्डेय जैसे शमदमादि साधन चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु बैठे सत्संग कर रहे थे इसमें सत्यस्वस्वरूप ब्रह्म का प्रकाश अर्थात् निरूपण हो रहा था इसीलिए इस 'सत्संग' स्थल को सत्यलोक

कहा गया है। तीर्थयात्री ने आने पर आचार्य पद्मपाद से लोककल्याण का लघुसाधन पूछा यह उचित ही है; क्योंकि आचार्य जैसे महापुरुष जो धर्म की सुरक्षा के लिए पुरी के उस पीठ पर बिठाये गये थे उनको छोड़कर वह तीर्थयात्री उस पुरी में और किससे प्रश्न पूछता। कवि ने अम्बुजासन से जो कहलाया है–कि त्रिपुरहन्ता ने पार्वती की जिज्ञासा पर रामतत्त्व का गूढ व्याख्यान किया इसका व्यंग्यार्थ है कि आरम्भवाद संघातवाद और परिणामवाद जैसे तीन पुरों का विनाश करके विवर्तवाद के स्थापक आचार्य शङ्कर ने पार्वतीसदृश अनुवर्ती शिष्यों को गूढ आत्मतत्त्व का व्याख्यान सुनाया। यहाँ व्याख्यान का तात्पर्य शाङ्करभाष्य, उपदेशसाहस्री, आत्मबोध, अपरोक्षानुभूति, वाक्यवृत्ति प्रभृति ग्रन्थों से है जिनके श्लोक अध्यातमरामायणकार ने किसी न किसी रूप में ग्रहण किया है।

इन ग्रन्थों के अनुसार जो रामकथा है वही अध्यातमरामायण है। उपदेशसाहस्री में "ब्रह्मादाशरथेर्यद्वदुक्त्यैवापानुदत्तमः। तस्यविष्णुत्व सम्बोधं न यत्नान्तरमूचिवान्" के प्रसङ्ग में आचार्यङ्कर से पद्मपाद अवश्य संक्षिप्त रामकथा सुनने के बाद इस श्लोक का भाव समझे होंगे। इसी का संकेत शिव पार्वती की कथा के माध्यम से दे रहे हैं। श्रीराम गीता का माहात्म्य पूरा तो आचार्यशङ्कर ही जानते हैं और आधा पार्वती सदृश अनुवर्ती उनके शिष्य सुरेश्वराचार्यादि और मैं पद्मपाद तो उसका आधा ही जानता हूँ।

ध्यातव्य है कि श्रीरामगीता आचार्य शङ्कर के पूर्वोक्त ग्रन्थों के आधार पर लिखी गयी है। अपने ग्रन्थ का पूर्ण भाव तो ग्रन्थकर्ता सम्बोधे ही समझेगा। उससे कम व्याख्याकार, आचार्य के पंचीकरण के व्याख्याता सुरेश्वराचार्य हैं उनके वार्तिक के भी कुछ श्लोक क्रमिकतया श्रीरामगीता में हैं। इनको अपेक्षा पद्मपाद का साहित्य अल्प है मात्र पञ्चपादिका की ही प्रसिद्धि है। इसीलिए कहते हैं कि पूरा माहात्म्य आचार्य शङ्कर आधा सुरेशाचार्य जैसे अनुयायी और मैं पद्मपाद तो उसका आधा ही जानता हूँ। वस्तुस्थिति तो यह है कि अपने को आधे का आधा जानने वाला कहकर आचार्य पद्मपाद अपनी विलक्षण विनम्रता का परिचय दे रहे हैं, ज्ञान की न्यूनता का नहीं।

माहात्म्याध्याय के अन्त में यही ध्वनित होता है कि अध्यात्मरामायण का अध्यात्म सम्बन्धी उपदेश एवम उसका माहात्म्य आचार्य

पद्मपाद से रामायणकार को ज्ञात हुआ। माहात्म्य में अम्बुजासन के 'अध्यात्मरामायणमुदेष्यति' अध्यात्मरामायण का उदय होगा इत्यादि कथन से अभिव्यक्त होता है कि आचार्य पद्मपाद रामायणकार को इसकी रचना के लिए प्रेरित कर रहे हैं। इससे यह भी प्रस्फुटित हो रहा है कि आचार्य पद्मपाद के समय अर्थात् नवीं शती के पूर्वार्ध में 'योगवासिष्ठ' की रचना हो चुकी थी जिसकी प्रतिक्रिया के रूप में अध्यात्मरामायण की रचना करने का निर्देश आचार्य पदमपाद द्वारा रामायणरचयिता को दिया गया। ये तथ्य 'योगवासिष्ठ' के काल निर्धारण के समय सुस्पष्ट हो जायेंगे।

उक्त व्यंग्यार्थ से अध्यात्मरामायणकार के विषय में इतनी ही बातें समझ में आती है। सूत जी भागवत माहात्म्य आदि की कथा के वक्ता रूप में प्रसिद्ध हैं इसीलिए रामकथा के लेखक ने सूतके द्वारा माहात्म्य कथन की कल्पना करके अपनी बात सूत के रूप में ध्वनित की। ये परम्परा से वैष्णव थे ही इधर आचार्य पद्मपाद से अद्वैत का संस्कार भी लब्ध हुआ। अतः अध्यात्मरामायण में इन्होंने भक्ति एवम् अद्वैत का यथेष्ट निरूपण किया और 'योगवासिष्ठ' की अव्यक्त आलोचना भी कर दी। साथ ही माहात्म्याध्याय की पुष्पिका में जो कुछ लिखा उसका पूर्व में विवेचन हो चुका है। अतः उसके आधारपर नागेशादि टीकाकारों द्वारा इसका लेखक भगवान् व्यास को मानना निराधार है। इसका रचनाकाल सुनिश्चित करने के लिए 'योगवासिष्ठ' का प्रणयनकाल जानना आवश्यक है।

योगवासिष्ठ का रचनाकाल

१– योगवासिष्ठ की पुष्पिका–"इत्यार्षे श्रीवसिष्ठमहारामायणे वाल्मीकीये....." से प्रतीत होता है कि इसका प्रणयन महर्षि वाल्मीकि द्वारा हुआ है किन्तु उक्त प्रतीति मिथ्या है; क्योंकि इस ग्रन्थ में बौद्धों के शून्यवाद एवं विज्ञानवाद तथा तत्सम्मत मुक्ति का सुस्पष्ट उल्लेख है१।

१–यः पुमान् सांख्यदृष्टीनां ब्रह्मवेदान्तवादिनाम्।
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदामेकान्तनिर्मलम्॥
यः शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम्। } यो॰वा॰उ॰प्र॰ ५/६/७

विज्ञानवादिनो बुद्ध्या स्फुरत्स्वभ्रमपूरया।
मुक्तिः शमदमोपेता निर्णीय परिकल्पिता। } यो॰वा॰स्थि॰ प्र॰ २/२८

फलतः इसकी रचना इन सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा होने के बाद ही हुई। वाल्मीकिरामायण में भी बुद्धका उल्लेख हुआ है-"यथा हि चौरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि"-वा० रा० अयो० का० १०९/३४। इसलिए इसे भी बुद्धोत्तरवर्ती रचना मानना चाहिए-ऐसी शङ्का उचित नहीं; क्योंकि उक्त श्लोक ही प्रक्षिप्त है। इसलिए कि गौडीय एवम् पश्चिमोत्तरीय पाठ वाली रामायणों मे नहीं मिलता है। मात्र दाक्षिणात्य पाठ में उक्त श्लोक है। जो महात्मा बुद्ध के प्रति किसी दाक्षिणात्य की कलुषित भावना का प्रतीक है। ध्यातव्य है कि शून्यवाद आर्यमैत्रेय (चतुर्थशतक) आसङ्ग (पञ्चमशती) वसुबन्धु (सन् ४००-५००) दिङ्नाग (सन् ४८०-५२० ई०) एवम् धर्मकीर्ति (छठींशती) द्वारा तथा विज्ञानवाद नागार्जुन (तीसरीशती) आर्यदेव (सन् ३००) एवम् स्थविरबुद्धपाल (सन् ५००) जैसे विद्वानों से प्रतिष्ठित हुआ है।

२-योगवासिष्ठ में भर्तृहरि (सन् ७००) के वैराग्य शतक का एक पद्य किञ्चित् परिवर्तन के साथ आया है। इसलिए 'योगवासिष्ठ' सातवीं शती के पूर्व नहीं जा सकता। भर्तृहरि ने ही उस श्लोक को कुछ परिवर्तन करके 'योगवासिष्ठ' से लिया है-ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि योगवासिष्ठकार तैंतीस अध्यायों में लगभग ११०० श्लोक लिखकर 'वैराग्य प्रकरण' पूर्ण करते हैं पर इतने बड़े प्रकरण में इस शार्दूल बिक्रीडित छन्द वाले श्लोक को छोड़कर कोई दूसरा श्लोक इस छन्द में वहाँ नहीं आया है जबकि भर्तृहरि अपने वैराग्य शतक का आरम्भ और समापन भी शार्दूल विक्रीडित छन्द के श्लोक से ही करते हैं। जिनमें सौ श्लोकों में पैंतालीस श्लोक तो शार्दूल-

---

भोगामेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी चञ्चला,
आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलीनाम्बुवद्भङ्गुरम्।
लोलायौवनलालसातनुभृतामित्याकलय्यद्रुतम्,
योगे धैर्यसमाधिसिद्धिसुलभे बुद्धिं विदध्वं बुधाः॥ —वै० श० ३५

०-आयुर्वायुविघट्टिताभ्रपटलीलम्बाम्बुवद्भङ्गुरं
भोगामेघवितानमध्यविलसत्सौदामिनी चञ्चला
लोलायौवनलालनाजलरयश्चेत्याकलय्यद्रुतं —यो० वा० वै० प्र०
मुद्रैवाद्य दृढार्पितानतु मयाचित्तं चिरं शान्तये॥ — २९/२३

विक्रीडित छन्द में ही हैं और ऐसा भी नहीं है कि पूर्वोक्त श्रीरामगीता की भाँति ये मात्र छन्द परिवर्तन करके लिखे गये हों। अत: योगवासिष्ठकार ने ही उक्त पद्य को वैराग्यशतक से ग्रहण किया है। फलत: यह ग्रन्थ 'वैराग्यशतक' (सन् ७००) के बाद बना है इसलिए यह आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की रचना नहीं है।

इसमें 'कलविङ्कघटन्यायो धर्म इत्यपि तद्विदाम्। तथात्मसिद्धेर्म्लेच्छानां तद्देशेषु न दुष्यति'—यो० वा०नि० प्र०उ० ६७/१० द्वारा कहा गया है कि "जैसे घट में अवरुद्धपक्षी उसका मुख खुल जाने पर उड़कर बाहर आ जाता है वैसे ही मध्यमपरिणामरूप धर्म वाला जीव कर्मक्षय होने पर परलोक चला जाता है जैनियों की यह कल्पना सत्य है इसी प्रकार म्लेच्छों के मत में भी जहाँ देह को खोदकर डाल देते हैं जीव वहाँ निवास करता है और एक समय ऐसा आता है कि यह ईश्वर की इच्छानुसार अनन्तकाल तक स्वर्ग या नरक में जाकर निवास करता है—यह कल्पना भी सत्य है"। म्लेच्छ शब्द हमारे शास्त्रों में मुसलमानों[1] के लिए प्रयुक्त हुआ है। इधर नैयायिकप्रवर जयन्तभट्ट के पुत्र अभिनन्द (दशवीं शता) ने 'योगवासिष्ठ' को योगवासिष्ठसार के रूप में संक्षिप्त किया है* इसलिए 'म्लेच्छ' शब्द से हम इसायी आदि का ग्रहण नहीं करेंगे; क्योंकि इनसे कालनिर्धारण में सहायता नहीं मिल सकती।

ध्यातव्य है कि कुरान शरीफ के अनुसार मृत्यु के बाद जब शरीर कब्र में रख दिया जाता है तब भी वहाँ जीव रहता है। कब्र के अन्दर जो जीवन है उसे 'बरजख' कहते हैं। सम्पूर्ण देह गल जानेपर भी एक अस्थि बची रहती है जिसे 'अलअज्ब' कहते हैं। कयामत के (प्रलय)के समय इसी अस्थि से एक शरीर उत्पन्न होता हैं जिसे लेकर सभी जीव अल्लाह के समक्ष उपस्थित होंगे यहाँ उनके पाप पुण्य का

१—म्लेच्छास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानन्दप्रभावत:। संयोगिनश्च ते ज्ञेया रामानन्दमतेस्थिता:॥ } भ०म०प्र०प० २१/५४

म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैकनिलयेषु च। सत्पीडा व्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम॥ } वल्लभाचार्य,कृष्णाश्रय षोडशग्रन्थ छन्द

*—हिस्ट्री आफ सस्कृत लिटरेचर डा०एस०के०डे० तथा डा०एस्०एन्० दास गुप्त। संस्कृत सुकविसमीक्षा, संस्कृत साहित्य का इतिहास—आ०बलदेव उपाध्याय। संस्कृतसाहित्य का इतिहास—पी०वरदाचार्य

लेखा जोखा 'जिब्रील' करेंगे परिणाम में जिसका पुण्य अधिक होगा वह अनन्तकाल तक स्वर्ग में भेजा जायेगा और अधिक पाप वाला नरक में★। मुहम्मद साहब (सन् ५७०-६२२ई०) के उक्त सिद्धान्त को मानने वाले मुसलमानों का भारतभूमि पर आगमन सन् ७१०-११ में सिन्ध पर मुहम्मद इब्न कासिम के आक्रमण से हुआ❀। अतः इस्लाम सिद्धान्त का सङ्केतक 'योगवासिष्ठ' आठवीं शती के पूर्व नहीं जा सकता।

४- आचार्य शङ्कर के पूर्ववर्ती भर्तृप्रपञ्च, ब्रह्मदत्त प्रभृति वेदान्ती परिणामवाद एवम् ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के पोषक थे। आचार्य ने इनके मतोंका खण्डनकर वेदान्तमें विवर्तवाद की स्थापना की। श्रीमद् भगवद्गीता के शाङ्करभाष्य में अनेक स्थलों पर ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद का निराकरण करते हुए अन्त में जिस प्रकार का पूर्वपक्ष उक्त वाद के खण्डन हेतु उठाया गया है ठीक इसी प्रकार का पूर्वपक्ष ज्ञान कर्मसमुच्चयवाद के मण्डन हेतु योगवासिष्टकार ने उठाया है-

शाङ्करभाष्य	योगवासिष्ठ
अस्मिन् हि गीताशास्त्रे परं निःश्रेयससाधनं निश्चितं किं ज्ञानं किं कर्म वा × × तस्मान्न कर्मणोऽस्ति निःश्रेयस साधनत्वं न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोः, नापिज्ञानस्य कैवल्यफलस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा। भ०गी०शा०भा० १८/६६	मोक्षस्य कारणं कर्म ज्ञानं वा मोक्षसाधनम्। उभयं वा विनिश्चित्य एकं कथय कारणम्॥ × × उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः। तथैव ज्ञानकर्मभ्यां जायते परमं पदम्॥ केवलात्कर्मणो ज्ञानान् नहि मोक्षोऽभिजायते। किन्तूभाभ्यां भवेन्मोक्षः साधनं तूभयंविदुः। —यो०वा०वै०प्र०१/६,७,८

उक्त विवेचन से सुस्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर के अनुसार मोक्ष का

★-संस्कृत साहित्य के चार अध्याय।

❀-हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य दुर्गाशङ्कर मिश्र

साधन न तो कर्म है और न ज्ञानकर्म का समुच्चय ही। उनके अनुसार मोक्ष फल के लिए ज्ञान को किसी कर्म की सहायता नहीं चाहिए। जबकि योगवासिष्ठकार कहते हैं कि जैसे पक्षी एक पंख से नहीं उड़ सकता वैसे ही ज्ञान या कर्म किसी एक से मोक्ष नहीं मिल सकता। जैसे दोनों पंखों की सहायता से पक्षी उड़ता है वैसे ही ज्ञान और कर्म इन दोनों की सहायता से ही मोक्ष मिलना है।

भक्ति के विषय में भी इन दोनों के विचार भिन्न हैं—

भगवद्भक्तेरवश्यम्भाविमोक्षफल-मित्यवधार्य भगवच्छरणैक परायणो भवेत्। —भ०गी०शा०भा०१८/६५	मौर्ख्याद्दीनतया राम भक्त्या मोक्षोऽभिवाञ्छ्यते। —यो०वा० उ०प्र० ७३/३७
भगवद्भक्ति से मोक्षफल अवश्य प्राप्त होता है ऐसा निश्चय करके भगवान् की शरण ग्रहण कर ले।	हे राम! लोग दीन होकर मूर्खता के कारण भक्ति से मोक्ष चाहते हैं।

उक्त स्थल में ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के निराकरण और उस वाद के समर्थन के विषय में जैसी पंक्तियाँ दोनों लेखकों की हैं। इससे सुस्पष्ट प्रतीत होता है कि योगवासिष्ठकार आचार्य शङ्कर के विपरीत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को आर्षवाणी का जामा पहनाकर सुप्रतिष्ठित करना चाहते हैं इसीलिए इनके मनोभाव को ताड़कर अध्यात्मरामायणकार ने शङ्कराचार्य की 'उपदेशसाहस्री' के २४ श्लोकों का मात्र छन्द परिवर्तन करके उसे आर्षवाणी का जामा पहनाकर ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के निराकरण को पुष्ट कर दिया। इससे इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि 'योगवासिष्ठ' ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद के निराकरण की प्रतिक्रिया के रूप में लिखा गया और अध्यात्मरामायण इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप। फलतः योगवासिष्ठ आठवीं शती के पूर्व नहीं जा सकता।

५—इतना ही नहीं, योगवासिष्ठकार ने प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त कहने वालों का सङ्केत जिस शब्दावलो में किया है उसी शब्दावलो में वाचस्पति मिश्र प्रपञ्च को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। इसलिए सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ भामती टीका लिखी जाने के बाद बना है। दोनों ग्रन्थों की पंक्तियाँ आमने सामने रखकर इस बात की सत्यता आँकी जा सकती है—

भामती	योगवासिष्ठ
विवर्तस्तुप्रपञ्चोऽयं	विवर्तो ब्रह्मणोदृश्य

ब्रह्मणोऽपरिणामिनः ।
अनादिवासनोद्भूतो
न सारूप्यमपेक्षते ।।
-ब्र.सू.१/२/२१के शा.भा. की टीका

मित्येवं वादिनोऽपि सत् ।
मतमेवं स्वरूपाणा
मर्थानामनुभूतितः ।।
—यो.वा.नि.प्र.उ. ९७/५

६—योगवासिष्ठकार ने लिखा है कि 'कोई शून्य कोई विज्ञान तथा कोई ईश्वरस्वरूप का निर्णय करके परस्पर विवाद (शास्त्रार्थ) करते हैं इस लिए हे राम ? तुम सब कुछ छोड़कर महामौनी हो जाओ—

निर्णीय केचिच्छून्यत्वं केचिद्विज्ञानमात्रताम् ।
केचिदीश्वररूपत्वं विवदन्ते परस्परम् ।।
सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवानघ ।
} यो०वा०नि०प्र० पू० १२५/३–४

यह शून्यवाद, विज्ञानवाद त्रेतायुग का तो है नहीं । इसमें शून्य, विज्ञान एवम् ईश्वरस्वरूप के निर्णायकों के परस्पर शास्त्रार्थ का सुस्पष्ट सङ्केत है । इधर बौद्धदर्शन के विद्वान् कल्याणरक्षित (सन् ७७२ ई०) ने 'ईश्वरभङ्गकारिका' की रचना करके ईश्वरतत्त्व की तीखी आलोचना कर दी थी । जिसका मुहतोड़ उत्तर वाचस्पति मिश्र के गुरु आचार्य त्रिलोचन ने 'ईश्वरसिद्धि' की रचना के रूप में दिया*।

ये अपने समय के महान् नैयायिक थे और न्यायसूत्र के भाष्य पर एक टीका तथा 'न्यायप्रकीर्ण' जैसे ग्रन्थ की रचना किये । इस लिये 'केचिदीश्वररूपत्वम्' में केचित् पद से योगवासिष्ठकार ने इन्हीं का सङ्केत किया है; क्योंकि योगदर्शन में ईश्वर स्वीकृत होने पर भी योगसूत्र एवम् व्यास भाष्य की टीकाओं को छोड़कर उसके किसी भी विद्वान् ने ईश्वरस्वरूप पर स्वतन्त्र विचार नहीं किया और यहाँ 'विवदन्ते' कहकर जिस शास्त्रार्थ का सङ्केत है वह नैयायिकों एवम् बौद्धों के बीच का है, जो जाकर दशवीं शती के उत्तरार्ध में

---

*बौद्धविद्वान् रत्नकीर्ति के ग्रन्थ में 'त्रिलोचनस्तु न्यायप्रकीर्णके प्राह' –(र०नि०पृ० १३) से इनके न्यायप्रकीर्ण 'पुनर्द्व्यणुकेश्वरसिद्धौत्रिलोचनस्त्वाह' (र०नि०पृ०३६) से द्व्यणुकसिद्धि एवम् ईश्वरसिद्धि तथा दुर्वेक मिश्र के 'त्रिलोचनः पुनर्न्यायभाष्यटीकायामिदमवादीत् साध्यवचनमसाधनांगवचनं न भवति…… …' (ध०प्र०पृ० १७३–१७४) से न्यायभाष्य की टीका का विशेष परिचय मिलता है। आधार—न्यायभूषण पृ० १० सं० स्वामी योगीन्द्रानन्द, उदासीन सं०नि० वाराणसी सन्१९६८ ई०

विद्यमान उदयनाचार्य की 'न्यायकुसुमाञ्जलि' के रूप में समाप्त हुआ। चूँकि सन् ८८० ई० में प्रणीत कम्बरामायण में योगवासिष्ठ (महारामायण) एवम् अध्यात्मरामायण का सङ्केत है (देखें– पृष्ठ ३०४) और अध्यात्मरामायण 'योगवासिष्ठ' की प्रतिक्रियास्वरूप में लिखा गया है जिसकी छाप कम्बरामायण पर है (देखें– पृष्ठ ३०५–३०६) अतः हमने केचित् पद से उदनाचार्य को न लेकर आचार्य त्रिलोचन को लिया है। इधर "तुम उस उच्चपद (ब्रह्मपद) को प्राप्त करोगे जिसे शङ्करादि ने प्राप्त किया है -सम्प्राप्स्यसे पदं प्रोच्चैर्यत्प्राप्तं शङ्करादिभिः"–यो०वा०स्थि०प्र० २९/५–योगवासिष्टकार के इस कथन से व्यञ्जनया यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ आचार्य शङ्कर के महाप्रयाण सन् ८२० ई० के बाद ही बना है जब 'भामती' एवम् ईश्वर सिद्धि' जैसे ग्रन्थों का प्रणयन क्रमशः आचार्य त्रिलोचन और वाचस्पति मिश्र द्वारा हो चुका था।

७–नैयायिकप्रवर जयन्तभट्ट द्वारा प्रणीत 'आगमाडम्बर' नाटक से सुस्पष्ट है कि जयन्तभट्ट सन् ८८५ ई० से ९०२ ई० तक काश्मीर पर शासन करने वाले शङ्करवर्मा के अमात्य थे। जयन्तपुत्र 'अभिनन्द' ने (दशवीं शतीका पूर्वार्ध) 'योगवासिष्ठसार' की रचनाकर 'योगवासिष्ठ' को संक्षिप्त किया है। इससे भी सिद्ध होता है कि योगवासिष्ठ नवीं शती के पूर्वार्ध सन् ८२० के बाद बना है। वाचस्पति मिश्र ने न्याय सूचीनिबन्ध' (सन् ८४१ई०) के पूर्व 'भामती' का प्रणयन कर लिया था 'इसलिए सन् ८२० के बाद और सन् ८४१ के पूर्व किसी समय 'योगवासिष्ठ' की रचना हुई है और उसके बाद ही उसकी प्रतिक्रिया रूप में 'अध्यात्मरामायण' का प्रणयन हुआ; क्योंकि अध्यात्मरामायण कार श्रीराम में अज्ञान का आरोप करने वाले योगवासिष्टकार की निन्दा 'एतन्न जानन्ति विमूढचित्ताः' 'संसारमेवानुसरन्ति ते वै' इस वर्तमानकालबोधक क्रियापद से करते हैं। इससे अध्यात्मरामायणकार के समय योगवासिष्ठकार के जीवित रहने की सम्भावना को बल मिलता है। इधर माहात्म्याध्याय से यह ध्वनित होता है कि अध्यात्मरामायणकार जगन्नाथपुरी में आचार्य पद्मपाद (नवीं शतीके पूर्वार्ध) से मिले थे। वाचस्पतिमिश्र का काल नवीं शतीका पूर्वार्ध सुनिश्चित ही है। बहुत सम्भव है कि आचार्य शङ्कर के पूर्वोक्त तथ्यों से असन्तुष्ट होकर 'योगवासिष्ठकार' ने पद्मपाद के समय तक 'योगवासिष्ठ'

की रचना कर ली और शाङ्करमत के विरुद्ध उन मान्यताओं के निराकरण एवम् स्वमत के प्रचार–प्रसार के लिए आचार्य पद्मपाद ने अध्यात्मरामायणकार को अध्यात्मरामायण के सृजन की प्रेरणा दे दी।

इसलिए योगवासिष्ठ के प्रणेता महर्षि वाल्मीकि नहीं है और न ही अध्यात्मरामायण के रचयिता भगवान् व्यास। ये दोनों रचनायें क्यों की गयीं ? इसका निरूपण किया जा चुका है। पूर्व में जो अध्यात्मरामायण की प्राचीनता सिद्ध की गयी थी वह टीकाकारों की मानसिकता के अनुसार। जिस इकसठवें अध्याय की पुष्पिका 'इति श्री ब्रह्माण्डपुराणे............' के आधार पर टीकाकारों ने आँख मूदकर इसे ब्रह्माण्डपुराण का अवयव मानकर इसका प्रणेता भगवान् व्यास को माना है वैसी पुष्पिका 'अध्यात्मरामायण' की बहुत सी प्राचीन पाण्डु-लिपियों में नहीं है। इसे हिन्दू विश्वविद्यालय की सेन्ट्रल लाइब्रेरी एवम् सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के 'सरस्वती भवन' में जाकर देखा जा सकता है।

उपसंहार–

भगवान् वेदव्यास कृष्णद्वैपायनप्रणीत भविष्यमहापुराण, स्कन्दमहापुराण, महाभारत तथा अर्वाचीन ग्रन्थ अध्यात्मरामायण, आनन्दरामायण, तत्त्वसङ्ग्रहरामायण, कृत्तिवासविरचित रामायण एवम् कविचक्रचूडामणि गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज के ग्रन्थरत्नों से रामायणकार महर्षि वाल्मीकि का आरम्भिक जीवन चोरी, लूटमार और हिंसामय सिद्ध होता है। सप्तर्षियों द्वारा 'मरा' इस भगवन्नाम के जप की अनुज्ञा से महर्षि सहस्रयुग के उत्तरार्द्ध तक अविराम 'मरा' नाम का जप करते हुए निश्चल समाधि में निमग्न रहे। इनके ऊपर वल्मीक (दीमकों द्वारा की गई मिट्टी का ढेर) लग गया पुनः सप्तर्षियों के आदेशानु-सार ये वल्मीक से निकले। सप्तर्षियों ने अपनी अमोघवाणी से इसे इनका द्वितीय जन्म प्रमाणित किया। उन्होंने वल्मीक से निकलने के कारण इनका नामकरण किया–'वाल्मीकि' और इन्हें मुनीश्वर की उपाधि दी। भगवान् ब्रह्मा ने भी सप्तर्षियों के कथन की पुष्टि की।

इस द्वितीय जन्म में महर्षि वाल्मीकि न तो झूठ ही बोले और न ही मन, वचन और शरीर से कोई पाप ही किये। इसीलिए वाल्मीकीयरामायण के उत्तरकाण्ड से भी कोई विरोध नहीं।

तिलक आदि व्याख्यायें भी इस द्वितीयजन्म की प्रामाणिकता के कारण अविरोधेन लग जाती हैं ।

पूज्यपाद गोस्वामीजी ने "रामविहाय मरा जपिकै बिगरी सुधरी कविकोकिल हू की"–कवितावली ७/८८ ।। "जहाँ वाल्मीकि भये व्याधि ते मुनिंद साधु "मरा मरा" जपे सिख सुनि रिषि सात की"–कवितावली उत्तरकाण्ड १३८ से १४० "उलटा नाम जप ते कोल ते भये ऋषिराव"–बरवै रामायण ५४, "महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो"–विनयपत्रिका १५१, "जानि आदि कवि नाम प्रतापू । भयउ शुद्ध करि उलटा जापू ।।"–रा.मा.बा.का.१९/५ "उलटा नाम जपत जग जाना । वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना"– रा० मा० अयो० का० १९/७, इन वचनों में इन्हीं रामायणकार महर्षि वाल्मीकि का स्मरण किया है।

भगवन्नाम का ही यह अमोघ प्रभाव है कि जिसके बल से ऋषियों तक को मृत्यु के घाट उतारने वाले एक दुर्दान्त दस्युने वाह्य जगत्को भूलकर करोड़ोंवर्ष पर्यन्त समाधिस्थ रहकर ऋषित्व को प्राप्त किया। वह भगवन्नाम के अविराम जप से शरीराम्भक परमाणु ही नहीं, अपितु नाम को भी परिवर्तित करने में सफल रहा । विश्वामित्र जी का तप से नाम परिवर्तन नहीं हुआ था । यह विशेषता तो महर्षि वाल्मीकि में ही भगवन्नाम के प्रभाव से आयी थी । इन्होंने ही अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के बल से श्रीराम के पावन चरित्रों का साक्षात्कार करके "वाल्मीकीय रामायण" नामक महाकाव्य में उसे लेखनीतूलिका से चित्रित किया । जिससे असंख्य जीवोंका उद्धार हुआ । इन्हीं महर्षि के प्रति श्रद्धातिरेक के कारण भगवान् कृष्णद्वैपायन ने स्कन्दपुराण आदि अनेक स्थलों में इनका जीवन-वृत्त लिखा ।

रागद्वेषप्राण कुछ पण्डितमानी महर्षि के जीवन की घटनाओं का बर्णन करने वाले अध्यात्मरामायण, स्कन्दपुराण और रामचरितमानस आदि पर आक्षेप किये और अपनी कलुषित लेखनी से अनेक भ्रान्तियाँ समाज में फैलाना चाहे, जिसका निराकरण इसके पूर्व में किया जा चुका है । उनके साक्ष्यों की पोलपट्टी खोलकर रख दी गयी ।

वाल्मीकीयरामायण के टीकाकार प्रायः रूढिवादी होने के साथ साथ रागद्वेषग्रस्त भी हैं । अतः इन लोगों के लेखों के आधार पर प्रमाण सिद्ध वस्तु की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। इन टीकाकारों ने भी सम्भावना ही व्यक्त की है । यदि इन्हें महर्षि के विषय

में कुछ निश्चय होता तो उसे डंके की चोट पर कहते ।

ऋग्वेदीय दशम मण्डल के निन्यानवे सूक्त के द्रष्टा ऋषिवम्र हैं, जो विखना (ब्रह्माजी) के पुत्र हैं । वे महर्षि वाल्मीकि से सर्वथा भिन्न हैं । आज भी सुरेश, देवेन्द्र, इन्द्रदेव आदि नाम वाले अनेक व्यक्ति मिलते हैं । तो क्या इन नामों की समानार्थकता के कारण सभी को एक ही मान लिया जाय ? उत्तर मिलेगा– 'नहीं'; क्योंकि सभी के माता पिता भिन्न भिन्न होने के कारण इन्हें एक नहीं माना जा सकता पं०जी स्वयं महर्षि वाल्मीकि को च्यवन का पुत्र माने हैं । वाल्मीकि और वम्र को समानार्थक मानकर दोनों को अभिन्न समझना पं० जी भूल है; क्योंकि वम्र के पिता विखना हैं च्यवन या कोई अन्य नहीं ।

अतः ऋषि वम्र द्वारा दृष्ट सूक्तों के आधार पर महर्षि वाल्मीकि के विषय में पं०जी ने जो कुछ कहा है वह भ्रान्तिमूलक तथा दुस्साहस मात्र है । अध्यात्मरामायण और स्कन्दपुराण आदि के आधार पर महर्षि वाल्मीकि करोड़ोंवर्ष की तपश्चर्या के पूर्व जन्मतः ब्राह्मण होते हुए भी एक दुर्दान्त दस्यु थे । लूटमार ही उनकी जीविका थी । सप्तर्षियों के उपदेश से वे भगवन्नाम (मरानाम) के जप के बल पर द्वितीय जन्म प्राप्त किये और 'वाल्मीकि' उनका नाम पड़ा । इसके उपरान्त उन्होंने कोई भी दुष्कर्म नहीं किया और रामायण लिखा । इस प्रकार अध्यात्मरामायण, स्कन्दपुराण आदि की कथाएं कोई विरोध न होनेके कारण पूर्ण समञ्जस हो जाती हैं ।

भ्रान्तिगिरिभङ्गमाल्यं मे मेशोमेशमानसनिवासिन् ।
राम ! तव भूषणं भूयान्नभसो भासकं भगवन् ।।

सीतानाथ ! सियाराम,
दास श्रीवैष्णवं बुधम् ।

चन्द्रचूडसमाराध्य,
भक्तिं देहि मम प्रभो ।।

वामदेवाश्रमस्थेन,
ग्रन्थोऽयं ग्रथितो मया ।

श्रीमणिरामछावन्यां,
प्रीयतां तेन राघवः ।।

रामेश्वरं हनूमन्तं,
जानकीं जगदम्बिकाम् ।
सौमित्रिं भरतं रामं,
नामं नामं प्रपूर्यते ॥

इत्ययोध्यानगरीस्थ श्रीमणिरामछावनी पीठाधीश्वर
श्रीमन्नृत्यगोपालदासजीमहाराजेभ्यो
लब्धदीक्षेण
आचार्यसियारामदासनैयायिकेन
कृते
'भ्रान्तिगिरिभङ्गे' तात्पर्यविमर्शभङ्गः पूर्णः ॥



शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
४	ऊपर से ५	प्रच्यक्ष	प्रत्यक्ष
५	ऊपर से १६	विरुद्ब	विरुद्ध
८	नीचे से ४	पौवपियाणि	पौर्वापर्य्याणि
११	ऊपर से ५	हैं	है
१३	नीचे से ४	कश्यामनिश	काश्यामनिशं
१६	नीचे से ४	वृत	वृत्त
२१	ऊपर से १	किवन्दती	किंवदन्ती
२३	नीचे से २	शैलूषी	शैलुषी
२४	ऊपर से ५	का	को
२४	ऊपर से १५	सुत	सुतं
२५	नीचे से ३	दी	दो
२६	ऊपर से १५	परावतित	परावर्तित
२७	ऊपर से ८	वश्यंच	वश्यश्च
२७	ऊपर से ९	मनागक्षने	मनागीक्षते
३१	नीचे से ८	नम	नम्
३२	ऊपर से ६	नमा	नमो
३२	ऊपर से ११	स्राब्द	स्राब्दं
३२	नीचे से ३	मग	मरा
३५	ऊपर से ८	पङ्क्तियों	पंक्तियों
३८	नीचे से १४	अक्षा	अक्षम
५५	नीचे से ६	महत्व	महत्त्व
५६	ऊपर से ५,८,९,१३,१७	असत्वार्थोपस्थापक	असत्त्वार्थोपस्थापक
५६	ऊपर से १५	सत्वार्थोपस्थापक	सत्त्वार्थोपस्थापक
६४	नीचे से १२	भूवपूर्व	भूतपूर्वं
६४	नीचे से १२	किल्विषं	किल्विषं
६५		किल्विषं	किल्विषं
६६		किल्विषं	किल्विष
६८	नीचे से १	किल्विष	किल्बिष
६९	ऊपर से १३	प्रामणिक	प्रामाणिक

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
६९	नीचे से ११	किल्विष	किल्विष
६९	नीचे से १२	किल्विषों	किल्बिषों
६९	नीचे से १०, ११	किल्विषं	किल्विषं
७०	नीचे से ५	किल्विष	किल्बिष
७१	ऊपर से ८	किल्विषों	किल्बिषों
७२	ऊपर से १५	किल्विपम्	किल्विषम्
८१	ऊपर से ३	सत्वे	सत्त्वे
८८	नीचे से ८	महर्षिं	महर्षि
९०	नीचे से ५	प्रति	प्रीति
१०१	नीचे से १४	गौत	गौतम
१०२	नीचे से ९	निवत्ति	निवृत्ति
१०६	नीचे से १५	दृष्टिगोचर	को दृष्टिगोचर
१०७	नीचे से ७	वाद	बाद
१०८	नीचे से १५	बलोयान्	बलीयान्
१२४	ऊपर से २	पौर्वाविर्य्य	पौर्वापर्य्य
१२५	ऊपर से १६	सक्षिप्त	संक्षिप्त
१२७	ऊपर से ३	बाहन	वाहन
१२७	नीचे से ११	इतिहःस	इतिहास
१२७	नीचे से ६	पुगण	पुराण
१२९	ऊपर से १०	सम्वन्धी	सम्बन्धी
१३१	नीचे से १२	हसान्	हासान्
१३८	नीचे से ४	व्यवस्था	व्यवस्था
१४०	ऊपर से १४	हो	ही
१४७	नीचे से २	क्यिा	किया
१५४	नीचे से ६	हीती	होती
१५५	ऊपर से ३	वन	बन
१५६	ऊपर से १३	यह	×
१५८	ऊपर से १	जातिविमशभङ्ग	जातिविमर्शभङ्ग
१६४	ऊपर से १६	सर्वभोगेष्क्संसक्तो	सर्वभोगेष्वसंसक्तो
१६४	नीचे से १	व्राह्मणत्व	ब्राह्मणत्व
१७३	ऊपर से १०	नित्व	रिनत्व

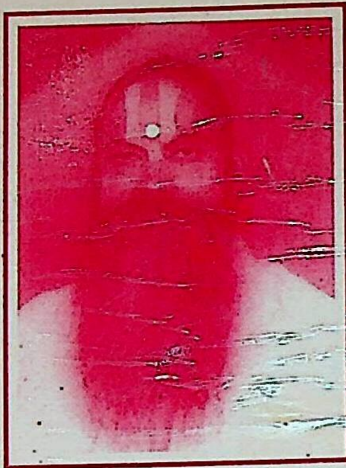
पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
१७५	नीचे से १	तत्वदीपिका	तत्त्वदीपिका
१८८	नीचे से १६	महापुण्यदर्शन	महापुण्यददर्शन
१९१	नीचे से १०	वृत्या	वृत्त्या
१९७	नीचे से ३	जातियाँ	जातियाँ आकृतिव्यङ्ग्या नहीं हैं।
१९९	ऊपर से १०	शत्रकर्तृक	शक्रकर्तृक
१९९	ऊपर से १६	वल्प्त	क्लृप्तः
१९९	नीचे से ७	आहिताग्नित्व	आहिताग्नित्व
२११	नीचे से ३	जुहुयात	जुहुयात्
२१५	ऊपर से १०	जो	जीका
२१७	नीचे से १३, १४	शवरजतीया	शवरजातीया
२१९	नीचे से १३	तस्मान्न	तस्मान्न तत्
२२०	नीचे से १०	कापायवस्त्र	कापायवस्त्र क्या, कोई वस्त्र ही
२२०	नीचे से ११	रक्तवस्त्र	×
२२०	नीचे से १६	प्रवाधित	प्रवाधित
२२१	ऊपर से ७	सन्न्यास	सन्न्यासी
२२७.	नीचे से १	ज्तस्नयोटीका	ज्योत्स्ना टीका
२२९	नीचे से ५	नित्यमवहिष्कृताम्	नित्यमबहिष्कृताम्
२३३	ऊपर से १	जातिविमर्शभङ्ग	वशविमर्शभङ्ग
२३३	नीचे से ७	है	हैं
२३३	नीचे से ७	जो कि भ्रान्तिमूलक है	×
२३३	नीचे से १	बस्तु	वस्तु
२३४	ऊपर से १	जातिविमर्शभङ्ग	वंशविमर्शभङ्ग
२३५	ऊपर से २	मरूत	मरुत
२४०	ऊपर से ४	याज्ञलवय	याज्ञवल्क्य
२४१	नीचे से ६	अभवतों	अभक्तों
२४२	नीचे से १	सकङ्कर्षण	सङ्कर्षण
२४४	ऊपर से १७	तजस	तेजस
२४६	नीचे से १	बेति	वेति
२५०	नीचे से १०	प्र;ण	प्राण

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२५०	नीचे से ४	सरावर्ज्यं	सुरावर्ज्य
२५२	ऊपर से ३	भाग्य	भाष्य
२५२	ऊपर से ४	औंर	ओर
२५२	नीचे से ३	इत्ययोध्यांनगरीरस्थ	इत्ययोध्यानगरीस्थ
२५५	ऊपर से ७	निवृत्ति	निवृत्त
२५६	नीचे से ३	वृतान्त	वृत्तान्त
२५७	ऊपर से १८	ने	×
२५७	नीचे से १	जायेगी	की जायेगी
२५८	नीचे से ११	सयता	संयता
२५९	ऊपर से ६	नही	नहीं
२५९	ऊपर से ७	रोद्रवृत्तिता	रौद्रवृत्तिता
२५९	नीचे से १५	सुनिष्ठुरम्"	सुनिष्ठुरम् से अति-निष्ठुर अर्थात् रौद्रवृत्तिमान् एवं
२६१	नीचे से ३	पूव	पूर्वं
२६५	नीचे से ११	स्वर्गदि	स्वर्गादि
२६८	नीचे से ९	नही	नहीं
२७३	ऊपर से १५	महर्षि	महर्षि
२७८	ऊपर से ४	विषयीभूत	विषयीभूत
२७८	नीचे से ५	ध्वंसाप्रगभावौ	ध्वंसप्रागभावौ
२७९	नीचे से १	पदार्थो	पदार्थौ
२८५	ऊपर से १	तात्पर्यवमर्शभङ्ग	तात्पर्यविमर्शभङ्ग
२८७	नीचे से १२	दुष्टं पूर्वं	दृष्टं पूर्वं
२८८	नीचे से १३	पृष्ठ	पृष्ठ ३०५
२८८	नीचे से ४	ब्राह्मणदा	ब्राह्मणादा
२८९	ऊपर से १५	जी	जी का
२९०	ऊपर से ८	किल्बिषम्	किल्बिषम्
२९०	ऊपर से १०	किपे	किये
२९०	नीचे से ७	जपोदेश	जपोपदेश
२९२	ऊपर से २	योगवशिष्ठ	योगवाशिष्ठ
२९५	ऊपर से ६	इनको	इनकी
२९५	ऊपर से ९	शिखा	शिला

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
२९६	नीचे से ८	की	को
२९८	नीचे से ४	उत्पति	उत्पत्ति
३००	नीचे से ९	को	की
३००	नीचे से ७	बिशिष्टाद्वेती	विशिष्टाद्वैती
३००	नीचे से ४	पृथक	पृथक्
३०१	ऊपर से ३	शङ्कराचार्यं	शङ्कराचार्य
३०१	ऊपर से १५	भवद्गीता	भगवद्गीता
३०१	नीचे से ३	बृह्नारदीय	बृहन्नारदीय
३०३	ऊपर से १३,१६,१७	ह्यहं	ह्यहं
३०३	नीचे से १	बल	बल
३०५	नीचे से ९	दुर्वृत्ते	दुर्वृत्तो
३०५	नीचे से ५	काकत्स्थ	काकुत्स्थ
३०८	ऊपर से १३	अत.	अत:
३०९	नीचे से ४	बायु	वायु
३०९	नीचे से २	धैर्यं	धैर्य
३१०	ऊपर से ९	मतभूतं	मत्तभूतं
३१०	ऊपर से १४	तर्जान्त्यवतिष्ठते	तर्जयन्त्यवतिष्ठते
३१०	नीचे से १४	दिवम:	दिवस:
३१०	नीचे से १३	ध्रमिन	ध्रमिम
३१२	ऊपर से ४	पूर्बं	पूर्वं
३१२	ऊपर से ९	पूर्बाचार्यो	पूर्वाचार्यों
३१३	ऊपर से ५	अलावार	आलवार
३१४	ऊपर से ८	बैठ	बैठे
३१४	नीचे से ७	पूर्ववर्त्ती	पूर्ववर्ती
३१५	नीचे से ११	सुरेश्वराचर्य	सुरेश्वराचार्य
३१७	नीचे से १७	आसवत	आसक्त
३१८	नीचे से ६	सम्पूर्णं	सम्पूर्ण
३१८	नीचे से ३	भगबान्	भगवान्
३१८	नीचे से २	अधाराधेयभाव	आधाराधेयभाव
३२०	नीचे से १	स्वीक्रतम्	स्वीकृतम्
३२०	ऊपर से १	तात्पर्यबिमशभङ्ग	तात्पर्यविमर्शभङ्ग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
३२१	नीचे से ७	द्वीप	द्वीस
३२१	नीचे से ५	दृष्ठे	दृष्टि
३२२	नीचे से २	शतमिन्द्रसम	शतमिन्द्रसम:
३२४	ऊपर से १०	सभा	सभी
३२४	नीचे से १३	सक्षिप्त	संक्षिप्त
३२४	नीचे से ११	वाल्मोकि	वाल्मीकि
३२६	ऊपर से ३	द्रसे	इसे
३२६	नीचे से ११	उााय	उपाय
३२६	नीचे से ६	बृक्ष	वृक्ष
३२७	ऊपर से १२	पृप्ठ	पृष्ठ
३२८	ऊपर से ३	सहस्रो	सहस्रों
३२८	ऊपर से ६	दुवृत्ते	दुर्वृत्तो
३२८	नीचे से २	कृत्वा	कृत्वा
३२९	ऊपर से १	मेतरी	चेत्तरी
३३३	ऊपर से ११	ह	हि
३३४	ऊपर से १७	लिखा	लिखी
३३४	नीचे से १४	अर्यात्	अर्थात्
३३४	नीचे से ११	तपस्यिों	तपस्वियों
३३५	ऊपर से ४	हो	ही
३३७	ऊपर से ८	को	की
३३७	ऊपर से १६	रफूचवकर	रफूचक्कर
३३७	नीचे से ८	स्वय	स्वयं
३३७	नीचे से ४	की	के
३४०	नीचे से १२	पौत्रिक	पौत्रिकं
३४०	नीचे से ११	मह	महं
३४०	नीचे से ३	द्वैायन	द्वैपायन
३४२	ऊपर से ३	निधन	निधन
३४२	नीचे से ११	मूर्तय	मूर्तये
३४६	ऊपर से १५	ललिताषाख्यान	ललितोपाख्यान
३४६	नीचे से १४	स्वयम	स्वयम्
३४७	ऊपर से ७	उपने	अपने

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध शब्द	शुद्ध शब्द
३४९	ऊपर से १७	ही	हो
३४९	नीचे से ११	कथन	कहना
३४९	नीचे से ५	परत्ब	परत्व
३५०	ऊपर से १२	बशिष्ठ	वशिष्ठ
३५०	ऊपर से १३	ब्याज	व्याज
३५०	नीचे से २	जिसस	जिससे
३५१	नीचे से ४	मौर्ख्याद	मौर्ख्याद्
३५४	नीचे से ११	माहात्म्य	माहात्म्यं
३५४	नीचे से ११	जानाात	जानाति
३५५	ऊपर से ५	लिखों	लिखे
३५५	ऊपर से ११	विधो	विधौ
३५६	नीचे से १०	स्थला	स्थली
३५६	नीचे से ९	आचाय	आचार्य
३५७	ऊपर से १६	सम्बोध	सम्वोधे
३५७	नीचे से ११	सम्बोधे	×
३५७	नीचे से ६	सुरेशाचाय	सुरेश्वराचार्य
३५९	ऊपर से ७	वाली	वाले
३५९	नीचे से ११	वराग्य	वैराग्य
३६०	ऊपर से ८	तद्दशेषु	तद्देशेषु
३६०	ऊपर से १७	शता	शती
३६०	नीचे से ४	छन्द	छन्द २
३६०	नीचे से ३	सस्कृत	संस्कृत
३६१	ऊपर से ११	बेदान्त	वेदान्त
३६१	ऊपर से १२	भाप्य	भाष्य
३६१	नीचे से २	संस्कृत	संस्कृति
३६२	ऊपर से ७	मे	से
३६४	ऊपर से ७	उदनाचार्य	उदयनाचार्य
३६६	ऊपर से ५	व्याधि	व्याध



आचार्य सियारामदास नैयायिक

(न्यायवेदान्ताचार्य, पी-एच्०डी०)

❊

श्री मणिरामदासछावनीपीठाधीश्वर
महान्त श्री नृत्यगोपालदास जी महाराज से दीक्षित।
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से नव्यन्याय—मीमांसाधर्मशास्त्र विषय
में 'भगवन्नामकौमुद्या व्याख्यानं तत्र मीमांसान्यायानां
विवेचनञ्च' शोध प्रबन्ध (सन् १९९२ ई०)।

❊

नित्यकृत्यबोधक प्रबन्ध की रहस्यप्रकाशिका
व्याख्या, वैष्णववस्त्रविमर्श, विमर्शालोकभङ्ग इत्यादि ग्रन्थ प्रकाशित।

❊

: प्रस्तोता :
डॉ. रामप्रिया दास
श्री मणिरामदास छावनी सेवा ट्रस्ट, वासुदेव घाट
अयोध्या, फैज़ाबाद (उ.प्र.)